विज्ञान

भाग ८४

संख्या १

अक्टूबर, १९५६ तुला, २०१३

प्रति अङ्क छः आने

वार्षिक मूल्य चार रुपये

विषय सूची

१—विज्ञान के नये चरण (त्रैमासिक समीक्षा)	डा० सत्य प्रकाश	१
२—धरती की पुकार	डा० अमरसिंह, प्राध्यापक, वनस्पति विज्ञान-विभाग, प्रयाग वि० वि०	५
३—राशियों का दर्शन ...	जगपति चतुर्वेदी	११
४—विज्ञान की भाषा—गणित	श्री० अशोक शर्मा, प्रयाग विश्वविद्यालय	१७
५—बाल विज्ञान—(१) कपड़ा	डा० आर० सी० मेहरोत्रा, लखनऊ विश्व विद्यालय	२३
(२) भाप का इंजिन, ...	जगपति चतुर्वेदी	२५
६—विषैले संक्रामक कीटाणु और उनके विरुद्ध संघर्ष	वी० और जी० स्मोल्यान	२६
७—पौधों के रोगों की कीटाणु नाशक औषधियाँ	.....	३२

भूल-सुधार

पृष्ठ ११, १४, और १५ पर "आदर्श साहित्य मंदिर" की जगह **आदर्श पुस्तक मंदिर**, चौक, इलाहाबाद पढ़ें।

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तति। तै०उ० ।३।५।

भाग ८४ | तुला २०१३; अक्टूबर १९५६ | संख्या १

विज्ञान के नए चरण

त्रैमासिक समीक्षा

डा० सत्यप्रकाश

[३० अगस्त १९५६ को प्रयाग के रेडियो स्टेशन से]

वैज्ञानिक संसार के गत तीन चार मास बड़े महत्व के रहे हैं। कई ऐसी बातों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया गया है, जिनसे हमारे देश-वासी भी लाभ उठा सकते हैं, और देश की सम्पन्नता पर भी जिनकी प्रतिक्रिया अवश्य होगी, परमाणु के बीजकेन्द्र के विभाजन से जो शक्ति हमें प्राप्त होती है, उसका उपयोग शीघ्र ही शान्तिमय कार्यों के लिए किया जाने वाला है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस शक्ति का उपयोग हो सके, इस हेतु ऐसी आशा की जाती है कि सन् १९५७ के प्रारम्भ तक अवश्य ही कोई संस्था बना दी जायगी। इस सम्बन्ध में यूनाइटेड नेशन्स में विशेष धारा अगले मास में बनने वाली है। इस संस्था का उद्देश्य यह रहेगा कि यह इस बात को सोचे कि किस प्रकार परमाणु से प्राप्त शक्ति का विकास किया जा सकता है, और फिर यह शक्ति किस प्रकार शान्तिमय कार्य्यों के लिए काम आ सकती है। अनेक देशों में परमाणु-शक्ति पर जो अनुसन्धान हो रहे हैं, उनसे लाभ उठाने का पूर्ण प्रयत्न किया जायगा। प्रसन्नता की बात है कि हमारे देश में डा० भाभा के नेतृत्व में परमाणु शक्ति के उत्पादन का कार्य्य कुछ मात्रा में प्रारम्भ हो गया है, और बम्बई की प्रयोगशाला में स्थापित एक विशेष एटोमिक रिएक्टर यंत्र कार्य्य करने लगा है। इस नवीन प्रयास की घोषणा हमारे देश के इतिहास में एक स्मरणीय घटना मानी जायगी, जिस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का हमने उल्लेख ऊपर किया है, वह संस्था परमाणु शक्ति के मूल स्रोत यूरेनियम और इसी प्रकार के अन्य तत्वों का संग्रह और वितरण करेगी। स्वभावतः ये तत्त्व कुछ देशों में विशेष मात्रा में तैयार किए जायंगे, और अन्य देशों में इस संस्था की ओर से आवश्यकता के अनुसार बाँटे जायंगे। इस-

समय ऐसी आशा की जाती है, कि इस संस्था के पास यूरेनियम—२३५ तत्व की २२० सेर मात्रा रहेगी, यह मात्रा कुछ यूनाइटेड किंगडम अर्थात् इंग्लैण्ड आदि से, कुछ रूस से और कुछ अमेरिका से प्राप्त होगी। यूनाइटेड स्टेट्स अमरीका के एटोमिक इनर्जी कमीशन ने यूरेनियम—२३५ के १ ग्राम का मूल्य २५ डॉलर रक्खा है। १ सेर यूरेनियम का मूल्य इस हिसाब में २५ हज़ार डॉलर होगा, और २०० सेर का मूल्य ५० लाख डालर या लगभग २ करोड़ रुपया समझना चाहिए। यह संस्था एक और काम भी करेगी। संसार के जिन भागों में सस्ती बिजली नहीं तैयार हो पाती, वहाँ इस संस्था के प्रोत्साहन से परमाणु-शक्ति द्वारा बिजली तैयार की जायगी। ऐसा प्रयत्न हो रहा है कि इस संस्था को विशेष अधिकार प्राप्त होंगे, जिससे यह राष्ट्रों को परमाणु-शक्ति के दुरुपयोग से बचा सके। इस संस्था को यह भी अधिकार होगा कि जहाँ चाहे, वहाँ उचित प्रकार के यंत्र ले जाय, और वहाँ की सामग्री पर अनुशासन रक्खे। परमाणु-शक्ति का उपयोग युद्ध सम्बन्धी विस्फोटों पर भी किया जा सकता है, पर यह संस्था ऐसा प्रयत्न करेगी कि इस प्रकार के कार्य्यों में परमाणु-शक्ति को नष्ट न होने दे। परमाणु-शक्ति उत्पन्न होते समय घातक किरणें भी निकलती हैं, जिनसे जनता के स्वास्थ्य पर अहितकर प्रभाव पड़ता है। यह संस्था इस बात पर भी ध्यान रक्खेगी, कि किस प्रकार से इस घातक प्रभाव से रक्षा की जा सकती है। संस्था की ओर से काफ़ी मात्रा में निरीक्षक और पर्य्यवेक्षक रहेंगे, जो उन सब केन्द्रों में जहाँ-जहाँ परमाणु-शक्ति का उपयोग हो रहा है, घूम-घूमकर जाँच पड़ताल करते रहेंगे। हम शीघ्र ही वह दिन देख सकेंगे जब उद्योग, कला-कौशल, चिकित्सा, कृषि और यातायात में परमाणु-शक्ति का उपयोग हो सके। कोयला और पेट्रोल के युग के बाद अब शीघ्र एक नया युग आने वाला है।

अभी थोड़े ही दिन हुए भारतीय सरकार के भूगर्भ-परामर्शदाता डाक्टर डी० एन० वाडिया ने भारत के उन खनिजों का अपने एक व्याख्यान में उल्लेख किया, जिनके द्वारा हम परमाणु-शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। वैसे तो संसार में यूरेनियम खनिज को परमाणु-शक्ति के उत्पादन के लिए सबसे अधिक महत्व दिया जाता है, पर अब इस बात के स्पष्ट लक्षण दीख रहे हैं कि थोरियम का महत्व भी कुछ कम नहीं है। यूरेनियम की प्रतियोगिता और समकक्षता में थोरियम भी शीघ्र स्थान पाने वाला है। जेनेवा में परमाणु-शक्ति के शान्तिमय उपयोगों के सम्बन्ध में इसी वर्ष जो कान्फ्रेन्स हुई थी, उसके विचार-विमर्शों से थोरियम की उपयोगिता स्पष्ट हो गयी, भारतवर्ष में थोरियम ट्रावनकोर की बालू में बहुत पाया जाता है। थोरियम को एटोमिक रिएक्टर यंत्र में प्रतिकृत करके यूरेनियम—२३३ नाम का समस्थानिक तैयार किए जाने की संभावना देखी जा रही है। वैज्ञानिकों की ऐसी धारणा है कि शीघ्र ही थोरियम को यूरेनियम—२३३ में परिणत किया जा सकेगा, और यह यूरेनियम—२३३ उतना ही उपयोगी सिद्ध होगा जितना कि यूरेनियम—२३५। डा० होमी भाभा ने जो आयोजना प्रस्तुत की है, वह हमारी आशाओं को प्रोत्साहित कर रही है। यदि कहीं ऐसा हो गया, तो भारतवर्ष अपनी परमाणु शक्ति की सम्पन्नता में किसी देश से बहुत पिछड़ा नहीं रहेगा परमाणु के बीज-केन्द्र से प्राप्त शक्ति के उत्पादन में जिन धातु और अधातु तत्वों का विशेष हाथ है, वे हैं—यूरेनियम, थोरियम, बेरीलियम, लीथियम, ज़रकोनियम और ग्रैफाइट। इनके अतिरिक्त कुछ सामान्य खनिजों का महत्व इस दृष्टि से है कि उनके द्वारा हम परमाणु-शक्ति उत्पन्न करने वाले यंत्रों को बना सकते हैं। ये खनिज भी हमारे देश में बहुत कुछ पाए जाते हैं।

भारतवर्ष में यूरेनियम खनिज तीन अवस्थाओं के पाए जाते हैं—(१) पहले तो वे खनिज, जिनमें यूरेनियम की बहुत थोड़ी ही मात्रा है। ये खनिज सिंहभूमि और राजपूताने की धारवार शिलाओं में हैं, और इनमें ०·०३ से ०·१ प्रतिशत यूरेनियम है। एक टन शिला में १ पाव से लेकर १ सेर के लगभग तक यूरेनियम निकलेगा। (२) दूसरे प्रकार के वे खनिज हैं जिनमें यूरेनियम संकीर्ण लवणों के रूप में विद्यमान है, इनमें यूरेनियम अन्य ऐसे तत्वों के साथ संयुक्त है, जिन्हें हम नायोबियम, टैंटेलम और टाइटेनियम कहते हैं। इन खनिजों में यूरेनियम है

तो काफी, पर इन संकीर्ण लवणों में से यूरेनियम धातु को पृथक् करना रसायन शास्त्र की दृष्टि से बड़ा दुरूह है। ये यूरेनियम खनिज भारतवर्ष में उन स्थलों में पाए जाते हैं, जहाँ हमें अभ्रक मिलता है। अर्थात् उत्तरी बिहार में, मद्रास के नेलोर प्रान्त में और मध्य राजपूताना में। (३) तीसरे प्रकार के खनिज ट्रावनकोर की मोनेज़ाइट बालू में हैं, और मद्रास के समुद्री तट की काली बालू में जिसे इलमेनाइट कहते हैं। बालू का यह अक्षय और अखंड भंडार हमें थोरियम और बहुत से अन्य दुष्प्राप्य खनिज भी देगा। औसत मोनेज़ाइट खनिज में ०·२ से ०·४६ प्रतिशत तक यूरेनियम का ऑक्साइड होता है, और ८ से १० प्रतिशत तक इसमें थोरियम का ऑक्साइड होता है। कुछ स्थलों पर ऐसा भी मोनेज़ाइट हमें मिला है जिसमें यूरेनियम की मात्रा और भी अधिक है। अभी एक खनिज "चिरेलाइट" की घोषणा हुई है जिसमें ४ से ६ प्रतिशत तक यूरेनियम और १६ से १३ प्रतिशत तक थोरियम है। हमारे देश के मालाबार और कुरु मंडल तटपर पायी जाने वाली बालू में यह अनुमान किया जाता है कि कई हज़ार टन यूरेनियम बिखरा पड़ा है।

जहाँ दूसरे देशों के मोनेज़ाइट में ५ से ६ प्रतिशत तक थोरियम है, हमारे देश के मोनेज़ाइट में ८ से १०·५% प्रतिशत तक थोरियम पाया जाता है। इस प्रकार हमारा मोनेज़ाइट ब्रेज़िल के समान अन्य देशों के मोनेज़ाइट से अच्छा ही है। यह मोनेज़ाइट हज़ारी बाग़, मेवाड़, पश्चिमी घाट और मद्रास में पाया जाता है, और मालाबार और कुरु मंडल के समुद्री तटों की बालू में तो विशेष प्रकार से। वस्तुतः इस बालू में से ही हम अपनी आवश्यकताओं का समस्त थोरियम प्राप्त कर सकते हैं। मोनेजाइट के साथ कुछ और भी खनिज इन स्थलों की बालू में मिले हुए हैं, जैसे इलमेनाइट, और रुटाइल जिनसे टाइटेनियम धातु प्राप्त की जाती है, और ज़रकोन जिससे ज़रकोनियम धातु मिलती है। ट्रावनकोर-कोचीन की बालू में १० लाख टन के लगभग मोनेज़ाइट की मात्रा का अनुमान किया जाता है। यही नहीं, भारत के अन्य स्थलों में भी थोरियम खनिज से मिश्रित शिलायें पायी गयी हैं जो पश्चिम में नर्मदा के मुहाने से लेकर पूर्व में महानदी से भी दूर टिनेवेली तक और दक्षिण में कुमारी अन्तरीप तक फैली हुई हैं। इस प्रकार हमारे देश के भंडार में २० लाख टन के लगभग मोनेज़ाइट बालू है जिसमें डेढ़ या दो लाख टन के लगभग थोरियम का ऑक्साइड होगा।

परमाणु शक्ति उत्पन्न करने वाले यंत्रों में प्रतिक्रिया की गति को हलका करने के लिए बेरीलियम तत्व की भी आवश्यकता होती है। भारत में वैडूर्य्य मणि बहुत काल से परिचित रहा है। इसी वैडूर्य्य या बेरिल खनिज में बेरीलियम तत्व पाया जाता है। यह खनिज हमारे देश में अनेक स्थलों पर बिखरा पड़ा है। सन् १६४६ में राजपूताना और उत्तरी बिहार में इस खनिज की अच्छी मात्रा का पता चला। यहाँ से अब प्रतिवर्ष १ हज़ार टन बैरिल खनिज प्राप्त किया जाता है। यह बैरिल हमारे देश में परमाणु-शक्ति उत्पन्न करने के लिए बड़ा सहायक होगा।

वैज्ञानिकों का अनुमान है कि बीजकेन्द्रीय प्रतिक्रियाओं द्वारा हीलियम गैस का बनाना लीथियम तत्व से संभव होगा, और इसलिए परमाणुशास्त्री लीथियम को विशेष महत्व दे रहे हैं। इस धातु तत्व के भी कुछ खनिज हमारे देश में पाए जाते हैं। इन खनिजों का नाम लेपिडोलाइट और स्पोड्यूमीन है। भारत के कई स्थलों में इन खनिजों की विद्यमानता अनुमान की गई है।

ज़रकोनियम का एक खनिज ज़रकोन कहलाता है। ट्रावनकोर की इलमेनाइट बालू में ६ प्रतिशत के लगभग ज़रकोन है, और ५ प्रतिशत के लगभग हैफनियम तत्व भी इसमें है। शुद्ध ज़रकोनियम प्राप्त करने के लिए इस हैफनियम को हमें दूर करना पड़ेगा, जो दुष्कर होते हुए भी असंभव नहीं है। ट्रावनकोर की बालू में बेडेले—आइट नामक भी एक खनिज मिलता है, जिसमें ज़रकोनियम है।

हमें यदि अपने देश में परमाणु-शक्ति का अच्छी मात्रा में उत्पादन करना है, तो ग्रेफाइट के बनाने के

प्रति भी ध्यान देना पड़ेगा। पेन्सिलों में लिखाई के काम के लिए जो काली शलाका होती है, ग्रेफाइट की ही है। यह ग्रेफाइट बिजली के कारखानों में भी काम आता है। परमाणु-शक्ति के उत्पादन में तो हमें बहुत ही शुद्ध ग्रेफाइट लेना होगा। प्रसन्नता की बात है कि हमारे देश में पेट्रोलियम की चार शोध-शालायें या रिफाइनेरीज हैं। इन शोध-शालाओं में प्रतिवर्ष ३५ लाख टन कच्चा मिट्टी का तेल शोधित होता है। इस शोधन प्रतिक्रिया द्वारा हमें बहुत काफ़ी मात्रा में पेट्रोलियम कोक मिलता है। इस पेट्रोलियम कोक से हम कृत्रिम विधियों द्वारा ग्रेफाइट तैयार कर सकते हैं। परमाणु-शक्ति उत्पन्न करने वाले यंत्रों या एटोमिक रिएक्टरों में हमें ऐसे ग्रेफाइट की आवश्यकता है, जिसमें बोरन तत्व बिलकुल न हो। हमारे देश में प्राकृतिक ग्रेफाइट बहुत कम मिलता है। लंका में यह अवश्य पाया जाता है, प्राकृतिक ग्रेफाइट में यदि थोड़ा-सा भी बोरन हुआ, जैसा कि बहुधा हुआ करता है, तो उसे रासायनिक विधिओं से अलग करना बड़ा ही कठिन हो जाता है, अतः हमें परमाणु-शक्ति उत्पादन के लिए ग्रेफाइट कृत्रिम विधियों से ही बनाना पड़ेगा, और जैसा हम अभी कह चुके हैं, यह हम पेट्रोलियम कोक से प्राप्त कर सकते हैं जो हमें पेट्रोलियम शोध-शालाओं से मिल सकता है।

एक और महत्व की चीज है, जिसका हम उपयोग परमाणु-शक्ति उत्पादन में कर सकेंगे। वह है भारी पानी या हेवी-वाटर। हमारे साधारण पानी के चार हज़ार भाग में एक भाग एक विशेष पानी का है जिसे हम भारी पानी कहते हैं। यह पानी जिस हाइड्रोजन से बना है, वह हाइड्रोजन साधारण हाइड्रोजन की अपेक्षा दुगुना भारी है। इसीलिए यह नया पानी साधारण पानी की अपेक्षा घनत्व में भी कुछ भारी है। परमाणु-शक्ति सम्बन्धी अनेक प्रतिक्रियाओं के वेग को वश में लाने के लिए हमें भारी पानी का प्रयोग करना पड़ता है। यह भारी पानी हम अपने साधारण पानी से बिजली द्वारा तैयार कर सकते हैं। यह ठीक है कि जब साधारण पानी का कई बार बिजली द्वारा विभाजन किया जायगा, तब कहीं जाकर, थोड़ा-सा भारी पानी हमें मिलेगा। हमारे देश में इस प्रकार की आयोजनायें भी चल रही हैं जिनसे हमें आशा होती है, कि हम शीघ्र ही भारी पानी के तैयार करने का एक कारखाना खोल सकेंगे। आजकल प्रत्येक बड़े देश में इस भारी पानी को तैयार करने का प्रयत्न किया जाता है।

हमारे देश का विस्तार बहुत लम्बा चौड़ा है, और अभी तक हम अपने समस्त भंडार की खोजबीन नहीं कर पाए हैं, हिमालय की चोटियों से लेकर दक्षिण-पूर्व-पश्चिम के समुद्रतट तक न जाने कितने खनिज इस देश की वसुन्धरा में बिखरे पड़े हैं, उनका हमें अभी पता भी नहीं है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने अक्षय भंडार से पूर्ण तथा परिचित हो जायं। जिन धातुओं और खनिजों को १९वीं सदी तक कोई महत्व नहीं दिया गया, और जिन्हें तुच्छ समझा गया, वे आज बहुत महत्व की हो गयी हैं। आज हम इस बात को समझ गए हैं कि विज्ञान की दृष्टि में कोई चीज हेय और तुच्छ नहीं है। कोई नहीं कह सकता कि हम कब अपनी किस चीज से लाभ उठा सकेंगे। हमें इस बात का हर्ष है कि अब जनता और शासन दोनों का ध्यान देश की सम्पत्ति की ओर अग्रसर हुआ है, और हम वैज्ञानिक साधनों द्वारा अपने देश को भी नए अनुसन्धानों को अपना कर सम्पन्न बना सकेंगे।

धरती की पुकार

डा० अमरसिंह, प्राध्यापक, कृषि वनस्पति विज्ञान विभाग, प्रयाग वि० वि०

भूमि का महत्व

भूमि की उत्पादन शक्ति प्रत्येक राष्ट्र के लिये बड़ा महत्व रखती है। किसी भी देश की सभ्यता वहाँ की भूमि के सदुपयोग या दुरुपयोग का द्योतक है। कृषि ही सभ्यता का आदि व मूल स्रोत समझा जाता है। भूमि का महत्व नीचे दिये पदों से भी साफ विदित होता है :

राज्ञ सत्वे असत्वे वा विशेषो नोपलक्ष्यते ।
कृषीबल विनाशे तु जायते जगतो विपत् ।।

प्राचीन काल से भारत में यह सर्वमान्य रहा है कि भूमि ही देश की सबसे बड़ी सम्पत्ति है और इसकी उत्पादन शक्ति देश को समृद्धिशाली बनाने में सहायक रही है तथा उसके हीन होते ही राष्ट्र विलीन हो गये हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि चिरकाल से धरती की देन ही देश अथवा राष्ट्र का एक मात्र पोषक है। धूप, हवा और पानी के अतिरिक्त हमारी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ धरती से ही प्राप्त होती हैं। इसी से यह प्राणी मात्र के भरण-पोषण का आदि स्रोत मानी गई है। जीवन का पोषण भूमि के क्रियापूर्ण होने पर ही आश्रित है। इसे निर्जीव समझ इसका दुरुपयोग करना बड़ी भूल है। भूमि-कणों की सूक्ष्मता ही इनके महत्व को महान बनाए रखने में सहायक हैं परन्तु साधारण मानव इसे आकार (डील) और कारण दोनों पहलुओं से अति लघु मानता आया है। कृषि के इतिहास में उदाहरणों की कमी नहीं है कि जब-जब मनुष्य ने भूमि को सजीव मान उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति की, धरती को अन्नपूर्ण रूप में पाया।

भूमि को जीवित, कार्यशील और उपयोगी रखने के लिये इसका पोषण करना अति आवश्क है। इसकी ऊपरी सतह के ह्रास का प्रारम्भ इसकी रचनात्मक क्रिया का एक अंग तो आवश्य है पर उसकी मात्रा सीमित है। इस सीमा को उल्लंघन करते ही भूमि का क्षरण व उत्पादन शक्ति का ह्रास आरम्भ हो जाता है। इस ह्रास की गति तीव्र करने में मनुष्य का सहयोग अनायास ही रहा है। वनों को काट, चरागाहों को नष्ट कर, भूमि को हरियाली से खाली रख, चुने हुए शस्यों का ही बार २ उत्पादन कर मनुष्य ने अनजान में वह वातावरण उपस्थित किया जिससे क्षरण व्यापक रूप से संसार भर में तीव्र गति से होने लगा। साथ ही बंजर स्थानों की भी वृद्धि हुई। भूमि की उर्वरता हमारी सबसे मूल्यवान पूँजी है, इसका विनाश निश्चय ही भावी युग के लिये मृत्युतुल्य संदेश है। इसको स्थिर रखने में पौधों की जड़ों, पत्तों, अन्य अंगों तथा उनकी जीवन क्रिया का प्रमुख स्थान है। बनस्पति-सम्पन्न भूमि ही उपजाऊ होने की क्षमता रखती है।

पौधों में प्राण है और धरती में भी जीवन है। जब भी हम इन दो गतिशील "प्राणियों" से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करें तो हमें सर्वप्रथम इनके विकास तथा रक्षा के लिये उपयुक्त वातावरण बनाने के साधनों को जुटाने का प्रयास करना उत्तम होगा।

भूमि की समुचित व्यवस्था न होने से कम व निम्न श्रेणी की पैदावार होती है। मिट्टी की शक्ति पर ही समस्त जीवधारियों का स्वास्थ्य आधारित है। भूमि विज्ञान शास्त्र की जानकारी विविध प्रकार के रोगों के विनाश का कारण व जीव रक्षा का साधन हो सकती है। भूमि पर स्वास्थ्य क्योंकर आधारित है, इसके अनेकानेक उदाहरण मिलते

हैं। उत्तर प्रदेश में ही गोरखपुर को लीजिये। वहाँ के पानी में आयोडिन (iodine) की कमी से जीवधारियों को गंडमाल रोग हो जाता है। आस्ट्रेलिया में कैलशियम (Calcium) की कमी से जानवरों को हड्डी की बीमारी होती है। विशेषकर ठंडे देशों में रिकेट (ricket) नामक रोग शिशुओं को इसकी कमी से होते हैं। ताँबा की कमी वाले स्थानों में साल्ट सिक (salt sick) नामक बीमारी पाई जाती है। धरती में फास्फोरस की कमी से उस पर भरण पोषण करने वाले निवासियों को लामजिक्टे (lamzickte) रोग हो जाता है। भूमि में लोहा (iron) व कोबाल्ट (cobalt) की कमी वाले स्थानों के चरागाहों पर पोषित जानवर भी रोगी होते हैं। न्यूजीलैन्ड में भेड़ों को जो बीमारी इस कारण से हो जाती है उससे बुश सिकनेस (bush sickness) होता देखा गया है। भूमि में कुछ कीटाणु (Pasteurilla boviseptica) ऐसे भी पाये जाते है जो उस जगह की घास को दूषित कर देते हैं जिसमें चरने वाले जानवरों को सेप्टिसीमिया (Haemorrhagic septisemia) का रोग होता हैं। ऐसा भी पाया गया है कि भूमि में अम्ल की मात्रा अधिक होने से क्षय रोग का प्रकोप हो जाता है। सीलीनियम (selenium) की मात्रा अधिक होने से प्राणघातक रोग होते देखे गये हैं—बाल का झड़ना, पक्षाघात व जलशोध का होना इसके लक्षणों में से हैं।

प्रकृति के नियमों की अवहेलना का परिणाम

जीवधारी, पौधे, कीटाणु व धरती सभी एक दूसरे पर आश्रित हैं। बनस्पति धरती व वायुमंडल के निर्जीव पदार्थों से जीवन रस ग्रहण करता है। जन्तुओं का भोजन बनस्पति या वे जीव हैं जो बनस्पति पर ही निर्भर रहते हैं। पृथ्वी के समस्त मृत पदार्थों को सड़ा गला कर इन्हें पानी में घुलने योग्य बनाने का कार्य कीटाणु की सहायता से ही पूर्ण हो पाता है। बनस्पति की जड़ें उसी आहार को ग्रहण करती हैं, पत्तियाँ वायुमंडल से कार्बन (carbon) लेती हैं और सूर्य की ज्योति के सहयोग से पुनः अच्छी पैदावार होती है। यह रहस्यमय जीव-चक्र चलता रहता है—इसके लिये आवश्यक है कि हर एक अपने स्थान पर पूर्ण रूप से कार्यान्वित रहे और प्रकृति में संतुलन को स्थिर रखे। जीवन के लिये कीटाणु अति महत्वपूर्ण हैं। यदि ये कार्यशील न हों तो मृत वस्तुओं का सड़ना-गलना कम हो जावेगा और सारा विश्व इन्हीं से भर जावेगा, साथ ही जीवधारियों के भोजन के कोष का भी अन्त समझिये। जीव क्रिया को चलते रहने के लिये सड़ना-गलना उतना ही आवश्यक है जितना उत्पादन। साधारणतः हम यह कह सकते हैं कि कीटाणु इस मद में बड़े सहायक हैं, ये ही जीवांश को पौधों के तात्कालिक भोजन के रूप में परिणत कर भूमि की जीवदायिनी प्रकृति को सत्य बनाये रखते हैं। कीटाणुओं का सुरक्षित रखना तथा उन्हें कार्यशील बनाये रहने का उचित वातावरण स्थापित करना हमारे अस्तित्व के लिये उतना ही आवश्यक है जितना भोजन और पानी।

भूमि में, जो कि स्वयं सजीव व गतिशील है, निर्जीव रसायनिक पदार्थों को डाल मनुष्य भूमि के आश्रित कीटाणु, काई, फुफुन्दी, अन्य पौधे व जीव मात्र की जीवन क्रिया के समन्वय को नष्ट कर भूमि की अवहेलना करता है। इसके परिणाम में महान् क्षति का भागी होता रहा है। जब भी मानव ने प्रकृति के नियमों के विरुद्ध छेड़-छाड़ की और किसी भी जीवन-क्रिया-चक्र को शीघ्र पूर्ण कर अधिक लाभ उठाने की चेष्टा की प्रायः हानि ही हुई है। प्रकृति के नियम यों बने हैं कि काल चक्र उसे पराजित नहीं कर पाता परन्तु मनुष्य के हस्तक्षेप करते ही विकट समस्याओं का प्रादुर्भाव होने लगता है। यही फल मानव ने भूमि के नियमों की अवहेलना कर पाया है।

भूमि के ह्रास का कारण व प्रगति

भूमि की उत्पादन शक्ति के क्षय का कारण धरती का शोषण, अनियमित खेती, भूमि के आवश्यक तत्वों के गुणों से अनभिज्ञता तथा उनके समाधान की उचित व्यवस्था का लोप आदि है। वनों का काटना, बराबर एक

शस्य को उगा कर भूमि के तत्वों का संतुलन नष्ट करना, नमी की न्यूनता व अधिकता, वर्षा जल का कुप्रबन्ध, चरागाहों का विनाश, खेतों को बिना सोचे समझे जोतना बोना, उन शस्यों को उपजाना जिनके लिये भूमि उपयुक्त न होवे, भूमि से पैदावार के रूप में हटाये गये पदार्थों की पूर्ति न करना, नये ढङ्ग के हल जो भूमि को काट व जड़ों को अलग कर क्षरण की गति को तीव्र करने में सहायक होते हैं, रसायनिक खादों के दुरुपयोग द्वारा कम समय में अधिक पैदावार लेना आदि २ भूमि-ह्रास में सहायक हैं। यदि किसी स्थिति में कोई नियम एक बार सफलता प्राप्त कर लेता है तो इसका अर्थ यह नहीं कि उसी द्वारा हर अवस्था में लाभ होगा। ऐसा देखा गया है कि भौतिक या रसायानिक क्रिया हर स्थान में प्रायः एक ही परिणाम लाती है—कृषि में यह मन्त्र पूर्णतः लागू नहीं होता।

ज्वार की खेती से प्रति एकड़ भूमि से १००० मन मिट्टी प्रति वर्ष बह जाती है। इसके साथ यदि फलीदार (जैसे मूँग, उर्द, लतरी, लोबिया इत्यादि) या बिना फली वाले शस्य (जैसे साँवा, मडुआ इत्यादि) उगाये जावें तो टूट-फूट को रोक हानि कम करते हैं। पुराने खेती के औजार जो धीरे-धीरे काम करते थे उनकी जगह पर पाश्चात्य सभ्यता ने शीघ्रता से काम करने वाली मशीनों को लगाया। खेतों का क्षेत्र बढ़ा—कुल पैदावार भी कहीं कहीं बढ़ी पर खेत की देख-रेख करने वालों की संख्या गिरी या यों कहिये कि शहर में बसने वालों की व भूमि के बारे में नितांत अनभिज्ञ रहने वालों की वृद्धि हुई।

अँग्रेजी भाषा में एक पुरानी परिभाषा प्रचलित थी जिसके अनुसार खर पतवार वह पौधा माना जाता था जिसके गुणों की जानकारी न हो। उसकी जगह पर खर पतवार की वर्तमान परिभाषा का आशय यह है कि हर पौधा जो अपनी जगह पर न हो वह खर पतवार है। फल-स्वरूप उसे नष्ट करना भी अपना कर्तव्य माना गया है। इसका परिणाम कृषि व भूमि पर साफ है—पहले खर पतवार को आदर की दृष्टि से देखते थे और आज धरती को साफ रखो (clean cultivation) आन्दोलन का जन्म हुआ। इसने धरती के क्षरण की गति बढ़ाई व इसकी उर्वरता और उत्पादन शक्ति दोनों को भारी क्षति पहुँचाई।

अपनी बढ़ती हुई जन-संख्या के जीवन-यापन के लिये हमने निरंतर उन शस्यों वा जातियों को उगाया जो भूमि का अधिक शोषण करने की क्षमता रखते हैं और धरती की प्रति एकड़ पैदावार गिर गई ! मनुष्य ने प्रकृति पर बल व बुद्धि से विजय पाने की चेष्टा की पर उसे क्षणिक सफलता के आवरण में चिर असफलता मिली। भूमि के तत्वों के निरन्तर अपहरण से ह्यूमस या जीवांश का ह्रास हुआ और पोषक शक्ति भी क्षीण हुई।

प्रति एकड़ पैदावार का गिर जाना निश्चय ही भूमि की उत्पादन शक्ति के कम होने का लक्षण है। यह क्यों और कैसे हुआ और इसके समाधान के रहस्य को जानना हमारी पहली आवश्यकता है क्योंकि इसके बिना धरती का ठीक पोषण न हो सकेगा। भारत में धान, गेहूँ, मक्का, तम्बाकू व मूँगफली की औसत पैदावार अन्य देशों के औसत का क्रमशः ४०, १५, २०, १४ व २७ प्रतिशत ही है*। इसके कारणों को जान उनके प्रतिकूल वातावरण स्थापित करना ही धरती को सुरक्षित रखने का प्रमुख साधन है। यदा-कदा खेतों की पैदावार से बढ़ती भी दिखाई दी। इनका कारण नाज के भाव में वृद्धि, कृषि का यंत्रीकरण रसायनिक खादों का प्रयोग, अनुकूल जलवायु आदि हैं। इन साधनों से पैदावार में वृद्धि उसी समय तक सम्भव रही जब तक भूमि में जीवांश पर्याप्त मात्रा में व उपयुक्त अवस्था में रहा और प्रकृति-जीवन-चक्र व्यवस्थित गति से चलता रहा। पर जैसे ही ये साधन और वे सब जिनके भरोसे मनुष्य कुशल खेतिहर होने

---

*हमें खेद है कि पिछले अंक में "हमारी खाद्य समस्या की रूप रेखा" शीर्षक लेख में भूल से इनकी जगह पर गलत आँकड़े छप गये थे। देखिये पृष्ठ २१, पहला स्तम्भ, नीचे की २—५ वीं पंक्तियाँ।

का श्रेय लेता आया है अन्न की पूर्ति करने में असफल हुये तो क्षेत्र के विस्तार का युग आया। आज अविराम कृषि का युग है। हो सकता है कहीं कहीं पर इससे भी कुछ दिनों के लिये खाद्य समस्या की विकटता मध्यम सी होती प्रतीत होवे। वास्तव में इतने से कोई भी उपाय स्वतः पूर्ण नहीं हैं साथ ही जन व पशु संख्या में वृद्धि तथा पौधों को बीमारियों और कीट पतंगों के उपद्रव बढ़ने से महान संकट की झलक दिखने लगी है। अपनी त्रुटियों को सुधारने में ही कल्याण है।

आज विज्ञान का युग है—इसे प्रगति का युग भी कहा गया है। रसायन के उपयोग से प्रति एकड़ पैदावार बढ़ाने में कभी-कभी सफलता मिली। पर क्या यह स्थायी सफलता है? इसके अस्थायी होने के लक्षण प्रगट होने लगे हैं। रसायनों का प्रयोग अभिशाप है वरदान नहीं—क्योंकि किसान इसका ठीक प्रयोग नहीं जान पाता है। जब तक इसके उपयोग के रहस्य को पूर्ण रीति से न जाने। इसे काम में लाना हानिकारक सिद्ध हुआ है। मनुष्य ने भूमि का शोषण कर अपना पोषण किया, यह कहाँ तक न्यायसंगत है और इससे कितना हानि पहुँच रही है यह सर्वविदित है।

भूमि और उसकी उत्पादन शक्ति के विनाश में कितनी प्रगति हुई है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण निनेवह (Nineveh) बेबीलॉन (Babylon), कार्थेज (Carthrage) आदि हैं जहाँ पूर्व काल के हरे-भरे खेतों के मिट जाने पर आज का मरुस्थल हमारी वर्तमान कृषि प्रणाली पर अट्टहास कर हमारा सर लज्जा से झुका देने के लिये कम नहीं हैं। कैनेडा, दक्षिणी व केन्द्रीय अफ्रीका, मिश्र, चीन, दक्षिणी अमेरिका, केन्या, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड व भारत सभी देशों में पिछले पचास वर्षों में जितनी भूमि बंजर हुई उतनी पहले कभी न हुई थी। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका को ही लीजिये। वहाँ की नयी तोड़ी हुई भूमि की उपज इतनी अधिक थी कि गेहूँ का भाव स्थिर रखने के लिये पैदावार को जलाना पड़ा था। आज अमेरिका की ५६·५ प्रतिशत धरती की चौथाई भूमि (खेती योग्य मिट्टी) का ह्रास हो चुका है। तथा पैदावार में ३०-५० प्रतिशत कमी हुई। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि प्रति वर्ष केवल अमेरिका से ही जो मिट्टी बह जाती है वह अपने साथ पाँच सहस्र रुपये (५,००० रु०) के मूल्य का भोजन तत्व समुद्र में लेती जाती है। सामान्यतः यही गति संसार के अन्य स्थानों की भी है—कहीं कम, कहीं अधिक। मिसौरी प्रान्त के उपजाऊ क्षेत्र की ऊपरी सतह की ८-१० इञ्च मिट्टी की परत केवल पिछले ३५ वर्षों में ही बह गई। ह्रास की भयंकरता का अनुमान तभी हो सकता है जब हम यह याद रखें कि भूमि की एक इञ्च परत बनने में लगभग एक सहस्र वर्ष लगते हैं।

कैलिफोर्नियाँ में बड़े-बड़े नये मरुस्थल बने जिन्हें धूल के कटोरे (dust bowel) के नाम से पुकारते हैं। इनमें से जो सबसे बड़ा है वह एक वर्ष मात्र में ४० मील बढ़ गया। पिडमांट, उत्तर व दक्षिण कैरोलिना, जियोर्जिया और अल्बामा (क्षेत्रफल प्रायः ४ करोड़ एकड़, उत्तर प्रदेश का लगभग २\३) में से पिछले ३० वर्षों में आधे खेतों का अन्त हो गया है और शेष की उपज बहुत ही घट गई है। ओकलाहोमा में सन् १९३३-३६ तक धूल भरे अन्धड़ों की गिनती वर्ष में ७०, २२, ५३, ७३ थी परन्तु सन् १९३७ में जब उस भूमि पर कुछ वर्षों तक नये ढंग से खेती करने का प्रभाव पड़ चुका तो केवल ८ महीने में ११७ अंधड़ आये। यदि कृषि पद्धति में अदल-बदल कर मनुष्य-निर्मित मरुस्थलों का बढ़ना व बनना जल्दी ही न रोका गया तो जीव मात्र का अंत दूर नहीं।

भारत में भी प्रायः हर प्रादेशिक क्षेत्र में भूमि का क्षरण हुआ है। खासी और जयन्ता की पहाड़ियाँ, ब्रह्मपुत्र नदी का किनारा; मेदिनीपुर, बाँकुड़ा, बर्दवान, वीरभूमि; जमुना-चम्बल से लगा हुआ क्षेत्र विशेषतः आगरा, इटावा व जालौन; अहमदनगर, शोलापुर, सतारा, पूना; ब्रोच, पंचमहल; बीजापुर, धारवार; नीलगिरि की पहाड़ियाँ, मदन महल; व गाँवों की "शामलात" स्थान में भूमिक्षरण विविध मात्रा में पाया जाता है। बुन्देलखण्ड का उपजाऊ भाग तथा नर्मदा का डेल्टा घुलता जा रहा है। अनुमानतः हमारे देश की १५० लाख एकड़ भूमि की उपज भूमि-क्षरण के कारण गिरती जा रही है। उत्तर प्रदेश में आगरा, मथुरा, इटावा के आसपास ७० मील लम्बा व

१३ मील चौड़े क्षेत्र की भूमि में क्षरण बहुत हुआ है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि केवल उत्तर प्रदेश में ८५ लाख एकड़ भूमि ऊसर, बंजर या खादर है। कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिन्हें खोला कहते हैं, ये मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर और बुलंदशहर के जिलों में हैं। भूमि क्षरण इस युग की सभ्यता के अस्तित्व के लिये घातक है। इससे बचाने का प्रयत्न करना चाहिये अन्यथा बढ़ती हुई जनसंख्या के भोजन की समस्या सुलझ नहीं सकती।

भूमि के सुधार का महत्व व सुझाव

भूमि की उत्पादन शक्ति को स्थिर रखने के लिए अच्छी खादों का समुचित व्यवहार, फलीदार पौधों का शस्यों के साथ-साथ या हेर-फेर में जल्दी-जल्दी बोना आवश्यक है। भारत-भूमि में नत्रजन व जीवांश की विशेष कमी है। नई भूमि बहुत उपजाऊ होती है, इसका कारण वृक्षों की पत्तियाँ हैं जो गिरकर सड़ती रहती हैं और जीवांश की मात्रा बढ़ती रहती हैं। यही कार्य गोबर द्वारा हो सकता है क्योंकि यह भी बनस्पति के उन छोटे-छोटे टुकड़ों का बना है जो जानवर अधपचा कर निकाल देता है। भूमि के लिये गोबर की खाद लाभप्रद है। यह बलुई मिट्टी को मटियार व मटियार को भुरभुरी बनाती है। गोबर की वह खाद जो मिट्टी से ढक कर तैयार की जाती है निस्संन्देह औसत खाद से बहुत अच्छी होती है क्योंकि इस पर धूप व पानी का हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ता है और नत्रजन या कार्बन के ह्रास में कमी रहती है। गोबर की खाद प्रचुर मात्रा में चाहिये। इसके लिए हमें गोधन चाहिये। और गोधन के लिये चरागाह—इतना ही नहीं गोबर को कंडों के रूप में न जला कर खाद के रूप में प्रयोग करने के लिए ईंधन के उपयुक्त साधन का होना अनिवार्य है। भूमि को उसकी उत्पादन शक्ति को ध्यान में रख काम में लाने की उपयोगिता समझ खेत-खेत के लिए उपयुक्त शस्य, उनके संयोजन, हेर-फेर आदि का पूर्ण विवरण तैयार करना महत्व-पूर्ण कार्य है। दुख इस बात का है कि भारत इस क्षेत्र में शून्यप्राय है और भूमि को निर्जीव मान उसका निरादर करना पहले से अधिक मात्रा में व्यापक हो चला है।

'भूमि को शक्तिशाली बनाओ' आन्दोलन का युग आ गया है। इसमें किसानों का सहयोग मिलना चाहिये। अन्न के विविध पौधों में से गेहूँ, जव, चना व सरसों को ही लीजिये। इनकी उपज में कई बातों का ध्यान रखना चाहिये। पहला यह कि जितने क्षेत्र में यह बोया जाता है उस क्षेत्र में इसे ऐसे अनुपात से बोना चाहिये कि भूमि की उर्वरता नष्ट न हो और अधिक से अधिक उत्पादन हो सके। गेहूँ के साथ जव, चना, सरसों सभी किसी न किसी मात्रा में बोया जाता है। किन शस्यों को किस अनुपात में बोया जाय इसका ज्ञान किसानों को होना चाहिये। लेखक के किये गये प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि गेहूँ और जव को साथ बोने से कोई लाभ नहीं। गेहूँ व सरसों को साथ बोने से भूमि व उपज दोनों की हानि होती है। गेहूँ व चने का मेल लाभप्रद है लेकिन वह उसी हालत में जबकि इन शस्यों में ४ और १ का अनुपात हो। इस अनुपात में उपज अधिक होती है व भूमि में नत्रजन भी विशेष मात्रा में वायु मंडल से शोषित हो कर एकत्रित हो जाता है। जो पैदावार होती है उसमें प्रोटीन की मात्रा अधिक रहती है। उत्पादन के साथ-साथ उत्पादन शक्ति बढ़ाने का यह एक महान रहस्य है जो कि आसानी से किसान व्यवहार में ला सकता है। इस तरह के और कई संयोजन भूमि की दशा व क्षेत्र के खान-पान को देखते हुये पता लगाए जा सकते हैं।

इसी भाँति जो कृषि का वर्तमान क्षेत्र है उसमें से अधिक उत्पादन करने के लिये हमें चाहिए कि विविध शस्यों का क्षेत्र सीमित कर देवें। इसको सीमित करना दो पहलुओं पर निश्चय हो सकता है:—भूमि की उत्पादन शक्ति व सिंचाई के साधन तथा उनकी पैदावार की मात्रा व शस्य की शक्ति प्रदान करने की क्षमता (energy value) द्वारा लेखक ने यह निश्चित पाया है कि गेहूँ : जव : चना : सरसों के आपस का अनुपात एकड़ में ४·०७ : १·२० : २·६३ : १·० रखने से हमारी वर्तमान

जन-संख्या के लिये इस समय की प्रति एकड़ पैदावार से अधिकतम लाभ होगा। भूमि की गिरती हुई दशा को सुधारने के लिये (रसायनों का उपयोग न कर) व उत्तम कोटि का अधिक अन्न और चारा उत्पन्न करने का यह बहुत ही सच्चा मार्ग है—इसे अपनाना हर एक खेती से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति का कर्तव्य है। इसी तरह से अन्य शस्यों के बारे में जो प्रयोग हुए हैं उनका उल्लेख आगे किया जावेगा।

खाद की उपयोगिता के साथ-साथ उसका उचित प्रयोग न जानने से और धरती की अव्यवस्था को न दूर करने से अन्न की समस्या का समाधान कुछ सीमा तक अधूरा ही रह जावेगा। 'अधिक अन्न उपजाओ' के स्थान पर 'भूमि को उत्पादनशील बनाओ' के आन्दोलन का युग आ गया है। हमें इसे बिना हिचक के सत्य मान भूमि के अन्दर की क्रियाओं के समझने तथा भूमि और पौधों के आपस के योग को ध्यान में रखना चाहिये साधारण जन वैज्ञानिक कृषि का अर्थ यंत्रीकरण व रसायन का उपयोग ही समझता आया है। यह एक बड़ी भूल है। इसे दूर करना भी हमारा कर्तव्य है। पौधों की जीवन क्रिया पर भूमि और अन्य वातावरण का प्रभाव जानकर ऐसे साधनों को एकत्रित करना जिससे उपज अधिक होवे भूमि की उत्पादन शक्ति बनी रहे व किसान की आर्थिक अवस्था न बिगड़े वैज्ञानिक कृषि की आधार शिला है। वैज्ञानिक विधियों से खेती करने से धरती एक बार फिर 'सुजलां सुफलां शस्य श्यामलाम्' को चरितार्थ कर हमें गौरवान्वित कर देगी। धरती की समस्या हमारे जीवन की समस्या है। धरती का उचित कायापलट हमारे जीवन स्तर का कायापलट है। भूमि का पोषण ही हमारा पोषण है इसके लिये हमें आवश्यक तत्वों को उचित अवस्था में भूमि में बनाये रखने का प्रयास करना अपना कर्तव्य समझना चाहिए।

पौधे धरती के तत्व तरल अवस्था में लेते हैं जिससे यह स्वाभाविक ही है कि पानी भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वर्षा के जल को खेतों में बाँधों द्वारा रोक लेना चाहिये। नमी से उर्वरता स्थिर रहती है अतः समयानुसार विभिन्न देशों व भूमि के लिये उचित गहराई तक जुताई करने की सीमा निश्चित करनी चाहिए। कृषि-यंत्रीकरण का प्रश्न आज विश्व में इतना व्यापक है जितना पहले न था। भारत कौन सा पथ चुने यह भी एक गुरुत्वयुक्त प्रश्न है। भूमि को उत्पादनशील रखने के लिये हमें यंत्रीकरण के विपक्ष में ही राय स्थिर करनी होगी। भूमि के प्रश्न को लेकर हम यह कह सकते हैं कि यंत्रयुगीन सभ्यता मानवता के लिये अभिशाप ही सिद्ध होगी। यों भी भारतीय किसान आर्थिक बन्धनों से ऐसा जकड़ा है और उसकी भूमि में अम्ल व जीवांश की इतनी कमी है कि यंत्रीकरण को सफलता मिलने की आशा नहीं की जा सकती। अतः हमें इसे रोकने में विशेष प्रयत्न न करना पड़ेगा।

पहले उल्लेख किया जा चुका है कि हमारी धरती का एक बड़ा भाग ऊसर हो गया है। अब इसे सुधारने के लिये जीवांश की मात्रा बढ़ाना, नमी को स्थिर रखना, बबूल के पौधे या ऐसे घास व अन्य शस्यों को बोना चाहिये जो ऊसर भूमि में आसानी से उग और पनप सकें। मोटा धान, मटर, जव, मकई, चुकन्दर, चारा आदि की खेती लाभकर है। भूमि-क्षरण को रोकने के लिये आड़ू, इमली, युकलिप्टस, रसौत, कुडजू, चीड़, शहतूत, ददिया, पाकड़, सिरस आदि का उगाना अच्छा है। चरागाहों को बनाए रखना तो भूमि को हर प्रकार से लाभकारी है। हर गाँव में या २-४ गावों के बीच की एक तिहाई भूमि में चरागाह और बनों का होना हमारी समस्या को आसानी से सुलझा सकेगा। फलीदार वृक्षों व पौधों को लगाने का विशेष ध्यान रखना होगा। इनको हरी खाद के रूप में भी प्रयोग करना हितकर है। सच तो यह है कि इस शोषित भूमि को जीवित समझना और उसके पोषण में प्रकृति की सहायता कर इसे सजीव बनाना हमारा प्रथम कर्तव्य है।

*राशियों का दर्शन

जगपति चतुर्वेदी

आकाश के तारों को हम प्रायः बेढंगे रूप में छिटकी हुई प्रकाश की अगणित बिन्दियाँ ही समझते हैं। पुरानी बुझौवल की कहानियों में किसी राजा की बात सुनी जाती है जिसने अपने मंत्री या सभासदों को कुछ विचित्र प्रश्नों से चौंका दिया था। उनमें एक प्रश्न यह भी था कि आसमान में कितने तारे हैं और पृथ्वी का केन्द्र कहाँ है। किसी समझदार व्यक्ति ने ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने की ठानी। उसने एक छड़ी लेकर दर्बार में कहीं गाड़ दी और कहा कि पृथ्वी का केन्द्र यही है। इस उत्तर को झूठा बताने के लिए कोई रास्ता नहीं था। इसी तरह एक पुंछकटे बैल को या किसी बैल की कुछ पूँछ काट कर उसे दरबार में ले गया और बताया कि तारों की गिनती ठीक उतनी ही है जितनी पूँछ कटे बैल के बालों की। तारों की संख्या से जो अधिक बाल थे वे पूँछ के हिस्से से काट कर अलग कर दिए गए हैं। यह पुरानी जानकारी का कुछ नमूना है जो आज मनबहलाव के लिए कहने-सुनने की बात रह गयी है।

जिस तरह तारों की गिनती की बात किसी तरह सुलझ नहीं सकती थी, उसी तरह उनका कुछ भेद भी जाना नहीं जा सकता था। आसमान में उड़ते हुए बादलों से कभी कभी बेढंगी तस्वीरें, सूरतें, पहाड़, कंगूरे, पेड़ आदि की शक्लें बनती दिखाई पड़ती हैं, उसी तरह कुछ तारागणों को एक जगह देखकर पुराने समय में लोग कोई जानवर या कोई अजीब चीज मानने लगते तो बहुत अचरज की बात नहीं होती। वैसी अजीब शक्ल या किसी जानवर की तस्वीर बनाते जान पड़ने वाले तारे आसमान में दिखाई पड़ जाते, तो जब-तब आसमान की ओर दृष्टि फेरने वाले लोग अपने दूसरे साथियों को भी उन्हें दिखा कर इस विचित्रता का आनंद सा लेते। कुछ दिनों में ऐसे ही तारा-मंडलों की अधिक पहचान होने लगने पर उनका सम्बन्ध सूर्य, चन्द्र और ग्रहों की चाल से भी जोड़ा जाने लगा होगा और ज्योतिष विद्या की जड़ जमनी शुरू हुई होगी।

आज इन छोटी मोटी तस्वीरों की ही चर्चा कर अपना मनवहलाव करने की बात नहीं रह गई है, सारे आकाश के नंगी आँखों से दिखाई पड़ने वाले तारों की ही नहीं, बल्कि बड़ी-बड़ी दूरबीनों से दिखाई पड़ने वाले तारों के निशान भी नक्शों पर बने पाए जा सकते हैं। यह बात नहीं है कि सब तारा-जगत का अंत पा लिया गया। इनको देखने के लिए तो जितनी ही अधिक शक्ति की दूरबीनें बनती जाती हैं, उतनी ही अधिक संख्या में उन्हें आकाश में छिटका पाया जाता है लेकिन इतने अधिक विस्तार की बातों में न जाकर हम तो नंगी आँखों से दिखाई पड़ने वाले उन तारागणों की ही बात करना चाहते हैं, जिनको पुराने लोगों ने किसी बहाने देखा और उनका कुछ नाम रक्खा। उन नामों की शक्ल को आज भी संसार के नए युग के ज्योतिषी अपने नक्शों में जगह देते हैं और पुरानी जानकारी या नामों से ही लोगों में आकाश के तारों की कुछ अधिक जानकारी रखने की रुचि पैदा कराने के लिए मदद लेते हैं।

जिन नामों को राशि-चक्र में तारामंडल बताते पाया जाता है वे सब ही बहुत बड़प्पन रखने वाले या बड़ी

* "ग्रह, राशि, नक्षत्र,"—आदर्श साहित्य मंदिर, चौक, इलाहाबाद।

भारी शक्ति और चमक के तारे नहीं हैं लेकिन चाँद की चाल को साफ-साफ देख कर पुराने लोगों ने उस हिस्से के आसमान को बारह हिस्सों में बाँटने की जो कोशिश की उसकी जानकारी के लिए इन राशियों या तारामंडलों को ठीक पहचानने की आज भी ज़रूरत है। इन राशियों को थोड़ी भी होशियारी के साथ किसी तारा के नक्शे को देखने और समय के हिसाब से आसमान में ठीक जगह दृष्टि ले जाने से ही आसानी से देखा जा सकता है।

बड़े बड़े चमकदार तारों को देखना आसान है। इस लिए पहले यह मालूम कर लिया जाय कि आसमान के किसी विशेष भाग में किसी महीने में कौन सा भारी चमकदार तारा दिखाई पड़ सकता है तो उसे पहचान लेने पर उसके आस पास के अन्य छोटे या बड़े तारों को मिल-कर किसी तारामंडल की शक्ल बनने की कल्पना आसमान के ऊपर पूरी होती दिखाई पड़ सकती है। राशियों में कौन सा तारा बहुत चमकीला है, इस की जानकारी नक्शे के अंदर उस राशि में बने तारों की शक्ल देखने से हो सकती है। कौन तारा अधिक चमकीला है, कौन कम है, उनकी विशेष तरह की शक्ल मानकर तारा के नक्शे में बनाई रहती है। इन बातों की अधिक चर्चा नक्षत्रों का वर्णन करने में हुई है।। यहाँ पर हम मोटे तौर पर यही बताना चाहते हैं कि राशियों को आकाश में किस महीने में किस जगह देखना चाहिए।

बारह राशियों के नाम बहुत ही मशहूर हैं। जहाँ भी कहीं मुहूर्त देखने, शुभ अशुभ घड़ी की बात उठाने या ब्याह शादी, गृह-प्रवेश आदि की बात उठाने के लिए आप किसी पुरोहित के पास जाते हैं या अपनी कुन्डली दिखलाते हैं तो वह मेष वृष आदि की गणना प्रारंभ करता है। दो चार आने को मिलने वाली राशि-फल की पुस्तकों में फल के नाम पर बहुत सी बेसिर-पैर की बातें पढ़ने को मिलती हैं। कम से कम बारहों राशियों का नाम तो मिल ही जायगा। कितने ही समाचार-पत्रों में बारह राशियों का नाम देकर कुछ शुभ अशुभ के समाचार छापे जाते हैं। इतना मशहूर होने पर भी राशियों का नाम न मालूम हो तो उन्हें नीचे दिया जाता है:—

मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ, मीन।

मेष भेड़ा कहलाता है। वृष बैल या सांड़ को कहते हैं। इसकी सींगों की शक्ल तारा से बनती जान पड़ती हैं। मिथुन का अर्थ जोड़ा है। कर्क केकड़ा कहलाता है। इसी तरह दूसरे नाम भी हैं। किसी भी राशि की जो शक्ल बनती जान पड़े उसे मन में बैठाकर उन तारों को आसमान के तारों में देखने की कोशिश करने पर शायद साहसी आदमी भी हिम्मत तोड़ दे लेकिन जब हम कहें कि जनवरी में आठ बजे सिर के ऊपर के आकाश में वह भाग देखें जहां चन्द्रमा का रास्ता जान पड़े तो अमुक राशि दिखलाई पड़ेगी। इतना इशारा मिलने पर राशि को देखना और पहचानना आसान हो सकता है।

पहली बात यह समझ लीजिए कि मेष, वृष आदि सब राशियों को क्रम से एक-एक मास में उस स्थान पर उठते पाया जायगा जहां पिछले महीने में उनके पहले की राशि किसी विशेष समय में रही हो। उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव की ओर तक खिंची रेखाएं पृथ्वी पर देशान्तर कही जाती हैं। आकाश में भी कुछ नाम देकर ऐसी रेखा खिंची मान सकते हैं। आप ऐसी एक रेखा मान लीजिए जो ऊपर की ओर आप के ठीक माथे के ऊपर से जाकर ध्रुवों की ओर तक फैली है। इस रेखा का कुछ नाम भी रक्खा गया है। नाम कुछ भी हो, पर जब हम सिरके ऊपर वाली रेखा पर किसी तारा के होने की बातें कहें तो उसका मतलब ऐसी रेखा पर कहीं पर भी उस तारा या तारामंडल या राशि के होने की बात समझें। यदि इस रेखा का नाम ही याद रखना हो तो "याम्योत्तर रेखा" नाम याद रक्खा जा सकता है।

यदि रात को आठ बजे सिर के ऊपर वाली या याम्योत्तर रेखा पर दिसम्बर महीने में देखा जाय तो मेष राशि मिलेगी। इसी तरह उनमें की राशियां रात के आठ

बजे हमें आगे के महीनों में माथे के ऊपर उत्तर से दक्खिन जाने वाली या याम्योत्तर रेखा पर मिलेंगी। उनको आप नीचे खाना बनाकर भी लिखा देख सकते हैं रात को दूसरे समयों में देखने के लिए हिसाब या अटकल लगा लेना चाहिए।

जिस मास में सिर के ऊपर उत्तर से दक्खिन तक जाने वाली या याम्योत्तर रेखा पर आठ बजे वह राशि दिखाई पड़ सकती हैं, उसकी सूची नीचे है: —

१—मेष	दिसम्बर
२—वृष	जनवरी
३—मिथुन	फरवरी
४—कर्क	मार्च
५—सिंह	अप्रैल
६—कन्या	मई
७—तुला	जून
८—वृश्चिक	जुलाई
९—धनु	अगस्त
१०—मकर	सितम्बर
११—कुंभ	अक्टूबर
१२—मीन	नवम्बर

यदि आठ बजे रात के बजाय दस बजे रात को आसमान में राशि देखना हो तो एक मास आगे वाले खाने की राशि सिर के ऊपर से दक्खिन जाने वाली या याम्योत्तर रेखा पर होगी। जैसे दिसंबर मास में दस बजे रात को वृष राशि सिर के ऊपर वाली रेखा पर होगी। इसी तरह जनवरी मास में दस बजे रात को सिर के ऊपर वाली रेखा पर मिथुन राशि दिखाई पड़ेगी। दस बजे रात के बजाय बारह बजे रात को देखना हो तो किसी मास के बगल वाले खाने को छोड़कर उसके बाद के खाने वाली राशि सिर के ऊपर होगी। जैसे दिसंबर में बारह बजे रात को मिथुन राशि सिर के ऊपर उत्तर से दक्खिन जाने वाली रेखा या याम्योत्तर रेखा पर होगी। इसी तरह पीछे की ओर हट कर भी राशि के देखने का समय या स्थान पाया जा सकता है।

जिस तरह कुएँ से पानी खींचने के लिए कड़ी रूप में बँधी हुई बाल्टियों या कुंडियों का पहिया होता है, उसी तरह आसमान रूप कुएँ में राशि रूप की बाल्टियों को चरहीनुमा पहिए में बँधा मान सकते हैं। पानी की बाल्टियों में एक आकर पानी गिराती है तब तक दूसरी, तीसरी आती रहती हैं। हम उनके क्रम को जान कर सब की पहचान कर लेने पर ऊपर नीचे आने का सारा चित्र मन में उतार सकते हैं। उसी तरह राशियों की माला सी है। जब एक राशि को किसी महीने के किसी विशेष समय रात को हम सिर के ऊपर उत्तर से दक्खिन जाने वाली रेखा पर पहुँचा देख या जान लेते हैं तो उनके नीचे पूरब में कौन राशियाँ होंगी जो उसके स्थान को लेने चली आ रही होंगी और कौन राशियाँ पश्चिम की ओर ढलती रही होंगी, इस बात का अंदाजा कुछ भी मुश्किल नहीं है। पूरब की ओर कम से कम दो और राशियाँ तो जरूर ही होंगी उसी तरह कम से कम दो राशियाँ पश्चिम की ओर भी होंगी। यदि हम रात को भी जग सकते हों या कभी सूर्य के निकलने के पहले आसमान की ओर देख सकते हों तो शाम को दिखाई पड़ने वाली राशियों में सबसे नीचे पूरब के आसमान की राशियाँ पश्चिम में डूबने की दशा में मिलेंगी और दूसरी राशियाँ सिर पर और पूर्व की ओर दिखाई पड़ने लगी होंगी।

यदि कभी तारों का नक्शा देखने का अवसर मिल जाय तो उसे देखने के लिए सबसे पहले इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह पृथ्वी पर की वस्तुओं का नकशा नहीं है। बल्कि उस जगह का है जो हमारे सिर के ऊपर चँदोवे की तरह है। इसलिए उसे दिशा के हिसाब से किनारा कर सिर पर उलट कर वैसे ही देखने की कल्पना की जाय मानो छोटा आसमान ही देखा जा रहा है तब रात के तारों की जगह ठीक मालूम पड़ेगी। ऐसी बात ध्यान में रखने से मेज पर ही सीधे-सीधे देखने से तारों की जगहें उल्टी मालूम पड़ सकती हैं।

हम को यह जानने की इच्छा हो सकती है कि राशियों या तारामंडलों की ठीक जगह आसमान में क्या माननी

चाहिए। इसका उत्तर यह है कि जिस जगह से हम तारा देख रहे हों उस जगह पर निर्भर करता है कि तारा आसमान में किधर दिखाई पड़े। पहली बात यह जान लेना चाहिए कि पृथ्वी की जो भूमध्य रेखा है उसके ठीक ऊपर आकाशीय मध्यरेखा होगी। अब यदि हम उत्तरी ध्रुव पर से आसमान देखना चाहें तो उत्तरीध्रुव हमारे सिरके ठीक ऊपर होगा और चारों ओर हमें जितने भी तारे दिखा पड़ेंगे वे कभी डूबते नहीं मालूम पड़ेंगे। यह जरूर होगा कि पृथ्वी को छूने वाले आसमान की किनारी या क्षितिज के पास वाले तारे क्षितिज या धरातल के ही समानान्तर चलते मालूम पड़ेंगे और ऊपर के तारे घड़ी की सुई से उल्टी दिशा में चक्कर लगाते दिखलाई पड़ेंगे। इस दृश्य में केवल आकाशीय मध्य रेखा से एक ओर या उत्तर की ओर के ही तारे होंगे। हम यह भी कह सकते हैं कि उत्तरी आकाशीय गोलार्द्ध ही हमारे सामने दिखाई पड़ता रहेगा; इस हालत में हमें वे तारामंडल या राशियां ही दिखाई पड़ेंगी जो आकाशीय मध्य रेखा पर या उसके उत्तर रहती हैं। जो राशियां हमें जाड़ों में दिखाई पड़ती हैं
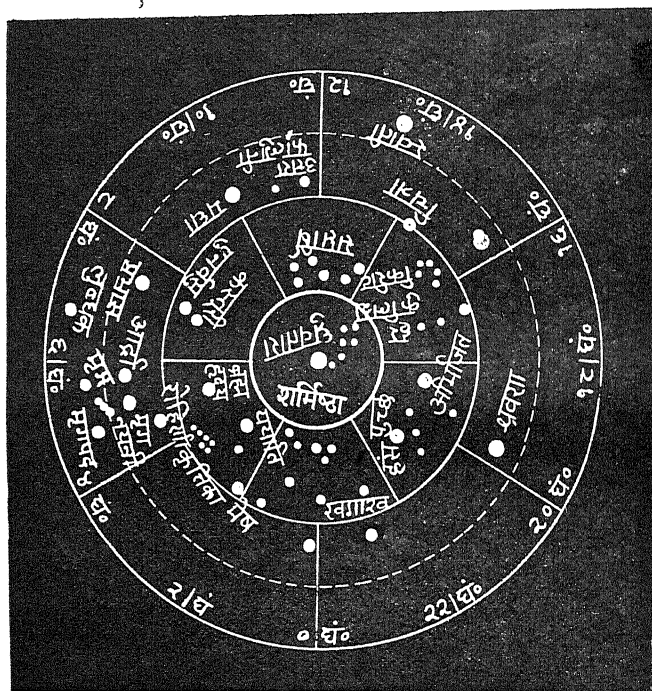
[ब्लाक—आदर्श साहित्य मंदिर, चौक इलाहाबाद के सौजन्य से]

आकाश का उत्तरी गोलार्द्ध

वे आकाशीय मध्य रेखा के दक्षिण होने से न दिखाई पड़ेंगी। इस कारण कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर और कुम्भ राशियों का दर्शन करना दुर्लभ हो जायगा।

यदि हम कुछ नीचे के अक्षांश में जाकर आकाश देखने की कल्पना करें तो हमें दक्षिण में उतने अंश तक का आकाश अधिक दिखाई पड़ेगा जितने अक्षांश को ध्रुवों के बाद हमने छोड़ा होगा। मान लीजिए कि ५०° उत्तर अक्षांश पर हम ठहरे हैं। उस दशा में भूमध्य रेखा से ४० अंश दक्षिण तक का आकाश दिखाई पड़ने लगेगा लेकिन साथ ही उत्तर में इतना ही अधिक आकाश दिखाई
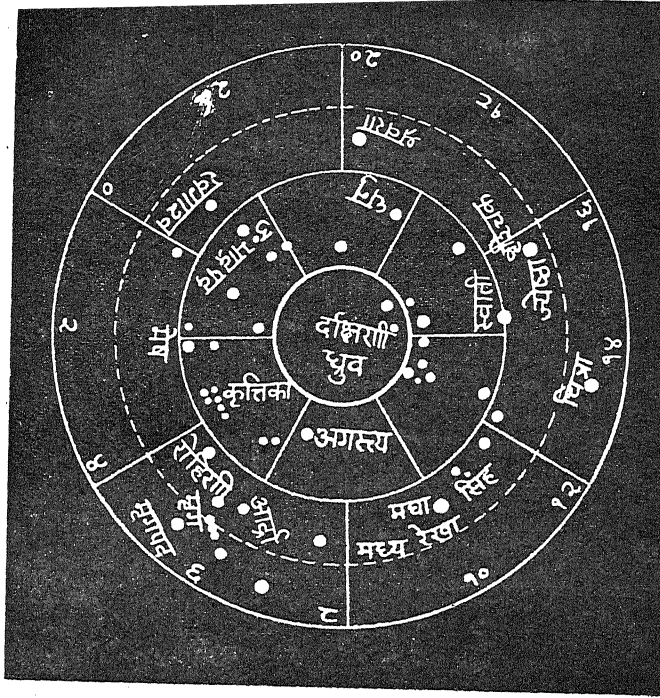
[ब्लाक—आदर्श साहित्य मन्दिर, चौक इलाहाबाद के सौजन्य से]

आकाश का दक्षिणी गोलार्द्ध

पड़ेगा। ध्रुवतारा हमें आकाश में उतना अंश ऊपर दिखाई पड़ता है जिस अक्षांश पर हम रहते हैं। इसलिए हमें उत्तर में उसके नीचे भी ५० अंश तक आकाश दिखाई पड़ता रहेगा। यह कल्पना करने में हमें देर नहीं लग सकती कि जहाँ ध्रुव पर रहने में हमें चारों ओर ९० अंश तक (आकाशीय मध्य रेखा तक) के तारे हर रात को दिखाई पड़ते रहते थे, वहाँ ५०° उत्तर अक्षांश में हमें ध्रुवतारा के चारों ओर ५० अंश तक के तारे किसी भी रात को डूबते न दिखाई पड़ेंगे। ऐसी दशा में हमारी दृष्टि की दक्षिणी सीमा या दक्षिणी क्षितिज पर आकाशीय मध्य-रेखा से ४० अंश दक्षिण के तारे होंगे। हर दशा में हमें कुल १८० अंश ही दिखाई पड़ सकता है। हम २५ उत्तर अक्षांश पर हों तो ध्रुवतारा से २५ अंश नीचे तक के तारे दिखाई पड़ेंगे और उसकी जगह दक्षिण में (९०-२५ = ६५ अंश) आकाशीय मध्य रेखा से ६५ अंश दक्षिण तक के तारे दिखाई पड़ेंगे। उस दशा में दक्षिणी क्षितिज पर वे तारे होंगे जो आकाशीय मध्य रेखा के ६५ अंश दक्षिण की रेखा पर हो सकते हैं। यदि हम भूमध्य रेखा के पास हों तो हमें दोनों ओर ९०, ९० अंश का आकाश देखने को मिलेगा। उत्तरी क्षेत्र में ध्रुवतारा बिल्कुल क्षितिज से सटा दिखाई पड़ेगा, उसी तरह दक्षिण में भी आकाशीय दक्षिणी ध्रुव के पास के तारे होंगे।

यदि हम दक्षिणी ध्रुव के किसी स्थान से आकाश देखें तो उस समय भी हमें कोई तारा डूबता नहीं दिखाई पड़ सकता, ध्रुवतारा का कहीं नाम ही न होगा। वहाँ से तो केवल आकाशीय मध्य रेखा तक के तारे दिखाई पड़ेंगे। जिन राशियों को हम लोग गर्मी के दिनों में देखते हैं, वे बिल्कुल ही दिखाई न देंगी। मीन, मेष वृष, मिथुन, कर्क और सिंह राशियों को देखना दुर्लभ होगा। सप्तर्षि और दूसरे तारे न होंगे जो हमें उत्तर में दिखाई पड़ते हैं।

इन स्थितियों में तारा देखने की कठिनाई समझ लेनी चाहिए। हमें नए ज्योतिष *की पुस्तकें प्रायः योरप और

उत्तरी अमेरिका की छपी मिलती हैं जो ४०-४५ अंश उत्तर अक्षांश के उत्तर के भागों में रहने वाले देश हैं। उनके यहाँ ध्रुवतारा के चारों ओर ४०-४५ अंश तक के तारे कभी डूबते नहीं दिखाई पड़ते। दूसरे जो तारा मंडल हमें सिर के ऊपर के आकाश में दिखाई पड़ते हैं उनको वे दक्षिण के आकाश में लटके देख सकते हैं। हमको जो दक्षिणी आकाश के तारामंडल दिखाई पड़ते हैं, उनको ये लोग कभी देख नहीं पाते। उदाहरण के लिए अगस्त्य ऋषि की कहानी बताने के लिए यदि इस तारे को कोई आकाश में ढूँढ़ना चाहे तो वहाँ नहीं देख सकता। इसलिए इन बातों के सम्बन्ध में होशियार रहकर उन देशों की पुस्तकों या नकशों के वर्णनों को पढ़ना या समझना चाहिए।

ग्रहों का दर्शन

ग्रहों का दर्शन करने के लिए पहले राशियों या तारामंडलों की पहचान कर लेनी चाहिए। किसी राशि में जितने तारे बराबर दिखाई पड़ते हैं उनके अलावे कोई प्रकाश की बिन्दी होगी तो वह ग्रह हो सकता है! चमकीले ग्रहों को देखने का समय और राशियों के नाम यहाँ दिए हैं!

शुक्र ग्रह

	जनवरी	अप्रैल	जुलाई	अक्टूबर
१९५६	मकर	—	वृष	सिंह
५७	धनु	वृष	कर्क	वृश्चिक
५८	मकर	कुम्भ	वृष	—
५९	—	मेषवृष	सिंह	सिंह
६०	वृश्चिक	—	—	तुला
६१	कुम्भ	मीन	वृष	सिंह
६२	—	वृष	सिंह	तुला
६३	वृश्चिक	कुम्भ	—	—
६४	कुम्भ	वृष	वृष	सिंह
६५	धनु	—	सिंह	वृश्चिक
६६	—	कुम्भ	मिथुन	—

ऊषाकाल में शुक्र दर्शन का समय

जुलाई	१९५६	से	जनवरी	१९५७	तक
फरवरी	१९५६	से	अगस्त	१९५८	तक
दिसम्बर	१९५९	से	मार्च	१९६०	तक
अप्रैल	१९६१	से	अक्टूबर	१९६१	तक
नवम्बर	१९६२	से	जून	१९६३	तक
जुलाई	१९६४	से	जनवरी	१९६५	तक
फरवरी	१९६६	से	अगस्त	१९६६	तक

सायंकाल शुक्र दर्शन का समय

जनवरी	१९५६	से	मई	१९५६	तक
जून	१९५७	से	जनवरी	१९५८	तक
फरवरी	१९५९	से	अगस्त	१९५९	तक
सितम्बर	१९६०	से	मार्च	१९६१	तक
अप्रैल	१९६२	से	अक्टूबर	१९६२	तक
नवम्बर	१९६३	से	मई	१९६४	तक
जून	१९६५	से	दिसम्बर	१९६५	तक

मंगल ग्रह

	जनवरी	अप्रैल	जुलाई	अक्टूबर
१९५६	तुला	धनु	कुम्भ	कुम्भ
५७	मीन	मेष	कर्क	कन्या
५८	वृश्चिक	मकर	मीन	वृष
५९	मेष	मिथुन	कर्क	कन्या
६०	वृश्चिक	कुम्भ	मेष	मिथुन
६१	मिथुन	मिथुन	सिंह	तुला
६२	धनु	कुम्भ	वृष	कर्क

वृहस्पति ग्रह

	जनवरी	अप्रैल	जुलाई	अक्टूबर
१९५६	कर्क	कर्क	सिंह	सिंह
५७	कन्या	सिंह	सिंह	कन्या
५८	कन्या	कन्या	कन्या	तुला
५९	तुला	वृश्चिक	तुला	वृश्चिक
६०	वृश्चिक	धनु	वृश्चिक	वृश्चिक
६१	धनु	मकर	मकर	धनु
६२	मकर	कुंभ	कुम्भ	कुम्भ

शनि ग्रह

१९५६	तुला	वृश्चिक	तुला	तुला
५७	वृश्चिक	वृश्चिक	वृश्चिक	वृश्चिक
५८	वृश्चिक	वृश्चिक	वृश्चिक	वृश्चिक
५९	धनु	धनु	धनु	धनु
६०	धनु	धनु	धनु	धनु
६१	धनु	धनु	धनु	धनु
६२	मकर	मकर	मकर	मकर

विज्ञान की भाषा—गणित

अशोक शर्मा, प्रयाग विश्वविद्यालय

विज्ञान की भाषा—गणित—भाषा हमारी अनुभूतियों के अभिव्यंजन का साधन है, अतः भाषा का प्रकार हमारी अनुभूतियों के प्रकार पर होना स्वाभाविक है। यही कारण है, कि हमारी साधारण प्रत्यक्षानुभूतियों के लिए जहाँ साधारण बोल चाल की रूढ़ भाषा पर्याप्त समझी जाती रही है, वहाँ परोक्षानुभूतियों के लिए यौगिक भाषा या उपमाओं को आवश्यक समझा गया है। 'अनुभव भेद के अनुसार भाषा-भेद होना आवश्यक है, इस नियम के आधार पर वैज्ञानिकों ने यह अनुभव किया कि यद्यपि हमारे साधारण व्यावहारिक अनुभवों को व्यक्त करने के लिए हमारी बोल चाल की भाषा पर्याप्त है, परन्तु वैज्ञानिक प्रयोग-प्रदत्त अनुभवों को व्यक्त करने में यह भाषा सर्वथा असमर्थ है; क्योंकि वेदनाओं के आकार व प्रकारों के अति सूक्ष्म भेदों को जानने के लिये, जहाँ उपर्युक्त यन्त्रों का आविष्कार आवश्यक हुआ है, वहाँ उन वेदनाओं के व्यंजक संज्ञाओं के बारीकतम भेदों को व्यक्त करने के लिये संख्याओं के आविष्कार की आवश्यकता हुई। इस प्रकार यदि 'संज्ञा' प्रकार की भाषा की मूल है; तो 'संख्या' आकार की भाषा की जननी है।

वर्त्तमान विज्ञान का आधार जब प्रयोग है, और प्रयोग का आधार माप है, जिसका फल संख्या है, तो वैज्ञानिक प्रयोगों के फलों को (नियमों को) ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिये संख्या-भाषा (सांख्य शास्त्र या गणित शास्त्र) ही उपयुक्त हो सकता है। इस विचार के अनुसार गणित शास्त्र भाषा विज्ञान का ही एक अंग सिद्ध होता है, और प्रयोगावलम्बी विज्ञान के अनुभवों के अभिव्यंजन के लिये यही सर्वोत्तम साधन है।

जिन्हें गणित की भाषा का अच्छा अभ्यास नहीं, उन्हें अनेकों वैज्ञानिक विषय समझने में वही कठिनाई पड़ती है, जो कि साधारण समझ के मनुष्यों को वेदान्त के गम्भीर तत्वों के समझने में होती है। उपयुक्त भाषा के अभ्यास के बिना सभी परमार्थ के विषयों का समझना समझाना "गूंगे के गुड़" और 'अन्धे के हाथी' के समान दुस्साध्य विषय है।

वैज्ञानिक नियम और गणितीय समीकरण—किसी घटना के वैज्ञानिक अन्वेषण का मुख्य प्रयोजन उस घटना के घटित होने के नियम का निर्धारण करना है, और यह नियम घटना के सम्बन्ध में किये गये इस प्रश्न का उत्तर है, कि "घटना कैसे या किस प्रकार होती है ?" इस प्रश्न को करते समय अन्वेषक यह मान लेता है, कि घटना सदा ही, एक सुनिश्चित या ज्ञातव्य प्रकार से होती है। अन्वेषण में प्रवृत्त होते समय अन्वेषक, पहले यह जानने का प्रयत्न करता है, कि इस घटना पर किन-किन घटकों का प्रभाव पड़ता है। तब वह प्रत्येक घटक के प्रभाव को पृथक-पृथक ज्ञात करने के लिये प्रयोग करता है। तब वह अपने अनेक प्रयोगों में यह देखता है, कि इन प्रयोगों से प्राप्त संख्याओं में कोई स्थायी अविचल सम्बन्ध है या नहीं, और यदि है, तो उसका क्या रूप है। उदाहरणार्थ यह देखा जाता है, कि गैसों का आयतन दाब व तापक्रम पर निर्भर है, और गैसों के आयतन दाब व तापक्रम के पारस्परिक अविचल सम्बन्ध को ज्ञात करने के लिये बौयल तथा चार्ल्स ने अनेकों प्रयोग किये तथा उनके द्वारा तीनों में निम्न सम्बन्ध ज्ञात किया।

$$\frac{\text{आ} \times \text{दा}}{\text{ताप}} = \text{स} \ldots\ldots (१)$$

इस सूत्र में 'आ' गैस का आयतन 'दा' दाब और 'ताप' परम तापक्रम (absolute temp) है। 'स' एक स्थिर व अचर संख्या है, जो किसी गैस पर किये गये प्रयोग विशेष में स्थिर रहती है, परन्तु गैस की मात्रा बदलने से बदल जाती है।

प्रयोग-प्राप्त नियमों में हमें दो प्रकार की संख्याएँ (राशियां) मिलती हैं : एक चर दूसरी अचर। उपरोक्त नियम में आ, दा और ताप चर राशियाँ हैं, तथा स अचर राशि है; क्योंकि किसी भी गैस पर प्रयोग करने पर, हम इन राशियों को बदलते जाते हैं; और देखते हैं कि यह सर्वथा स्वतन्त्र रूप से नहीं बदलतीं, वरन् इस प्रकार बदलती हैं, कि यदि आयतन व दाब के गुणनफल में तापक्रम का भाग दें तो लब्ध सर्वदा स्थिर होगा। तीन चर राशियों का यह अचर सम्बन्ध ही वह नियम है जिसके अनुसार किसी गैस का व्यवहार होगा।

गणित की दृष्टि में समीकरण द्वारा हम दो या अधिक चर राशियों (Variable) की चरता को सीमित करते हैं, क्योंकि उन चर राशियों में से यदि हम किसी को स्वतन्त्रता पूर्वक बदलते हैं, तो अन्य राशियों की स्वतन्त्रता का हरण हो कर वे एक सीमा के भीतर ही बदलने को बाध्य होतीं हैं। दो चर राशियों के एक समीकरण द्वारा एक चर राशि की स्वतंत्रता का हरण हो जाता है, और दो समीकरण दोनों की स्वतन्त्रता हरण कर उनके मूल्य निश्चित कर देते हैं। अतः एक चर राशि के मूल्य के स्थिर करने के लिये एक समीकरण, दो चर राशियों के मूल्य को स्थिर करने के लिये दो समीकरण, और १० चर राशियों के मूल्यों को स्थिर करने के लिये १० समीकरणों की आवश्यकता पड़ती है। इस विचार के अनुसार गणित के समीकरणों द्वारा कुछ चर राशियों के पारस्परिक संबंध में एक स्थिरता लाई जाती है। वैज्ञानिक नियम द्वारा हम किसी घटना के परिवर्तन-शील बाह्य स्वरूप के भीतर एक अपरिवर्तनशील तत्व को जानते हैं। अतः वैज्ञानिक नियम और गणित के समीकरण एक ही लक्ष्य की पूर्ति के साधन सिद्ध होते हैं और गणितीय समीकरण ही उस के नियम को ठीक व्यक्त करता है।

व्यंजक या फल (Expression & function)–चर राशियों के पारस्परिक परिवर्तन के अनेक प्रकारों को व्यक्त करने के जो भी साधन गणित में प्रयुक्त होते हैं, वह व्यंजक या फल कहलाते हैं। जैसेः—

$ax + b, ax^2 + bx + c, a_n x^n + a_{n-1} x^{n-1} + \ldots + ax + a_0$, $a \sin x$, a^x, $\log x$ – – आदि एक चर राशि x के अनेक व्यंजक हैं। क्योंकि, इनका मूल्य x के मूल्य पर निर्भर है।

व्यवहार में भी हमें प्रायः दो या अधिक राशियों के पारस्परिक परिवर्तन के प्रकार जानने की आवश्यकता पड़ती है। एक वृत्त की त्रिज्या का, उसकी परिधि से क्या सम्बन्ध है, तथा दीर्घवृत (ellipse) के धरातल व उसकी अक्षियों का क्या सम्बन्ध है? गणित की भाषा में कहा जायगा कि वृत्त की परिधि उसकी त्रिज्या का एक सुनिश्चित फल है, जिसे गणित के इस समीकरण द्वारा व्यक्त करते हैं :—

वृत्त की परिधि (Circumference of a circle) $S = 2\pi r$

अन्य सम्बन्धों को भी विभिन्न फलों द्वारा व्यक्त किया जाता है। जैसे :—

गोल की सतह (Surface of a sphere) $S = 4\pi r^2$

दीर्घवृत्त का क्षेत्रफल (Area of an ellipse) $A = \pi a b$;

फलों के निर्णीत और अनिर्णीत मान, तथा अनिर्णीत मानों का चलन कलन से सम्बन्ध (Determinate and indeterminate values of functions, and the relation of Differential

Calculus with the Indeterminate values) यदि फल, $y = x^2$, में हम x का कोई भी स्वतन्त्र मूल्य दें तो y का मान सुनिश्चित व ज्ञातव्य होगा, जिसे जानने में कोई विशेष कठिनाई नही होगी। क्यों कि x के मूल्य का वर्ग ही y का मान होगा। इसी प्रकार

$$\text{फल } y = \frac{x \ -1}{x-1},$$

का मान ज्ञात करने में सामान्यतयः कोई कठिनाई न होगी। परन्तु x को एक के बराबर रखकर यदि y का मान साधारण स्थानापत्ति (Substitution) की प्रक्रिया से जानने का प्रयत्न किया जायगा तो असामान्य आपत्ति आयेगी क्यों कि तब y का मूल्य इस प्रकार आयेगा :—

$$y = \frac{x^2-1}{x \ -1} = \frac{1-1}{1-1} = \frac{0}{0} \text{।}$$

यहाँ $\frac{0}{0}$ एक आपत्तिजनक भिन्न है। यह सहज ही देखा जा सकता है, कि इसका कोई निश्चित या निर्णीत मान नहीं। $\frac{0}{0}$ एक अनिर्णीत व्यंजक है, क्योंकि इसका मान किसी भी सीमित संख्या के समान हो सकता है।

क्योंकि $0 \times 3 = 0 \qquad \therefore \frac{0}{0} = 3$

$0 \times 1000 = 0 \qquad \frac{0}{0} = 1000$

$0 \times x = 0 \qquad \frac{0}{0} = x$

यहाँ x कोई भी सीमित संख्या हो सकती है।

क्योंकि $\frac{0}{0}$ का कोई निश्चित मान नहीं, इसलिए इसे अनिर्णीत मान कहा जाता है। गणितीय फल के अनिर्णीत मान को अन्य प्रकार से भी लिखा जाता है। परन्तु मूल में वे सब $\frac{0}{0}$ के ही रूपान्तर हैं। जैसेः—

$$\frac{\infty}{\infty} = \frac{1/\infty}{1/\infty} = \frac{0}{0} \text{ अथवा } 0 \times \infty = \frac{0}{1/\infty} = \frac{0}{0}$$

इस प्रकार अनिर्णीत मान का मूल स्वरूप $\frac{0}{0}$ ही है, यद्यपि $\frac{\infty}{\infty}$ तथ $0 \times \infty$ भी अनिर्णीत मान ही हैं। परन्तु ये केवल $\frac{0}{0}$ के रूपान्तर ही है।

गणितीय फलों का अनिर्णीत मान और उनका चरम मान (Indeterminate and limiting values of an expression.)

गणित के फलों का वर्गीकरण यदि उनके मानों के प्रकार के अनुसार किया जाय तो हम उनका विभाजन इस प्रकार से करेंगे :—
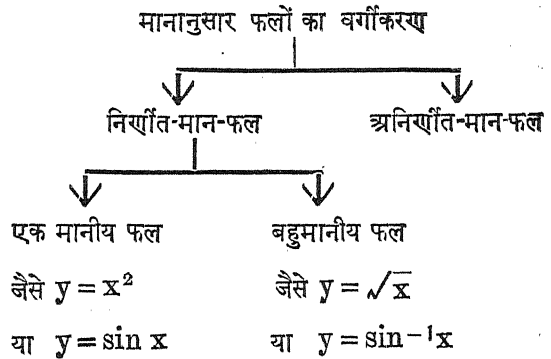
अनिर्णीत मानीय फल एक प्रकार से ऐसे बहुमानीय फल हैं, जिनके मान असंख्य हैं। परन्तु इन अनिर्णीत असंख्य मानों में एक मान ऐसा है जिसे निर्णीत मान के समान कहा जा सकता है। असंख्य अनिर्णीत मानों में से इस एक निर्णीत मान को दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है :—

$$(\text{क}) \quad y = \frac{x^2-1}{x-1} = \frac{(x+1)(x-1)}{x-1} = (x+1) \cdots\cdots (2)$$

यदि x के स्थान पर १ लिखने से पहले, हम भिन्न के अंश और हर में से उभय गुणक $(x-1)$ को हटाकर, तब शेष $(x+1)$ में x के स्थान पर १ लिखें तो y का मान २ प्राप्त होता है। फल के अनिर्णीत से निर्णीत रूप में आने की इस क्रिया को ध्यान से देखने से पता चलता है, कि फल के प्रारम्भिक रूप के अनिर्णीत होने का कारण यह अनिर्णीत गुणक $\frac{0}{0}$ ही है। इससे सिद्ध है कि हम किसी भी फल को व्यक्त करने वाले ऐसे व्यंजक

को, जो कि x के किसी विशेष मूल्य a के लिये निर्णीत मान बढ़ाता है, यदि ऐसे व्यंजक से गुणा कर दें, तो x के उसी विशेष मूल्य a के लिए अनिर्णीत मान वाला है, तो वह फल स्वयं अनिर्णीत मान वाला हो जाता है।

फल, $y = x^२$ पूर्णतया निर्णीत मान वाला है।

परन्तु फल $y = \frac{x^२(x-२)}{x-२} = \frac{x^३ - २x^२}{x-२}$,

x के विशेष मूल्य २ के लिये अनिर्णीत मानवाला हो जाता है। गुणक $\frac{x-२}{x-२}$ से गुणा करने से पूर्व x के मूल्य २ के लिये y का मान ४ था, परन्तु $\frac{x-२}{x-२}$ से गुणा करने पर फल का मान x के इसी मूल्य २ के लिये अनिर्णीत हो गया।

अब प्रश्न होता है, कि अनिर्णीत मान वाले फलों के इस निर्णीत मान का क्या अर्थ है। हम देख चुके हैं, कि फलों के मानों को अनिर्णीत करने का प्रधान कारण प्रायः $\frac{0}{0}$ गुणक ही होता है। इसीलिये यह देखना है, कि फलों के मानों में अनिर्णीतता लाने वाले इस गुणक के अन्दर कहीं उसकी निर्णीतता तो छिपी नहीं है। अनिर्णीत मान ($\frac{0}{0}$) में छिपे निर्णीत मान को ज्ञात करने को निम्न गणितज्ञों ने विधि विशेष का आविष्कार किया है, जिसे **चरम विधि** (Limiting process) कहा जाता है। और इस विधि से प्राप्त $\frac{0}{0}$ का मान चरम मान कहाता है, और यह चरम मान निर्णीत मान होता है।

चरम विधि (Method of Limits or Limiting process) इस विधि का सामान्य रूप यह है। यदि x के किसी मूल्य a के लिये y का मान $\frac{0}{0}$ हो जाता है, तो x के स्थान पर (a + da) रख कर व्यंजक का मान निकाला जाय और ऐसा करते समय $da^२$ आदि उच्चतर घातीय पदों को छोड़ दिया जाय। ऐसा करने से जो y का मान आयेगा वही व्यंजक का चरम मान कहायेगा। चरम मान कहने का प्रयोजन यह है, कि यह वह माव है, जो उस समय प्राप्त होगा जब da घटते २ छोटाई की चरम सीमा को प्राप्त हो जायगा। δa, या δx के इस अत्यल्प मूल्य के लिये da या dx संकेत सर्व सम्मति से मान लिये गये हैं। गणित की सांकेतिक भाषा में y के इस चरम मान को इस प्रकार लिखा जाता है :—

$$\underset{x \to a}{\text{Limit}}\; y = \underset{x \to a}{L}\, y = \underset{x \to a}{L}\, \frac{x^२ - a^२}{x-a}$$

x के स्थान पर a + da रखने पर हम देखेंगे कि:—

$$y = \frac{x^२ - a^२}{x-a} = \frac{(a+da^२) - a^२}{(a+da) - a} =$$

$$\frac{a^२ + 2ada + da^२ - a^२}{a + da - a} = \frac{2ada}{da} = 2a$$

उपरोक्त उदाहरण में ध्यान देने योग्य बात यह है, कि इस विधि में हमने $\frac{da}{da}$ को १ के बराबर मान लिया है, इस प्रकार y का मान 2a रख दिया है। यदि da को हम आरम्भ से ही शून्य मान लेंगे तो हमें y को 2a के बराबर रखने का अधिकार न होगा अतः da को हम अत्यन्त सूक्ष्म राशि मान कर उसे अन्य गुणक से पृथक करते हैं।

गणित के फलों के परिणमन के प्रकार—(Forms of the variation of mathematical functions) :—गणित में हमें न केवल फलों के मान ही ज्ञान करने होते हैं, वरन् फलों के स्वरूप से उनके परिणमन के प्रकार को जानने की क्रिया भी जानना आवश्यक होता है। थोड़े से फलों को छोड़ कर अन्य फलों के परिणमन के प्रकार सरल नहीं होते, परन्तु फलों की नाइं न्यूनाधिक परिमाण में जटिल ही होते हैं। व्यवहार में भी हमें ऐसे प्रसंग मिलते हैं, जिनमें हमें दो चार राशियों के पारस्परिक परिवर्तन के प्रकार को जानने, और उस परिवर्तन की दर को ज्ञात करने की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए प्रत्येक गतिशील पदार्थ के वेग व वेग-वृद्धि को जानने की आवश्यकता होती है। पृथ्वी की ओर गिरते हुए पदार्थों का वेग निरन्तर बढ़ता जाता है,

:सलिये इसका वेग प्रत्येक क्षण बदलता है, और इसलिये सका केवल तात्कालिक वेग ही निश्चित होता है। परन्तु ह तात्कालिक वेग भी एक अनिर्णीत राशि ही सिद्ध होती है, क्योंकि $\frac{ds}{dt}$ का मूल्य वह चरम मान है, जो अत्यल्प दूरी ds और अत्यल्प समय dt का अनुपात है। यदि दूरी s और समय t का सम्बन्ध समीकरण, $s = \frac{1}{2} gt^2$ के द्वारा व्यक्त करें तो प्रश्न होगा कि गिरने वाले पदार्थों का तात्कालिक वेग, $v = \frac{ds}{dt}$, क्या होगा? गणित के एक विशेष उपयोगी विभाग, चलन कलन, का आविष्कार सी प्रकार के प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने को हुआ था। स प्रश्न का उत्तर चरम विधि से ही प्राप्त होता है।

$$v = \frac{ds}{dt} = \underset{dt \to 0}{L} \frac{ds}{dt}$$

पृथ्वी की ओर गिरने वाले पदार्थों के गिरने की दूरी, , और उसके समय के पारस्परिक सम्बन्ध का सूचक मीकरण, $s = \frac{1}{2} gt^2$, है।

$\therefore s + ds = \frac{1}{2} g (t + dt)^2 = \frac{1}{2} g (t^2 + 2\ tdt)$

dt² को छोड़ने पर नीचे के समीकरण में से ऊपर घटाने पर हम देखते हैं कि,

$ds = gt.\ dt$

या $ds \backslash dt = gt$ या v

परिणाम यह निकलता है, कि गिरते हुए पदार्थ का काल का क्रमानुपाती होगा। इस प्रकार वेग-वृद्धि

$$= \frac{dv}{dt} = \underset{dt \to 0}{L} \frac{\delta v}{\delta t} = \frac{g\ (t + dt) - gt}{dt} =$$

$$g \frac{dt}{dt} = g$$

अतः सब पदार्थ सम वेगवृद्धि 'g' से गिरते हैं।

इसी प्रकार यदि एक चर राशि, *y*, यदि दूसरी चर शि x का फल है, और *y* व x का सम्बन्ध हम किसी ेचत व्यंजक f (x) के रूप में व्यक्त करते हैं, अर्थात्

$$y = f\ (x)$$

$$\text{तो } y + \delta y = f\ (x + \delta x)$$

$$\therefore \delta y = f\ (x + \delta x) - f\ (x)$$

$$\underset{\delta x \to 0}{Lt} \frac{\delta y}{\delta x} = \frac{dy}{dx} = \underset{dx \to 0}{L} \frac{f(x + dx) - f(x)}{dx}$$

इसमें $\frac{dy}{dx}$: x की अपेक्षा y के परिणाम की वह चरम दर है, जो x में न्यूनतम परिवर्तन dx करने से *y* में उत्पन्न होती है। dy व dx की इस चरम निष्पत्ति को हम अवकल गुणक (differential coeficient) कहते हैं, और राशियों के फलों के यह अवकल गुणक ज्ञात करना ही, चलन कलन का लक्ष्य है।

यहाँ यह ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है, कि $\frac{dy}{dx} = \frac{0}{0}$, यदि $\frac{dy}{dx} = \frac{0}{0}$ के बराबर होता तो dy/dx ज्ञात करना सम्भव ही होता, क्योंकि $\frac{0}{0}$ तो सर्वथा अनिर्णीत संख्या है। यहां dy व dx अत्यल्प परिमाण की राशियां हैं। कल्पनातीत होते हुए भी सर्वथा शून्य नहीं हैं। यदि यह शून्य ही होतीं तो न तो ये हमारे विचारों में ही आतीं और न व्यवहार में। यह राशियां छोटी होने पर भी गणितीय नियमों का अनुगमन करती हैं। इनकी अपेक्षा इनके वर्ग तथा अन्य उच्चतर घात उपेक्षणीय हैं, ये स्वयं उपेक्षणीय नहीं। जब हम यह कहते हैं, कि dy/dx = २, तो हमारा प्रयोजन यह है, कि व dx के अत्यल्प होते हुए, dy परिणाम में dx से दुगनी है।

कभी २ dy\dx स्थिर संख्या न हो कर उसका मान एक व्यंजक के रूप का होता है, जैसे $\frac{dy}{dx} = 3\ x^2$ या $\frac{dy}{dx} = ax^2 + bx + c$ या $\frac{dy}{dx} = f\ (x)$। इन उदाहरणों में $\frac{dy}{dx}$ स्वयं x का फल है, और उसके उस पर निर्भर है। इसलिए इसको y का व्युत्पन्न फल (deri-

vative) भी कहते हैं, और y' या $f'(x)$ से भी व्यक्त करते हैं। क्यों कि $\frac{dy}{dx}$ या $f'(x)$ भी x का ही फल है, अतः इसका भी एक व्युत्पन्न फल जाना जा सकता है, और इसे द्वितीय व्युत्पन्न फल कहते है। इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ आदि व्युत्पन्न फल भी जाने जा सकते हैं। किसी फल विशेष के व्युत्पन्न फलों को जानने के विधि को 'अवकलन' की क्रिया कहेंगे।

चलन कलन गणित का वह भाग है, जिसमें हम दो या दो से अधिक चर राशियों के विभिन्न फलों के विभिन्न व्युत्पन्न फलों को जानते हैं, अथवा वह जानते हैं, कि इन फलों की यह राशियाँ एक दूसरे की अपेक्षा किस प्रकार बदलती हैं।

जगत का स्वरूप परिवर्तनशील है, और वैज्ञानिक नियम इन परिवर्तनों के प्रकारों को बताते हैं, जिन्हें हम एक अवकल समीकरण के रूप में सबसे अधिक निर्भ्रान्त और उपयोगी रूप में समझ सकते हैं। इसलिए चलन कलन भौतिक विज्ञान को ही नहीं वरन् विज्ञान की लगभग सभी शाखाओं के रहस्यों को समझने में विशेष सहायक है।

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि विज्ञान का, विशेष कर भौ० वि० का, मुख्य लक्ष्य भौतिक जगत की विभिन्न घटनाओं के ऐसे नियम निर्धारित करना है जो इस प्रकार की समस्त घटनाओं में समान रूप से लागू हों और जिनकी सहायता से हमें उस प्रकार की सभी भूत व भविष्य घटनाओं का पूरा ज्ञान प्राप्त हो सके। इसलिए घटना के नियम का ठीक अभिव्यंजक सूत्र वही होगा जो घटना की देश, काल आदि संबंधी विशेषताओं से यथासंभव रहित हो।

भौतिक विज्ञान नियम और अवकल समीकरण— भौतिक विज्ञान के नियमों को हम बीज गणित के समीकरण द्वारा व्यक्त करते हैं। परन्तु वह बीजीय समीकरण उस एक ही घटना से संबन्धित होता है। यदि हम ऐसा विशेष व्यापक नियम जानना चाहें जो इस प्रकार की सभी घटनाओं में समान रूप से लागू हो तो हमें इस घटना की विशेषताओं की सूचक अचर राशियों से इस समीकरण को मुक्त करना होगा। और इन अचर राशियों से मुक्त विशेष व्यापक नियम का सर्वोत्तम स्वरूप एक अवकल-समीकरण होगा जैसे न्यूटन के अति विषयक नियम को हम इस प्रकार लिखेंगे;

$$F = m\frac{d^2s}{dt^2}$$

अथवा सरल आवर्त्तगति मात्र के लिए यह सूत्र होगा।

$$\frac{d^2s}{dt^2} = -\mu s$$

अथवा तरंग के लिए यह सूत्र होगा।

$$\frac{d^2y}{dt^2} = x^2\frac{d^2y}{dx^2}.$$

—:-o-:—

पौधों के रोगों की कीटाणुनाशक औषधियाँ　　[पृष्ठ २४ का शेषांक

कम शुद्ध स्ट्रैप्टोमाइसिन के अधिक प्रभावकारी सिद्ध होने का कारण यह हो सकता है कि बड़े पैमाने पर तैयार की गई स्ट्रैप्टोमाइसिन में शायद कोई ऐसा तत्व मौजूद हो जो शुद्ध स्ट्रैप्टोमाइसिन में न पाया जाता हो।

—युनाइटेड स्टेट्स इन्फार्मेशन सर्विस

उपेक्षाकृत अशुद्ध स्ट्रेप्टोमाइसिन अधिक प्रभावकारी

वैज्ञानिकों का विचार है कि शुद्ध स्ट्रैप्टोमाइसिन की अपेक्षा बड़े पैमाने पर तैयार की गई और अपेक्षाकृत

कपड़ा

डा० आर० सी० मेहरोत्रा

बच्चो, क्या तुम्हें मालूम है कि यह जो बढ़िया-बढ़िया कपड़े तुम लोग पहने हो यह कैसे बनते हैं।

बच्चे : यह मिल में बनते हैं।

पर किस चीज से बनते हैं, यह भी तुम्हें मालूम है ?

बच्चे : यह सूत से बनते हैं।

सूत कहाँ से आता है ?

बच्चे : सूत रुई से आता है।

और रुई : अच्छा तो तुम आज आरम्भ से कपड़े की कहानी सुनो। तुम लोगों ने कपास का नाम तो सुना ही होगा। कपास शब्द संस्कृति के 'कर्पास' शब्द से बना है क्योंकि सबसे पहले कपड़ा बुनना भारतवर्ष ही में शुरू हुआ था।

तुम लोगों को यह तो मालूम ही होगा कि सभ्यता के पहले मनुष्य कपड़े नहीं पहनते थे। अपने को ठण्ड से बचाने के लिए वे लोग पेड़ की छाल और पत्ते पहना करते थे। परन्तु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों बुद्धि का विकास होता गया, लोगों ने कपास की खेती कर कपड़ा बनाना आरम्भ किया। यह तो कहना कठिन है कि कपड़ा कब बनना शुरू हुआ। सिन्ध घाटी में स्थित मोहन जोदड़ों नामक स्थान की खुदाई होने से कपड़े के अवशेष चिन्ह मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि आज से ५००० वर्ष पहले कपड़े का निमार्ण हो चुका था। मिश्र व चीन में भी कपड़ा लगभग इसी काल से प्रयोग हो रहा है, परन्तु आज से लगभग ४०० वर्ष पहले तक योरप में लोग केवल ऊनी कपड़ा ही पहनते थे। वे लोग भेड़ों की खाल से ऊन निकाल कर कपड़ा बुनते थे। कपास उन्होंने नहीं देखा था। पहले पहल उन लोगों ने जब कपास देखी तो मालूम है उसका क्या नाम रक्खा ?.....उन लोगों ने कपास पेड़ों का नाम Vegetable lamb या Zoophyte रक्खा क्योंकि वे समझते थे कि यह मेमने का पेड़ है जिससे हर तरह का सूत निकल सकता हैं और कुछ लोग समझते थे कि कपास की कलियों में मेमना छिपा रहता है और इस छोटे मेमने द्वारा रूई पैदा होती है।

परन्तु बच्चो तुम लोगों को तो मालूम है कि पेड़ों के अन्दर मेमने का बच्चा नहीं रहता, पर यह रूई पैदा करने वाले पेड़ ही होते हैं। कपास के पौधों में फूल जून के महीने में आता है। जब फूल गिर जाते हैं तब इसमें बीज की फली आती है जो धीरे-धीरे बढ़ कर अगस्त में फूट जाती है और इसमें कपास का एक ढेर निकलता है। किसान कपास को हाथ से निकाल निकाल कर एक थैले में इकठ्ठा कर लेते हैं धूप में सुखाने के बाद रूई को कपास के बीज से, जिसे बिनोला भी कहते हैं, अलग कर लेते हैं। पहले यह बीज हाथ से ही बीने जाते थे जिसमें बड़ा समय व मेहनत लगती थी; परन्तु सन् १७५३ में 'ऐली ह्विट्नी' नाम के एक अमरीकन् ने एक मशीन बनाई जिसे Saw gin कहते हैं। इस मशीन के नोकीले दाँतों से रुई और बिनौला बहुत आसानी से अलग हो जाता है।

तो तुम लोगों को मालूम हो गया कि रुई कहाँ से आती है। अब सुनो कि कैसे रुई कताई और बुनाई के बाद बने कपड़े का रूप ले लेती है। इसकी भी एक लम्बी

कहानी है क्योंकि कपड़ा एक दम से तो बनने नहीं लगा बल्कि इसकी उन्नति धीरे-धीरे हुई है।

प्राचीन काल में कताई और बुनाई दोनों ही हाथ से होती थी। बच्चे: क्या जो इतना कपड़ा सब लोग पहनते थे सब हाथ से बुना जाता था?

हाँ, उस समय आजकल की तरह मिलें नहीं थीं।

बच्चे: तो क्या सब लोग मोटा खद्दर ही पहनते थे?

हाँ औं, लेकिन उस काल में भारतवर्ष के महीन और सुन्दर कपड़े की ख्याति संसार भर में प्रसिद्ध थी। शायद तुमने ढाका की मलमल के बारे में सुना हो। इतनी महीन होती थी कि उसका पूरा एक थान अँगूठी से निकल जाता था। आज तक सब को आश्चर्य होता है कि कैसे वे लोग इतना अच्छा कपड़ा तैयार कर लेते थे। वे लोग तकली से सूत कात कर करघे से बुनते थे। तकली तो तुम सबने देखी होगी। तुम में जिन बच्चों ने तकली से सूत काता है वे जानते हैं कि इससे सूत कितना धीमें कतता है। तकली के अन्वेषण के कुछ दिनों बाद लोगों ने एक पहिया बनाया और उस पर घुमा कर सूत कातने लगे। यह पहिया कुछ-कुछ आजकल के चरखे का ही रूप था। धीरे-धीरे इसमें उन्नति होती गयी और १७६७ में हारग्रीव्ज नामक अंग्रेज ने 'जेनी चरखे' का निर्माण किया जिसमें एक के स्थान पर कई तकलियाँ एक साथ प्रयोग हो सकती थीं। हारग्रीव्ज के आस पास के लोग उसकी इस ईजाद से प्रसन्न नहीं हुए क्योंकि उन्हें डर लगा कि इससे उनकी रोजी छिन जायेगी और इतनी बड़ी ईजाद का इनाम बिचारे हारग्रीव्ज को यह मिला कि लोगों ने एक दिन हमला करके उसके चरखे को चकनाचूर कर दिया। परन्तु उसके अन्वेषण ने औरों को मार्ग दिखला दिया था और उसके बाद सूत कातने की विधि में क्रमशः उन्नति होती गयी। इस उन्नति कार्य्य में मुख्य भाग अँग्रेजों ने ही लिया और इनमें क्म्पटन व कार्टराइट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कार्टराइट ने तो ऐसी मशीन बनाई जिससे मोटा पतला सभी प्रकार का सूत काता जा सकता था।

इस प्रकार सूत कातने की विधि में तो बहुत उन्नति हो गयी परन्तु कार्टराइट के समय तक कपड़ा बुनने में करघे ही का प्रयोग होता था। क्या तुमने कभी जुलाहों को कपड़ा बुनते देखा है? कपड़ा दो धागों से बनता है एक लम्बा धागा जो 'ताना' कहलाता है और एक आड़ा धागा जिसे बाना कहते हैं। जुलाहे पहले 'ताना' फैला लेते हैं फिर एक ढरकी में सूत बाँध कर हाथ से उसे ताने के तारों के आर पर ले जाते हैं। कार्टराइट ने पहले पहल एक ऐसा करघा बनाया जिसमें ढरकी यांत्रिक कमानियों से फेकी जा सकती थी। इस प्रकार सन् १७७५ में प्रथम यांत्रिक करघे का आविष्कार हुआ।

बच्चे: "तो क्या उस समय आजकल की तरह बिजलियों से यंत्र चलाए जा सकते थे?

नहीं, कार्टराइट के समय तक मशीनें या तो घोड़ों से चलाई जाती थीं या पानी की शक्ति से चलती थीं। धीरे-धीरे भाप के इंजिने का आविष्कार हुआ और सन् १७८५ के पहले पहल भाप के इंजिन से कपड़े की एक मिल इंगलैण्ड के मैंचेस्टर नाम के शहर में चलाई गई। आजकल भी कपड़े की मिलें या तो भाप की शक्ति से या बिजली से चलती हैं। इन मिलों में कताई व बुनाई के सब काम यंत्रों के द्वारा होते हैं। मिलों में रुई की गाँठों को खोल कर पहले धुना जाता है, फिर उसके रेशों को बराबर करके लम्बे सूत के रूप में लाते हैं। इस सूत को साफ धोकर आवश्यकतानुसार रंग लेते हैं फिर रीलों पर चढ़ा लिया जाता है। इसके बाद उसे ताने बाने के फ्रेम में चढ़ा कर कपड़ा बुन लिया जाता है। मशीन से उतारने के बाद कपड़े को धोया जाता है और उस पर पालिश की जाती है जिसे कपड़े को मरसराइज करना कहते हैं। भारतवर्ष में कपड़े की पहली मिल आज से १०० वर्ष पहले बम्बई में श्री कोवासजी नानाभाई दावर ने लगाई थी और इस समय तो देश में ४०० से भी अधिक कपड़े की मिलें हैं।

बच्चे:—'क्या यह रेशमी कमीज जो मैं पहने हूँ ऐसे ही बनी होगी?'

[शेष पृष्ठ २८ पर

भाप का इंजिन

जगपति चतुर्वेदी

भाप के इंजिन से रेलगाड़ी चलती है। भाप के इंजिन से बड़े बड़े जहाज चलते हैं। भाप के इंजिन से बड़ी-बड़ी कलें चलती हैं। आज दूसरी शक्तियां भी मनुष्य के हाथ आ गई हैं जिनके द्वारा अपनी कलें चला लेता है लेकिन आज भी भाप के इंजिनों का भारी महत्त्व बना हुआ है।

सपने में भी जो बात नहीं आ सकती थी, उसे ही किन आदमियों ने अपनी बुद्धि के बल से पूरा कर दिखाया, यह बात आज छिपी नहीं है। भाप के इंजिन के आरंभिक आविष्कारों में तो कई आदमियों का नाम लिया जाता है लेकिन सचमुच सफलता दिलाने वाली भाप की कल जेम्स वाट ने बनाई।

मिस्र देश में होरो नाम के एक कारीगर ने आज से दो हजार वर्ष पहले भाप की शक्ति से कुछ काम निकालने का उद्योग किया था। उसने एक गोल बर्तन में दो टोंटियाँ लगाईं और उस बर्तन का मुँह बन्द रखा और भीतर भाप पहुँचाने की तरकीब की। यह बर्तन दो डंडियों या खम्भों के बीच चूलों पर लटका रक्खा। बर्तन के अन्दर भाप आने पर टोंटियों के रास्ते बाहर निकलना चाहती। उस जोर के कारण ही बर्तन नाचने लगता। शायद भाप से वह मंदिरों के किवाड़े खुलवाने की युक्ति भी कर सका था। जिस तरह पनचक्की में पानी की धारा उसके पहिये में लगी आड़ी तख्तियों पर चोट करने से उसे घुमाती है उसी तरह किसी मूर्ति के मुँह से भाप की फुहार छोड़ कर सामने का कोई पहिया घुमाने को भी किसी ने युक्ति की।

फ्रांस में डेनिस पेपिन नाम के एक कारीगर ने भाप की कल बनाने का कुछ प्रयत्न किया। वह सत्रहवीं सदी के अन्तिम भाग में इंगलैंड आया। वहां उसने भाप से पम्प चलाने की कुछ कोशिश की।

कहा जाता है कि आवश्यकता ही आविष्कार की माता है अर्थात् कुछ बेढब जरूरत खड़ी होने पर मनुष्य कुछ नई चीज ढूँढ़ निकालता है। इङ्गलैंड में घरों में ईंधन के लिये लकड़ी काम देती रही। उसकी भारी कमी होने पर पत्थरकोयला जमीन की ऊपरी तह से खोद खोद कर निकाला जाने लगा। पत्थर-कोयला भी तो लकड़ी ही है लेकिन बहुत ही अधिक दिन हुए जब वह पृथ्वी के नीचे रह

गया और उसका रूप बदल कर ऐसा हुआ। इसलिए यह जलाने या भट्टी के अन्दर फूँकने के काम आता था।

पृथ्वी की ऊपरी तहों में जो कुछ थोड़ा बहुत पत्थरकोयला था, वह तो कुछ दिनों में ही समाप्त हो चला। इसलिये लोग गहराई में खुदाई करने लगे। कुछ धातुओं के लिये भी खानें गहराई तक खोदी जातीं लेकिन उनमें गहराई पर पानी निकलने लगता। सब काम बन्द हो जाता। खान भी भर कर बर्बाद होने का डर रहता। इस कठिनाई को हल करने के लिये लोग पहले हाथ से पानी खींचते रहे, घोड़ों से भी पम्प चला कर पानी खींचने की कोशिश की जाती लेकिन काम थोड़ा होता और खर्च बहुत पड़ता। इसी टेढ़ी खीर को हल करने के लिए कोई इंजिन निकालने की ओर लोगों का ध्यान गया। सेवरी और न्यूकमेन नाम के दो आदमियों ने भाप की शक्ति से चलने वाला पम्प बनाने में कुछ कामयाबी पाई।

पिचकारी में बाँस या धातु की नली होती है। उसी में एक डन्डे के सिर पर बँधी हुई कपड़े या चमड़े की गद्दी सी होती है। नली को सिलिन्डर या फोंफी कहते हैं। उसके अंदर गद्दी वाली डन्डी को पिस्टन या बोता कहते हैं। यदि किसी बड़े सिलिन्डर या नली में बारूद का छोटा सा धड़ाका किया जाय तो हवा फैल कर बाहर निकल आएगी। उधर पिस्टन ऊपरी सिरे पर टँगा रहेगा लेकिन पल भर में ही हवा ठन्डी होकर सिकुड़ उठेगी और सिलिन्डर में भीतर की ओर पिस्टन के नीचे हवा से शून्य जगह बन जायेगी। उस जगह को भरने के लिये पिस्टन पर ऊपर से हवा का दबाव पड़ेगा जिससे पिस्टन जोर से भीतर खिंच जायगा। उस पिस्टन के बाहरी सिरे से कोई जंजीर या छड़ बँधी हो तो वह भी इस जोर के कारण खिंच आएगी। इस जंजीर को एक गड़ारी पर से ले जाकर दूसरे पम्प के पिस्टन से बांधा जाय तो उसका पिस्टन ऊपर खिंच कर पानी बाहर पहुँच सकता है।

बारूद की तरह पानी की भाप भी पानी के खौलने पर फैल उठती है। ठंडक पाने पर वह फिर सिकुड़ कर कुहासा या पानी बनाती है। खौलने के बाद पानी १६०० गुना अधिक फैलाव में भाप बना होता है। इसलिए उसके फिर सिकुड़ने से थोड़ी जगह में ही उसका फैलाव रह जाता है। पेपिन ने एक ऐसी कल बनाई जिसके सिलिंडर में ही पानी खौलाया जाता। भाप बन जाने पर उसके नीचे से आग हटा दी जाती, इसलिये भाप थोड़ी देर में ठंडक पाकर स्वयं सिकुड़ जाती और हवा से शून्य या वैकुअम पैदा होता। इसलिए पिस्टन भीतर खिंच आता।

न्यूकमेन ने इस काल में यह युक्ति लगाई कि सिलिंडर के ऊपर पानी डाल कर ही भीतर

की भाप ठन्डी की जाय। इसकी जगह सिलिंडर के अन्दर ही ठन्डा पानी पहुँचा कर भी उसने हवा से शून्य जगह पैदा कर पिस्टन चलाने की युक्ति की। लेकिन इसमें कितनी शक्ति बर्बाद होती। बार-बार सिलिन्डर को ठंडा कर भाप बनाने के लिये फिर गर्म करना पड़ता। फिर भी ऐसी कलों से कितने ही साल काम निकाला जाता रहा।

जेम्सवाट के बारे में बहुत सी कहानियाँ सुनी जाती हैं। उसे न्यूकमेन के एक पंप चलाने वाले इंजिन की मरम्मत करने का काम मिला। इंजिन में जो खराबी थी वह दूर नहीं हो सकती थी। उसकी तो बुनियाद ही ठीक नहीं थी। लेकिन जेम्स वाट को इसके सुधार करने के लिये भाप की कलों के सम्बंध में जितना सोचने का अवसर मिला उससे ऐसे सुन्दर ढंग की कल बन सकी जो न्यूकमेन के भाप की कल से सोलह गुना अच्छा काम काम करने लगी। उसने सिलिंडर को बार बार ठंडा कर शक्ति की बर्बादी न होने देकर सिलिंडर के बाहर एक नली में भाप ठंडा कर काम लेने की युक्ति की। इस तरह और भी अनेक सुधार किए।

जेम्सवाट एक कारीगर का पुत्र था। उसका पिता बढ़ईगीरी और जहाज पर काम आने वाले औजारों को बनाया करता था। मरम्मत का भी काम करता था। लड़के को भी इन कामों को सीखने का अच्छा अवसर मिला।

कहा जाता है कि वाट लड़कपन में बड़ा कमजोर था। दूसरे लड़कों के साथ खेलने भी नहीं जाता था। घर में ही ज्यादातर पड़ा रहता था। एक दिन उसको बैठा ठाला देख कर घर में पड़ा देख कर उसकी बुआ ने बड़ी फटकार बताई। घंटों से चुपचाप बैठा हुआ वह चूल्हे पर पानी गर्म करने के बर्तन का ढक्कन गौर से देखरहा था। ढक्कन को उठाता और फिर रखता रहता था। वह भाप के कारण ढक्कन उठने की घटना पर विचार करने में मग्न था। बेचारी बुआ तो उसे निकम्मा बच्चा ही समझ रही थी। उसकी समझ में पुस्तकें पढ़ना, रटना या स्कूल में आना-जाना ही ज्ञान पाने का रास्ता था।

कुछ बड़ा होने पर जेम्सवाट के पिता ने उसे अपने कारखाने में बैठकर काम सीखने की कुछ जगह दे दी। वह तरह तरह की छोटी मोटी कलों के खिलवाड़ से नमूने बनाता या घूमने जाने पर कुछ सोचा करता। १८ वर्ष की आयु होने पर वह अपने घर ग्रीनाक से, ग्लासगो भेजा गया जिससे वह कुछ औजारों की मरम्मत का काम कर और सीख सके लेकिन उसको वहाँ कोई अच्छी योग्यता का काम न मिल सका। इसलिये लंदन चला गया। पन्द्रह दिन की घुड़सवारी कर वह लंदन पहुँच सका। एक कारखाने में काम सीख कर वह ऊँचे दर्जे का कारीगार बन गया और फिर ग्लासगो लौट आया और वहाँ के कालेज के विद्यार्थियों के काम

आने वाले सभी औज़ार बनाने लगा। वहीं पर उसे न्यूकमेन के भाप के इंजिन की मरम्मत करने का काम मिला।

जेम्सवाट ने न्यूकमेन के इंजिन की मरम्मत करने की जगह जब नये ही तरह का इंजिन बना लेने में पहले सफलता पाई तो वह केवल ३० वर्ष की आयु का था। उसने एक आदमी से कुछ सहायता लेकर नये इंजिन बनाये लेकिन उनको चलाने में परेशानी होती रही। सब रुपया व्यर्थ गया। अंत में मैथ्यू बोल्टन नाम के एक कारखाने के मालिक ने दूरंदेशी से जेम्सवाट की ईजाद की हुई कल का मूल्य समझा और उसे अपने कारखाने में बुलाकर साझीदार बना लिया। कुछ दिनों तक वहाँ भी घाटे का संकट रहा लेकिन एक के बाद एक अच्छे इंजिन बनने लगे और उनकी बनाई कलें बहुत अच्छा काम करने लगीं। उनका कारखाना ही अच्छी तरह नहीं चलने लगा बल्कि उनकी बनाई कलें दूसरे कारखानों में भी अच्छी तरह बिकने लगीं और उन्हें बहुत लाभ हुआ। उस लाभ के धन से दोनों का शेष जीवन बड़े सुख से बीता। दुनिया को भी भाप की कलों का सुन्दर नमूना पाकर पहले पहल भाप की शक्तियों से पूरा लाभ उठाने का अवसर मिला।

—:-०-:—

कपड़ा [पृष्ठ २४ का शेषांश

नहीं, भाई मैंने आज तुमको केवल सूती कपड़े की कहानी सुनाई है। रेशमी सूत एक तरह के कीड़ों से बनता है।

बच्चे, 'और यह ऊनी ?'

हाँ, यह तो तुम्हें बतला चुका कि ऊन भेड़ों के रोयें से बनता है। लेकिन क्या तुम्हें एक बात मालूम है कि आजकल दूध, लकड़ी व शीशे से भी कपड़ा बनाया जाता है। दूध में 'केसीन' नाम का एक पदार्थ होता है जिससे धागे तैयार किये जा सकते हैं। इससे बने कपड़े ऊनी कपड़ों के समान लगते हैं और लकड़ी के रेशों से बने कपड़े सूती कपड़ों की भाँति दिखते हैं। इन बनावटी सूत के कपड़ों को 'रेयान (rayan)' कहते हैं। आज कल शीशे का भी बहुत महीन व मजबूत तार निकाला जाता है और उसे जर्मनी में प्रायः लड़कियों के रङ्गीन कपड़ों की शोभा बढ़ाने के लिए प्रयोग किया जाता है।

विषैले संक्रामक कीटाणु और उनके विरुद्ध संघर्ष

लेखक : वी० और जी० स्मोल्यान

१२ मई, १६३५ की बात है कि भूतत्ववेत्ताओं की एक छोटी सी टुकड़ी पशु-पक्षी पकड़ने वालों की एक वीरान झोंपड़ी में रात काटने के लिए रुकी। रात को उनमें से एक व्यक्ति की तबियत खराब हो गयी, उसके सिर में पीड़ा होने लगी, बुखार चढ़ आया और मतली सी होने लगी। सुबह उसकी चेतना लुप्त हो गयी और संध्या होते ही उसका देहान्त हो गया। भूतत्ववेत्ताओं की वह टोली हतबुद्धि सी रह गयी। यह एक विचित्र बीमारी थी जिसने बिजली की गति से उनके साथी को मृत्यु का ग्रास बना कर छोड़ दिया था। यह टोली सुदूर-पूर्व के अलंघनीय वन-प्रान्त तैगा पर विजय पाने निकली थी—किन्तु उनके साथी की मृत्यु की भाँति पहले भी अनेक स्वस्थ नवयुवक इस घातक बीमारी के शिकार बन चुके थे।

एक युवक डाक्टर ए० जी० पानोव पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सुदूरपूर्व प्रदेश में इस अज्ञात प्राणघातक शत्रु के विरुद्ध संघर्ष करने का प्रयत्न किया। उसकी आकुल अपील के उत्तर में वैज्ञानिकों की एक टोली ने इस अज्ञात शत्रु पर विजय प्राप्त करने का उदात्त उद्देश्य लेकर तैगा की ओर अभियान किया।

१६३७-३८ तैगा की इस भयानक बीमारी के वाहक का पता मालूम हुआ!

टिक-एनसिफालिटिस—वह बीमारी जो केन्द्रीय नाड़ी प्रणाली पर आक्रमण करके शरीर को पंगु बना देती है और प्रायः मृत्यु का कारण बन जाती है—पर विजय प्राप्त की गयी। सोवियत चिकित्सकों ने एक महत्वपूर्ण खोज की, उन्होंने प्रमाणित किया कि इस रोग की उत्पत्ति विषैले-तत्वों से होती है, जिनके रोगवाहक कीटाणुओं का नाम उन्होंने तैगा कीटाणु रखा।

सुदूर पूर्व की इस बीमारी ऐनसिफालिटिस पर विजय प्राप्त करना सोवियत कीटाणु शास्त्र की एक महान् सफलता थी।

कीटाणु-शास्त्र क्या है? इस विज्ञान का विषय-क्षेत्र क्या है? पिछली शताब्दी के अन्त होने तक अनेक संक्रामक रोगों—तपेदिक, कोढ़, आंथ्रैक्स, प्लेग, खसरा, चेचक, पागलपन, और इनफ्लुएंजा जैसी बीमारियों के कारणों का दुनिया भर के वैज्ञानिकों की चेष्टाओं के बावजूद पता न चल सका।

किन्तु १८६२ में, रूसी वैज्ञानिक डी० आई० ईवानोवस्की ने जो तम्बाकू के पत्तों पर आक्रमण करने वाली एक विचित्र बीमारी का अध्ययन कर रहे थे, पता लगाया कि यदि रोग-ग्रस्त तम्बाकू के पत्ते का रस विशेष छलनी से छाना जाये, तो भी वह संक्रामक तत्वों से मुक्त नहीं होता, यद्यपि अन्य परिचित जीवाणु छलनी के ऊपर रुक जाते हैं। इस तरह प्राणवान जीवनों के अदृश्य शत्रु—छने हुए कीटाणुओं 'वीरस' का पता चला।

लेटिन भाषा में 'वीरस' (परम कीटाणु) का अर्थ विष है। पहले तमाम संक्रामक तत्वों के वाहकों को इसी नाम से पुकारा जाता था। आज के समय में इस शब्द को अधिक

संकुचित अर्थों में प्रयुक्त किया है, केवल विषैले कीटाणुओं के उस निश्चित वाहक दल को इस नाम से पुकारा जाता है जो संक्रामक बीमारियां उपजाते हैं।

कीटाणु अत्यन्त छोटे होते हैं। सबसे बड़ा कीटाणु आकार में एक मिलीमीटर का तीस करोड़वां भाग होता है। विद्युत-कणों का परीक्षण करने के दूरबीन का आविष्कार होने से ही यह सम्भव हो सका है कि छने हुए इन कीटाणुओं को देखा जा सके और इनका फोटो खींचा जा सके।

आधुनिक विज्ञान ने डेढ़ हजार से अधिक कीटाणुओं के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर लिया है जो विभिन्न बीमारियां फैलाते हैं। उनमें ऐसे कीटाणु भी शामिल हैं, जो आदमी और पशु दोनों पर आक्रमण करते हैं। चेचक, कुत्ते का पागलपन, पोलियोमेलिटिस (बच्चों को लकवे की बीमारी), माता निकल आना, मोतीझरा, सूजन, पीला बुखार, एनसिफालिटिस इत्यादि रोग इन कीटाणुओं की उपज हैं। पशुओं, पक्षियों, मछलियों और कीड़े-पतंगों में भी फालतू कीटाणु विद्यमान रहते हैं।

कीटाणुओं का स्वभाव वैविध्य पूर्ण है। प्रत्येक कीटाणु शरीर की विभिन्न ग्रन्थियों को नष्ट करने के उद्देश्य से अपने लिए चुन लेता है। उदाहरणतः चेचक का कीटाणु शरीर की त्वचा पर आक्रमण करता है, एवं पागलपन, एनसिफालिटिस और पोलियोमेलिटिस के कीटाणु शरीर की विभिन्न नाड़ी-ग्रंथियों पर आक्रमण करते हैं। उदाहरण के लिए एनसिफ़ालिटिस के कीटाणु झिल्ली और भेजे में सूजन उत्पन्न करते हैं। मोतीझरा के कीटाणु श्वासेन्द्रियों और फेफड़ों के तरल पदार्थों में फैलते हैं। इन अदृश्य घातक शत्रुओं की संख्या बड़ी तीव्र-गति से बढ़ती है।

यदि हम एक सफेद चूहे का भेजा लें जो एनसिफ़ालिटिस रोग से पीड़ित है, और उसे पीस कर नमकीन पानी में १:१०० के अनुपात में घोल दें, तो इस हल्के सम्मिश्रण की एक बूंद लाखों चूहों को इस घातक रोग का शिकार बना सकती है। दूसरा उल्लेखनीय उदाहरण लीजिए। मुर्गी के गर्भ में चौबीस घंटों में मोतीझरा के संक्रामक कीटाणु इतनी अधिक संख्या में बढ़ जाते हैं, कि लाखों सेंक लेने वाले अंडों के भीतर गर्भ नष्ट हो जाते हैं।

कीटाणु विभिन्न उपायों से गर्भ धारण करते हैं, और तीव्र-गति से संख्या में वृद्धि करके संक्रामक तत्वों को बड़ी तेजी से उत्पन्न करते हैं। वे जीवित प्राणियों के सबसे घातक शत्रु हैं।

स्पष्ट रूप से कीटाणुओं की उत्पत्ति प्राणों के सृजन के साथ आरम्भ हुई है, और मानव जाति से उनका युग-युगान्तर से सम्बन्ध चलता आ रहा है। आज हम जानते हैं कि चेचक और पोलियोलिटिस बीमारियों के चिन्ह उन मृतक शरीरों में भी मिलते हैं, जो विगत ४००० वर्षों से सुरक्षित रखे हुए हैं। किन्तु केवल ६० वर्ष पूर्व ही हमें छने हुए कीटाणुओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त हुआ है। इस अवधि के दौरान में विभिन्न देशों के हजारों वैज्ञानिकों ने बड़ा महत्वपूर्ण काम किया है। कीटाणु शास्त्र में अनेक आश्चर्यजनक खोजें की गई हैं।

चेचक और कुत्ते के पागलपन के संक्रामक रोगों से बचने के लिए टीका लगाने की पद्धति के इतिहास से कौन अपरिचित है। आज हजारों लोग एडवर्ड जेनर और लुई पास्चर के नाम कितने प्रेम से लेते हैं। आज अनेक कीटाणु-जन्य घातक बीमारियों पर विजय प्राप्त कर ली गई है और उनसे बचने के अनेक सफल उपाय खोज निकाले गये हैं। सोवियत वैज्ञानिकों ने बसन्त-ग्रीष्म टिक एनसिफालिटिस के विरुद्ध अनेक नयी ईजादें की हैं। बड़े जबर्दस्त परिश्रम के बाद ये सफलताएँ मिली हैं। कीटाणुओं से मुक्ति पाने के लिए कोई नयी ईजाद करना बड़ा कठिन और परिश्रम का कार्य है।

सबसे पहले ऐसी जीवित ग्रन्थि प्राप्त करनी पड़ती है, जिसमें कीटाणु तीव्र गति से बढ़ सकें। एनसिफालिटिस के कीटाणुओं के लिए सफेद चूहे का भेजा सबसे उपयुक्त

सिद्ध हुआ। एनसिफालिटिस की बीमारी से मरे हुए चूहों के भेजों की ग्रन्थियों पर दीर्घकाल तक शरीर-शास्त्रीय और रासायनिक प्रक्रिया की जाती है। इसके परिणाम स्वरूप मरा हुआ कीटाणु अपनी ध्वंसात्मक विशेषताओं को छोड़ने के बावजूद मनुष्य के शरीर में ऐसी शक्तियों का सृजन करने के लिए अपने में अद्भुत सामर्थ्य रखता है, जो उसे जीवित कीटाणु के संक्रामक रोग से हमेशा सुरक्षित रखती हैं। किन्तु इस समस्या का यह अन्तिम समाधान नहीं है। एक लम्बे अर्से तक परीक्षण करने की आवश्यकता है। विशेष संस्थाओं द्वारा टीके की प्रत्येक क्रमगत श्रेणी का परीक्षण, प्रयोग में लाने से पूर्व, बड़े परिश्रम से किया जाता है। इसकी कल्पना करना कठिन नहीं कि टीके में एक भी जीवित कीटाणु रहने से क्या परिणाम निकलेगा। बहुत अर्सा नहीं गुजरा, अमरीका के एक कारखाने में पोलियो के विरुद्ध डा० साल्क की अद्भुत टीका तैयार करते हुए जरा सी भूल हो गयी जिसके परिणाम-स्वरूप बीसों अमरीकी बच्चों को मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा और उनमें अनेक बच्चे जीवन पर्यन्त के लिए पंगु हो गये।

पोलियोमेलिटिस के विरुद्ध टीके की रचना करना आधुनिक कीटाणु-शास्त्र का एक रोचक पृष्ठ है। अन्य टीकों की रचना करने के लिए अपेक्षाकृत यह सुगम था की एक जीवित ग्रन्थि का पता चलाया जाये, जो कीटाणुओं के जीवन्त कार्यों के लिए उपयुक्त हो, किन्तु पोलियोमेलिटिस के कीटाणु के लिए सैकड़ों किस्म की जीवित ग्रन्थियों का परीक्षण करना पड़ा। अन्त में बन्दर का गुर्दा ही एक ऐसा सन्तोषप्रद साधन मिला जहाँ कीटाणु इकट्ठा हो सकते थे। इस खोज से बच्चों को लकवा मार जाने की घातक बीमारी का इलाज करने का सफल उपाय निकाल सकना सम्भव हो सका।

निकट भविष्य में मानव जाति, खसरा, मोतीझरा एवं घरेलू जानवरों और पौधों की कीटाणुजन्य बीमारियों से छुटकारा पा लेगी।

जो वैज्ञानिक कीटाणुओं की उत्पत्ति और प्रकृति का अध्ययन करते हैं, उन्हें अनेक दिलचस्प समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अभी तक इस प्रश्न पर गम्भीर वैज्ञानिक बहस चल रही है कि कीटाणुओं की प्रकृति सजीव पदार्थों से बनी है या जड़ पदार्थों से। क्या प्रकृति में कीटाणु-तत्व विद्यमान हैं? कीटाणुओं में सजीव प्राणियों के अनेक तत्व मौजूद हैं, किन्तु कुछ कीटाणुओं का स्वभाव रासायनिक पदार्थों से मिलता-जुलता है। क्या कीटाणुओं की प्रकृति में जीवन्त प्राणियों की आधारभूत विशेषता विद्यमान है, जिससे शरीर में भोजन-पदार्थ जीवाणुओं में परिवर्तित हो जाता है? अथवा फालतू कीटाणु उस शरीर की जीवन्त प्रक्रियाओं पर निर्भर रहता है, जो उसके आक्रमण का शिकार होता है। अभी तक ये प्रश्न रहस्मयी पहेली के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन समस्याओं के सुलझने से प्राणों की उत्पत्ति की समस्या पर भी प्रकाश पड़ेगा।

विगत अनेक वर्षों से लोगों का यह मत रहा है, कि कैंसर की उत्पत्ति विषैले काटाणुओं से होती है। वास्तव में यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि कीटाणुओं के कारण ही जानवरों को प्रचण्ड ढंग के फोड़े हो जाते हैं। निस्सन्देह, शीघ्र ही कैंसर की बीमारी का भेद विदित हो जायेगा और इस महान् कार्य में कीटाणुओं का महत्वपूर्ण योग रहेगा।

कीटाणु विज्ञान की यातना से मानव जाति को मुक्ति दिलाने और इस धरती पर जीवन को उल्लासमय बनाने वाले कार्य और उद्देश्य इस विज्ञान को सच्ची मानवता का प्रतीक बनाते हैं।

—टास न्यूज़ एजेंन्सी

पौधों के रोगों की कीटाणुनाशक औषधियाँ

पौधों के रोगों पर विजय प्राप्त करने में कीटाणुनाशक औषधियों का बीसियों बार सरलतापूर्वक उपयोग किया जा चुका है और आज भी अमेरिकी कृषि-विभाग एवं राज्यीय सरकारों और गैरसरकारी अनुसन्धान-संस्थाओं के वैज्ञानिक इनका प्रभावशाली ढंग से उपयोग कर रहे हैं। अभी हाल में अमेरिकी कृषि-विभाग ने सेम और टिमाटर के पौधों पर आक्रमण करने वाले दो प्रमुख रोगों के बारे में परीक्षण के तौर पर स्ट्रैप्टोमाइसिन नामी कीटाणुनाशक औषधि से काबू पाने में सफलता प्राप्त की है।

अमेरिकी कृषि-विभाग के श्री डब्ल्यू० जे० जौमेयर, श्री आर० ई० वेस्टर और श्री एस० पी० डूलिटिल नामक वैज्ञानिकों ने यह सूचना दी है कि बेल्ट्सविल (मेरीलैण्ड राज्य) स्थित पौधशाला में इस सम्बन्ध में जो परीक्षण किए गए हैं, उनमें नई सफलता हासिल हुई है। यह बताया गया है कि पिछले परीक्षणों और नए परीक्षणों द्वारा प्राप्त परिणाम पौधों के कठिन और काफी महंगे सिद्ध होने वाले रोगों पर काबू पाने के लिए कीटाणुनाशक औषधियों का बड़े पैमाने पर उपयोग करने की दिशा में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुए हैं।

स्ट्रैप्टोमाइसिन की सफलता

अमेरिकी कृषि-विभाग के वैज्ञानिकों ने यह घोषणा की है कि अब इन दो रोगों पर प्रभावशाली ढङ्ग पर नियन्त्रण प्राप्त करने का उपाय खोज लिया गया है। अब तक सामान्य तौर पर प्रयुक्त होने वाले उपायों द्वारा इन रोगों पर काबू पाना सम्भव नहीं था। लेकिन उन्होंने साथ ही यह भी कहा कि यह बात विशेष रूप से महत्वपूर्ण है कि इन दोनों रोगों पर नियन्त्रण प्राप्त करने में शुद्ध स्ट्रैप्टोमाइसिन की अपेक्षा बड़े पैमाने पर तैयार की गई अपेक्षाकृत कम शुद्ध स्ट्रैप्टोमाइसिन अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई है। इन रोगों के उपचार के लिए स्ट्रैप्टोमाइसिन औषधि को बहुत थोड़ी मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। इससे यह प्रकट है कि उन रोगों के उपचार के लिए स्ट्रैप्टोमाइसिन का प्रयोग करना किसानों के लिए सम्भव है। इसमें तांबे जैसी सस्ती धातु भी मिलायी जा सकती है।

सस्ती दवाएँ खोजी जाएँगी

लेकिन अमेरिकी कृषि-विभाग के वैज्ञानिकों के प्रयत्नों की समाप्ति यहीं पर नहीं हो जाती। वे कीटाणुनाशक औषधियों द्वारा पौधों के रोगों का उपचार करने के सम्बन्ध में अपना अनुसन्धान भविष्य में भी जारी रखेंगे। इसके साथ ही साथ वे इस बात का भी ध्यान रखेंगे कि ऐसी कीटाणुनाशक औषधियाँ खोजी जाएँ जो महँगी न हों।

अमेरिकी कृषि-विभाग ने वनस्पतियों से सम्बन्धित कृमिजन्य रोगों का कीटाणुनाशक औषधियाँ द्वारा उपचार करने के सम्बन्ध में पहले जो परीक्षण किए हैं, उनमें से कई सफल सिद्ध हुए हैं।

बड़े पैमाने पर तैयार की गई औषधियाँ

बेल्ट्सविल में किए गए कुछ परीक्षणों में रोगों के उपचार के लिए बड़े पैमाने पर तैयार की गई तीन कीटाणुनाशक औषधियों—एग्रोमाइसिन, फिटोमाइसिन और एग्रोस्टेप का उपयोग किया गया है। १० लाख बूँद पानी में १०० बूँद दवा डाल कर पौधों की पत्तियों पर उसे छिड़का गया। कुछ समय बाद परीक्षा करने पर पता चला कि जिन पौधों पर औषधियुक्त पानी छिड़का गया वे बहुत जल्दी पूरी तरह रोगमुक्त हो गए।

१० लाख बूँद जल में ५० बूँद स्ट्रैप्टोमाइसिन और ताँबा मिलाकर जो घोल तैयार किया गया, वह उस घोल से कुछ अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुआ, जिसमें केवल स्ट्रैप्टोमाइसिन की ५० बूँदें डाली गई थीं। यह उस घोल से भी अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुआ, जिसमें केवल ५० हिस्सा ताँबा मिलाया गया था। जल को १० लाख बूँदों में स्ट्रैप्टोमाइसिन की २५ बूदें डाल कर जो घोल तैयार किया गया, वह रोग पर काबू पाने में सर्वथा असमर्थ रहा।

[शेष पृष्ठ २२ पर]

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)

२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ।।।=)

३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)

४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८) । इस पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।

५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)

६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—निर्णायक डिटर्मिनैंटस—प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ।।।)

८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस सी०, १।)

९—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)

१०—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)

११—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; (अप्राप्य)

१२—वायुमंडल डाक्टर के० बी० माथुर, २)

१३—लकड़ी पर पालिश डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २) (अप्राप्य)

१४—क़लम पेवंद ले० श्री शंकरराव जोशी; २)

१५—जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)

१६—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)

१७—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—(अप्राप्य)

१८—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ।।)

१९—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती; मूल्य ।।।)

२०—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),

२१—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २।।)

२२—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । मूल्य ४)

२३—मधु मक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान; ३)

२४—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)

२५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३।।)

२६—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३।।)

२७—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)

२८—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ।।।)

२९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)

३०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २।।)

अन्य पुस्तकें

१—विज्ञान जगत की झाँकी	(डा० परिहार)	२)
२—खोज के पथ पर	(शुकदेव दुबे)	।।)
३—विज्ञान के महारथी	(जगपति चतुर्वेदी)	२)
४—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ	(,,)	१।।)
५—हमारे गाय बैल	(,,)	।।)
६—मवेशियों के छूत के रोग	(,,)	।।)
७—मवेशियों के साधारण रोग	(,,)	।।)
८—मवेशियों के कृमि-रोग	(,,)	।।)
९—फसल-रक्षा की दवाएँ	(,,)	।।)
१०—देशी खाद	(,,)	।।)
११—वैज्ञानिक खाद	(,,)	।।)
१२—मवेशियों के विविध रोग	(,,)	।।)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

Reg. No. A 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों की परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तक उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक डा० देवेन्द्र शर्मा
सहायक संपादक— जगपति चतुर्वेदी

मुद्रक—श्री सरयू प्रसाद पांडेय, नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग तथा प्रकाशक—डा० रामदास तिवारी प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद।

विज्ञान

भाग ८४

संख्या २

नवम्बर, १९५६ वृश्चिक, २०१३

प्रति अङ्क छः आने

वार्षिक मूल्य चार रुपये

[सप्तर्षि और उसके चारों ओर के तारे]

विषय सूची

१—अग्निजन्य शिलाओं का वर्गीकरण ..... श्री० प्रभाकर विश्वनाथ देहायडराय, सागर वि० वि० ३१

२—तारा घड़ी ..... जगपति चतुर्वेदी ३६

३—रबर महोदय ..... श्री० नन्दलाल जैन, महाराजा महाविद्यालय, छतरपुर ४१

४—डा० प्रफुल्लचन्द्र राय ... डा० सत्य प्रकाश ४६

५—योरप और एशिया के घातक सर्प ..... जगपति चतुर्वेदी ४६

६—धरती का पोषण ..... डा० अमरसिंह, प्राध्यापक, वनस्पति विज्ञान-विभाग, प्रयाग वि० वि० ५५

—:०:—

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तति। तै०उ० ।३।५।

भाग ८४ | वृश्चिक २०१३; नवम्बर १९५६ | संख्या २

अग्निजन्य शिलाओं का वर्गीकरण

श्री० प्रभाकर विश्वनाथ देहाडराय, सागर विश्वविद्यालय

वर्गीकरण के सिद्धान्त :—शिलाओं के वर्गीकरण से उनके गुण धर्मों का सहज आंकलन होता है। इससे स्मृति को भी सहायता मिलती है। यह वर्गीकरण शिलाओं के गुण धर्मों के साम्य और भिन्नता पर आधारित होना चाहिये। पर्किन ने १८०३ ई० में और जिरकेल (Zirkel) ने १८७३ ई० में इस सिद्धान्त की ओर प्रथम प्रयास किये। जिरकेल का वर्गीकरण सिद्धान्ततः शिलाओं के गठन तथा उनमें स्थित विशेष खनिजों की उपस्थिति पर आधारित है। शिलाओं के रसायनिक विश्लेषणों पर आधारित वर्गीकरण खनिजों की उपस्थिति पर आधारित वर्गीकरण से किसी दिशा में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। परन्तु रसायनिक विश्लेषण की क्रिया में अधिक समय लगता है। और यह क्रिया सरलता से सम्भव भी नहीं है। अतएव शिलाओं के वर्गीकरण में विशेषतः अमेरिका में प्रस्तावित वर्गीकरण में—जिसका श्रेय क्रास, इडिंग्स, पिरसन और वाशिंग्टन को है। शिलाओं के रसायनिक विश्लेषण पर आधारित खनिजों की उत्पत्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। खनिजों की उपस्थिति पर आधारित अन्य वर्गीकरणों में किसी शिला में उपस्थित आवश्यक तथा पूरक खनिजों के अनुपात को भी महत्त्व है।

रोजेनबुश (१८७७—१९०८) ने शिलाओं के उत्पत्तिजन्य तथा सामूहिक गुण धर्मों का अध्ययन किया, अतएव प्रतिपादित वर्गीकरण में सहज रूप से ही शिलाओं के इन गुणों का आधार लिया गया है।

मात्रिक वर्गीकरण:—यद्यपि यह वर्गीकरण खनिजों की मात्रिक उपस्थिति पर आधारित है तथापि इसमें खनिजों की उपस्थिति की केवल कल्पना ही की जाती है। शिलाओं का रसायनिक विश्लेषण करने के पश्चात्

निश्चित् नियमों के आधार पर कुछ आदर्श खनिजों की उपस्थिति की कल्पना की जाती है। इन आदर्श काल्पनिक खनिजों को 'नॉर्म' कहते हैं। इन्हें हल्के रंग के तथा गाढ़े रंग के—इस प्रकार दो विभागों में बाँटा गया है। प्रथम विभाग को सालिक और दूसरे को फेमिक कहते है। जैसे :—

सालिक खनिज	फेमिक खनिज
क्वार्ट्स	डायाप्साइड
आरथोक्लेज	हाइपरस्थिन
अल्बाइट	ओलिविन
अनारथाइट	ईजरिन
लूसाइट	मेग्नेटाइट
नेफिलिन	इल्मेनाइट
कोरण्डम	हेमाटाइट
ज़िरकान	एपाटाइट

इस वर्गीकरण के दोष :—(१) यह वर्गीकरण अप्राकृतिक है।

(२) बड़े विभाग में कुछ ऐसी शिलाओं का समावेश किया गया है जिनमें स्वयं ही विस्तृत रूप से एक अतिरिक्त विभाग बनाने की क्षमता है।

(३) कोरण्डम का स्थान यदि सालिक विभाग में न रखा जाय तो इस खनिज को ओलिविन तथा पायराक्सीन विभाग के खनिजों की कक्षा में रखना होगा। ऐसी व्यवस्था इन खनिजों की प्राकृतिक सम्बन्धता से भिन्न होगी।

(४) नॉर्म खनिजों की उपस्थिति वास्तविकता से परे होकर शिलाओं के केवल रसायनिक विश्लेषणों पर आधारित तथा काल्पनिक ही है। प्रायः ऐसे आदर्श खनिज वास्तविक रूप में शिलाओं में उपस्थित भी नहीं रहते। उदाहरणार्थ नारवे (Norway) देश की एक ऐसी शिला का रसायनिक विश्लेषण किया गया जिसमें स्वतः हार्नब्लेण्ड की प्रधानता है। परन्तु रसायनिक विश्लेषण के पश्चात् निश्चित् नियमों पर आधारित आदर्श खनिजों की काल्पनिक उपस्थिति की सम्भावना की गई। इस प्रकार उस शिला में निम्नांकित खनिज होने चाहिये। डायाप्साइड, अनारथाइट, मेग्नेटाइट, नेफिलिन, इल्मेनाइट, ओलिविन, आरथोक्लेज, लूसाइट तथा हेमाटाइट, और जैसा कि ऊपर कहा गया है उस शिला में प्राकृतिक रूप से स्थित हार्नब्लेण्ड का कहीं उल्लेख भी नहीं है।

(५) प्राकृतिक रूप से उपस्थित खनिजों के मात्रिक अनुपात को कोई स्थान नहीं है।

संक्षेप में ऐसे वर्गीकरण में शिलाओं के गुण धर्म तथा उनमें उपस्थित खनिजों के मात्रिक अनुपात का विचार नहीं किया गया है। जिन नियमों का आधार लिया गया है वे प्रकृति की रसायनिक एवं भौतिक प्रक्रिया की अपेक्षा गणित को सिद्धान्ततः विशेष महत्व देते हैं।

नैसर्गिक वर्गीकरण की संभावना :—

समान गुणधर्मी शिलाओं का अस्तित्व कभी-कभी दूर-दूर के स्थानों में भी पाया जाता है। पृथ्वी के इतिहास में ऐसी शिलाओं की उत्पत्ति भिन्न काल में भी हो सकती है तथा यह भी सम्भव है कि एक ही मैग्मा से पृथक्कीकरण की क्रिया द्वारा भिन्न पदों पर विभिन्न गुणधर्मी शिलाओं की उत्पत्ति हो। अतएव नैसर्गिक वर्गीकरण के सिद्धान्तों में शिलाओं के पारस्परिक सह-उपस्थित तथा उन शिलाओं में स्थित खनिजों के गुणधर्मों का समावेश होना अत्यावश्यक है।

नैसर्गिक वर्गीकरण के कुछ प्रयास :—

रोसेनबुश का प्रयास :—रोसेनबुश के कथनानुसार प्रारंभ में एक मिश्र मैग्मा, कुछ समय पश्चात् दो विभिन्न गुणधर्मी मैग्माओं में विभाजित होता है क्योंकि ये दोनों ही प्राथमिक अवस्था में परिमार्जित रूप से ही एक दूसरे में समाविष्ट होकर मिश्र-मैग्मा बना सकते हैं। ऐसी कल्पना से अन्य समान गुण-धर्मी तथा विभिन्न

गुणधर्मी शिलाओं के सहअस्तित्व को समझना कठिन हो जाता है।

ब्रोएगर का प्रयास :—समस्त अग्निजन्य शिलाओं का उनके सर्व साधारण रसायनिक गुण धर्म तथा उनमें स्थित खनिजों के आधार पर कुछ 'वंशों' में विभाजन किया गया है। जैसे :—ग्रेनिट वंश, डायोराइट वंश, गैब्रोवंश आदि। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी विभाग हैं जिनमें उन शिलाओं का समावेश किया गया है जिनकी उत्पत्ति भूगर्भ में अधिक गहरे स्थानों पर नहीं होती तथा उत्पत्ति एवं खनिजों की उपस्थिति की दृष्टि से जिन्हें किन्हीं दो विभागों की सीमा पर रखा जा सकता है। जैसे :- ग्रेनिट पारफिरी (Granite-porhyry) इस विभाग में ऐसी शिलाओं का भी समावेश किया गया है जिनकी उत्पत्ति पृथकीकरण की क्रिया पर आधारित है। जैसे :—मिनेट (Minette) और एपलाइट (Aplite) यद्यपि ये दोनों शिलाएँ खनिज-संयुति में सर्वसामान्य ग्रेनिट शिला से भिन्न हैं।

बेकर का प्रयास :--बेकर ने ही सर्वप्रथम सुद्राव (Eutectic) के आधार पर शिलाओं का वर्गीकरण करने का प्रयास किया। सुद्राव के गुणधर्म निश्चित् होते हैं, अतएव इन्हें ही प्रमाण मान कर वर्गीकरण करने में सुगमता होती है। इस वर्गीकरण में खनिजों के बड़े कणों की उपस्थिति को विशेष गुण माना गया है तथा सामान्य आकार के कणों की उपस्थिति को विभाजन का आधार समझा गया है। इनकी उपयुक्तता यों है कि इनके आधार पर उद्वेधीय (Intrusive) तथा निःसारी शिलाओं के वर्गीकरण में सुगमता होती है।

वोग्ट का प्रयास :—इसमें मैग्मा के पृथकीकरण की क्रिया को ही विशेष महत्व दिया गया है।

आदर्श वर्गीकरण की व्याख्या :--उपरिलिखित सभी वर्गीकरणों में यह स्पष्ट है कि प्रथम किसी एक सिद्धांत पर वर्गीकरण करने के पश्चात् ही भू-पृष्ठ पर स्थित शिलाओं को उन विभागों में प्रस्थापित करने के प्रयास हुये। आवश्यक तो यह है कि शिलाओं के गुण-धर्मों का विस्तृत अभ्यास करने के पश्चात् ही उनके गुण-धर्मों पर आधारित उनका वर्गीकरण होना चाहिये। इन गुणधर्मों में विशेषतः उनमें खनिज उपस्थिति को ही महत्व मिलना चाहिये, न कि शिलाओं के रासायनिक विश्लेषण की। ऐसे वर्गीकरण में शिलाओं के उत्पत्ति-जनित संबंधों का भी आधार लिया जा सकता है।

—:-०-:—

योरप और एशिया के घातक सर्प [पृष्ठ ५४ का शेषांश

और किसी जाति में मझोले रूप का होता है। ये दलदली स्थानों से लेकर वृक्षों पर तक रहने वाले होते हैं। भूचारी जातियों में पूँछ में कुंडली पाश की शक्ति नहीं पायी जाती किन्तु वृक्षचारी जातियों में पूँछ में कुंडली पाश बद्धता की शक्ति पायी जाती है। इन जाति के साँपों का सिर अपेक्षाकृत चौड़ा होता है और बदन पतला होता है। भूचारी जातियों का रंग भूरा या खाकी होता है जिस पर गहरे रंग के धब्बे बने होते हैं। अधिकांश वृक्षचारी जातियाँ हरे रंग की होती हैं जिस पर कुछ में यथेष्ट स्पष्ट चित्रण होते हैं। किन्तु अन्य जातियों में पत्ती का ही रंग होता है जिससे उनको पहचानना कठिन होता है।

गर्त मंडली के इस प्रजाति की नौ जातियाँ भारत में पाई जाती हैं। इनके सिर पर छोटे शल्क होते हैं जिससे इन्हें मोकासिन सर्पों से पृथक पहचाना जा सकता है। इस प्रजाति के सर्प दक्षिणी एशिया और फिलीपाइन द्वीप तक है। फिलीपाइन में तो इसकी सबसे अधिक जातियाँ होती हैं। हरित वृक्षचारी गर्त मंडली का बहुत अधिक प्रसार भारत और पूर्वी द्वीप समुद्र में है। इस कारण हरा होता है और दोनों ओर धुंधली पीली पट्टी होती है। यह एक गज लम्बा होता है।

ताराघड़ी

जगपति चतुर्वेदी

घड़ी के अंदर जिस प्रकार घंटे, मिनट की सुइयाँ केन्द्र की कीली में फँसी रह कर चारों ओर चक्कर लगा आती हैं, उसी तरह हम ध्रुव तारा को केन्द्र या बीच की कीली मान सकते हैं। उसमें बँधे हुए से कुछ तारामंडल चारों ओर घूम आते साफ जान पड़ते हैं। परन्तु ऐसा सुन्दर दृश्य प्रत्येक रात में उन जगहों में अच्छी तरह दिखाई पड़ सकता है जो ४० उत्तरी अक्षांश से उत्तर के भागों में हैं। इन जगहों से ध्रुव तारा ४० अंश या अधिक का कोण बनाकर आकाश में क्षितिज से ऊपर उठा रहता है इसलिए उसके चारों ओर ४० अंश तक के तारा मंडल कभी डूबते नहीं। इस कारण उनको घड़ी की सुइयों की तरह सदा ध्रुवतारा रूप कीली से बँधा रह कर चक्कर लगाते देखा जाता है।

हमारे देश में उत्तरी भारत के अत्यंत उत्तरी भाग में काश्मीर का कुछ भाग ही ४० अंश उत्तरी अक्षांश के निकट होगा। इसलिए वहाँ से ही ध्रुवतारा के चारों ओर कुछ दूरी तक के सब तारामंडल रात भर आकाश में दिखाई ही पड़ते रह सकते हैं। मैदानी भाग नीचे के अक्षांश में ही हैं। इस कारण कोई भी पूरा तारा-मंडल सदा दिखाई पड़ कर ध्रुव तारा की रात भर परिक्रमा करता नहीं देखा जा सकता। फिर भी हम कुछ समय तक उत्तर की ओर के आकाश को प्रत्येक रात देखते रहने से ध्रुवतारा के निकट के तारामंडलों को अच्छी तरह पहचान सकते हैं और उनके ध्रुवतारा के चारों ओर घूमने का हिसाब लगा सकते हैं।

कंधे पर एक बाँस की फट्टी रख कर उसके दोनों ओर बोझ लटका लिया जाता है जिसे बहँगी कहते हैं। बच्चे किसी छोटी डाल का सिरा कुछ नोकीला बनाकर खंभे की तरह खड़ा करने के लिए निचला सिरा जमीन में गाड़ देते हैं। इस खंभे की ऊपरी छोर की नोक पर किसी दूसरी डाल या डंडे का बिचला भाग नीचे से कुछ खोखला कर बैठा देते हैं। ऊपर का डंडा नीचे की डाल के ऊपर इस तरह नाच सकता है जैसे किसी नोकीली चूल पर कुम्हार के पहिये की सी कोई चीज नाच सकती है। इसे चरखी या चोंचा नाम दिया गया है। ऊपर वाले डंडे के दोनों छोर पर एक-एक बालक लटक कर चरखी पर नाचने का आनन्द लेते हैं।

इसी तरह उत्तर के आकाश में कील की जगह ध्रुवतारा मान लीजिए? उसमें चरखी की तरह नाचने वाला कोई डंडा मन में मान लीजिए जिसके दोनों सिरों पर एक एक प्रसिद्ध तारामंडल है। इन दोनों की पह-चान कर लेने पर हम आसानी से जान सकते हैं कि चरखी किस हालत में है। यह भी मान लें कि कुम्हार के चक्के पर कोई लकीर केन्द्र से होकर दोनों छोर तक खींची है तो एक छोर पर एक तारामंडल होगा और दूसरी पर दूसरा तारामंडल। अब यह पूरा चक्का हमारे सामने न भी हो तब भी हम ठीक तरह बता सकते हैं। कि इस चक्के का कौन भाग हमारी आँखों के सामने है और कौन दृष्टि से छिपा हुआ-सा है।

ध्रुव के चारों ओर चक्कर लगाने वालों में सबसे निकट का एक तारामंडल बहुत ही प्रसिद्ध है। इसमें सात तारे मिलकर एक शक्ल सी बनाते हैं, इसलिए उससे कहीं पर भालू बनने की कल्पना लोग करते हैं। कहीं पर उससे एक बड़ी कड़छी बनने की कल्पना की गई है। हमारे देश में तो लोग यह भी मानते रहे हैं कि उनमें सात ऋषि हैं जो देव लोक में बैठे हैं। भालू या

अंरच नाम से इस तारामंडल को पुकारें या हवन कुन्ड में घी की आहुति देने वाली कड़छी (श्रुवा) के नाम पर से श्रुवा या कड़छी तारामण्डल कह लें, उससे कुछ अंतर नहीं पड़ता। ये तो इन तारों के निकट-निकट सदा दिखाई पड़ सकने की एक साधारण बात के कारण उनको याद रखने की एक कल्पना ही है। इसलिए सात ऋषियों को ही इनके रूप की याद दिलाने वाला मान लें तो इस तारामण्डल को हम सप्तर्षि (सप्त + ऋषि) मण्डल कहें तो कुछ हर्ज नहीं।

सात तारों के गुट्ट या सप्तर्षि मण्डल के तारों में चार तो एक चौखटा सा बनाते जान पड़ते हैं। इसे ही कड़छी का चौड़ा भाग कह सकते हैं। इसके साथ तीन तारों का दस्ता सा लगा जान पड़ता है। चौखटानुमा भाग के से बाहरी किनारे पर के तारों को क, ख नाम से और भीतरी किनारे के दो तारों को ग घ से पुकार सकते हैं। इन्हें एक ओर से गिनकर चौथे तारे तक पहुँचा जा सकता है जहाँ से दस्ता बनाने वाले तीन तारे कुछ टेढ़ी सी डंडी बनाते हैं। इसके बाद वाले तीन तारों को च, छ और ज नाम दे सकते हैं।

हमारे देश में लोगों ने सप्तर्षि के तारों को सात ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध किया था। उनको हम ऊपर बताए नामों की जगह इस तरह कह सकते हैं :—

क—क्रतु। ख—पुलह। ग—पुलस्त्य। घ—अत्रि च—अंगिरा। छ—वशिष्ठ। ज—मरीचि।

सप्तर्षि के तारों को क, ख, ग, घ आदि नाम से पुकारें या क्रतु, पुलह, पुलस्त्य और अत्रि आदि नाम से पुकारें, उसमें किसी बात का भी कुछ अंतर नहीं पड़ता। इतना जान लेना चाहिए कि इस तारामंडल में चौखटे रूप के बाहरी किनारे पर जो तारे हैं वे सदा ऐसी दशा में ही रहते हैं कि उनको मिलाकर खींची जाने वाली

सप्तर्षि
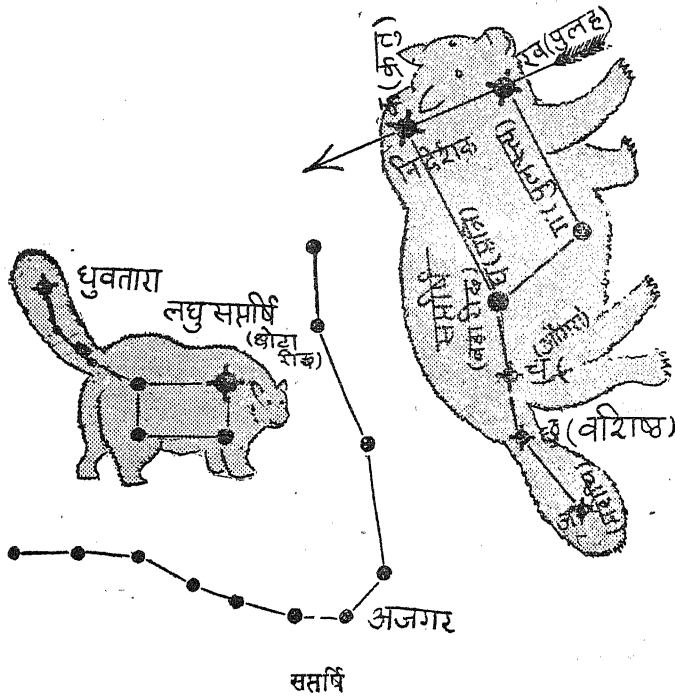
[ब्लाक—आदर्श पुस्तक मन्दिर, चौक, इलाहाबाद के अनुग्रह से]

सीधी रेखा ध्रुव तारा तक एक सीध में जा सकती है। इसलिए ध्रुवतारा की पहचान या निर्देश कराने के कारण इन दोनों तारों (क और ख या क्रतु और पुलह) को ध्रुव की पहचान कराने वाले या निर्देशक तारे कहते हैं। यह मान लीजिये कि ध्रुवतारा से कोई बड़ा डंडा ऐसा फैला है जिस पर सात ऋषियों वाले इस तारामंडल का चौखट वाला भाग जड़ा हुआ रखा है। इसलिए ध्रुव की कीली से चारों ओर के तारामंडलों वाला आकाश कुम्हार के चक्के की तरह चक्कर लगाकर-चाहे जहाँ पहुँचा जान पड़े, सप्तर्षि के इन दोनों तारों को ध्रुव तक जाने वाली रेखा की सीध में ही रहते पाया जायगा। इन दोनों निर्देशकों या ख और क तारा के बीच जितनी दूरी जान पड़ती है, उससे पाँच गुनी अधिक दूरी तक एक रेखा उनकी सीध में खींची जाय तो उसकी दूसरी छोर पर ध्रुवतारा मिलेगा।

सप्तर्षि मंडल के तारों में से पाँच तारे विशेष चमकीले हैं। उनकी चमक दूसरे दर्जे या द्वितीय चमक श्रेणी की है लेकिन अन्य दो तारे धुँधले हैं। यदि अँधेरी रात में ध्यान से देखा जाय तो एक दूसरा छोटा सप्तर्षि मंडल ध्रुवतारा से मिला ही दिखाई पड़ सकता है। उसमें कड़छी की डंडी के बाहरी सिरे पर ध्रुवतारा है और उसके साथ बहुत ही धुंधले दो तारे नजदीक-नजदीक ही रहकर कड़छी की डंडी या दस्ता सा बनाते हैं। शेष चार तारे चौखटा या कड़छी का चौड़ा या फैला भाग बनाते हैं। इनमें इसके बाहरी किनारे के दो तारों में एक ध्रुवतारे के समान चमक दिखाता है, शेष सभी तारे बहुत धुँधले हैं जिनको बड़ी कठिनाई से पहचाना जा सकता है।

एक बात बहुत साफ तौर पर दिखाई पड़ सकने वाली यह है कि इस छोटे सप्तर्षि या कड़छी मंडल को बड़े सप्तर्षि मंडल के उल्टा पाया जाता है। जिस ओर बड़े सप्तर्षि मंडल का चौखटा वाला भाग या चार तारों का गुट्ट रहता है उस ओर इस छोटे सप्तर्षि मंडल का दस्ते या डंडी वाली भाग रहता है जिसके सिरे पर ध्रुवतारा होता है। साथ ही बड़े सप्तर्षि मंडल का दस्ते वाला भाग जिस ओर रहता है उस ओर छोटे सप्तर्षि मंडल का चौखट वाला भाग रहता है। एक बार ध्यान से इस छोटे सप्तर्षि मंडल के तारों की जगह समझ लेने पर ध्रुवतारा की ठीक जगह पहचानने में कभी भूल नहीं हो सकती।

बड़े और छोटे सप्तर्षि मंडल के बीच में एक धुँधले तारों की लकीर सी बनती जान पड़ती है जो अजगर की दुम मानी जाती है। यह लकीर छोटे सप्तर्षि मंडल का आधा चक्कर लगा कर ध्रुवतारा की ओर झुकी रहती है और फिर ध्रुवतारा से दूर की ओर इस तरह मुड़ती है मानो बड़े सप्तर्षि मंडल के दस्तेनुमा तारों के समानान्तर खड़ी हो रही हो। उसमें कुछ तारे अजगर के मुँह समान चौड़ा भाग बनाते हैं। इनमें एक तारा मुँह के पास चमकीला पाया जाता है और दूसरी चमक श्रेणी का तारा होगा।

यदि ध्रुवतारा के चारों ओर कुछ दूर तक के आकाश का चित्र उतारा जाय तो उस गोले में एक स्थान पर सप्तर्षि तारामंडल रक्खा जा सकता है। कोई सीधी रेखा सप्तर्षि मंडल के निर्देशक या चौखटे के बाहरी किनारे वाले तारों (क और ख) से ध्रुवतारा तक खींचकर ध्रुवतारा से आगे भी दूसरी ओर इतनी दूर तक बढ़ाई जाय जितनी सप्तर्षि के निर्देशक तारे ध्रुवतारे से दूर हैं तो वह एक ऐसे तारामंडल तक पहुँचेगी जो तराजू का दूसरा पलड़ा कहा जा सकता है। इस तारा मंडल में चमकीले तारे हैं और वे एक कुर्सी का ढाँचा सा बनाते जान पड़ते हैं। अंग्रेजी का W (डबल्यू) अक्षर भी उनसे बनता जान पड़ सकता है। इस तारा मंडल को कोई काश्यपी नाम से पुकारता है और कोई शर्मिष्ठा तारामंडल नाम देता है। बहँगी के दूसरी ओर के बोझ की की भाँति यह शर्मिष्ठा तारामंडल है। पहली ओर का बोझ सप्तर्षि मंडल है। ध्रुवतारा से दोनों ओर खिंची किसी रेखा रूप बाँस की फट्ठी या लाठी के दोनों सिरों पर इन दो तारामंडलों को माना जा सकता है। अजगर का मुँह इन दोनों के बीच की जगह में इस गोले के छोर पर माना जा सकता है।
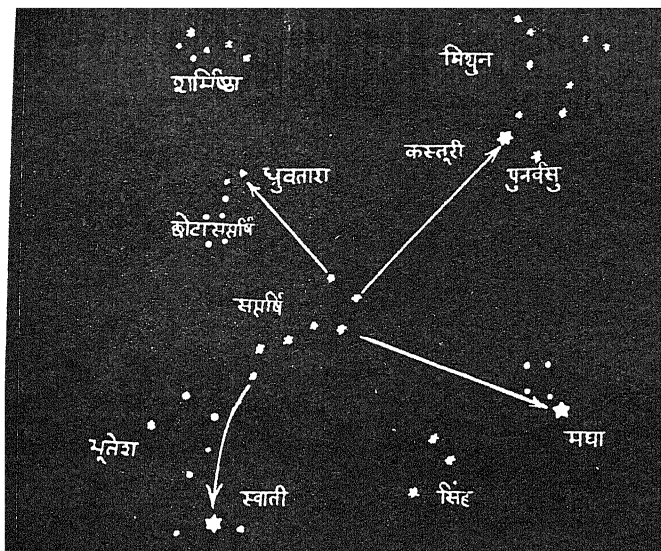
[ब्लाक—आदर्श पुस्तक मन्दिर, चौक, इलाहाबाद के अनुग्रह से]

सप्तर्षि और उसके चारों ओर के तारे

जो रेखा सप्तर्षि मंडल के निर्देशक तारों से इस शर्मिष्ठा तारामण्डल तक बनाई जाय उस पर यदि समकोण बनाने वाली कोई रेखा हो तो उसकी छोर पर अजगर तारामंडल का मुँह होगा। यदि विशेष ध्यान से देखा जाय तो इस अजगर के मुँह और शर्मिष्ठा तारामंडल के बीच एक पाँच तारों से मंदिर सा बना ढाँचा जान पड़ सकता है जिसमें सब तारे बहुत धुँधले ही हैं लेकिन कोई चमकीला तारा न होने पर भी ध्रुवतारा के चारों ओर के आकाश के भाग की पहचान के लिए इन तारों को विषपर्वा या सिफियस तारामंडल नाम दिया गया है। कुछ लोग सुपूज्य नाम से भी इसे पुकार लेते हैं। पुराने समय में ही इस तारामंडल की पहचान की गई थी और ध्रुवमंडल के पास के कुछ अन्य तारामंडलों को कुछ पुराने राजा-रानियों या वीरों का नाम देकर कुछ प्रसिद्ध कथाएँ भी गढ़ी गई थीं। देश-विदेश में वे कथाएँ अब भी कही-सुनी जाती हैं।

उत्तरी ध्रुवतारा-क्षेत्र के तारामंडलों के नक्शे को देखकर यदि छोटे तारामंडलों या धुँधले तारों की बात बिल्कुल ही भुला दें, तब भी हमें आकाश के तारामंडलों के चक्कर लगाने की बात समझते देर नहीं लग सकती। यदि ध्रुवतारा के चारों ओर के आकाश की कुछ दूरी के गोले को घड़ी की सुइयाँ घूमने वाला तल मान लिया जाय तो स्थिति का ठीक पता लग सकता है।

ध्रुव क्षेत्र के नकशे में घड़ी के ऊपरी तल की तरह बारह भाग किए मिलते हैं। इनमें २४ घंटे और बारह महीनों के नाम भी पाए जाते हैं। यह ध्रुव मंडल वाली घड़ी अपने तारा मंडल रूप की सूइयाँ ध्रुव तारा के चारों ओर चक्कर लगाने का दृश्य हमारे सामने रखती है। पृथ्वी चौबीस घंटे में एक बार पूरी तरह घूम जाती है। इसलिए इस पूरे गोले के भी तारामंडल चौबीस घंटे में एक बार चक्कर लगाते जान पड़ेंगे किन्तु ध्रुवों से दूर होने और दिन को प्रकाश होने के कारण हमें पूरा चक्कर होते नहीं दिखाई पड़ सकता। दूसरे पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करने के लिए अपनी कक्षा पर आगे भी चलती जाती है। इसलिए हमारी यह घड़ी जिस तारामंडल का स्थान रात के किसी समय दिखा सकती है

उसकी जगह पंद्रह दिन या महीने बाद तारामंडल कुछ हटे हुए स्थान पर रात को उस समय ही दिखाई पड़ता है किन्तु इनका ठीक हिसाब लगा लिया गया है कि किस मास में कौन सा भाग हमारे सामने आकाश के ऊपरी भाग में हो सकता है।

नक्शा कैसे देखें ?

रात के आठ बजे यदि ध्रुव क्षेत्र के तारामंडलों के नक्शे को सामने ऐसे लिया जाय जिसमें उस समय की महीने की घंटा रेखा ऊपर की ओर हो तो निचले भाग के तारे तो हमें नहीं दिखाई पड़ेंगे लेकिन शेष तारों की स्थिति ध्रुव तारा के चारों ओर नकशे के अनुसार ही होगी। कुछ पहले के समय में हमें तारामंडलों की स्थिति जानने के लिए घड़ी की सुइयाँ घूमने की दिशा में नकशा घुमा लेने से ठीक दिशा मालूम होगी। बाद के समय या महीनों में हमें तारामंडलों की दशा जानने के लिए घड़ी की तरह उल्टी दिशा में घुमाना चाहिए। चौथाई भाग घुमाने पर छः घन्टों में इनका स्थान बदलने का ज्ञान होगा।
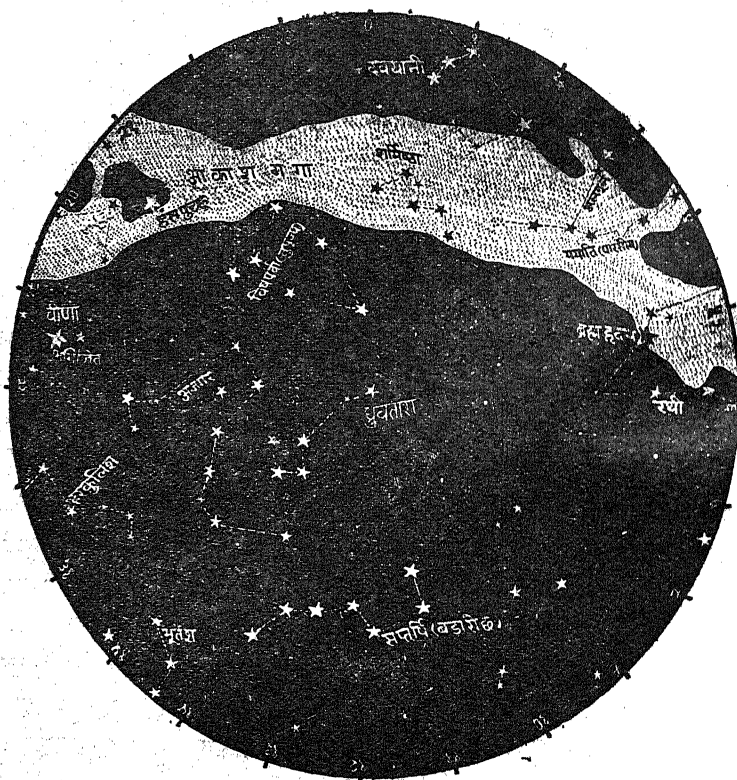
[ब्लाक—आदर्श पुस्तक मन्दिर चौक, इलाहाबाद के अनुग्रह से]

ध्रुव क्षेत्र के तारामंडल

उत्तर की ओर मुँह कर रात को आठ बजे इस नक्शे को सामने रक्खें। जिस मास में देखना हो उसमें नीचे लिखे अनुसार घंटा रेखा ऊपर की ओर रक्खें। इस गोल नक्शे का नीचे का कुछ भाग नहीं दिखाई पड़ेगा।

	घण्टा रेखा		घण्टा रेखा
दिसम्बर	१,२	जून	१३, १४
जनवरी	३,४	जुलाई	१५, १६
फरवरी	५,६	अगस्त	१७, १८
मार्च	७,८	सितम्बर	१९, २०
अप्रैल	९,१०	अक्टूबर	२१, २२
मई	११,१२	नवम्बर	२३, ०

रबर महोदय

श्री० नन्दलाल जैन, महाराजा महाविद्यालय छतरपुर

मुझे तुम लोग रबड़ या रबर कह कर पुकारते हो। तुम्हारे इन रंग बिरंगे गुब्बारों, फुकनों एवं खिलौनों के रूप में मैं ही तो तुम्हारा मनोरंजन कर रहा हूँ। तुम्हारे बरसाती जूते, बरसाती कोट, आदि मेरे ही रूपान्तर तो हैं। और हाँ तुम तो जानते ही हो कि साइकल, मोटर, इक्का-ताँगा, ट्रैक्टर आदि प्रमुख यातायात के साधनों में ट्यूब और टायर के रूप में मैं ही तो उपस्थित रहता हूँ। तुमने बिजली का तार जरूर देखा होगा, उसे छूते ही मनुष्य की मृत्यु तक हो जाती है। अतएव मैं ही उनपर लपेट दिया जाता हूँ, जिससे वे तार ताप, शीत, वायु आदि से विकृत न हो जावें और विद्युत् प्रवाह के समय मनुष्य के लिये खतरा न पैदा कर सकें। फलतः सुरक्षित विद्युत्-प्रवाह लाकर तुम्हारे घरों को प्रकाशित भी मैं कराता हूँ। यदि मैं बैल्ट का रूप धारण न करूँ, तो पहियेदार यंत्रों का बिजली से चलना बन्द हो जावे। विभिन्न प्रकार की नलियों और बोतलों द्वारा रोगियों के कष्टों का शमन करना भी मुझे आता है। इस प्रकार यातायात, संवाद-वहन, मनोरंजन, क्रीडाओं एवं यंत्रों व शरीर को सुरक्षित बनाकर संचालित किये रखने का काम देखकर ही तुम लोगों ने मुझे 'रबर महोदय' कहना प्रारंभ कर दिया है। महोदय शब्द से महत्वपूर्ण या उपयोगी जनों का आह्वान किया जाता है, संसार में मैं अपने तीस-चालीस हजार रूप-रूपान्तरों द्वारा मानव सभ्यता के विकास में जो अपना योगदान दे रहा हूँ, क्या यह तथ्य मेरी महत्ता को नहीं बता रहा है?

मेरे अगणित रूप-रूपान्तरों से तुम समझ सकते हो कि मैं कितना क्रियाशील हूँ। जनमते ही मुझे तुम लोगों के लिये बहुत से रूप धारण करने पड़ते हैं और, मानव भी, जिसने मुझे खोजकर जन्म दिलाया है, मेरे कुछ विशेष गुणों के कारण ही प्रतिदिन मुझे अधिकाधिक उपयोगी समझता और बनाता जा रहा है। जिस प्रकार मानव जीवन के लिये हवा और पानी अनिवार्य हैं, उसी प्रकार वर्तमान सभ्यता और स्तर को अक्षुण्ण बनाये रखने और उसमें प्रगति करने के लिये मानव ने मेरी अनिवार्यता स्वीकार कर ली है। यही कारण है कि मेरा उपयोग इतनी अधिक मात्रा में होने लगा है कि प्रकृति की उत्पादन-क्षमता भी मुझे आवश्यकतानुसार उत्पन्न करने में असमर्थ हो गई है। इसीलिये बिगत ५० वर्षों से मानव मुझे अपनी रसायनशाला में परखनलियों में बनाने की कला में सफलता प्राप्त करता जा रहा है। प्रकृति की मन्द उत्पादनक्षमता से वैज्ञानिक की यांत्रिक उत्पादनक्षमता सचमुच ही बहु-गुणित है।

मैं तानने पर फैल जाता हूँ और बाद में पुनः ज्यों का त्यों बन जाता हूँ। मेरे इस गुण को लोग स्थिति-स्थापकता कहते हैं। लचीला होने पर भी मैं कड़ी गर्मी और सर्दी, हवा और पानी के द्वारा बिलकुल भी विकार को प्राप्त नहीं होता हूँ। विनाशकारी रासायनिक पदार्थ भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ पाते हैं। ये ही मेरे वे गुण हैं, जिनके कारण मानव ने मुझे अपने नाना रूपान्तरों द्वारा सेवा करने का अवसर प्रदान किया है।

... ...

[१]

सामान्यतः मैं "हैविआ ब्रासिलासिस" नामक वृक्षों से गोंद की तरह दूध जैसे तरल पदार्थ के रूप में इस

पृथ्वी पर जन्म लेता हूँ। प्रागैतिहासिक धातुओं और काँच की तरह मुझे भी अपने जन्म की तिथि याद नहीं है। पर मनुष्यों के कथनानुसार ही जब कोलंबस ने अमेरिका का पता लगाया, जब वहाँ के निवासी मेरे क्रीडायोग्य रूपान्तरों से, जिन्हें तुम गेंद कहते हो, खेला करते थे। इसके पहले भी पूर्वी-एशियाई द्वीपों में लोगों ने मेरी सहायता से अपने वस्त्रों और उपकरणों को जलाभेद्य (वाटरप्रूफ) बना लिया था। इससे यह तो अनुमान हो ही सकता है कि मानव की सेवा मैंने पंद्रहवीं सदी के लगभग (अर्थात् ४-५ सौ वर्ष पहले) प्रारम्भ की होगी और मानव तो तभी से मेरा जन्मकाल मानता प्रतीत होता है।

एशिया-द्वीपों से कुछ फ्रांस-देश वालों ने मेरे पितृ-वृक्षों को यूरोप में जमाने का प्रयत्न किया, परंतु शीत जलवायु के कारण मैं वहाँ न जा सका। मुझे गर्मी में रहना पसंद है, इसलिए १८७६ में जब ब्रिटेनवासियों ने मेरे ७०,००० पितृ वृक्षों को ले जाकर मलाया, लंका आदि देशों में जमाया, तो मैं खुशी से इनके साथ चला गया और अब साधारण लोग तो यही जानते हैं कि मेरी जन्म भूमि ये ही देश हैं। वर्तमान में तो मैं भारत, सिंगापुर, बर्मा आदि एशियाई देशों और प्रमुख योरपीय देशों में पर्याप्त मात्रा में जन्म लेने लगा हूँ। तुम लोगों का जन्म तो अंकों में लिखा जाता है। लेकिन हमारा जन्म मात्रा या भार के रूप में मापा जाता है।

और हाँ, जब मैंने जन्म लिया, तो मेरा नाम 'रबर' नहीं था; यह नाम तो मेरा अँग्रेजों ने रखा है क्योंकि उन्होंने देखा कि मैं पेंसिल की लिखावट को मिटा (रबर) देता हूँ। मेरे इस गुण का पता सर्वप्रथम श्री जोसफ प्रीस्टले ने लगाया था, इसलिये संभव है कि अठारवीं सदी के उत्तरार्ध में उन्होंने ही मेरा यह नाम रखा हो। इसके पहले मेरा क्या नाम था, यह मुझे भी मालूम नहीं है।

× × ×

[३]

जिस प्रकार ताड़ के वृक्षों से नीरा प्राप्त की जाती है, या वन्य वृक्षों से गोंद एकत्रित की जाती है, उसी प्रकार मैं भी पूर्वोक्त वृक्षों से मानव को सरल रूप में सहज ही मिल जाता हूँ। अंतर केवल इतना ही है कि ताड़ से नीरा प्राप्त करने के लिए पेड़ पर चढ़ने और उतरने की बहादुरी सीखनी पड़ती है और मैं अपने सरल रूप में धरातल पर खड़े-खड़े ही मानव के हाथों अपने को सौंप देता हूँ। अपने पितृ-वृक्षों से एक बार में दो से पाँच सेर तक मैं तरल रूप में प्रकट होता हूँ। मेरे पितृ वृक्षों की आयु १५-२० वर्ष होती है और मेरा उद्भव काल ३-१५ वर्ष तक रहता है।

तरलरूप में मेरा ठोस रूप केवल तृतीयाँश ही होता है, प्राकृतिक तरल पदार्थों में मैं दूध में मक्खन के समान मिला रहता हूँ। जनमते समय मुझमें प्राकृतिक गर्मी रहती है, अतः मैं शीघ्र ही प्राकृतिक द्रव्यों से अलग हो जाना चाहता हूँ। और सड़ने लगता हूँ। मेरा तरल रूप शीघ्र ही फटे दूध-सा हो जाता है। लेकिन मेरी इस प्रवृत्ति से मेरे उपर्युक्त विशेषगुण समाप्त हो जाते हैं, इसलिए मानव ने मुझसे शीघ्रता न करने की सलाह दी और मुझे परिष्कृत रूप पाने की समय सीमा को बिताने के लिये अमोनिया-के घोल के साथ मेरा मेल करा दिया। इस मेल के कारण मेरे तरलरूप की बहुत सी अशुद्धियाँ छंटकर अलग हो गई और मैं भी तब इतना मजबूत हो गया कि अपने साथ सिरका के तेजाब को लेकर अमोनिया से अलग होकर अपने ठोस रूप में, दही मथने पर मक्खन के समान हो गया। ताजे मक्खन के साथ जैसे कुछ छांछ रहती है, उसी प्रकार मेरे साथ भी कुछ तरल थे। उन्हें हटाने के लिये मुझे खूब तपाये हुए भारी भ्रामकों (रोलर्स) के बीच से गुजरने का कष्ट सहना पड़ता है। फिर भी ये तरल पूरी तरह से मेरा पिंड नहीं छोड़ते हैं, अतः सूर्य की रोशनी या धुवें की गर्मी सहायता से ही मैं पूर्णतः ठोस रूप धारण कर पाता हूँ। धुवें में रहने के कारण मैं

कुछ पीला पड़ जाता हूँ; गर्मी पाकर कुछ चिपचिपा भी हो जाता हूँ। मेरा यही रूप 'क्रेप' के नाम से तुम्हारे जूतों के तल्लों का काम दे रहा है।

मेरे तरल रूप को मानव ने स्पंज, सूत्र, धागा, विभिन्न प्रकार के चिड़िया, कबूतर आदि खिलौने, डाक्टरों के ग्लोब्स, और इसी प्रकार के दैनिक उपयोगी रूपान्तरों में परिणत कर मुझे प्रारम्भ से ही अपनी बहुरूपिणी शक्ति का भान करा दिया है। जब मैं तरल रूप से बाल-सुलभ मनोरंजन और क्रीड़ा के साधनों में रूपान्तरित हो सकता हूँ, तो अपने नर्म या कठोर ठोस रूप से प्रौढ़-सुलभ सभ्यता के विकास के निमित्त भी अगणित रूपान्तर धारण कर सकता हूँ।

मेरे क्रेपवाले रूपान्तर से मानव ने बहुत सी लाभदायक वस्तुयें बनाकर मुझे अपनी सेवा का अवसर दिया। मेरे इन नये रूपान्तरों से सेवा लेते समय मानव ने अनुभव किया कि मैं गर्मी पाते ही चिपचिपा हो जाता हूँ और ठंडक में कठोर हो जाता हूँ। यद्यपि यह सभी पदार्थों की प्रकृति है, परन्तु उसे मेरी यह प्रकृति पसंद न आई। वह चाहता था कि मैं गर्मी हो चाहे सरदी, कभी भी अपना गुण न बदलूँ एवं ज्यों का त्यों बना रहूँ। मानव की इच्छा पूर्ण करने वाले वैज्ञानिकों ने इस दिशा में प्रयोग प्रारंभ कर दिये और अन्त में १८३९ में चार्ल्स गुड-इयर (जिनकी कम्पनी के टायर-ट्यूबों से तुम लोग भली भाँति परिचित होगे) ने मेरे गंधकीकरण की प्रक्रिया खोज निकाली। मेरे विकास की कहानी में यह वर्ष उतने ही महत्त्व का है, जितना किसी भी देश को अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के दिन का होता है।

देखो, ये पीसने वाली मशीनें हैं और ये मुझे कचर रही हैं और मेरे टुकड़े-टुकड़े कर रही हैं। अपने हाथ में लेकर मुझे देखो मैं कितना पिघल-सा गया हूँ और चिपचिपा हो गया हूँ। अब मनुष्य कुछ सफेद, कुछ काले चूरन डालकर मुझे सुखाना चाहता है; पर उफ, मेरे शरीर से भी पसीना निकल रहा है; हाँ अब देखो मानव ने गंधक का चूरा भी मिलाना शुरू कर दिया है, ऐसा प्रतीत होता है, जैसे गंधक से मेरी पूर्व जन्म की दोस्ती है। अपने मित्र के मिलने से मैं अपना सारा कष्ट भूलता जा रहा हूँ और मेरा पसीना साफ होता जा रहा है।

अब मुझे इन यंत्रों से निकालकर एक टंकी में डाला जा रहा है जिसमें मेरे रूपान्तरण के लिये एक सांचा भी रखा हुआ है। लो, अब उस टंकी को कसकर ऊपर से बन्द कर दिया गया है और अररर, क्या···मानव के स्विच पलट ते ही अत्यन्त जोर का दबाब और अनितप्त वाष्प की गर्मी ने मुझे झुलसा दिया है। कुछ ही मिनटों की इस झुलसने की पीड़ा सहने के बाद मानव ने टंकी का ढक्कन खोलकर जब मुझे देखा तो मुझे सान्चे के रूप में रूपान्तरित देखा और जब उसने मेरे गुणों की परीक्षा की, तो अपने इच्छित गुण मुझमें पाकर हर्ष में फूला न समाया।

इसी टंकी में मेरा गंधकीकरण-संस्कार संपन्न हो गया है और मैंने अपने मित्र गंधक के साथ रसायनिक और भौतिक मित्रता और भी तीव्र कर ली है, इसी कारण गंधक ने मेरे सारे दुर्गुणों को समाप्त कर मेरे रंग, रूप, शक्ति और स्थायित्व में कई गुनी वृद्धि कर दी है। अब मैं प्राकृतिक और रासायनिक विकार पैदा करनेवाली शक्तियों से चिरकाल तक लोहा ले सकता हूँ। मेरा यह कथन झूठ नहीं है क्योंकि मानव ने प्रयोगों द्वारा यह देख लिया है कि पहले मेरे एक वर्ग इंच के टुकड़े को तोड़ने में ५००-५००० पौंड शक्ति लगती थी, वह अब ४०००-११००० पौंड हो गई है। इसी प्रकार जहाँ पहले मेरी कठोरता २०-५० अंश थी, वह अब बढ़कर ७० से ९५ अंश तक हो गई है। मेरी इस शक्ति की वृद्धि ने ही मोटरों आदि के भार ढोने की शक्ति में कई गुनी वृद्धि कर दी है।

··· ··· ···

मैं अपने गंधकीकृत रूप में मानव के लिये सामान्य अवस्थाओं में उपयोगी हुआ सो तो ठीक ही है। पर

प्रथम विश्वयुद्ध के समय मोटरों आदि यातायात के साधनों की वृद्धि से मेरी उपयोगिता और आवश्यकता इतनी अधिक प्रतीत हुई कि मानव को मुझे रसायन-शाला में तैयार करने के लिये विवश होना पड़ा।

अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, रूस आदि देश की रसायन शालाओं में मेरी प्राकृतिक रचना का ज्ञान किया गया। सर्वप्रथम श्री फराडे ने १८३३ में मेरी रसायनिक रचना जानने का प्रयत्न किया था। बाद में टिल्डन (१८६२) और श्री हैरेस व श्री मैथ्यूज (१६१०-२६) ने समुचित प्रयोगों द्वारा ज्ञात किया कि मैं 'कारकउ' नामक रासायनिक पदार्थ हूँ जो आइसोप्रीन नामक सरल पदार्थ का बहुगुणित रूप है। मेरी रचना के पता चलने में वैज्ञानिकों के सामने आइसोप्रीन प्राप्त करने और उसे बहुगुणित करने की समस्या उपस्थित हुई। सर्वप्रथम जर्मनी की रसायनशालाओं में मैंने मानव के हाथों नया जन्म पाया। इसके उपरान्त तो विभिन्न देशों और समयों में मेरे रासायनिक रूपान्तर भी अवतरित हुए, जिन्हें बुना, थायोकोल, हाइगर आदि नामों से अब पुकारा जाता है। मेरे प्राकृतिक रूप एव मानव-निर्मित रूप में रासायनिक रचना की दृष्टि से कोई बराबरी नहीं है फिर भी मेरे गुण इस नये रूप में कुछ अच्छे हो गये हैं और मेरा रंग भी निखर गया है। मेरे इन रूपान्तरों का गंधकीकरण संस्कार हो जाने पर तो मेरी विकार-विरोधी शक्ति अनन्त हो जाती है यही कारण है कि मैं अब अपना सेवा क्षेत्र निरंतर बढ़ता हुआ पा रहा हूँ।

मैं अपने विभिन्न रूपान्तर गंधकीकरण संस्कार संपन्न होते समय ही ग्रहण करता हूँ। सामान्य रूपान्तर तो मैं अपने तरल रूप को सांचों पर पोतकर सूखने के बाद ही धारण कर लेता हूँ।

मेरा जन्म चाहे प्रयोगशाला में हुआ हो, या प्रकृति की गोद में से, मेरी हवा के समान हलकी गैसों से बड़ी घनिष्टता है। उनके बल पर मैं हवा में आ जाता हूँ और कछुओं के समान सारी पृथ्वी का भार भी ढो सकता हूँ। मैं अपने साथ अपने जन्मदाता और परिष्कर्ता मानव को भी जल, थल और आकाश की सैर कराता हूँ। उधर देखो मैं ही तो तुम्हारे उन साथियों को हवा भरे ट्यूब की सहायता से तालाब में तैरना सिखा रहा हूँ और देखो, उन बच्चों को गुब्बारे उड़ाने में कितना आनन्द आ रहा है? फुटबाल, वालीबाल, क्रिकेट, आदि क्रीड़ाओं में मनुष्य अपने चरणों या डंडों की चोटों द्वारा मुझे पृथ्वी से आकाश की सैर कराने भेजकर स्वयं मनोरंजन करता है।

लेकिन तुम जानते हो मैं कितना नरम हूँ और मानव ने मुझे अपने इच्छानुरूप बनाने के हेतु गंधकीकरण की क्रिया में कितना कष्ट दिया है? फिर भी क्या स्वभाव बदल सकता है? मेरी इस कोमलता को जानते हुए भी मानव मुझे अधिकांशतः दास के समान बुरी तरह दबाकर रखता है। मानव मुझे अपने भार से दबाता तो कोई बात न थी, पर वह तो अपनी युद्ध सामग्री और अगणित सैनिक, खाद्य व रसद सामग्री, औद्योगिक उत्पादन आदि का असीम भार मेरी सहायता से ही स्थानांतरित करता है। और मैं ही तो यथेष्ट स्थान पर पहुँचाता हूँ। यदि मैं गंधकीकृत न होता और मेरे साथ मेरा मित्र हवा न होता अब तक मेरा कोमलरूप संसार से लुप्त हो गया होता। विकासवाद के इस युग में वनस्पति-शरीर से प्राप्त कर मानव मुझे अपने भारवाहन द्वारा पृथ्वी में ही धसा देने की चेष्टा में लगा है। परन्तु मानव की बुद्धि में प्रकृति को अपरिमित मित्र शक्ति का अनुमान नहीं है, जो उसने मेरे शरीर तन्तुओं में समेटकर भरदी है। इसीसे मुझे जितना ही दबाकर रखा जाता है, मैं उतना ही शक्तिशाली बनता जाता हूँ। मैं भी देख रहा हूँ कि मानव में कब अपने सेवकों के जीवन की महत्ता समझने की बुद्धि आती है? वर्तमान में दबाकर रखने में ही मानव ने मेरी उपयोगिता समझी है, पर दबी हुई शक्ति उभर कर न जाने क्या करेगी, शायद, मानव को अपने बुद्धिमद में, इसका मान नहीं है।

बिजली का स्पर्श मानव-जीवन के लिये घातक है, पर मुझे मानव निरंतर उसी के संपर्क में रखकर अपनी

सुरक्षा करता है। बताओ, उसकी दृष्टि में मेरे जीवन का क्या मूल्य है ? पर मैं और बिजली, दोनों ही प्रकृति के रूप हैं, अतः भाई-बहन के समान एक साथ प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं। इसी प्रकार शरीर से बलहीन मानव अपने बुद्धिबल के सहारे मेरे जल और ताप-निरोधक आवरणों से अग्नि और जल से अपने शरीर की रक्षा करता है, मेरे हवा भरे गद्दे-तकियों, सोफों आदि रूपों द्वारा अपने आराम व विलास के साज सजाता है, मेरे ही रूपान्तरों द्वारा विभिन्न घरू और मैदानी क्रीड़ाएँ कर अपने मन और शरीर को सुगठित बनाता है, मेरे ही हवा भरे सामान्य व विशाल रूपों से वह पृथ्वी आकाश व पानी की सैर कर दुनिया के कोने-कोने में पहुँचकर मानव की एकता और शान्ति के गीत गाता है और युद्ध की तीव्रता भी उकसाता है। संक्षेप में मानव के भौतिक जीवन का कोई विरला ही क्षेत्र बचा होगा जिसमें मानव मेरी आवश्यकता का अनुभव न करता हो ?

मानव के कथनानुसार मेरी आयु अभी चार-पाँच सौ वर्ष ही है पर मैं तो सृष्टि में वनस्पति के उदय के साथ अपना अस्तित्व मानता हूँ और जीवन की अमरता में विश्वास रखता हूँ। निरन्तर मानव-सेवा करते-करते जब मेरा शरीर छिन्न-भिन्न होने लगता है, तो मानव मुझे बेकार समझकर फेंक देता है। एक बार मुझे यह अनुभव हुआ कि इस प्रकार हमारी जाति सेवा से विरत होती जा रही है। मैंने मानव से विनय की, "आपने हमें जन्म दिलाकर हम पर बड़ी कृपा की है। हम आपकी सेवा से, इसलिये, विरत नहीं होना चाहते हैं। कृपाकर हमें अपने बुद्धिबल से पुनः शक्तिदान दीजिये जिससे हम सब अनन्त काल तक अनन्त पीढ़ियाँ धारण कर आपकी सेवा कर आपके ऋण से मुक्त हो सकें।"

और मानव ने हमारी अपील सुनी, उसने सेवा-विरत रूपान्तरों को कास्टिक सोडा में पकाकर पुनः शक्ति-दान देने की क्रिया खोज निकाली।

और तब से मैं निरंतर मानव की सभ्यता के संरक्षण और विकास में पृथ्वी पर अनन्त काल तक उसकी सेवा करूँगा, ऐसा निश्चय कर चुका हूँ। क्या अपने आविष्कर्ता को मेरा यह प्रतिदान अधिकाधिक प्रगतिशील न बनावेगा ?

"और तुम्हीं बताओ, इस प्रतिदान के बल पर यदि मैंने स्वयं को महोदय मान लिया है, तो क्या यह अनुचित है ?"

डा० प्रफुल्लचन्द्र राय [पृ० ४८ का शेषांश]

जिसमें आचार्य्य राय ने मौलिक खोजें कीं तो हमें चकित रहजाना पड़ता है। बड़े वैज्ञानिकों में यह सामर्थ्य होती है, कि वे थोड़ी सी सामग्री से ही बड़े महत्व का कार्य कर लेते हैं। आचार्य्य राय के लेख देश-देशान्तरों की अनुसन्धान पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते थे और उनके अनुसन्धान कार्यों का उल्लेख बड़े-बड़े जगद् प्रसिद्ध रसायनिक ग्रंथों में पाया जाता है। इस प्रकार आचार्य्य राय हमारे इस युग के प्रणायक रहे हैं और हमारे देश के सांस्कृतिक इतिहास में उनका नाम अमर रहेगा। आचार्य्य राय ने अपने अनुभवों का उल्लेख अपने "आत्म चरित्र" में किया है जिसका नाम है "Life and Experiences of a Bengal Chemist"। इस ग्रंथ को पढ़ने से आचार्य्य राय की सर्वतोन्मुखी प्रवृत्तियों का अच्छा परिचय मिलेगा।

डा० प्रफुल्लचन्द्र राय

डा० सत्यप्रकाश

[प्रयाग स्टेशन से जून १८, १९५६ को प्रसारित]

रसायन शास्त्र का प्रत्येक भारतीय विद्यार्थी आचार्य्य प्रफुल्लचन्द्रराय के नाम से परिचित है। आचार्य्य राय जो देश में सर पी० सी० रे के नाम से भी परिचित रहे, न केवल अच्छे रसायनज्ञ थे, उन्हें देश के प्रति अनुराग भी था और उन्होंने देश की दीनता को दूर करने का प्रयत्न किया। हमारे देश के औद्योगिक इतिहास में टाटा और आचार्य्य राय—इन दो के नाम अमर रहेंगे। आचार्य्य का महात्मा गाँधी के प्रति स्नेह था और उन्होंने सरल और सादा जीवन व्यतीत करके भारतीयों के उच्च आदर्श की परम्परा रक्खी, बंगाल के तो आचार्य राय गौरव थे और कवि टैगोर और जगदीशचन्द्र बसु से साथ-साथ आचार्य्य राय देश की विभूति माने जाते रहे हैं।

२ अगस्त सन् १८६१ ई० को आचार्य्य राय का जन्म खुलना जिले में रसूली कतिपरा गाँव में हुआ। यह बात आज से ९५ वर्ष की है जब देश में बहुत कम अँग्रेजी स्कूल थे और वैज्ञानिक शिक्षा का नितान्त अभाव था। आचार्य्य राय के पिता हरिश्चन्द्र जी ने अपने गाँव में अँग्रेजी शिक्षा का एक मॉडेल स्कूल खोल रक्खा था। ९ वर्ष तक तो राय ने अपने गाँव में शिक्षा पायी और फिर कलकत्ता आ गए। कलकत्ते के प्रसिद्ध स्कूल "हेयर स्कूल" में इनका शिक्षण आरम्भ हुआ और बाद को एलबर्ट स्कूल में पढ़े और वहाँ से १८७९ ई० में इन्होंने मेट्रिकुलेशन परीक्षा उत्तीर्ण की और फिर पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के स्थापित मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूशन में भर्त्ती हुए। यहाँ इन्हें सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ऐसे गुरु मिले जिन्होंने इनके हृदय में राष्ट्रीयता का भाव उत्पन्न कर दिया और यहीं उन्हें सर अलेक्जेंडर पेडलर और सर जान इलियट की शिष्यता में भौतिक और रसायनशास्त्र पढ़ने का अवसर मिला। आचार्य राय के घर की अवस्था बहुत शोचनाय हो गयी थी, पर आचार्य्य राय इससे हतोत्साहित नहीं हुए, प्रत्युत वे और भी अधिक तन्मयता से अध्ययन कार्य में संलग्न हो गए, ये छिपे-छिपे गिलक्राइस्ट स्कालरशिप परीक्षा की तैयारी करते रहे। यह स्कालरशिप परीक्षा भारतवर्ष भर के विद्यार्थियों के बीच की प्रतियोगिता थी। इस परीक्षा में ये सन् १८८२ में उत्तीर्ण हुए और इस सफलता के फलस्वरूप ये उच्च शिक्षा के उद्देश्य से यूरोप भेजे गये। अक्टूबर सन् १८८२ में ये एडिनबरा विश्वविद्यालय में भर्त्ती हुए। इनके अध्ययन के विषय यहाँ रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान, वनस्पति शास्त्र और जीवशास्त्र थे। क्रमब्राउन (Crum Brown) नामक प्रसिद्ध रसायनज्ञ की अध्यक्षता में इन्हें काम करने का अवसर मिला और रसायनशास्त्र के प्रति इनका अनुराग बढ़ने लगा। आचार्य्य राय के अध्ययन और लेखन का क्षेत्र भी यहीं से विस्तृत हुआ। यहाँ इन्हें इतिहास के प्रति भी रुचि हो गई और सुन्दर भाषा लिखने का अभ्यास भी इन्हें अच्छा हो गया। यहीं इन्होंने एक निबन्ध लिखा—"गदर के पूर्व और बाद का भारत", जिसमें उन्होंने देश के शासकों की नीति की कटु आलोचना की। सन् १८८८ में आचार्य्य राय को उनके उपयोगी रासायनिक कार्यों पर डी० एस-सी० की उपाधि एडिनबरा विश्वविद्यालय से मिली। यहाँ इन्हें कई पारितोषिक और छात्रवृत्तियाँ भी मिलीं और एडिनबरा यूनिवर्सिटी की केमिकल सोसायटी के ये उपाध्यक्ष भी बनाए गए।

सन् १८८८ में आचार्य्य राय कलकत्ता लौट आए और प्रेसीडेन्सी कालेज कलकत्ते में रसायनशास्त्र के सह-

कारी अध्यापक नियुक्त हुए। रसायनशास्त्र में मौलिक कार्य इस देश में होता ही न था। कुछ अँग्रेज अध्यापक देश में कहीं कहीं पर थोड़ा सा कार्य करते थे, पर भारतीय विद्यार्थियों को न तो काम करने की सुविधायें ही थीं और न विद्यार्थियों में ही मौलिक कार्यों के प्रति प्रवृत्ति थी। पर आचार्य्य राय ने एडिनबरा में जो स्फूर्ति और उत्साह प्राप्त किया था, वह उन्हें यहाँ शान्त नही बैठने देता था। उन्होंने प्रेसिडेन्सी कालेज की छोटी-सी ही प्रयोगशाला में अनुसंधान कार्य आरम्भ किया। धीरे-धीरे प्रेसिडेन्सी कालेज की ख्याति इस दिशा में भी बढ़ने लगी और अच्छे-अच्छे विद्यार्थी डा० राय की शिष्यता में कार्य करना अपना गौरव समझने लगे।

सन् १८९६ में आचार्य्य राय ने मरक्यूरस नाइट्राइट नामक एक यौगिक की खोज की। यह यौगिक बड़ा क्षण-भंगुर है, बनते बनते ही यह नष्ट होने लगता है। इसका तैयार करना आसान काम न था, बहुत से व्यक्तियों ने इसे तैयार करने के प्रयत्न किए थे पर वे असफल रहे। आचार्य्य राय को जब इस कार्य में सफलता मिली, तो उनकी ख्याति भी बढ़ गयी। उनकी प्रयोगशाला तरह-तरह के नाइट्राइटों की खोज के लिए एक अच्छा केन्द्र बन गई। मरकरी का नाइट्राइट ही नहीं, कैलसियम, बेरियम आदि के नाइट्राइट और कार्बनिक एमिनों के नाइट्राइट भी बनाए जाने लगे। मैगनीशियम का नाइ-ट्राइट अपने समूह के नाइट्राइटों में सबसे अधिक अस्थायी था। यूरिआ और शुद्ध नाइट्रस ऐसिड के योग से यूरिआ-नाइट्राइट बनाया गया और इसकी सहायता से यूरिआ की रचना पर नया प्रकाश पड़ा। आचार्य्य राय की प्रयोगशाला में गन्धक, पारा, प्लैटिनम, सोना और अन्य बहुमूल्य धातुओं के यौगिकों पर बड़ा उपयोगी और मनोरञ्जक कार्य हुआ। इन यौगिकों में एक यौगिक पारे, गन्धक और आयोडीन के योग से ऐसा बना जो प्रकाश में रखने पर अपना रंग बदल देता था, पर अँधेरे में जाने पर फिर उसका रंग पहले जैसा हो जाता था।

आचार्य्य राय की रासायनिक खोजें तो महत्व की हैं ही; उससे भी अधिक महत्व की जो चीज़ है वह यह कि उन्होंने रसायनशास्त्र की एक परम्परा इस देश में स्थापित की। उनके प्रमुख शिष्यों और विद्यार्थियों ने उनके चरणों में बैठकर विज्ञान के प्रति नया राग प्राप्त किया। आचार्य्य राय के शिष्यों ने भी विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में बड़ा यश प्राप्त किया। भारतवर्ष के प्रत्येक विश्वविद्यालय में रसायन के प्रमुख अध्यापक या तो इनके शिष्य हैं, या इनके शिष्यों के शिष्य हैं। इस प्रकार आचार्य्य राय को हमारे देश में रसायनशास्त्र के अध्ययन का पिता माना जाता है।

आचार्य्य राय में संगठन करने की विचित्र प्रतिभा थी। रसायनज्ञों को इस देश में आचार्य्य राय ने संगठित किया। इंडियन केमिकल सोसायटी नामक एक संस्था स्थापित की गयी, जिसके आचार्य्य राय प्रथम सभा-पति थे।

सन् १९१६ में आचार्य्य राय ने प्रेसिडेन्सी कालेज की सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण किया। सन् १९२१ से १९३६ तक पूरे १५ वर्ष आचार्य्य राय कलकत्ता के यूनिवर्सिटी कालेज आफ् सायन्स में रासायनिक प्रयोग-शालाओं के अध्यक्ष रहे। इस पद पर इन्होंने अपने वेतन की पूर्ण राशि प्रयोगशालाओं के सम्पन्न करने में ही लगा दी। इस राशि का कुछ रुपया विद्यार्थियों की छात्र वृत्ति में काम आया।

आचार्य्य राय न केवल अनुसंधानकर्त्ता और शिक्षक ही थे, वे नये ढंग के उद्योगधन्धों के प्रवर्त्तक भी बंगाल में रहे। वे जानते थे कि देश का कल्याण वैज्ञानिक पद्धति पर संचालित उद्योग-धन्धों में ही है। उन्होंने बंगाल में औषधियाँ बनाने के एक कारखाने की नींव डाली। अपने वेतन में से ही जो थोड़े रुपये ये बचा पाए थे, उनसे इन्होंने कुछ अँग्रेजी औषधियाँ बनानी आरम्भ कीं। धीरे-धीरे यह व्यवसाय बहुत बढ़ा और देश का यह एक प्रमुख कारखाना बन गया।

आचार्य्य राय का एक और प्रमुख कार्य था, वह यह कि उन्होंने भारतीय प्राचीन रसायन-परम्परा का एक

सुसम्बद्ध इतिहास "हिन्दू केमिस्ट्री" नाम से लिखा, इस ग्रंथ से देश का गौरव बढ़ा। इस ग्रंथ के पूर्व पाश्चात्य विद्वान् यही समझते थे, कि यूरोप में रसायन विद्या अरब और यूनान से पहुँची। अब उन्हें यह पता चल गया कि प्राचीन भारत में रसायनशास्त्र की अच्छी उन्नति हो चुकी थी। आयुर्वेद और धातुविज्ञान के विकास में भारतीयों का काफी अच्छा हाथ था।

आचार्य्य राय न केवल विद्वान् रसायनज्ञ और अनुसन्धानकर्त्ता थे, बंगाल के सार्वजनिक जीवन से भी उनका उपयोगी सम्बन्ध रहा। उदाहरण के लिए, १६२२ में उत्तरी बंगाल में जब भयंकर बाढ़ आयी तो आचार्य्य राय ने पीड़ितों की सहायता की अच्छी आयोजना की थी। इसी प्रकार की अन्य सार्वजनिक सेवाओं में आचार्य्य राय बराबर तत्पर रहते थे। महात्मा गांधी के खादी आन्दोलनों में भी आचार्य्य राय ने बड़ा सहयोग दिया और उन्हें इस बात में विश्वास हो गया था कि देश की निर्धन पीड़ित जनता अपनी गरीबी खादी के आधार पर दूर कर सकती है।

सन् १६२४ के युद्ध के बाद भारतीय अँग्रेजी सरकार ने आचार्य्य राय को "सर" की उपाधि दी थी। उन्हें भारत के अनेक विश्वविद्यालयों ने डाक्टर की उपाधियाँ दीं, पर आचार्य्य राय को सबसे अधिक गर्व उस स्नेह का था जो उन्होंने देश की जनता, विशेषतया, बंगाल की जनता से प्राप्त किया। उनका सीधा सरल जीवन प्रत्येक भारतीय के लिए एक आदर्श है। आचार्य्य राय आमरण अविवाहित रहे। शिष्यमंडली ही उनका परिवार थी। उन्होंने अपना समस्त धन विज्ञान की सेवा और विद्यार्थियों की सहायता में अर्पित किया। अस्सी वर्ष से अधिक की आयु में आचार्य्य राय ने नश्वर शरीर त्यागा। मुझे अनेक बार उनके सम्पर्क में आने का अवसर मिला और आज भी उनकी सरल रूपरेखा और विशेषतायें स्मृति-पटल पर अंकित हैं। आचार्य्य राय के समान तपस्वी और विज्ञाननिष्ठ व्यक्ति कठिनता से ही मिलेंगे।

आचार्य्य राय भारतीय रसायन पर, व्याख्यान बड़ी रुचि से दिया करते थे। मैंने प्रयाग विश्वविद्यालय में उनके वे व्याख्यान सुने जो उन्होंने इस विषय पर दिए थे। वस्तुतः भारतवर्ष तो रसायन के विकास का मूल देश रहा है। इस देश में वैशेषिक के आचार्य्य कणाद ने परमाणुवाद की नींव डाली, और आचार्य्य राय ने अपनी ऐतिहासिक खोजों द्वारा स्पष्ट कर दिया कि नागार्जुन नामक बौद्ध आचार्य्य भारत का प्रमुख रसायनज्ञ था, जिसने अनेक नये रासायनिक यौगिक तैयार किये। आचार्य्य राय ने अपने इतिहास में न केवल आयुर्वेद के ग्रन्थों में पायी जाने वाली रासायनिक सामग्री का संकलन किया, उन्होंने तंत्र ग्रंथों से भी भारतीय रसायन सम्बन्धी साहित्य इकट्ठा किया। भारतीय इतिहास की इस सामग्री के इकट्ठा करते समय आचार्य्य राय को अनेक नये तंत्र ग्रंथ हाथ लगे। इस सामग्री का उपयोग पहले नहीं किया गया था। चरक और सुश्रुत के आधार पर आचार्य्य राय ने भारतीय रासायनिक विधियों से जनता को परिचय कराया। इस देश में रसायन का बहुत सा ज्ञान परम्परा से हम लोगों को प्राप्त होता रहा है, जैसे सुनारी के कार्य में रसायन का प्रयोग, भवन निर्माण कार्य में रासायनिक विधियों का प्रयोग, धातु कर्म और चर्म कर्म में रसायन का उपयोग। इनमें से बहुत सी परम्परायें ऐसी हैं जिनका उल्लेख साहित्य में तो नहीं मिलता है, पर हमारे उद्योग-धन्धों में बिखरा पड़ा है। आचार्य्य राय ने इस सामग्री का भी संकलन किया, और अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में इसे लेखबद्ध किया। आचार्य्य राय की संकलित यह सामग्री आचार्य राय का बड़ा अच्छा स्मारक रहेगी। आचार्य्य राय के तीन स्मारक हमारे सामने जीते जागते विद्यमान हैं। पहले तो उनके शिष्य और शिष्यानुशिष्य। दूसरे उनके प्रयत्नों से प्रोत्साहित उद्योगधन्धे और तीसरा उनका लिखा 'भारतीय रसायन का इतिहास।'

बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आज हमारे देश में रसायन की बड़ी-बड़ी प्रयोगशालायें विद्यमान हैं। यदि हम इनकी सम्पन्नता की तुलना उस रसायनशास्त्र से करें

[शेष पृष्ठ ४५ पर

योरप और एशिया के घातक सर्प

जगपति चतुर्वेदी

योरप और एशिया के भूभाग संलग्न हैं। इनको मिलकर यूरेशिया नाम दिया जाता है। यह इतना बड़ा भूखण्ड है कि पश्चिम ओर के अन्तिम छोर के भूभाग का बिल्कुल पूर्व ओर के अन्तिम छोर के भूभाग से जीव-जन्तु, वनस्पति आदि की दृष्टि से इतना अधिक वैषम्य दिखलाई पड़ सकता है मानो इनकी स्थिति बिल्कुल ही दो असंबद्ध क्षेत्रों में हो। विस्तृत क्षेत्र होने से ही इतनी विषमता पाई जाती है। इसी कारण दो पृथक महाद्वीप भी मान लिए गए हैं। हम यहाँ पर इस बृहद भूभाग के कुछ घातक सर्पों की चर्चा करेंगे।

योरप के घातक सर्प—योरप के घातक सर्प केवल क्षुद्र मंडली (वाइपर) सर्प हैं जो शुद्ध मंडली सर्प कहे जा सकते हैं। गर्त्त मंडली (पिट वाइपर) योरप में नहीं पाये जाते। एशिया में भी दक्षिणी भाग में ही इनका प्रसार पाया जाता है। दक्षिण एशिया में तो चारों बंश के विषधर सर्प [एलापाइडी (नाग), हाइड्राफाइडी (जल नाग), क्रोटेलाइडी (गर्त्त मंडली) और वाइपेराइडी (मंडली)] पाये जाते हैं।

योरप में मंडली सर्पों की सात जातियाँ मिलती हैं, किन्तु वे सब एक क्षेत्र में ही भरी नहीं पाई जातीं। यथार्थ में तो योरप का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं जहाँ इनमें से तीन जातियों से अधिक के मंडली सर्प पाये जा सकते हैं। किन्तु बहुत से क्षेत्रों में तो दो ही मंडली जातियों के सर्प मिल सकते हैं। कुछ भूभागों में केवल एक जाति ही पाई जाती है।

साधारण मंडली या ऐडर (वाइपर बेरस) को जर्मनी में क्रुजोटर नाम से पुकारते हैं। यह योरप का सब से छोटे आकार का मंडली सर्प हैं। इसकी लंबाई डेढ़ फुट से कदाचित ही अधिक होती हो। इसके बदन के रंग विभिन्न हो सकते हैं। खाकी, जैतूनी, पीलापन मिले भूरे, और भूरे रंग से लेकर लाल रंग तक कभी कभी पाया जाता है। उसके बदन का रङ्ग इनमें से किसी एक का एकरस या सपाट सा हो सकता है या उस पर चित्तियाँ या धब्बे भी हो सकते हैं। पीठ पर गहरे रङ्ग की टेढ़ी-मेढ़ी चित्रकारी से इसकी लम्बाई अधिक जान पड़ सकती है जिससे यह निर्विष सर्पों से पृथक पहचाना जा सकता है किन्तु गहरे रंग के मण्डली में यह विशेषता नहीं होती। कुछ मंडली सर्प तो पूर्णतः काले होते हैं। योरप के अधिकाँश मंडली सर्पों के पीठ पर टेढ़े-मेढ़े (वक्रित) धब्बे या पट्टियाँ पाई जाती हैं जिससे उनकी अलग-अलग जाति की पहचान बताना कठिन होता है। साधारण मंडली सर्प के सिर पर के पिछले भाग में धन + चिन्ह की तरह या स्वस्तिक आकार का चिन्ह होता है। इसकी पूँछ के नीचे पट्टिका की दो पँक्तियाँ होती हैं।

मंडली सर्प का निवास खुले जङ्गलों में, ढाल, नदी-नालों के धूप लगने वाले कगारों आदि में होता है। पत्थर के ढोकों की ढेरी या नष्टप्राय दीवाल के खंडहरों में ये आहार की खोज में पाए जा सकते हैं। ग्रीष्म के अंतिम भाग में खेत-खलिहान में कुन्तक जन्तुओं की भरमार होने पर ये भी उनको खाने की खोज में पहुँचते हैं। पहाड़ों में ५००० फुट की ऊँचाई तक मिलते हैं। शरद ऋतु में ये दीर्घ निद्रा में लिप्त होने के लिए विशेष अड्डों पर आ जमते हैं। छोटा आकार होने से छोटे बिल में भी जाड़ा काट लेते हैं। पेड़ के ठूँठ में भी जाड़े का अड्डा हो सकता है। दक्षिणावर्ती कगारों में भी जङ्गलों में ये जाड़ा बिताने का अड्डा बनाए होते हैं। बसन्त के आगमन पर वे बहुसंख्यक रूप में जाग्रत होकर बाहर निकल कर दिखाई पड़ने लग जाते हैं। एक सर्प-विश्रामस्थल पर लगभग सौ मंडली

सर्प तक पाए जा सकते हैं। वे भुंड रूप में रह कर कुंडली बाँधे पड़े मिल सकते हैं। बसन्त ऋतु इनका सन्तानोत्पादन काल होता है। इसके बाद अड्डे से एक डेढ़ मील दूर की जगहों तक फैल जाते हैं। ग्रीष्म के अन्त में एक दर्जन तक शिशु उत्पन्न होते हैं।

साधारण मंडली सर्प का प्रसार क्षेत्र उत्तर में इंगलैंड, स्काटलैंड से लेकर ध्रुववृत्तीय क्षेत्र के अन्तर्गत नार्वे, स्वेडन, फिनलैंड और रूस तक पाया जाता है।

इस मंडली सर्प के काटने पर कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है। यह बड़े वेग और निर्दयता से काटता है, परन्तु काटने के पहले अपने रोष का प्रदर्शन कर लेता है। इसका आकार तो छोटा ही होता है परन्तु फुफकार बड़ी ही तेज होती है। यह साँस लेने और निकालने दोनों समय फुफकार छोड़ता है और इस क्रिया में अपना बदन प्रचन्ड रूप में उठाता और गिराता है। इसके काटने पर सूजन हो आती है, पसीना खूब आने लगता है, उल्टी मालूम होती है। तुरन्त ही विषाक्त रक्त को निकाल फेंकना बचत का अच्छा उपाय होता है।

मंडली वंश को जंतुशाला में पालने का प्रयत्न करने पर प्रति दस सर्पों में से नौ को खाना पीना छोड़ कर मर जाते देखा जाता है। ये सर्प नम स्थान को तो अपना काल समझते हैं। तनिक भी नमी होने पर उस जगह इनकी त्वचा भद्दी हो उठती है और उसमें बहुत से फोड़े उठ आते हैं। मंडली सर्प की सब जातियों में यह दुर्बलता होती है। वे सदा सूखी जगहों में रहना पसंद करते हैं। कुछ तो मरुभूमि तक में रहते हैं।

दक्षिणी योरप में मध्य फ्रांस से लेकर दक्षिणी जर्मनी, स्विजलैंड, इटली तक ऐस्प मंडली नाम की जाति का साँप पाया जाता है। यह साधारण मंडली से कुछ बड़ा होता है। थूथन कुछ नोकीला सा होता है। कुछ थोड़ा सा किनारे की ओर उठा रहता है। इस जाति के मंडली साँप का रंग खाकी (भस्मीय), पीलापन सा, भूरा, या लाल हो सकता है जिस पर जोड़े रूप के धब्बों में गहरे रंग के धब्बे हो सकते हैं। कुछ सर्पों में ये धब्बे सटकर टेढ़ी-मेढ़ी लंबी पट्टी सी बना लेते हैं। कुछ बिल्कुल काले होते हैं। थूथन नोकीला और आगे की छोर पर उठा रहना ही इसका प्रधान लक्षण है।

एक मंडली सर्प की जाति "नासाशृंग" (वाइपरा एम्मोडाइट्स) नाम की होती है। इसके थूथन पर सींग सी बनी होती है परन्तु नाम को ही उसे सींग कह सकते हैं। यथार्थ में वह कोमल ही होती है और उस पर नन्हें छिछड़े मढ़े होते हैं। इसका प्रसार दक्षिणी पूर्वी योरप में है और पूर्व में टर्की और एशिया माइनर तक फैला पाया जाता है। एक दो फुट लंबे नासाशृंग मंडली सर्प को पाँच इंच लम्बे गिरगिट को दो मिनटों के अन्दर जोर से दबोच कर दोनों जबड़ों की हड्डियाँ चला-चला कर निगल जाते देखा गया था। इस साँप के बदन की पृष्ठ-भूमि का रंग खाकी होता है। उसके ऊपर गहरे रंग की टेढ़ी-मेढ़ी लंबी पट्टी बनी हुई पूंछ तक फैली होती है।

स्पेन, पुर्तगाल और वहाँ से आगे भूमध्य सागर के पार मोरक्को और अल्जीरिया तक एक मंडली सर्प की जाति पाई जाती है जिसे "अर्धनासा शृंग" (वाइपरा लेटेस्टाई) कहते हैं। इसमें और नासाशृंग मंडली में यही अंतर होता है कि इसके थूथन पर की सींग मामूली उभाड़-सी होती है जिस पर केवल एक छिछड़ा ही होता है।

दक्षिण-मध्य योरप में दक्षिण-पूर्वी फ्रान्स से लेकर उत्तरी इटली और हंगरी तथा एड्रियाटिक तक के भूभागों तक मंडली सर्प 'शान्त मंडली सर्प" (वाइपरा ओर्सिनाई) नाम का फैला पाया जाता है। योरप के किसी भी अन्य जाति के मन्डली सर्प की भाँति इस जाति के सर्प के विषदंत भी होते हैं और उसके साथ विषथैलियाँ भी वैसी ही यथेष्ट विकसित होती हैं किन्तु यह इतना सज्जन होता है कि छेड़ने पर भी कदाचित ही कभी काटने का प्रयत्न करता हो। आस्ट्रिया में तो यह सर्प अधिक पाये जाने पर भी कभी घातक सिद्ध नहीं हुआ। वहाँ तो लड़के प्रायः इसे उठाकर चारों ओर लिए फिरते हैं। फिर भी नहीं काटता। इसी की एक दूसरी उपजाति पाई जाती है जिसकी

आँखें बड़ी-बड़ी होती हैं। आहार की प्राप्ति के लिए अपने विषदंतों का प्रयोग इस उपजाति के मन्डली सर्प करते हैं। यह टिड्डों को अपना आहार बनाता है। उनसे कभी-कभी इसका सारा पेट फूला मिल सकता है। किन्तु यह भी छूने पर मनुष्यों को नहीं काटता। इसका रूप काटने वाले साधारण मंडली सर्प से मिलता-जुलता है।

एशिया के घातक सर्प—मंडली सर्पों का जन्म-स्थल अफ्रिका है। वहाँ से वे उत्तर की ओर योरप में फैले हैं और योरप उनके जन्म स्थान का ही उत्तरी विस्तार या उत्तरी उपनिवेश कहा जा सकता है। योरप में ही उनके बृहत्तम और विभिन्न सदस्य पाये जाते हैं। पूर्व की ओर एशिया में इनका थोड़ा ही प्रसार पाया जाता है। योरप में पाई जाने वाली मंडली जातियाँ इधर ही समाप्त हो जाती हैं और उनके स्थान पर कुछ थोड़ी-सी अन्य मंडली जातियों का प्रसार एशिया में पाया जाता है। ईरान में एक बालुका मंडली सर्प पाया जाता है जो एक गज लम्बा ही होता है। इसका वैज्ञानिक नाम "स्यूडोसेरास्टीज पर्सिकस है।" दक्षिणी-पश्चिमी एशिया में एचिस नाम की छोटी प्रजाति के मन्डली सर्प होते हैं जिसमें दो ही जातियाँ होती हैं। किन्तु इनका प्रसार दूर तक अरब और अफ्रिका में भूमध्य रेखा के उत्तर के भूभागों में पाया जाता है।

एशिया के दक्षिणी-पूर्वी भाग में भारत, बर्मा, मलाया और पूर्वी द्वीपसमूह आदि में दबोइया (टिक पोलंगा) या रसेल मन्डली सर्प का प्रसार है जो बड़े आकार का और घातक सर्प है। इसे "वाइपरा रसेलाई" कहते हैं। ऊपरी बर्मा की पहाड़ियों में एक छोटी जाति का मंडली पाया जाता है जिसे 'एजेमियोरस फीई' कहते हैं। इस तरह गिन-चुने मन्डली सर्प की जातियाँ ही इधर हैं। दबोइया का प्रसार भारत, सीलोन, बर्मा, थाईलैण्ड, सुमात्रा, जावा और अन्य पूर्वी द्वीपसमूहों तक है।

एशिया में मन्डली वंश में ये ही सर्प विद्यमान हैं किन्तु दूसरे घातक सर्पों के वंशों की भी जातियों के नमूने इन क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इनका व्यापक क्षेत्रों में बहुसंख्यक प्रसार पाया जाता है।

एशिया में मन्डली वंश के अतिरिक्त एलापाइडी घातक सर्प वंश नाग, करैत और अन्य सम्बन्धी घातक सर्पों की जातियों के लिए प्रसिद्ध है। हाइड्रोफाइडी वंश (जलनाग) में समुद्री घातक सर्प होता है जिसकी पूँछ खड़े रूप में चपटी होती है और पतवार का काम करती है। क्रोटेलाइडी या गर्त्त मन्डली वंश गर्त्त मन्डली सर्पों के लिए प्रसिद्ध है।

एलापाइडी वंश—इसकी जातियों के नमूने एशिया में यथेष्ट पाये जाते हैं। यहाँ ही इसके सबसे बड़े रूप पाये जाते हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यहीं इनका जन्म और विकास हुआ होगा। इनका जन्म और विकास क्षेत्र अफ्रिका का ही बिल्कुल दक्षिणी छोर से उत्तरी छोर तक का विशाल भूभाग है। वहाँ उनकी विभिन्न जातियाँ के नमूने हैं जिनमें नाग की एक दर्जन जातियाँ और भयानक घातक सर्प मोम्बाज का नाम लिया जा सकता है। हाँ, सबसे अधिक विभिन्न रूपों के लिए आस्ट्रेलिया प्रसिद्ध है। सर्प जगत का सम्राट नागराज है जो किंग कोबरा कहलाता है। "नैया हन्ना" इसका वैज्ञानिक नाम है। इसकी विष थैलियाँ तो बहुत भारी मात्रा में विष स्रवित करती हैं और यह सब से बृहद आकार का घातक सर्प भी है परन्तु इसे साँपों में ही नहीं प्रत्युत आज के समस्त जीवित जंतुओं में सब से अधिक घातक जंतु कहना चाहिए। यह अत्यंत चपल और क्रोधी स्वभाव का होता है किन्तु इस में बुद्धि भी पाई जाती है जो इसकी भयानकता बढ़ा देती है।

नागराज का प्रसार बर्मा, मलाया प्रायद्वीप, दक्षिणी-चीन, पूर्वी द्वीपसमूह के द्वीप और फिलीपाइन तक है। इसके बदन का रंग जैतूनी या पीलापन मिला भूरा होता है। उस पर प्रायः अंगूठीनुमा आड़े रूप की काली पट्टियाँ होती हैं। जंतुशाला में नागराज की बुद्धि परखने का अवसर मिल सका है। नये आगन्तुक नागराज सर्प को दर्शक के लिये कठघरे में सामने लगे काँच की दीवाल पर दो एक दिन फण मारते देखा गया है, परन्तु बाद में वह चतुर हो

जाता है और काँच की दीवाल पर फण की मार करना निरर्थक समझने लगता है। ये सर्प अपने सेवकों को पहचानते से हैं और उनके सामने शान्त रूप प्रदर्शित करते हैं परन्तु दर्शकों के सम्मुख उनका रौद्र रूप ही होता है। प्रति सप्ताह आहार का समय आने पर वे कठघरे की पिछली खिड़कियों या छेदों से सेवकों के आहार लाने की उत्सुकता से प्रतीक्षा करने के लिए समय पर बेचैन हो पड़ते हैं।

छोटे कोबरा की तरह किंग कोबरा (नागराज अपना फण फैलाने में समर्थ नहीं होता। उसमें आगे की पसलियाँ लंबोतरी तो होती हैं परन्तु छोटे नाग की तरह तुलनात्मक रूप में यथेष्ट चौड़ाई तक अपना फण नहीं फैला सकता। यह छोटे नाग की तरह अकस्मात वेगपूर्वक फण उठाता भी नहीं दिखाई पड़ता। यह कभी-कभी चार फुट तक फण उठा सकता है किन्तु सिर को स्थिर किए ही पड़ा रहता है। आँख की टकटकी लगाए दिखाई पड़ सकता है। सिर को छोटे नाग की तरह इधर उधर हिलाने की प्रवृत्ति इसमें नहीं होती।

नागराज के काटने से हाथी के मर जाने का उदाहरण पाया जाता है। इसका आहार केवल सर्प ही है। हाथी का चमड़ा तो बड़ा कड़ा होता है परन्तु सूंड़ के सिरे और पैर में नख की संधि के पास नर्म चमड़ा होता है। वहाँ पर नागराज के काटने से विष तुरन्त प्रभाव करने लगता है और तीन घण्टे में हाथी की मृत्यु हो सकती है।

नाग को भारतीय नाग या भारतीय कोबरा नाम से प्रसिद्ध किया गया है। परन्तु यह बड़े विस्तृत क्षेत्र में प्रसारित है। कास्पियन सागर के पूर्वी किनारे से लेकर सारे दक्षिणी एशिया में चीन तक यह पाया जाता है। पूर्वी द्वीपसमूह और फिलीपाइन में भी प्रसारित है। बदन के रंग और चित्रणों के भेद से इस की कई उपजातियाँ पाई जाती हैं। आकार भी किसी का पतला और किसी का मझोले रूप का पुष्ट होता है। इनके मिले-जुले रूप भी होते हैं। फिलीपाइन के नाग का रंग गहरा भूरा या काला होता है। इसके फण पर कोई चिन्ह बना नहीं पाया जाता। किसी-किसी फिलीपाइन नाग में तीर की नोक समान धुंधला धब्बा बना पाया जाता है।

साधारण या एशियाई नाग के बड़े नमूने के साँप की लम्बाई छः फुट तक पाई जाती है। उसका रंग पीलापन से लेकर गहरे भूरे तक होता है। इसके फण पर फैले होने पर एक काले और सफेद रंग का धब्बा चश्मा सा बना दिखाई पड़ता है। और फण के निम्न तल पर दोनों ओर दो छोटे-छोटे काले सफेद धब्बे बने होते हैं। ऐसे रूप का नाग अधिकतर दक्षिणी भारत और सीलोन में पाया जाता है। भारत में ऐसे नमूने के भी नाग पाए जाते हैं जिनके फण पर कोई चिन्ह नहीं बना होता। एक धब्बे का भी एक भारतीय नाग होता है जिसके फण पर काले रंग की अँगूठी बनी होती है जिसके अन्दर हल्के रंग का क्षेत्र होता है। उसके भी बीच एक काला दाग होता है। यह अधिक उत्तरी भारत और चीन में पाया जाता है।

नाग उत्तेजित हो उठने वाला सर्प है। छेड़े जाने पर तुरन्त ही फण फैला कर सिर उठा लेता है और गर्दन को मेहराबनुमा बना लेता है। यह क्रोध उत्पन्न करने वाले पदार्थ पर बराबर सिर को आगे की ओर झपट कर नीचे की ओर जोर की फुफकार के साथ दे मारता है किन्तु इस तरह के आघात में मंडली सर्प नाग की उपेक्षा बहुत अधिक फुर्ती दिखलाता है। वह आड़े रूप में गर्दन का मेहराब बना कर विद्युत वेग से प्रहार कर बैठता है। नाग के आघात करने में उतनी चपलता न होने पर शिकार को मुँह से जकड़ रखने की प्रवृत्ति होती है। यह विषग्रंथि के ऊपर की पेशियों को सिकोड़ कर बहुत अधिक स्नायुघातक विष स्रवित करता है। जितनी देर में नाग विष के फैलाने के लिए फन उठाने और चोट करने की तैयारी करता है उतनी देर में चपल व्यक्ति हल्के डंडे से उसे दूर रख सकने में समर्थ हो सकता है।

नेवले और नाग के युद्ध का वर्णन सुनने को मिलता है। उसमें प्रायः नाग ही पराभूत होता है। नाग के विष का नेवले पर प्रभाव हो सकता है। उस विष के प्रभाव से बचने की शक्ति नेवले में नहीं होती। इसलिए कभी संयोग से नाग उसे काट ले तो मृत्यु अनिवार्य ही है। परन्तु नेवला केवल अपनी चपलता से ही नाग पर विजय पाता है। यदि नाग अपनी वक्रित गति से भूमि पर दौड़ कर नेवले पर आक्रमण करे तो उसके दौड़ने के वेग से नेवला पार नहीं पा सकता परन्तु नाग तो सदा रक्षा की मुद्रा बना कर ही आक्रमण करने का प्रयास करता है। वह अपने फण को उठाकर नेवले को निशाना बनाकर ज्यों ही मार करता है नेवला द्रुत गति से फन की चोट बचा कर उछाल मार लेता है और नाग के पीछे पहुँच जाया करता है। इस तरह बार-बार निष्फल आक्रमण का प्रयत्न करा-कर नेवला नाग को थका मारता है। फिर किसी सुरक्षित दिशा से नाग की पूछ नोचकर पीछे भाग जाता है। युद्ध करते-करते नाग की आँखें चौंधिया गई होती हैं। वह नेवले पर आक्रमण करने का उपक्रम-सा करता है परन्तु नेवला सामने नहीं होता, वह पीछे से उसकी गर्दन पर उसी समय आ धमकता है और अपने दाँत चुभो देता है। नेवले की सतत चपलता और तेज दाँतों के आघात से नाग के गर्दन की कशेरुकाएँ टूट जाती हैं।

नाग के विषदंत से आक्रान्त मनुष्यों की रक्षा के लिए सिरम का टीका शीघ्र लगाने से तुरन्त लाभ होता है। हाफकिन इंस्टिस्यूट और पास्च्युर इस्टिस्यूट यह सिरम तैयार कर वितरित करते हैं। इसका टीका अविलंब लगने से मृत्यु नहीं होती किन्तु नाग के विष का बहुत अधिक प्रभाव हो चुकने के बाद सिरम का टीका लाभ नहीं दिखा सकता।

विष के प्रभाव से मनुष्यों का प्राणान्त करने में केवल नाग ही प्रमुख नहीं, प्रत्युत करैत, दबोइया तथा अन्य विषधर सर्पों का भी हाथ है। इन सब में दबोइया ही सब से अधिक मनुष्यों का प्राणान्त करता है।

करैत साँप रात्रिचारी होते हैं। रात को अकसर पैर से दब जाने पर ये विषदंत से आक्रमण कर घातक सिद्ध होते हैं। इनका प्रसार भारत, बर्मा, दक्षिणी चीन और पूर्वी द्वीपसमूहों में है। बस्तियों के निकट इनका प्रसार नाग से अधिक पाया जाता है। इनकी लम्बाई चार-पाँच फुट होती है। छिछड़े चिकने और चमकीले होते हैं। उनका रङ्ग गहरा भूरा या काला होता है और हल्के रङ्ग की आड़ी पट्टियाँ होती हैं। कुछ में तो पीली अंगूठियाँ स्पष्ट चित्रित होती हैं। इनकी पीठ पर कुछ उभाड़-सा होता है जिस पर बड़े शल्कों की एक पंक्ति होती है। सिर छोटा होता है और गर्दन से स्पष्ट नहीं होता। इनका आहार छोटे साँप, छोटे स्तनपायी, मेढक और सरट आदि हैं।

साधारण करैत का प्रसार भारत के मैदानी भाग से लेकर मलाया द्वीप समूह तक है। पट्टित या मुद्रिकांकित करैत भी इसी क्षेत्र में पाया जाता है।

कुछ अन्य विषधर सर्प की जातियाँ भी एलापाइडी या नाग वंश में पाई जाती हैं। वे छोटे आकार के विष-धर सर्पों की जातियाँ हैं। उनकी लम्बाई डेढ़ से दो फुट तक होती है। वे कृशकाय और छिपी रहने वाली होती हैं। उनमें काटने की प्रवृत्ति नहीं होती, इस कारण विष-धर सर्पों में उनका नाम विशेष प्रसिद्ध नहीं है। इनमें ही डोलियोफिस प्रजाति के सर्प भी होते हैं। इसकी चार जातियाँ होती हैं जो बर्मा, हिन्द चीन और पूर्वी द्वीपसमूह में पाई जाती हैं। इनके शरीर के भीतर एक विचित्र रचना होती है। इनकी विषथैली कपोल क्षेत्र में ही सीमित रहने के स्थान पर पीछे की ओर पूरे बदन के एक तिहाई भाग तक नाली रूप में फैली रहती है। अंत में गदा की भाँति फैला सिरा होता है किन्तु ये मनुष्य के लिए भयानक नहीं होते। अपने शिकार पर ही हमला करने में विष का प्रयोग करते हैं।

समुद्री विषधर सर्प वंश (जलनाग वंश) की केवल एक जाति ही नई दुनिया के समुद्रों में पाई जाती है। परन्तु एशिया में तो इसकी पचासों जातियाँ उष्ण कटिबंधीय समुद्रों में हैं। इनको नाग और करैत सर्पों का ही जल-

चारी रूप कह सकते हैं। इसलिए इनके वंश का नाम भी जलनाग वंश रक्खा जा सकता है। जलनागों का अधिक प्रसार फारस की खाड़ी से लेकर पश्चिमी उष्ण-कटिबंधीय पैसिफिक सागर तक दक्षिणी एशिया तथा पूर्वी द्वीपसमूहों के समुद्रों में है। तट से एक हजार मील दूर तक इन्हें पाया जा सका है। ये सूखे भाग और पानी के अन्दर भी अधिक समय तक रह सकते हैं। बङ्गाल की खाड़ी और भारत महासागर में जलनाग भरे पड़े हैं। उनके विभिन्न रंगरूप पाए जाते हैं। कुछ में भव्य रंग की अंगूठी नुमा पट्टियाँ होती हैं; हाइड्रोफिस प्रजाति के जलनागों की बहुत सी जातियाँ होती हैं। इनमें से कुछ सांपों की लंबाई आठ से दस फुट तक होती है। उनकी बड़ी लंबोतरी गर्दन होती है और भारी बदन की तुलना में छोटा सिर होता है। कई जलनागों में बदन का व्यास सिर के व्यास से चौगुना या छः गुना अधिक होता है। यह बड़ा ही विचित्र रूप दिखाई पड़ सकता है। औसत रूप से जल नागों की लंबाई चार या पाँच फुट कहना चाहिये। ये अंडे न देकर सदेह शिशु ही उत्पन्न करते हैं। शिशु उत्पन्न करने के पूर्व ये सुनसान समुद्र तट के समीप के उथले जलखंड या ज्वार भाटा से बने जलाशयों में चले जाते हैं।

मंडली या वाइपराइडी वंश की जातियाँ तो एशिया में थोड़ी ही है किन्तु दबोइया इसका प्रमुख प्रतिनिधि है। इसका प्रसार भारत, सीलोन, चीन, मलाया प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि तक है। ऊपरी बर्मा में एक छोटा मंडली सर्प पाया जाता है। दबोइया की लंबाई लगभग पाँच फुट तक होती है। यह नाग से अधिक घातक सर्प है, परन्तु रंग रूप बड़ा ही आकर्षक होता है। बदन का रंग धुँधला पीला होता है और पूरी लंबाई में बड़ी काली अंगूठियों की तीन पंक्तियाँ फैली होती हैं जिनमें सफेद या पीली किनारी होती है और बीच में गहरा भूरा या लाल धब्बा होता है। कुछ सर्पों में अँगूठियों को सटे रह कर जंजीर बनाते पाया जाता है।

दबोइया भयानक सर्प है। इसकी फुफकार बड़ी डरावनी होती है जिसे पचीस फुट की दूरी से सुना जा सकता है। यह बड़ी जल्दी-जल्दी फुफकार छोड़ता रहता है। काटने में वह इतनी फुर्ती दिखलाता है कि एक फुट तक झपटता है मानो उछल रहा हो।

दबोइया की संख्या अधिक होने का यह कारण है कि यह एक बार में दो दर्जन तक शिशु उत्पन्न करता है। यह शीघ्र ही दूर चला जाता है। दबोइया का आहार कृन्तक (चूहे आदि) जंतु हैं। इसलिए रात को उनकी खोज में यह बस्ती के अन्दर आ जाता है। गर्त्त मंडली वंश (क्रोटेलाइडी) के लिए एशिया को भंडार ही कहा जा सकता है एशिया में इस वंश के ही झिनझिनिया (कर्कर) सर्प नहीं पाए जाते, उनका प्रसार केवल नयी दुनिया में ही है किन्तु मोकासिन या एगकिस्ट्रोडोन प्रजाति के सर्प कई जातियों के पाये जाते हैं। इनमें सिर पर सुडौल पट्टिकाएँ होती हैं। इनकी लंबाई दो से पाँच फुट तक होती है। किन्तु कुछ प्रौढ़ सर्प एक गज से भी लंबे होते हैं। इनके ही अनुरूप सर्प योरप में ताम्रशीर्ष (कापर हेड) नाम के पाये जाते हैं।

मोकासिन सर्पों की कई जातियों के विशेष प्रसार क्षेत्र है! एक जाति चीन में यांग्सी नदी के ऊपरी भाग में पाई जाती है। एक दूसरी जाति का प्रसार कास्पियन तट और यूराल नदी से लेकर यनीसी नदी के ऊपरी भाग तक है। तीसरी जाति का प्रसार मध्य एशिया और पूर्वी साइबेरिया में मंगोलिया और जापान में है। एक चौथी जाति का प्रसार पूर्वी साइबेरिया, मंगोलिया, चीन, जापान और थाईलैंड तक है। हिमालयेनस नामकी जाति का प्रसार पाँच हजार से दस दस हजार फुट तक है और खासी पहाड़ियों तक है। एक छठी जाति का प्रसार थाईलैंड, मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा और जावा तक है। हिपबेल नाम की सातवीं जाति का प्रसार सीलोन और भारत में पश्चिमी घाट में बम्बई तक है।

ट्रिमरेस्यूरस प्रजाति के गर्त्त मंडली सर्प एशिया में ही पाये जाते हैं। इनका सिर सदा चौड़ा होता है और गर्दन से स्पष्ट मालूम पड़ता है। अधिकांश जातियाँ एक गज लम्बी होती हैं। बदन का आकार किसी में पतला

[शेष पृष्ठ ३५ पर

धरती का पोषण

हरी खाद की उपयोगिता

डा० अमरसिंह

प्राध्यापक, कृषि वनस्पति शास्त्र विभाग, प्रयाग वि० वि०

जीवांश का महत्व

जीव बिना भूमि व भूमि बिना जीवन नितांत असंभव है। इस कथन की सत्यता की झलक हम पिछले लेख "धरती की पुकार" (विज्ञान—८८:१, अक्तूबर १९५६) में देख चुके हैं। भूमि को सजीव एवं कार्यशील बनाये रखने के लिये जीवांश का पर्याप्त मात्रा में होना अनिवार्य है। ऊष्ण जलवायु में सूर्य के ताप से जीवांश भस्मीभूत होता रहता है। इसकी निरन्तर पूर्ति का साधन व्यवहारिक कृषि में होना भूमि की उत्पादन शक्ति को स्थिर रखने के लिये अति आवश्यक है। जब भी भूमि में जीवांश को स्थिर रखने की समुचित व्यवस्था नहीं हो पाती इसके उपजाऊपन का क्रमिक ह्रास होता पाया गया है।

भारत भूमि की प्रति एकड़ पैदावार में कमी इस कटु सत्य की ओर हमारा ध्यान स्पष्ट रूप से इंगित करती है। भूमि की उत्पादन शक्ति के ह्रास पर 'हमारी खाद्य समस्या की रूप रेखा" में पूर्णतया विचार किया जा चुका है (विज्ञान—८३:६, सितम्बर १९५६) पैदावार के घटने की गति इस बात का द्योतक है कि भूमि की उत्पादन शक्ति दिन प्रति दिन क्षीण हो रही है; अन्न की विषम समस्या का यह प्रमुख कारण है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि भूमि की उर्वरा शक्ति को क्षीण होने से बचाया जाय अथवा भूमि को शोषण करने वाली क्रियाओं को रोकना व इसके पोषण का सुगम वैज्ञानिक उपाय उचित रूप से कृषि क्रम में ढालना अनिवार्य है।

युगों के अनुभव और व्यवहारिक ज्ञान पर अवलम्बित भारतीय कृषि पद्धति में भूमि की उर्वरता को बढ़ाने के लिये जैविक पदार्थों को खेतों में डालने का विधान बना हुआ है जिसकी पुष्टि परम्परा से प्रचलित अनेकानेक कहावतों से होती है। उदाहरणार्थ नीचे दी हुई कहावतों को लीजिए :—

चोकर, रूस, चकौड़ी गोबर ।
पावै धरती नासैं ऊसर ॥
अथवा
गोबर, चोकर, चकवड़ रूसा ।
इनके छांड़े होय न भूसा ॥

इन पंक्तियों में जैविक पदार्थों का महत्व धरती व पैदावार दोनों दृष्टि से प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर दिया गया है। ऐसी अनेक कहावतें गोबर के गुण, खलियों की महत्ता, और हरी खाद की उपयोगिता के सम्बन्ध में प्रचलित हैं। इस विज्ञान के युग में जैसे-जैसे इन गूढ़ मंत्रों के आन्तरिक रहस्यों का आभास मिलता जा रहा है वैसे वैसे हमारी श्रद्धा भारतीय कृषि पद्धति में निर्धारित किये गए मूल सिद्धान्तों की ओर अनायास ही बढ़ती जा रही है।

आज भी भारतीय किसान भूमि में जीव-अंश, नत्रजन, फास्फोरस, पोटाश इत्यादि के बढ़ाने के लिये गोबर, खली, हरी खाद का व्यवहार करता है। गिरती हुई उत्पादन शक्ति हमें यह निश्चय रूप से बतलाती है कि इन पदार्थों से हम पूरा लाभ नहीं ले पा रहे हैं। इसका कारण किसान की अनभिज्ञता ही है जिसके फलस्वरूप वे अनियमित रूप तथा कुसमय से उनका अनुचित प्रयोग कर हानि के भागी होते हैं।

गोबर की खाद लाभप्रद है पर दुर्भाग्यवश इसका ७५ प्रतिशत भाग जलाने के काम में व्यय हो जाता है और खेतों तक पहुँच ही नहीं पाता। जो पहुँचता है वह भी ऐसी अवस्था में जब वह भूमि के लिये कम लाभदायक रह जाता है। यदि सम्पूर्ण गोबर का उपयोग कृषि में करें तो भी इस विशाल भूमि क्षेत्र के लिये कम ही रहेगा। खलियाँ चूंकि पशुओं को खिलाई जाती हैं, खाद के लिये नहीं उपलब्ध हैं फिर महंगी होने के कारण कृषक इसको व्यवहार में नहीं ला पाते हैं। इन कारणों से यह आवश्यक हो जाता है कि भारतीय कृषक हरी खाद का रहस्य व उसको प्रयोग करने का सही तरीका जाने तथा अपनावे।

पौधे को हरी अवस्था में खेत में गिराकर भूमि में जोत कर मिला देने को हरी खाद कहते हैं। पौधों को फसलों के साथ-साथ या खाली खेत में पैदाकर उन्हें भूमि में जोत देने की प्रथा पुरातन है। खेत की उपज बढ़ाने का यह साधन हर किसान व्यवहार में ला सकता है। इस क्रिया का विशेष अभिप्राय भूमि में जीवांश व अन्य तत्वों का उपलब्ध करना है जिनसे भूमि की उर्वरा-शक्ति स्थिर रहती है। हरी खाद का योग इस दृष्टि से महान है। भूमि के सुधार और उसकी उत्पादन शक्ति को बढ़ाने में हरी खाद एक सरल एवं उपयुक्त साधन है। भूमि की भौतिक दशा भी इस क्रिया से सुधरती है।

हरी खाद प्रथा का विस्तार

हरी खाद का प्रयोग क्यों, कब और कैसे हुआ इसका ठीक-ठीक इतिहास तो नहीं मिलता पर इतना तो सर्वमान्य है कि यह प्रणाली पुरातन, सरल, सस्ती लाभप्रद व प्रत्येक किसान के करने योग्य है। ग्रीस और रोम में १७ वीं शताब्दी में हरी खाद का उपयोग करते थे ऐसा प्रमाण मिलता है। अमेरिका निवासी जई, राई और कुट्टू का प्रयोग १८ वीं शताब्दी में करते थे। चीन में इसका महत्व बहुत पहले से माना गया है। बर्तानिया में १८ वीं शताब्दी में यह प्रथा आई। भारत में वन-वृक्षों की पत्तियाँ, तिल के पौधे, पुआल, सेम, इमली, कैथा, आँवला, चमेली, बेला आदि के कोमल अंगों का प्रयोग खाद के रूप में सदियों से करते आये हैं। इसका वर्णन बृहत् संहिता, अग्निपुराण, अर्थशास्त्र इत्यादि में मिलता है। आज हरी खाद का जो रूप है वह अभी हाल ही से प्रयोग में लाया जा रहा है। पाश्चात्य देशों में फली को तोड़ लेने के बाद पत्तियां व डंठल आदि को खेत में दबा देना पाया जाता है पर भारत में पत्तियां या डंठल इत्यादि को असंख्यक पशुओं को खिलाने के काम में लाते हैं।

धरती की सतह को ढकने के लिये व हरी खाद के लिये फलीदार, दलहन व अन्य शस्य काम में लाये जाते हैं। हरी खाद की उपयोगिता निस्संदेह प्रमाणित हो चुकी है फिर भी विश्व के कुछ ही भागों में इसका यथार्थ रूप से प्रचलन है। आस्ट्रेलिया के किसान इसे आर्थिक कारणों से नहीं अपनाते। दक्षिणी-पूर्वी अमेरिका में यह प्रथा उपयोगी सिद्ध हुई है पर वहाँ के किसान अपनी एक फसल को हरी खाद के लिए छोड़ देने में असमर्थ रहे हैं। वहाँ ऐसे पौधों का प्रचार करने की आवश्यकता है जिससे फसल की हानि न हो और काम भी बन जावे। अफ्रीका में व्यय अधिक पड़ जाने से इसका उपयोग सीमित है। बर्तानिया व अधिकांश युरोप में हरी खाद एक दम नहीं बनाते।

हरी खाद की आवश्यकता व रहस्य

भारत भूमि में नत्रजन की बेहद कमी पाई जाती है। इसकी मात्रा ०.०३—०.०७ प्रतिशत है जब कि युरोप या अमेरिका की मिट्टी में ०.१०—०.१७ प्रतिशत

है। जैविक कार्बन की मात्रा भी हमारी धरती में न्यूनतम है भारत में ०·-६ प्रतिशत है जब युरोप में लगभग ३ प्रतिशत है। ऐसा देखा गया है कि पृथ्वी पर गिरा हुआ जल व उसके भाप बन कर हवा में विलीन हो जाने के किसी अनुपात पर हर १० अंश (१०°C) तापक्रम गिरने से भूमि में जीव कार्बन की मात्रा दुगुनी हो जाती है। इन जलवायु सम्बन्ध कारणों से भारत भूमि में जीवांश (कार्बन) की मात्रा युरोप की भूमि का पंचमांश ही है। अतः जीवांश की मात्रा को स्थिर रखने व उसमें वृद्धि करने के लिए हरी खाद का प्रयोग करते रहना भूमि के पौधों के भोजन के आवश्यक तत्वों को बनाये रखने के लिये उत्तम साधन है।

हरीखाद की विशेष सुविधा या उपयोगिता यह है कि किसान को अन्य विधि की खाद विशेषतः कृत्रिम व रसायनिक को प्रयोग में लाने में जिन बारीकियों को जानना आवश्यक है उसका झगड़ा इसमें नहीं। इन बारीकियों को न जानने व उन्हें बरतने से हानि की सम्भावना होती है यह कठिनाई हरी खाद के प्रयोग में नहीं है। इसमें केवल एक बात को ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि पलटे जाने वाले पौधे ऐसी अवस्था में व ऐसे समय से पलटे जावें कि अधिक से अधिक जीवांश व नत्रजन प्राप्त हो। इसके लिये उपयुक्त समय फूलने के साथ-साथ होता है और किसान इस अवस्था से भली भाँति परिचित हो सकता है।

पौधों को शैशव काल (फूलने के साथ साथ) ही में जब तक उनमें काठ की मात्रा बहुत कम रहती है और वे नरम रहते हैं भूमि को अर्पण कर देना हरी खाद बनाने का एक अंग है। समय से इस क्रिया को कर देने से सड़-गल कर उस रूप में परिणत हो जाते हैं कि उनका कार्बनः नत्रजन का अनुपात १० : १ के आस-पास आकर अगली फसल के पोषण के लिए पूर्णतया व तात्कालिक सहयोग मिलता है अन्यथा हानि की संभावना रहती है। कार्बन / नत्रजन का अनुपात १० : १ से जितनी दूर होगा उतनी ही बिलम्ब से लाभ होगा और लगी हुई फसल को हानि भी पहुँच जायगी। यदि हरी खाद के बाद ली जाने वाली फसल नाइट्रेट या अन्य शीघ्र लुप्त होने वाले रूप को जल्दी ही नहीं ले लेती है और वर्षा या किसी और कारण से घुलनशील पदार्थ धरती की तह में या खेत के बाहर चले जाते हैं तो भी हानि की संभावना है। इसलिये प्रत्येक हरी खाद हर फसल के लिये उपयुक्त नहीं हो सकती। इसका भी ध्यान रख अनुभव से कार्य करना चाहिये।

हरी खाद के लिए उपयुक्त पौधे

हरी खाद के रूप में प्रयोग आने वाले पौधों में कुछ विशेष गुणों का होना आवश्यक है। इसमें से तीव्र बाढ़ गति, कम समय में अधिक लांक बनाने की क्षमता, पत्तों व डंठल का कोमल होना, पानी रुकने वाली नीचास भूमि में भी आसानी से पैदा होना, अपनी बाढ़ के लिये अधिक पानी की आवश्यकता न रखना फिर भी लांक में इतने पानी का होना जिससे जहाँ तक सम्भव हो बाहर से न मिलने पर भी अपने आप सड़ गल जाना इत्यादि प्रमुख हैं। इसके लिये प्रायः हर तरह के पौधे काम में लाये जाते हैं। बिना फली वाले पौधों का जो खाली समय (रबी व खरीफ के अलावा) में खेत में बोई जा सकती है प्रयोग इस मद में करने से भूमि का पोषण हो जाता है। इसके अलावा पौधों को भूमि में उगाने से नाइट्रेट जो कि नत्रजन का घुलनशील और जल्दी लुप्त हो जाने वाला रूप है पौधों द्वारा उपयोगित हो बचा रह जाता है।

अनुभव से ज्ञात हुआ है कि दलहन इस कार्य के लिये विशेषतः उपयुक्त है, इनसे लाभ अधिक होता है और लोग अधिक उपयोग में लाते हैं। यों तो हर पौधा व उसकी लांक हरी खाद के रूप में व्यवहार में लाई जा सकती है पर फलीदार पौधे वायुमण्डल से नत्रजन ग्रहण कर भूमि में संचय करने की क्षमता रखने से अच्छे माने गये हैं। इन पौधों में विशेष गुण यह होता है कि नत्रजन की कमी वाले खेत में भी जड़ों से बढ़कर अच्छी हरियाली पैदा कर भूमि को यथेष्ट लाभ पहुँचाते हैं।

भूमि की उर्वरता को बढ़ाने वाले फलीदार फसलों की यह शक्ति इसकी जड़ों में छोटी छोटी ग्रन्थियों से ही होती है। उन ग्रन्थियों में अनगिनत सूक्ष्म कीटाणु निवास करते हैं जो वायुमंडल से नत्रजन ग्रहण कर संचय करते हैं। इन कीटाणुओं की संख्या व इनकी कार्यक्षमता पर वातावरण का महान प्रभाव पड़ता है। दलहन फसलों को जोत देने से समस्त जीव-अंश, नत्रजन, आदि भूमि में मिल जाता है। इतना ही नहीं इन फसलों की जड़ों द्वारा गहराई में पड़े हुए खाद्यांश खिच कर ऊपरी सतह में आ जाते हैं। इसके अलावा ऊष्ण य शीतोष्ण कटिबन्ध में ये पौधे सूर्य के ताप और वर्षा से होने वाले भूमि-क्षरण को भी रोकने में सहायक हैं। इस प्रकार ये पौधे विभिन्न रीतियों से भूमि का पोषण करने में सहायक होते हैं।

सर्वप्रथम उन पौधों की जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है जिनका उपयोग हम विविध अवस्थाओं में कर सकते हैं। पौधे ऐसे होने चाहिये जो क्षीण उर्वरा भूमि में आसानी से उगें और बढ़ें। इनका उगने का समय दो फसलों के बीच का होना उत्तम होता है क्योंकि इससे अन्न के स्थान पर यह खेत में नहीं लगा रहता है। भूमि खाली रहने के समय में इन पौधों के लगाने से जो और लाभ हैं उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। हरी खाद के लिये खरीफ में सनई, ढैंचा, शेवरी, जैता, मोथ, उर्द, मूँग पिल्ली पिसारा, रणमुक्ति, ग्वार, लोबिया, कुल्थी, नील, अरहर और रबी में सेन्जी, बरसीम, मेथरा, केसारी, मटर, मसूर, आदि फलीदार शस्य उपयोग में लाये जाते हैं। बिना फली वाले पौधों में भाँग, ज्वार, मक्का, सूरज मुखी इत्यादि काम में लाते हैं। वृक्षों की पत्तियाँ व कोमल अंगों को भी हरी खाद के रूप में व्यवहार में लाते हैं। इसमें नीम, आँवला, आम, आॅक, करंज इत्यादि अधिक प्रयोग करते हैं। घासों में से रूसा, चकवड़, तिनपतियां इत्यादि इस काम में लाये जाते हैं।

मूंग टाइप १ जल्दी तैयार होने वाली और हर समय में उगने वाली दलहन है। इसे बोने से भूमि के अन्य लाभों के अतिरिक्त कृषक को कुछ मूंग भी अन्न के लिये मिल जाती है। यह हरी खाद के लिये अच्छी तरह प्रयोग की जा सकती है। ऐसी अन्य फसलों की खोज करना किसान व भूमि दोनों के हित में आवश्यक है। ऐसा होने से जो आर्थिक प्रश्न किसान के सामने आज आ जाता है और हरी खाद को अपनाने नहीं देता वह दूर हो जायगा।

हरी खाद बनाने के कतिपय नियम

हरी खाद कहाँ, कब और कैसे बनाई जाय यह एक जटिल प्रश्न है। सभी प्रकार की भूमि और जलवायु इसके लिए उपयुक्त नहीं होती। बलुई, दूमट अथवा मटियार भूमि जिसकी उत्पादन शक्ति क्षीण हो गई हो हरी खाद के लिये विशेष उपयोगी होती है। साधारणतः जीवाँश की कमी होने पर मिट्टी का रंग गहरा काला न होकर लाल पीला या सफेदी लिये होता है। इस विषय के रंग का विशेष महत्व नहीं है पर इससे मदद तो ली ही जा सकती है। जिस भूमि का रंग जितना ही फीका हो उतनी ही जीवांश की कमी मानकर हरी खाद का प्रयोग करने में हानि नहीं है या किसी भी भूमि में उष्ण कटिबन्ध में हरी खाद लाभकारी होगी।

सिंचाई की सुविधा वाले स्थानों में हरी खाद विशेष लाभयुक्त है। भूमि में पौधों के पलटे जाने पर पर्याप्त नमी न होने से कीटाणु अपना विनाशकारी रचनात्मक कार्य करने में शिथिल पड़ जाते हैं फलतः तात्कालिक लाभ नहीं हो पाता। जब लाभ नहीं होता है तो संदेह हरी खाद की प्रथा पर न कर उसके कारणों को पता लगा उन्हें दूर करने का प्रयास करना चाहिये।

हरी खाद के लिये गर्मियों में खेत की गहरी जुताई करना आवश्यक है। इस तरह भूमि को ढीली कर समय समय पर २-३ जुताई फिर से कर पटेला दे देना जरूरी है, जिसमें खेत समतल रहे और प्रत्येक भाग में नमी बराबर बनी रहे। खेतों के मेंड़ बनाकर पानी को रोकना भी लाभदायक सिद्ध हुआ है।

हरी खाद में काम आने वाले पौधों में से किसको किस अवस्था में प्रयोग में लाया जाय इसका निर्णय करना एक जटिल वैज्ञानिक प्रश्न है और यह महान प्रश्न भी है। कब कोन पौधा अधिक लाभकारी होगा इसको जानना बहुत ही आवश्यक है क्योंकि इसका स्पष्टीकरण न होने से अनुचित पौधे को उपयोग में ला किसान को अपनी भूमि को बलशाली बनाने में सफलता मिलने के बजाय हानि ही हो सकती है। हर शस्य के लिए उपयुक्त वातावरण का होना उत्पादन में सफलता की कुंजी है। कृषिविज्ञान-शास्त्री का प्रथम कर्तव्य यही है कि हर शस्य के लिए उपयुक्त वातावरण की खोज कर उसे निर्धारित कर दे। तदुपरान्त किसान उस वातावरण को जुटा कर पौधे का अधिक से अधिक उत्पादन करे। यही हाल हरी खाद में काम आने वाले शस्यों का भी है क्योकि उनमें भी अधिक लांक की पैदावार ही सबसे आवश्यक दृष्टिकोण हैं। कतिपय ऐसे पौधों का व उनके योग्य वातावरण का उल्लेख हम यहाँ कर रहे हैं जिससे पौधों का वातावरण के अनुसार चुनाव कर किसान पूरा लाभ उठा सकें। सुविधाजनक व हितकारी शस्यों का पता लगा उन्हें हरी खाद के रूप में काम लाने के लिए उपयुक्त भूमि जलवायु आदि दी हुई सारणी से मालूम कर सकते हैं। (सारणी—पृष्ठ ६०, ६१ पर है।)

हरी खाद के लिए पौधे का चुनाव, फसल की बुवाई का समय, भूमि की किस्म, जलवायु, फसल की जाति, पानी की उपलब्धता आदि पर निर्भर है। जिस भूमि में पानी रोक रखने की क्षमता हों, जहाँ वर्षा जल्दी हो, पौधे धीरे धीरे बढ़ने वाले हों, या सिंचाई की सुविधा हो वहाँ फसल को मई अथवा जून में ही बो देना चाहिये। बोने के बाद फसल को पलटने का समय बहुत सी बातों पर निर्भर है। पर इतना अवश्य मान्य है कि भूमि में पलटने के समय पौधे कोमल हों, फूलना आरम्भ ही हुआ हो जिससे दूसरी फसल के बोने के पहले अच्छी तरह सड़ गल जावे। पहले पौधों को पटेला से गिरा देते हैं फिर पलटने वाले हल से गहरी जुताई करते हैं जिससे पत्तियाँ, डंठल इत्यादि भूमि में अच्छी प्रकार ढक जावें। यदि इस समय खेत में नमी की कमी हो तो खेत में पानी भर देना अच्छा रहता हैं। लगभग २ महीने बाद एक जुताई फिर कर पटेला दे दें जिससे सड़ते हुए पौधों में उलट फेर हो फिर से हवा का संचार हो जावे। तदुपरान्त प्रत्येक सप्ताह जुताई और पटेला करते हुए खेत की दूसरी फसल के लिए तैयार कर देवे।

हरी खाद भूमि को फास्फोरिक एसिड व पोटाश में सशक्त बनाने का मंत्र

भूमि व जलवायु को ध्यान में रख कर किसी हरी खाद वाले पौधे को बो देते हैं। इस फसल के बोने के पूर्व यदि मिल सके तो २ मन प्रति एकड़ के हिसाब से सुपरफास्फोरस हल के पीछे कतारों में ३-४ इंच की गहराई पर डाल देना अधिक लाभयुक्त होता है। इस विधि से भूमि का फास्फोरस पौधों के लिए उपलब्ध हो जाता है और यह पौधों के जोत जाने के बाद अगली फसल के रूप में मिलता है। फास्फोरस जो पानी में घुलनशील होता है, भूमि में पहुँचते ही न घुलने वाले रूप में परिवर्तित हो भूमि में पड़ा रह जाता है और आसानी से पौधों के हाथ नहीं लगता। इस प्रकृति से फास्फोरस पौधों से वंचित रह जाता है और भूमि की उत्पादन शक्ति भी क्षीण होती रहती है। विशेषतः यह कम तब जारी होता है जब कि भूमि का pH ७·५—८.० से अधिक हो और क्षार (alkali) की मात्रा अधिक होती है। इस अवस्था में फास्फोरस PO_4 रूप में उपलब्ध होता है जो पौधों के लिए अग्राह्य सा होता है।

फास्फोरस पौधों व कीटाणुओं को ग्राह्य HPO_4 अथवा H_2PO_4 के रूप में होता है। यह रूप फास्फोरस का सिर्फ उसी भूमि में पाया जाता है जब कि उसमें अम्ल हो लेकिन अम्ल की अधिकता होते ही फास्फेट पौधों को फिर नहीं मिल पाता है क्योंकि लोहा व अल्यूमिनियम इसे रोक लेते है इसीलिये अधिक अम्ल वाली भूमि में सुपरफास्फेट का प्रयोग आर्थिक दृष्टि से हानिकारक व पैदावार की दृष्टि से व्यर्थ प्रतीत होता है। चूने

पौधा	भूमि व जलवायु	बोने का समय	बीज मात्रा (सेर/एकड़)	शस्य-मिश्रण	सिंचाई पलटने का समय
सनई	दूमट या भूड़ मिट्टी, उत्पादन-शक्तिहीन खेत, पानी न रुके।	वर्षारम्भ के समय यदि पानी मिल सके तो मई के दूसरे सप्ताह में।	२५—३५	ज्वार, अरहर, कपास के खेत के किनारे	सितम्बर दूसरी फसल के बोने से २½ महीने पहले
दैन्चा	पानी भरे रहने वाले धान के खेत, खारी-भूमि व कम नमी वाले स्थानों में तथा चिकनी मिट्टी में भी।	,,	२०—२५	—	—
मोथ	बलुई दूमट या हल्की दूमट कम उत्पादन शक्ति की भूमि में बहुधा भूड़ पर भी बोते हैं।	मई-जुलाई	८—१५	ज्वार, बाजरा, कपास।	अगस्त
उर्द	कड़ी दूमट	काली उर्द (अगस्त-सितंबर) हरी उर्द (जून-जुलाई)	१२—१५	ज्वार, बाजरा कपास।	सितम्बर
मूंग	दूमट	जून	१२—१५	ज्वार, तिल, बाजरा, कपास, मक्का।	अक्तूबर
ग्वार	कम वर्षा, उत्पादन शक्ति हीन भूमि, बलुई दूमट, दूमट जिसमें पानी न रुके। काली मिट्टी।	अप्रैल-जून	१५—२०	ज्वार, मक्का इत्यादि।	२-३ सिंचाई दो महीने बाद।
कुल्थी	बलुई भूमि	उत्तरी भारत में रबी के बाद या खरीफ की फसल	१५	—	बोने के २ महीने बाद।
नील	पानी रुकने वाले धान के खेत, दूमट भूमि।	मार्च-अप्रैल कभी २ जुलाई	१०—२०	ज्वार, कपास	४ सिंचाई। जनवरी-फरवरी
सोयाबीन	हर प्रकार की भूमि।	मार्च-जुलाई	१५—२०	—	२-३ सिंचाई
पिल्ली पिसारा	दूमट।	खरीफ	८—१०	—	—
जयन्ती शेवरी	खेतों में पानी भरे रहने पर उगाई जा सकती है।	—	२०—३०	—	—
लोबिया	कमजोर दूमट भूमि जो वर्षा जल को सोख लेती हो। कहीं-कहीं वर्षा जल के रुकने वाले स्थानों में भी।	जून-जुलाई	कतार में ६-२० छिड़वा १०-१५	बाजरा, ज्वार अरहर, कपास, तिल।	२-३ सिंचाई सितम्बर
सेन्जी	—	सितम्बर	२०—३०	कपास मक्का	फरवरी मार्च
बरसीम	भारी दूमट भूमि, बीज बोने की भूमि बहुत अच्छी हो।	सितम्बर-अक्टूबर	१०—१२	कपास	५-६ सिंचाई दिसम्बर-मई
मेथरा	—	,,	—	—	—
केसारी	मटियार या भारी दूमट।	,,	१८—२०	—	मार्च
मटर	खाद से युक्त दूमट, भारी दूमट।	अगस्त-नवम्बर	३०—४०	जव, गेहूँ, अलसी, लाही, चना।	१-२ सिंचाई मार्च
मसूर	मटियार, नीचास की धरती। खाद की आवश्यकता नहीं।	अक्तूबर-नवम्बर	१५—४०	जव, लाही	मार्च
रिजका	गहरी दूमट जिसमें पानी की निकास अच्छी हो। पानी भूमि में समा जावे, रुके नहीं।	,, ,,	१०—१५	—	हर सातवें दिन पानी मिलना चाहिए। मा[illegible]
कुडजू	हल्की दूमट, आरम्भ म खाद की आवश्यकता।	दिसम्बर-अप्रैल	—	—	आ० में सिं०पौ[illegible] [illegible]

जीवांश (मन/एकड़)	नत्रजन (प्रतिशत)	नत्रजन सेर/एकड़)	विशेष विवरण	प्रचलित स्थान
२००	०.७५	३·८	चिकनी मिट्टी, पानी रुकने वाले खेत, वर्षा में अनियमता, सिंचाई की कमी, धान के खेत, जहाँ पानी अधिक बरसता हो उपयुक्त नहीं हैं।	पंजाब, यू० पी०, बंगाल, आसाम, बिहार मद्रास, ट्रैवनकोर, मध्य-प्रदेश, बम्बई।
२००	०.४२	३०	वर्षा न होने या सूखा पड़ने पर ये अपने को संभाल लेते हैं। इससे जहाँ अनियमित वर्षा हो वहाँ ढैन्चा सफलता प्राप्त कर लेता है।	बिहार, उड़ीसा, बंगाल, आसाम मध्य-प्रदेश, उत्तर-प्रदेश।
१६५	०.३०	१७	अम्ल भूमि—आसाम में।	उत्तर-प्रदेश, आसाम।
१२०	०.४१	१६	——	मद्रास, उत्तर-प्रदेश
८०	०.७२	१७	हरी पीली और काली तीन तरह की मूंग। पीली रङ्ग वाली को सोना मूंग भी कहते हैं। मूंग नं० १ अधिक उपयुक्त ८-१० मन बीज भी मिल जाता है।	मद्रास, उत्तर-प्रदेश, बम्बई, उड़ीसा।
२००	०.३४	२८	भूमि को पूर्णतया ढककर खर-पतवार नष्ट करने की क्षमता।	पंजाब, राजस्थान
१००	०.३३	१३	दक्खिन में लाल कंकड़ी ली भूमि पर बहुधा बोई जाती है।	मद्रास, बंबई, उत्तर-प्रदेश छोटा नागपुर, बंगाल, आसाम।
१००	० ७८	३२	चने की मात्रा अधिक हो या हड्डी के चूरे की खाद देने से उपज बढ़ती है।	मद्रास, बंबई, दक्षिणी भारत।
१३५	०.३२	——	जल्दी बढ़ना और जल्दी सड़ना इनके गुण हैं। कुछ बीज भी मिल जाता है।	उत्तर प्रदेश, दिल्ली, पंजाब
१६०	१.१०	२५	——	मद्रास
२००	०.४१	३२	पानी भरे रहने वाले खेतों के लिये उत्तम।	बंबई
१५०	०.७१	२५	अम्ल युक्त भूमि में अच्छी तरह से आसाम में उगाई जाती है। लोबिया नं० १ विशेष लाभकारी है।	ट्रैवनकोर, उत्तर-प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, बङ्गाल, आसाम।
२८५	०.५१	६०	भूसी छुड़ाकर छिटकाँवा बो देते हैं। भूमि में नमी होना आवश्यक। जमने के लिए १० दिन बाद सिंचाई करना।	पंजाब, उत्तर-प्रदेश, दिल्ली।
१५५	०.४३	२७	इसकी पैदावार इतनी अधिक होती है कि ३ एकड़ भूमि को एक एकड़ की पैदावार से जीवांश युक्त किया जा सकता है। बरसीम कल्चर के साथ बोना आवश्यक है।	पंजाब, उत्तर-प्रदेश।
११५	०.३३	१६	——	——
१२०	०.५४	२८	——	——
२००	०.३६	३०	अक्टूबर में बोने से कम बीज व नवम्बर में बोने से अधिक बीज लगता है। तिनपखिया मटर भी काम में लाते हैं।	उत्तर प्रदेश, बिहार।
५५	०.७०	१७	——	उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बंगाल बिहार।
६०	०.८	——	४०″ से अधिक वर्षा न हो। अधिक गर्मी और नमी में यह मर जाता है।	उत्तर प्रदेश, पंजाब, दिल्ली।
६०-८५	१.२	——	सूखा होने पर अच्छी पैदावार होती है।	दिल्ली, पंजाब।

की अधिकता होने पर भी फास्फेट पौधों को नहीं मिलता क्योंकि अघुलनशील कैल्शियम फास्फेट बन जाता है। और ५·६—६·५ तक का pH फास्फोरस की उपलब्धता के लिये श्रेष्ठ होता है। यह संभव नहीं कि मिट्टी का pH निरन्तर इतना ही बना रहे। यह सब जानते हुये फास्फेट को पौधों के लिये उपयुक्त अवस्था में मिलने के लिये कुछ करना अनिवार्य हो जाता है।

जीवांश के रहते हुये फास्फेट का भूमि में रुकना कम हो जाता है। फास्फोरस-जीवांश मिश्रण-रसायन बन जाता है। हरी खाद का उपयोग इस दृष्टि से महान है। जीवांश के रहने से कई प्रकार के अम्ल (citric, oxalic, tartaric, melonic, malic etc) भूमि में बनते रहते हैं। लोहा और अल्यूमिनियम जो फास्फोरस को भूमि में रोक रखने fix में सहायक होते हैं अलग Precipitate हो जाता है और फास्फोरस पौधों को मिलने लगता है। अतः जीवांश को भूमि में डालते रहना नत्रजन के अतिरिक्त फास्फोरस पोषण में भी बहुत सहायक है क्योंकि इसके सहयोग से भूमि का ७५ प्रतिशत फास्फोरस पौधों को उपलब्ध हो जाता है जो अन्यथा बेकार जाता है। पोटाश के लिये भी जीवांश का भूमि में उपयुक्त मात्रा व रूप में रहना हितकर है।

दलहन व फलीदार शस्यों को फास्फोरस की खाद ऊपर बताए रूप से दे कर उगाने से यह देखा गया है कि भूमि की उत्पादन शक्ति में भारी सुधार हो जाता है। यदि इसके साथ कुछ जीवांश भी उपलब्ध हो तो फसल की उपज सबसे अधिक होती है और इसे भूमि को अर्पण कर देने के बाद गेहूँ की पैदावार में लगभग ८० प्रतिशत वृद्धि पाई गई है। ३०-४० पौं० प्रति एकड़ सुपरफास्फेट खाद मूंगफली के लिए अच्छी पायी गयी है। नत्रजन फास्फोरस का अनुपात १ : ३· २ रहने पर उत्तम फल देता है अतएव फास्फोरस योग से पैदा किया हुआ दलहन हरी खाद के उपयोग में विशेष लाभप्रद होता है भारत भूमि का ७० प्रतिशत भाग फास्फोरस में न्यून है। यहाँ पर ०·१०८% फास्फोरस भूमि में है जिसमें से केवल ०·०२१ ही उपलब्ध है। इस नाते से भी दलहन का हरी खाद के रूप में उपयोग भूमि के पोषण में सहायक है।

विभिन्न फसलों पर हरी खाद का प्रभाव

हरी खाद से खेतों में नत्रजन के साथ-साथ अन्य तत्व भी संचित हो भूमि का पोषण करने में सहायक होते हैं। हरी खाद द्वारा कितना नत्रजन भूमि को मिल पाता है इसका अनुमान हमारे देश में किये गए प्रयोगों के फल से जो कि सारणी में दिये गए हैं मिलता है। फास्फोरस व पोटाश के लिये बहुत कम आँकड़े मिल पाते हैं जिससे यह विदित है कि इस ओर लोगों का ध्यान नहीं रहा। केवाँच, जो कि जल्दी फैलने वाली व खूब बढ़ने वाली फसल है और हरी खाद के लिये मैसूर में काम लाई जाती है भूमि को १३७-२०२ पौंड नत्रजन देती है। नत्रजन की मात्रा इसको काट कर भूमि में जोतने की अवस्था पर आधारित है इसी प्रकार रिजका इत्यादि भी १४०—१६० पौण्ड प्रति एकड़ नत्रजन देती हैं। इस पौधे की जाति का भी प्रभाव पड़ता है। हर दलहन पौधे की वायु मंडल से नत्रजन एकत्रित करने की क्षमता पृथक होती है।

औसतन हरी खाद के उपयोग से धान में ३०—७५ प्रतिशत, गन्ना में ५० प्रतिशत और गेहूँ में २०—५० प्रतिशत लाभ होता है। फसलों पर हरी खाद का प्रभाव एक सा नहीं रहता है, इससे अन्य बातों के अलावा वातावरण का विशेष हाथ होता है। फिर भी कुछ भारतीय प्रयोगों का उल्लेख कर इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

बंगाल के एक प्रयोग से सिद्ध हुआ है कि सनई, लोबिया और ढैंचा द्वारा हरी खाद देने से धान की पैदावार क्रमशः १३.५, १६·३ और १४·८ बढ़ी। उत्तर प्रदेश में ढैंचा, सनई और लोबिया से किये गए चार वर्षों के प्रयोगों से पैदावार में ५७-८० प्रतिशत की वृद्धि पाई गई है। १०० मन प्रति एकड़ की मात्रा में कपास की पत्तियाँ डालने से धान की पैदावार में बम्बई

क्षेत्र में ४५ प्रतिशत वृद्धि हुई है। उत्तर प्रदेश में सनई की हरी खाद से ६६ प्रतिशत लाभ रहा। मद्रास में प्रति एकड़ ३० सेर नत्रजन देने वाली पत्तियों को भूमि में पलट देने से धान की फसल दुगुनी हो गई। ऐसा ३० सेर नत्रजन एमोनियम सल्फेट द्वारा देने से होना नहीं देखा गया है। बंगाल में ८० प्रतिशत, पंजाब में ३५ प्रतिशत व बिहार में १०६ प्रतिशत लाभ गेहूँ में हुआ है। भाँग की हरी खाद देने से गेहूँ की पैदावार की वृद्धि पंजाब में ३५%, उत्तर प्रदेश में लोबिया द्वारा २०%, सनई द्वारा ४५% व ढैंचा से १६% हुई। इसी तरह कपास को ढैंचा और सनई की खाद से क्रमशः १२ और १६ प्रतिशत लाभ पहुँचा है। बंगाल में लोबिया के लिये सनई की हरी खाद देने से ६२० प्रतिशत लाभ होता पाया गया है।

फास्फेट देने से हरी खाद द्वारा विशेषलाभ हुआ है। बिहार व मद्रास में ६६ व ६६ प्रतिशत अधिक लाभ धान में हुआ जब साधारण हरी खाद से उपज से बढ़ती हुई वह १८ व २५.७ प्रतिशत थी। इसी प्रकार बिहार, मध्यप्रदेश व उत्तर प्रदेश में गेहूँ की पैदावार क्रमशः ३२७,२० व ५३ प्रतिशत बढ़ी।

हरी खाद की मात्रा

प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि प्रति दूसरे वर्ष खेत में हरी खाद देते रहने से भूमि सदा बलशाली बनी रहती है और आर्थिक विचार से भी उत्तम होता है। एक बार हरी खाद द्वारा भूमि के जीवांश की मात्रा में कुछ विशेष अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि भूमि में इसकी मात्रा यदि ०.६ प्रतिशत है तो एक एकड़ भूमि में लगभग ६ टन जीवांश हुआ। फसल प्रति बार २५ मन जीवांश यदि भूमि को पलटने पर दे पाती है तो इसमें से केवल १० मन भूमि में रह पाता है शेष तो नष्ट हो विलीन हो जाता है। इसी तरह यदि बराबर हरी खाद का प्रयोग होता रहे तो लगभग १६ वर्ष में जीवांश की मात्रा दुगुनी हो सकती है। इस तरह हमें यह विदित हो जाता है कि हरी खाद हमेशा भूमि को देते रहने से जीवांश की मात्रा प्रायः स्थिर ही रह सकती है क्योंकि इसमें से कुछ विलीन होता रहेगा, कुछ पौधों की खूराक के रूप में व्यय हो जावेगा। परन्तु क्या हरी खाद बराबर बनाई जा सकती है? आर्थिक दृष्टि से यह उपयुक्त नहीं पाया गया है। किसानों का हरी खाद का काम में लाना आर्थिक प्रश्न पर भी निर्भर है। दिल्ली में किये गए प्रयोगों से यह देखा गया है कि गेहूँ की पैदावार हरी खाद से २८ मन, (सनई), ३१ मन (लोबिया) हुई जब कि बाटिका की खाद से ३३ मन, सरसों की खली से ३० मन, रेंड़ी की खली से ३२ मन, कम्पोस्ट से २० मन और एमोनियम सल्फेट से २७ मन रही। बिहार व सूरत में बाटिका की खाद हरी खाद से अच्छी पाई गई। उत्तर प्रदेश में हरी खाद, कम्पोस्ट व बाटिका की खाद तीनों का प्रभाव लगभग एक सा रहता है परन्तु आर्थिक व भूमि के विचार से जिसका पोषण करना हमारा कर्त्तव्य है और जिसके न करने से भूमि शोषित होकर भावी युग के लिये विषम संकट है। हरी खाद सस्ती पड़ती है। खेत को खाली रखने की जगह हरी खाद के लिये पौधों को उगा कर भूमि में पलट देने से अथवा अन्य खादों (रसायनिक) की जगह हरी खाद से भूमि का पोषण यथार्थ रूप से होता है। गणित से यह मालूम हुआ है कि हरी खाद से १ पौं० नत्रजन भूमि में पहुँचाने में रसायनिक खादों द्वारा देने में २/३ खर्च होता है। इसके ऊपर जो अन्य लाभ हैं उनका विचार करने से हरी खाद आर्थिक दृष्टि से भी बड़ी लाभकर है।

भूमि में हरी खाद की मात्रा पर उसके भविष्य में होने वाले लाभ की मात्रा सीमित है। नत्रजन का तो प्रायः ६ माह में ही अन्त हो जाता है पर अन्य तत्वों व जीवांश का लाभयुक्त प्रभाव भूमि की भौतिक अवस्था पर पड़ता है और ४ वर्ष तक रह सकता है। भूमि में नमी धारण करने की शक्ति बढ़ जाती है, क्षार की मात्रा घटती है।

हरी खाद हमारी धरती की उर्वरा शक्ति बढ़ाने और उत्पादन बढ़ाने में क्यों कर सहायक है यह हमने देख लिया है। आवश्यकता इस बात की है कि उचित रीति

से इसे व्यवहार में लाकर पूर्ण लाभ उठाया जाय। सारणी से उपयुक्त पौधे का पता लगाकर खेत २ के लिये वहाँ की मिट्टी, जलवायु आदि को ध्यान में रख कर उन्हें काम में लावें। इसमें यदि त्रुटियाँ रह गईं तो भूमि का भरण-पोषण उपयुक्त न होगा और इसकी हानि का भागी किसान ही नहीं वरन मानव मात्र होगा। फसलों का हेर-फेर व संयोजन भी इसमें योग दे सकते हैं। अपने खेत को सुधार करने के साथ साथ हमें खाद्य समस्या के सुधारने में मूँग टाइप १ जैसी फसलें जो फली व हरी खाद दोनों थोड़े समय में दे सकती हैं काम में लाना उत्तम होगा।

भारत की भूमि व जलवायु दोनों ही हरी खाद के लिये उपयुक्त हैं। वैज्ञानिक अन्वेषणों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि हरी खाद अन्य प्रकार की खादों से अधिक उपयोगी है—संभव है कि इसका कारण हरी खाद द्वारा मिलने वाले अन्य तत्वों व जीवांश के कारण होती है जो कि कृत्रिम रसायनिक खादों में नहीं पाई जाती। फिर भूमि की बनावट, ढाँचा व रूप या अन्य हितकारी भौतिक परिवर्तन का भी इसमें महत्व-पूर्ण हाथ है। हरी खाद के पड़ जाने से अनगिनत कीटाणु जो धरती में पड़े रहते हैं कार्य-शील होकर अपनी लाभकारी कृत्तियों से भूमि के पोषण में सहायक होते हैं। भारतीय कृषक के लिये, जो पुरातन पद्धतियों पर आरूढ़ व स्वावलम्बी रहा है, हरी खाद प्रकृति की अपूर्व देन है। इसकी समुचित व्यवस्था व उपयोग कर वे पुनः धन-धान्य से पूर्ण हो सकते हैं और देशों से अन्न की भीख न मांग उन्हें समय-समय पर अन्न-संकट में सहायता प्रदान कर सकते हैं।

मुद्रक—श्री सरयू प्रसाद पांडेय, नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग तथा प्रकाशक—डा० रामदास तिवारी प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद, इलाहाबाद।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)
२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ॥=)
३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)
४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८) । इस पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।
५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)
६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १॥) द्वितीय भाग ॥=)
७—निर्णायक डिटमिनैंटस—प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ॥)
८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस सी०, १)
९—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)
१०—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)
११—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; (अप्राप्य)
१२—वायुमंडल डाक्टर के० बी० माथुर, २)
१३—लकड़ी पर पालिश डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २) (अप्राप्य)
१४—कलम पेवंद ले० श्री शंकरराव जोशी; २)
१५—जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)
१६—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)
१७—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—(अप्राप्य)
१८—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ॥)
१९—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती; मूल्य ॥)
२०—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),
२१—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २॥)
२२—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । मूल्य ४)
२३—मधु मक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान; ३)
२४—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)
२५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३॥)
२६—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३॥)
२७—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)
२८—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ॥)
२९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)
३०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २॥)

अन्य पुस्तकें

१—विज्ञान जगत की झाँकी	(डा० परिहार)	२)
२—खोज के पथ पर	(शुकदेव दुबे)	॥)
३—विज्ञान के महारथी	(जगपति चतुर्वेदी)	२)
४—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ	(„)	१॥)
५—हमारे गाय बैल	(„)	॥)
६—मवेशियों के छूत के रोग	(„)	॥)
७—मवेशियों के साधारण रोग	(„)	॥)
८—मवेशियों के कृमि-रोग	(„)	॥)
९—फसल-रक्षा की दवाएँ	(„)	॥)
१०—देशी खाद	(„)	॥)
११—वैज्ञानिक खाद	(„)	॥)
१२—मवेशियों के विविध रोग	(„)	॥)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

Reg. No. A 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों की परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तक उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायँगे।

प्रधान संपादक डा० देवेन्द्र शर्मा
सहायक संपादक— जगपति चतुर्वेदी

मुद्रक—श्री सरयू प्रसाद पांडेय, नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग तथा प्रकाशक—डा० रामदास तिवारी प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद।

विज्ञान

भाग ८४

संख्या ३

दिसम्बर १९५६ पूस २०१३

प्रति अङ्क छः आने

वार्षिक मूल्य चार रुपये

विषय सूची

१—तारा-दर्शन	.....	जगपति चतुर्वेदी	६५
२—चलचित्रों की कहानी	.....	डा० रामचरण मेहरोत्रा	७५
५—अफ्रिका के घातक सर्प	.....	जगपति चतुर्वेदी	७७
६—धरती का पोषण	.....	डा० अमरसिंह प्राध्यापक, वनस्पति विज्ञान-विभाग, प्रयाग वि० वि०	८१

—:०:—

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानं जातानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै०उ० ।३।५।

भाग ८४ धनु २०१३; दिसम्बर १९५६ संख्या ३

तारा-दर्शन

जगपति चतुर्वेदी

उत्तर के आकाश में हमें सप्तर्षि तारा बारहों मास रात को दिखाई पड़ता नहीं रह सकता। रात को आठ नौ या बारह बजे तक ही मनुष्य जग कर तारों का दर्शन करने की इच्छा रख सकता है। इस लिए इस समय में सब रातों को इसे नहीं देखा जा सकता लेकिन साल के अधिकांश महीनों में यह दिखाई पड़ सकता है। ध्रुव क्षेत्र में ध्रुव तारा से ४० अंश दूर तक के आकाश के घूमने की कल्पना की जाय तो ऐसा समय आ सकता है जब सप्तर्षि ध्रुवतारा के ठीक ऊपर के आकाश में हो या पास हो। उस समय तराजू के दूसरे पलड़े पर स्थित बोझे की भाँति शर्मिष्ठा तारा मंडल दिखाई नहीं पड़ सकता। इसी तरह ऐसा भी हो सकता है कि किसी समय ध्रुव तारा के ऊपरी भाग के आकाश में शर्मिष्ठा तारा हो। उस समय सप्तर्षि तारा मंडल नीचे डूबा हुआ और आँख से ओझल हो सकता है। किन्तु ऐसी दशा हो सकती है कि ध्रुव तारा के अगल बगल या पूर्व पश्चिम एक ओर सप्तर्षि दिखाई पड़ रहा हो और दूसरी ओर शर्मिष्ठा तारा मौजूद हो। ये दशायें उत्तरी भारत में आकाश के उत्तरी भाग की होंगी।

केवल सप्तर्षि पहचान कर भी हमें आकाश के बहुत से तारों को पहचानने में मदद मिल सकती है। वह अपने चौखटा बनाने वाले चारों तारों या दस्ता बनाने वाले तीन तारों की सहायता से दो तीन दिशाओं में संकेत कर सकता है जिससे हमें चमकीले तारों या तारा मंडलों की पहचान हो सकती है। पहले तो हम ध्रुव तारा की बात लेते हैं। सप्तर्षि के तारों में निर्देशक तारों की सीध में लकीर खींचने पर ध्रुवतारा और शर्मिष्ठा तारा मंडल दिखाई पड़ता है।

छोटा सप्तर्षि तारा का जो स्थान ध्रुव क्षेत्र के तारों में है उसकी स्थिति से हम बड़े सप्तर्षि के न दिखाई पड़ने पर आकाश के अन्य तारों को पहचानने में मदद पा सकते हैं।

सप्तर्षि मंडल के दस्ते वाले तीन तारों की सीध में आगे शून्य चमक श्रेणी का एक चमकीला तारा दिखाई पड़ेगा। यह स्वाती नाम का तारा है जो

एक नक्षत्र भी माना जाता है। इस चमकीले तारा के पास कुछ तारे धुँधले हैं। वे दोनों बगल कुछ फैल कर लटकी रेखाएँ बनाते हैं जो किसी मूर्ति के दो पैरों का इशारा मालूम पड़ सकते हैं। उनको छोड़ कर स्वाती से ऊपर तारों का समूह मूर्ति का पहले कमर समान पतला भाग बनाता जान पड़ता है। उसके बाद तीन चार तारे धड़ और सिर का इशारा माने जाते हैं। इन तारों के समूह से भूतेश की मूर्ति बनी मानी जाती है। इस तारा मंडल को भूतेश नाम दिया गया है।

स्वाती तारा बहुत चमकीला है। इसका विस्तार असली रूप में इतना है कि उसका व्यास सूर्य के व्यास से तीस गुना अधिक होगा। यह हमारी पृथ्वी से ३० प्रकाश वर्षों की दूरी पर होगा। कहा जाता है कि यह किसी शिकार की मूर्ति है जो सप्तर्षि रूप भालू का शिकार करने के लिए तैयार दिखाई पड़ती है।

सप्तर्षि के चौखटे वाले तारों में क, ख (निर्देशक) तारों को छोड़ कर शेष जो दो तारे ग, घ है उनकी सीध में ध्रुव की उलटी दिशा में लकीर खींची जाय तो उस ओर के आकाश में सामने पर मघा नाम का प्रसिद्ध चमकीला तारा दिखाई पड़ेगा। सिंह तारा मंडल या राशि का यह सबसे चमकीला तारा है। राशियों में सिंह राशि बहुत ही प्रसिद्ध है।
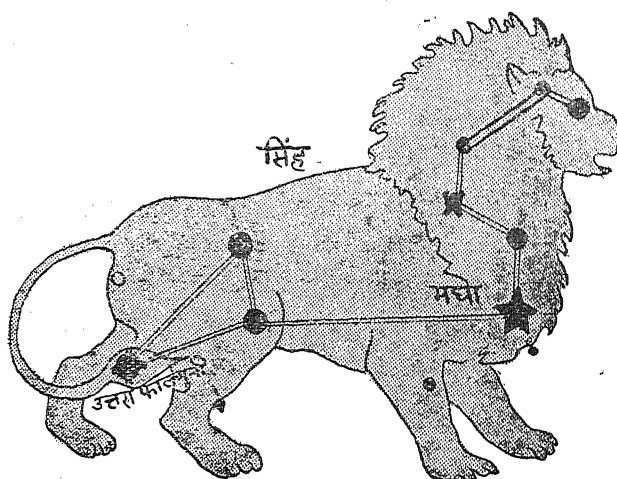
सिंह

सप्तर्षि के निर्देशक तारों की सीध में ध्रुव की उल्टी दिशा में लकीर खींची जाय तो सिंह राशि के पिछले भाग के उन तारों तक पहुँचेगी जो एक त्रिकोण या त्रिभुज सा बनाते हैं। इस त्रिभुज के छोर का चमकीला तारा उत्तरा फाल्गुनी तारा है जो नक्षत्र कहलाता है।

उत्तरा फाल्गुनी के साथ मिल कर त्रिभुज बनाने वाले तीनों तारे सिंह राशि की सिंह नुमा शक्ल में पिछला भाग बनाते हैं। मघा तारा कुछ अन्य तारों से मिलकर आगे के भाग, गर्दन, अयाल (केसर) और मुख आदि बनाता है। ये सब तारे हँसिया नुमा शक्ल में फैले दिखाई पड़ते हैं जिससे सिंह के शरीर का अगला भाग बनने का अनुमान होता है। मघा तारा नीले सफेद रंग का और पहली चमक श्रेणी का तारा है। यह पृथ्वी से ६६ प्रकाश वर्षों की दूरी पर है। तारों का जो समूह हँसिया नुमा शक्ल बनाता है, उसके आधार में यह तारा ही मिलता है।

सप्तर्षित तारा मंडल में चौखटे वाले तारों में ध्रुव तारा से परे भाग की किनारी में दो तारों, ख और ग की सीध में सप्तर्षि के चौखटे से दूर स्वाती तारा की उल्टी दिशा में कोई रेखा खींची जाय तो वह मिथुन राशि के तारा मंडल में कस्तूरी तारा तक पहुँचेगी। उसके बगल में ही पुनर्वसु तारा दिखाई पड़ता है। इन दोनों तारों को दो जुड़वा बच्चों की गर्दन बनाने का अनुमान किया जाता है। उन से मिल कर तारों की एक-एक पंक्ति बढ़कर उनके बदन और पैर बनाती है। कस्तूरी तारा दूसरी चमक श्रेणी का सफेद तारा है और पुनर्वसु पहली चमक श्रेणी का पीला तारा है। उन दोनों के बीच ५ अंश की दूरी होगी। उनकी दूरी से हम यह समझ सकते हैं। कि आकाश में ५ अंश की दूरी कितनी मानी जानी चाहिए। सप्तर्षि के निर्देशक तारों के बीच भी इतनी दूरी ही पाई जाती है। निर्देशकों से ध्रुव तारा तक की दूरी ३० अंश की होती है।

मिथुन
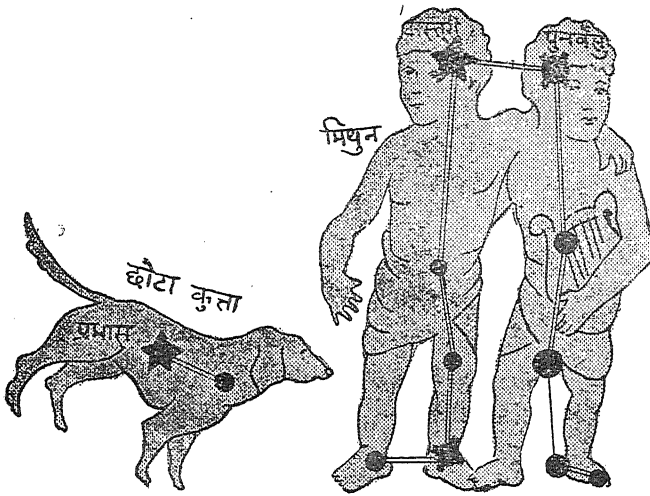
ध्रुव तारा से एक रेखा शर्मिष्ठा के छोर वाले तारे तक मिला कर आगे बढ़ाई जाय तो वह पंखदार घोड़े या खगाश्व के चौखटे के पूर्वी किनारे से मिलती है। खगाश्व के चौखटे के प्रत्येक किनारे या भुजा की लंबाई १५ अंश की होती है। पश्चिम की ओर यह तारा मंडल हंस तारा मंडल की ओर फैला है। इस चौखटे के एक कोने पर दूसरी चमक श्रेणी का एक तारा उत्तर भाद्रपद है। उसी के साथ देवयानी तारा मंडल प्रारंभ होता है।

देवयानी तारा मंडल इस उत्तरा भाद्रपद तारा से ही दो लंबी लकीरों के रूप में फैला मालूम पड़ता है जिस से एक छोटा-सा कोण इस जगह बनता है। इन लकीरों में से उत्तरी शर्मिष्ठा की ओर संकेत करती है और दक्षिणी लकीर ययाति या पारसीय तारा मंडल की ओर जाती है। इस तारा मंडल में एक नीहारिका नंगी आँखों से दिखाई पड़ने वाली है। उसकी चमक पांचवीं चमक श्रेणी की है। यह नीहारिका एक तारा लोक ही है जो हम से ७५०००० प्रकाश वर्षों की दूरी पर है। यह आकाश गंगा वाले हमारे तारालोक के ही समान है। केवल दूर होने से ही इतनी धुँधली दिखाई पड़ती है। इस का व्यास ६५००० प्रकाश वर्ष लंबा होगा।
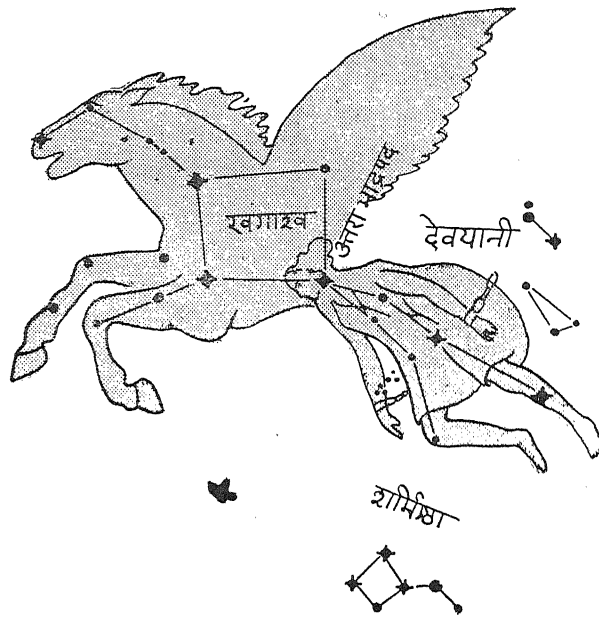
खगाश्व और देवयानी

एक प्रसिद्ध तारामण्डल मृग नाम से प्रसिद्ध है। आर्द्रा नाम का प्रसिद्ध चमकीला तारा इसी में है। इस तारामण्डल में विचित्र बात यह है कि चार कोणों पर चार तारे एक लम्बा चौखट-सा बनाते हैं जो किसी आदमी या मृग की धड़ बना सकते हैं। हमारे देश में इसको मृग तारामण्डल कहते हैं लेकिन विदेशों में इसे किसी शिकारी की मूर्ति बनाते मानते हैं। वहाँ ओरायन या शिकारी नाम से मशहूर करने के लिए पुरानी कहानियाँ भी मशहूर हैं। इस चौखटे के बीच भाग में तीन तारे बिल्कुल पास-पास हैं जिससे किसी आदमी की मूर्ति के लिए पेटी बनी ज्ञान पड़ती है। उस पेटी में एक छोटा तारों का दल म्यान सी बनाता है जो उस पेटी से लटकी रहती है।

मृग का चौखटा बनाने वाले तारों में एक कोने पर आर्द्रा तारा है। दूसरी ओर के दूसरे कोने पर भी एक चमकीला तारा है जो मृगपद कहलाता है। मृगपद और आर्द्रा को मिलाकर कोई सीधी रेखा खींची जाय तो वह पुनवर्सु तारा की ओर जाती है। आर्द्रा के साथ वाले तारों की किनारी से कुछ ऊपर उठा धुँधले तारों का झुन्ड है जो आकाश में चन्द्रमा और ग्रहों आदि के चलने के मार्ग में पड़ता है। इसलिए उसे पुराने ज्योतिषियों ने एक नक्षत्र माना था। उसे ही मृगशिरा या मृग का सिर कहते हैं।

इस तारा मण्डल के पास ही दो छोटे-छोटे तारामण्डल हैं जो इस शिकारी के बड़े और छोटे कुत्ते कहलाते हैं। इनमें एक बहुत चमकीला तारा है जो लुब्धक (सिरियस) नाम से प्रसिद्ध है। इससे अधिक चमकीला तारा आकाश में कोई भी नहीं है। यह आर्द्रा की उल्टी दिशा में मृग के चौखटे के दूसरे सिरे से कुछ दूरी पर है।

आर्द्रा पहली चमक श्रेणी का लाल तारा है। यह बहुत ही बड़े आकार का है। मृगपद तारा शून्य चमक श्रेणी का है, और नीले सफेद रंग का है। पेटी वाले तीनों तारे ३ अंश की दूरी में फैले मिलते हैं। उनसे लटकी हुई म्यान समान तारों के बीच एक प्रसिद्ध नीहारिका है जो दहकती गैसों की ढेरी है। उस नीहारिका का इतना अधिक फैलाव है कि उसके व्यास की लम्बाई १६ प्रकाश वर्ष की दूरी है। यह नीहारिका हमारी पृथिवी से १०० प्रकाश वर्षों की दूरी पर है।
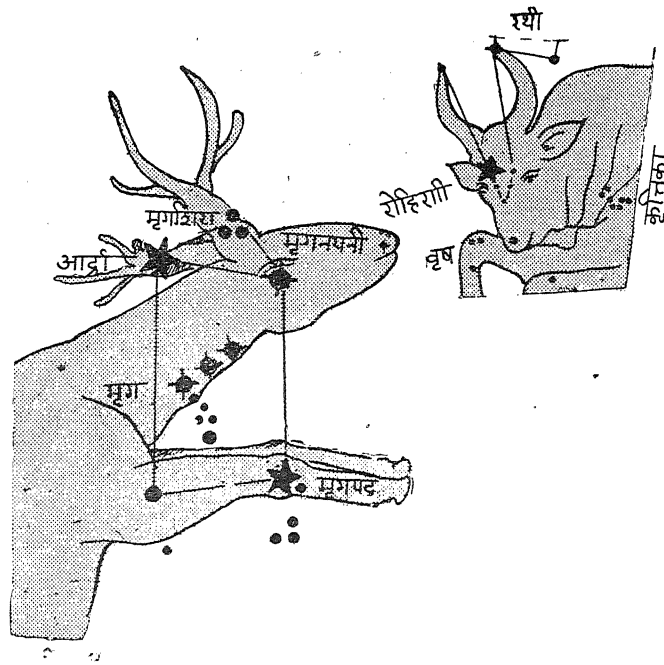
मृग और वृष

मृग के पास वाला प्रसिद्ध चमकीला तारा लुब्धक —१·५ से भी अधिक चमकीली चमक श्रेणी का है। यह सबसे धुँधले दिखाई पड़ने वाले तारों की अपेक्षा ३०० गुना अधिक चमकीला है। यह पृथिवी से ८॥ प्रकाश वर्ष की दूरी पर है। छोटे कुत्ते नाम के तारा मंडल में प्रभास नाम का एक चमकीला तारा है जो ०·५ चमक श्रेणी का है। मृग की पेटी वाले तारों की पेटी वाले तारों की सीध में देखने पर लुब्धक तारा दिखाई पड़ता है। आर्द्रा के पास मृग तारामंडल के चौखटे के दूसरे कोने पर जो तारा है उसके साथ आर्द्रा की सीध में लकीर खींचने पर छोटे कुत्ते के प्रभास तारे तक पहुँचती है। प्रभास, लुब्धक और आर्द्रा तारा मिलकर एक त्रिभुज बनाते हैं जिसकी भुजाएँ बराबर होती हैं, जिसकी लम्बाई २५ अंश होती।

मृग तारा मंडल के आर्द्रा और मृगपद तारों के बीच २० अंश की दूरी है। आकाश का एक बार में दिखाई पड़ने वाला भाग १८० अंश होता है। इसलिए २० अंश की दूरी का अनुमान किया जा सकता है। क्षितिज से हमारे सिर के ऊपर के आकाश की दूरी ९० अंश होती है। इस हिसाब से मृग तारा मंडल के मृगपद से वृष राशि के रोहिणी तारा की दूरी ३० अंश होगी। मृग तारा मंडल की पेटी एक ओर जहाँ लुब्धक तारा की ओर इशारा करती है उधर दूसरी ओर उसकी सीध में खींची रेखा वृष राशि के रोहिणी तारा तक पहुँचती है। यदि इस रेखा को और भी आगे बढ़ाया जाय तो कृत्तिका नामक प्रसिद्ध नक्षत्र तक पहुँचती है जो धुँधले तारों का एक घना समूह है।

मृग तारा मंडल जाड़े के मौसम में दिखाई पड़ने वाला एक प्रसिद्ध तारा है। उसकी मदद से बहुत से दूसरे चमकीले तारे या तारामंडल पहचाने जा सकते हैं। वृष राशि और उसके चमकीले तारे रोहिणी की भी खोज हम इसकी मदद से ही कर सकते हैं। वृष राशि या तारा मंडल में कुछ तारा समूह एक साँड़ का मुँह और सींग बनाते जान पड़ते हैं। उनमें ही

रोहिणी तारा बहुत चमकीला दिखाई पड़ता है। यह पहली चमकश्रेणी का लाल तारा है। यह पृथ्वी से ५३ प्रकाश वर्ष की दूरी पर है। इसके पास जो धुँधले तारे साँड़ (बृष) का चेहरा बनाते हैं उसमें १०० तारे जुटे मालूम पड़ते हैं। तारों का यह दल पृथ्वी से १०० प्रकाश वर्षों की दूरी पर है।

बृष या साँड़ का धड़ भाग जिन तारों से बना माना जाता है वह बहुत धुँधले तारों का भारी झुंड है। वह कृत्तिका नक्षत्र या किचपिचिया तारा कहलाता है। एक बार प्रकाश की धुँधली चकत्ती की भाँति इसे देखकर कभी भूला नहीं जा सकता। इसमें कई सौ तारे हैं। नंगी आँखों से केवल सात तारे दिखाई पड़ते हैं। उनको भी गिन सकना तेज आँख वालों का ही काम है। शक्तिशाली दूरबीन से देखने पर इस झुन्ड में ही सैकड़ों तारे दिखाई पड़ने लगते हैं।
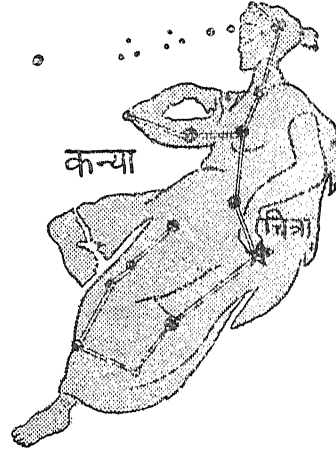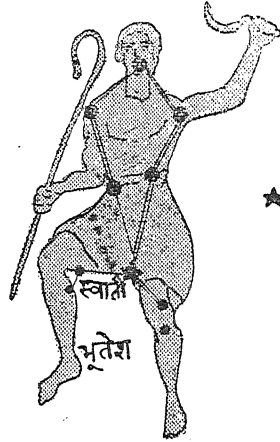
स्वाती और चित्रा

सप्तर्षि के दस्ते वाले तारों की सीध में जो रेखा स्वाती तारा तक जा सकती है, वही आगे बढ़ाई जाय तो चित्रा तारा तक पहुँचती है। यह तारा कन्या राशि नाम के तारा मंडल में है जो सिंह तारा मंडल के पिछले भाग के उत्तरा फाल्गुनी तारा के पास से शुरू होता है। चित्रा तारा पहली चमक श्रेणी का नीले सफेद रंग का तारा है। यह पृथ्वी से १२० प्रकाश वर्ष की दूरी पर है। सिंह के पास से दो डालों वाले पेड़ की भाँति तारों का दल चित्रा तक आता है। फिर चित्रा के पास से तीन तारों की एक लकीर बनती दिखाई पड़ती है। उसी के समानान्तर एक दूसरी पंक्ति भी बनती है।

स्वाती तारा जिस तारा मंडल में है उसके पूरब कुछ छोटे-मोटे धुँधले से तारों के बने तारा मंडल हैं। उसके दक्खिन की ओर तुला नाम का एक तारा मंडल धुँधले तारों का है। इससे भी दक्खिन और तुला के पूर्व वृश्चिक नाम का बहुत प्रसिद्ध तारा मंडल या राशि है। इसी में ज्येष्ठा नाम का चमकीला तारा है। यह पहली चमक श्रेणी का लाल तारा है। इसका व्यास सूर्य के व्यास से ३९० गुना है। लेकिन इसमें जो गैसें हैं उनमें सूर्य की गैसों से दस लाख गुना कम घनापन है। यह पृथ्वी से २५० प्रकाश वर्ष की दूरी पर है। यह तारा मंडल बिच्छू की तरह आकार बनाये आकाश में दिखाई पड़ता है। ज्येष्ठा तारा इसके दिल के पास है।

धनु नाम का तारा मंडल कोई भी तारा पहली चमक श्रेणी का नहीं रखता। यह आकाश गङ्गा के बीच है और यहाँ पर आकाश गङ्गा सबसे चमकदार है। इसके तारों से घोड़े पर से धनुष चलाने वाले सवार की शक्ल बनाने का अनुमान होता है। यह तारा मण्डल वृश्चिक के डङ्क के पास दिखाई पड़ता है।

वृश्चिक

धनु
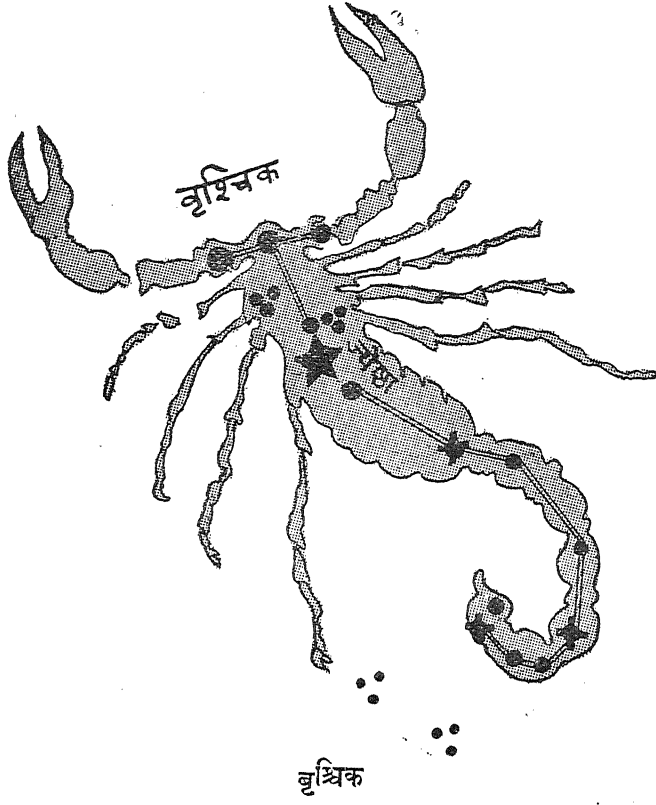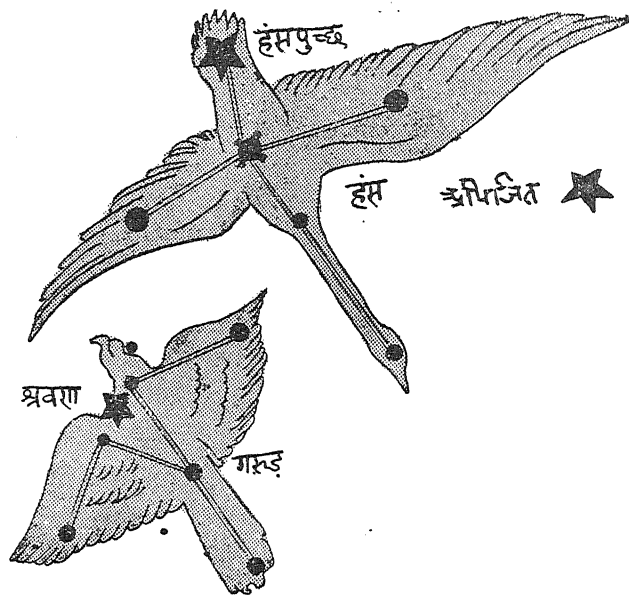
श्रवण और हंसपुच्छ

वृश्चिक तारा मण्डल गर्मी के मौसम का तारा है। इस मौसम के अन्तिम भाग में आकाश गङ्गा में पहली चमकश्रेणी के तीन तारों का एक त्रिभुज बना दिखाई पड़ सकता है। इनमें एक तारा हंस की उड़ान समान तारा मण्डल में पूँछ की जगह है। इसे हंस पुच्छ कहते हैं। दूसरा तारा वीणा की तरह दिखाई पड़ने वाले तारा मण्डल का सबसे चमकीला अभिजित नाम का तारा है। तीसरा तारा गरुड़ नाम के तारा मण्डल में श्रवण नाम का है। हंसपुच्छ तारा अभिजित के २० अंश पूर्व है। उनको मिलाने वाली लकीर से ३० अंश की दूरी पर श्रवण तारा है। श्रवण के दक्षिण में ही धनु तारा मण्डल है। हंस तारा मण्डल जिस ओर उड़ता जान पड़ता है उसकी उल्टी दिशा में गरुड़ उड़ता जान पड़ता है।

तारा कब देखें

आकाश का ठीक तरह दर्शन करना तारों की मंडली पहचानना ही है। यदि थोड़ी भी सावधानी से आकाश के भागों को भिन्न-भिन्न समयों में पहचानने के लिये तारा मंडल पहचान लिए जायें तो वे फिर कभी भूल नहीं सकते। हम तारा मंडलों को पहचानने की बहुत पेचीदी बातें न कहकर सीधे सादे शब्दों में कुछ बातों की चर्चा यहाँ पर करते हैं।

मान लीजिये कि दिसम्बर का महीना है। जाड़े की रात है! आठ बजे आपने आकाश की ओर दृष्टि डाली। आपको उत्तर की ओर ध्रुव तारा पहचानने में भी शायद कठिनाई हो क्योंकि उस समय सप्तर्षि तारों का कहीं पता न होगा। उनकी ही मदद से ध्रुव तारा बड़ी आसानी से पहचाना जा सकता है। लेकिन इस समय भी ध्रुव तारा अपनी जगह पर ही अचल सा पड़ा होगा। उसके ऊपर एक छोटा तारा मंडल कुछ मझोली चमक के तारों से बना दिखाई

पड़ेगा। सबसे उत्तर में चमकीले तारों का यही सबसे पहला दल या मंडल होगा। यह आकाश-गंगा के धीमी चमक के क्षेत्र में ही फैला हुआ तारा मंडल होगा। इसको शर्मिष्ठा तारा मंडल कहते हैं। हमारे सिर के ऊपर से ठीक उत्तर-दक्षिण जाने वाली रेखा के पास उत्तरी छोर की ओर यह तारा मंडल होगा।

याम्योत्तर रेखा उस रेखा को ही कहते हैं जो ध्रुव तारा या उत्तरी ध्रुव की दिशा से दक्षिणी ध्रुव की ओर तक हमारे सिर के ऊपर से होकर गई हो। इस रेखा के आस-पास हमें इसी समय शर्मिष्ठा के ऊपर देवयानी नाम का तारा मंडल मिल सकता है जो तारों की दो लम्बी पंक्तियों से बना मालूम पड़ता है। उसके भी ऊपर चार तारे चार कोने पर रह कर एक बड़ा सा चौखटा बनाते दिखाई पड़ते हैं। यह खगाश्व तारा मंडल कहलाता है। लेकिन इनके द्वारा घिरे स्थान में भी कुछ धुँधले तारे हैं। दूरबीन से तो उनकी संख्या बहुत दिखाई पड़ती है।

याम्योत्तर रेखा पर ही बिल्कुल दक्षिणी छोर पर एक चमकीला तारा पहली चमक श्रेणी का दिखाई पड़ता है। यह वैतरणी तारा मंडल का सबसे चमकीला तारा है। उत्तर से दक्षिण तक की सीध में मध्य आकाश का यह सबसे चमकीला तारा होगा।

दिसम्बर में जो तारा मंडल हमें याम्योत्तर रेखा पर या हमारे सिर के ऊपर वाले आकाश में उत्तर से दक्षिण तक की सीध में दिखाई पड़ते हैं उनको यदि हम अपनी पृथ्वी पर की किसी एक देशान्तर रेखा की सीध में मान लें तो आकाश देखने की युक्ति जल्दी समझ में आ सकती है। मान लीजिए कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करने के लिए आकाश में आगे नहीं बढ़ रही है बल्कि एक ही जगह टिकी है और अपनी धुरी पर २४ घंटे में एक बार चक्कर लगा लेती है। इतने से आप यह बात बड़ी आसानी से अनुमान कर सकते हैं कि एक बार पूरी तरह चक्कर लगा लेने पर आकाश के चारों ओर के भाग पृथ्वी पर किसी एक जगह खड़े रहने वाले आदमी की दृष्टि में या किसी एक देशान्तर रेखा के सामने आ चुके होंगे।

अब आप दूसरी बात सोचिए। दिन रात में २४ घंटे होते हैं। इतने में पृथ्वी ने एक पूरा चक्कर कर लिया यानी उसके चारों ओर के आकाश उसके किसी एक देशान्तर रेखा के सामने आ चुके होंगे। एक-एक घंटे में कितना भाग देखने वाले की आँख की सीध में आता जायगा, उसको एक टुकड़ा मानकर सारे आकाश को २४ भागों में बाँटा जा सकता है। तारा मंडलों के नक्शे में इस तरह २४ घंटों के नाम पर टुकड़े बने होते हैं। इनको पृथ्वी की देशान्तर रेखाओं का स्थान लेने वाली रेखाएँ कह सकते हैं। आपको यह बात मान लेने में भी कोई परेशानी नहीं हो सकती कि पृथ्वी अपनी पूरी कक्षा पर एक बार घूम आने पर भी इन भागों को सामने रखती जा सकती है। इसलिए बारह महीनों में वह प्रति मास दो घन्टा रेखाएँ पार करती होगी।

तारा देखने के लिए पृथ्वी की देशान्तर रेखाओं की भाँति यह घंटों वाली रेखाएँ संसार भर में एक मानी हुई बात हो गई हैं। हमने दिसंबर में ऊपर तारों के दिखाई पड़ने की जो बात कही है, आठ बजे रात की है। ये तारामंडल आकाश के जिस भाग में हैं, उसे पहली और दूसरी घंटा रेखा पर माना जाता है।

इस हिसाब से रात को आठ बजे ही सिर के ठीक ऊपर उत्तर से दक्खिन तक दिखाई पड़ने की बात दूसरे महीनों में भी सोचें। जनवरी में जो भाग याम्योत्तर रेखा पर होगा उसे तीसरी चौथी घंटा रेखा का मानेंगे। इसी तरह फरवरी मार्च आदि में प्रति मास दो-दो घंटा-रेखाओं वाला आकाश याम्योत्तर रेखा पर आयेगा। नवंबर में २३ और २४ घंटा रेखा का आकाश होगा परन्तु २४ वीं घंटा रेखा को शून्य घन्टा रेखा भी कह सकते हैं। इन विधियों को ध्यान में रखने से यह बात स्पष्ट है कि किसी भी तारामन्डल के नक्शे में सिर्फ घन्टा रेखायें ही हों

तब भी उसका महीनों के हिसाब से बटवारा समझ सकते हैं।

आठ बजे रात को फरवरी में आकाश का जो भाग दिखाई पड़ता है, वही भाग जनवरी में दस बजे रात को दिखाई पड़ सकता है। दिसंबर में वही भाग बारह बजे रात को याम्योत्तर रेखा पर दिखाई पड़ेगा। एक महीने में अलग-अलग समयों में आकाश के कौन भाग याम्योत्तर रेखा के ऊपर होंगे उनका भी अनुमान करना बड़ा आसान है। दिसंबर में रात को आठ बजे पहली और दूसरी घंटा रेखा पर के तारामंडलों में शर्मिष्ठा, देवयानी, खगाश्व, वैतरणी आदि हैं। यदि दिसंबर में ही रात के नौ बजे देखा जाय तो एक घन्टा रेखा पीछे की ओर का आकाश याम्योत्तर रेखा पर होगा। यह घन्टा रेखा ० या २४ वीं होगी। एक घन्टा रेखा पीछे का आकाश एक-एक घन्टे बाद आता जायगा। दिसंबर में ही १० बजे रात को २३ वीं घन्टा रेखा का आकाश सर पर होगा।

रात को आठ बजे अलग-अलग महीनों में जो घन्टा रेखायें उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक खिंची याम्योत्तर रेखा पर जो तारे या तारा मण्डल होंगे, उनका कुछ वर्णन नीचे है—

जनवरी (३ री, ४थी घन्टा रेखा)—जिराफ, ययाति, कृत्तिका, मेष, वैतरणी, होरा माप

फरवरी (५ वीं, ६ वीं घन्टा रेखा)—ब्रह्महृदय, रथी, रोहिणी, वृष, आर्द्रा, मृगशिरा, मृगनयनी, मृगपद, मृग, नौतल।

मार्च (७ वीं, ८ वीं घं० रेखा)—कस्तूरी, पुनर्वसु, मिथुन, प्रभास, छोटा कुत्ता (लघुश्वान), लुब्धक, श्वान,

अप्रैल (९ वीं, १० वीं घन्टा रेखा)—मघा, सिंह, जलसर्प, नौवस्त्र,

मई (११ वीं, १२ वीं घं० रेखा)—सप्तर्षि, उत्तरा फाल्गुनी, केश, काक, स्वस्तिक।

जून (१३ वीं, १४ वीं, घं० रेखा)—सप्तर्षि, स्वाती, भूतेश, चित्रा, कन्या, स्वस्तिक।

जुलाई (१५ वीं, १६ वीं घं० रेखा)—उत्तर किरीट, तुला, त्रिकोण,

अगस्त (१७ वीं, १८ वीं घं० रेखा)—अजगर, शौरी (हरकुलिश), सर्पधर, ज्येष्ठा, वृश्चिक,

सितम्बर (१९ वीं, २० वीं घं० रेखा)—अभिजित, वीणा, श्रवण, गरुड़, धनु,

अक्टूबर (२१ वीं, २२ वीं घं० रेखा)—विषपर्वा, हंसपुच्छ, हंस, मकर,

नम्बर (२३ वीं और शून्य घं०रेखा)—शिल्पी, खगाश्व, दक्षिण मीन, वक,*

---

*"तारा कैसे देखें ?" मूल्य १) प्रकाशक—आदर्श पुस्तक मंदिर चौक, इलाहाबाद। (लेख के सब ब्लाक इस प्रकाशक के ही अनुग्रह से प्राप्त)

चलचित्रों की कहानी

डाक्टर रामचरण मेहरोत्रा

बच्चो! तुमने प्रायः फिल्म देखे होंगे—क्या तुमने कभी यह सोचने का प्रयत्न किया है कि यह चल चित्र किस प्रकार बनाए जाते हैं और किस प्रकार उनमें तस्वीरें तुमको चलती-फिरती दिखलाई देती हैं। शायद तुमको यह सुन कर आश्चर्य होगा कि तस्वीरों का चलती दिखलाई देने का कारण हम लोगों के मस्तिष्क की एक प्रकार की 'सुस्ती' है। हम जो भी दृष्य आँखों से देखते हैं वह मस्तिष्क पर अंकित हो जाता है; परन्तु यदि तस्वीर आँखों के सामने से हटा ली जाए तो वह मस्तिष्क से उसी क्षण मिट नहीं जाता बल्कि लगभग १/१६ सेकिण्ड तक स्थिर रहता है। अब इसी बीच में यदि उस पर उसी से मिलता-जुलता एक दृश्य और पड़ जाए तो मस्तिष्क को ऐसा प्रतीत होगा कि दोनों लगातार हैं। इसलिए यदि किसी चलती हुई वस्तु के चित्र एक सेकिण्ड में १६ से अधिक ले लिए जाएँ और फिर ये चित्र उसी गति से हमारी आँखों के सामने प्रदर्शित किये जाएँ तो हमारा मस्तिष्क इन चित्रों को अलग न देख सकेगा वरन् वह वस्तु उसे चलती-फिरती दिखलाई देगी। चलचित्र के फिल्म इसी सिद्धान्त पर बनाए जाते हैं। आज कल तो चलचित्र इतने प्रचलित हो गये हैं कि तुममें से कुछ के घर में भी 'मूवी' कैमरा होगा जिससे चलती फिरती तस्वीरें ली जा सकती हैं, सिनेमा तो आजकल गाँव-गाँव में पहुँच गया है। क्या तुम जानते हो कि आज से केवल २५ वर्ष पहले तक सब चलचित्र मूक या Silent होते थे? शायद सोचते होगे कि आधुनिक फिल्मों की आवाज फिल्म के साथ ही साथ ग्रोमोफोन बजा कर पैदा की जाती है और फिर लाउडस्पीकरों द्वारा वह तुम्हारे पास तक पहुँचती है। परन्तु यह गलत है। तुमको सुन कर आश्चर्य होगा कि अजकल आवाज का भी फोटो लिया जा सकता है और उस फोटो से वही आवाज फिर पैदा की जा सकती है। आओ आज मैं तुम्हें इन बोलते हुए चल चित्रों की कहानी संक्षेप में सुनाऊँ।

पिछली शताब्दी के अन्तिम दिनों में फोटोग्राफी की कला काफी उन्नति कर गई थी और तभी से चलती हुई तस्वीरें बनाने के भी प्रयत्न आरम्भ हुए। इसके लिए पहले-पहल अमेरिकन फोटोग्राफर एडवर्ड माईब्रिज ने चलती हुई वस्तुओं का चित्र जल्दी-जल्दी लिया और इन चित्रों को एक गरारी पर चढ़ा कर घुमाने से उन्होंने चलती हुई तस्वीरों का प्रभाव प्रदर्शित करने की कोशिश की। परन्तु इस प्रकार बहुत प्रयत्न करने पर भी दो चित्रों के बीच में एक दो सेकिण्ड का समय अवश्य लग जाता था और इस प्रकार चलती फिरती वस्तु की लगातार तस्वीर लेना असम्भव था। इस कठिनाई को हल करने के लिए १८८६ में 'प्रिंस' नाम के एक फोटोग्राफर ने एक नये प्रकार के कैमरे का अन्वेषण किया जिसमें एक के स्थान पर कई लेन्स व कई फोटोग्राफी के फिल्म थे जिन पर एक के बाद एक चित्र लिए जा सकते थे। इस कैमरे से १ सेकिण्ड में १६ चित्र तक लेना सम्भव था। इस प्रकार यह पहला 'मूवी कैमरा' कहा जा सकता है।

इसी समय एक अन्य फोटोग्रेफर 'फ्रिजेग्रीन' एक दूसरा 'मूवी कैमरा' बनाने का प्रयत्न कर रहा था, उसने इस बारे में उस काल के प्रमुख वैज्ञानिक 'टामस एर्जसन' साहेब को भी लिखा। अपने प्रयत्नों के फल स्वरूप १८६२ में एर्जसन ने एक कैमरा बनाया जिसमें एक सेकिण्ड में ४६ तक चित्र लिए जा सकते थे। उन्होंने इस कैमरे से ली हुई एक चलती फिरती फिल्म का प्रदर्शन किया। एर्जसन साहेब ग्रामोफोन के भी अन्वेषक थे, इसलिए उन्होंने फिल्म दिखलाने के साथ ही साथ ग्रामोफोन द्वारा दृश्यों पर टिप्पणी भी दर्शकों को सुनाई। इस प्रकार आरम्भिक काल में चलती फिरती तस्वीरों के साथ ही साथ आवाज का भी उपयोग ग्रामोफोन द्वारा करने का प्रयत्न किया गया। परन्तु इस विधि में दृश्य व आवाज का समन्वय बहुत ही कठिन था। एक सेकिण्ड का भी अन्तर पड़ जाने पर चित्र में नायक के होठ हिल चुकते थे और उनसे जो आवाज निकलती मालूम होती थी वह ग्रामोफोन से

आने वाली आवाज से भिन्न होती थी। इस कठिनाई का हल १८ वर्ष बाद सन् १९१० में एक फ्रेञ्च महाशय 'लिया गाडमाँ' ने निकाला। उन्होंने आवाज को ऐसे रिकार्डों पर अङ्कित किया जैसे कि आजकल तुम ग्रामोफोन के साथ बजाते हो और एक ही मोटर से रिकार्ड व फिल्म दोनों को चलाया जिसमें उनमें समय का अन्तर न पड़े। इस विधि में सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि आवाज के रिकार्ड व फिल्म को एक ही गति से चलाना पड़ता था जिससे प्रायः आवाज काफी अस्वाभाविक प्रतीत होती थी।

लगभग इसी समय आवाज के रिकार्ड करने की विधि में एक क्रांतिकारी परिवर्त्तन हुआ जिससे ध्वनि के भी चित्र बनाए जाने लगे। तुममें जो विज्ञान के विद्यार्थी हैं वे जानते होंगे कि आवाज लहरों द्वारों हवा में चलती है। इस समय मैं रेडियों के 'भारक' पर बोल रहा हूँ और यंत्रों द्वारा मेरी आवाज की लहरों को बिजली की लहरों में परिवर्तित किया जा रहा है जो तुम्हारे रेडियो तक पहुँचती हैं और तुम्हारा रेडियो उन बिजली की लहरों को फिर आवाज की लहरों में परिवर्तित कर देता है जिससे तुम मेरी आवाज को सुन पाते हो। इसी प्रकार फिल्म में जो आवाज रिकार्ड करनी होती है उसे पहले बिजली की लहरों में बदला जाता है और विद्युत् की लहरें एक छोटे शीशे को हिलाती हैं। इस शीशे पर तेज प्रकाश की एक किरण बराबर पड़ती रहती है और शीशे से परावर्तित या reflected रोशनी को फोटोग्रैफिक फिल्म पर डाला जाता है। शीशे के हिलने के कारण उस पर रोशनी की आभा बदलती रहती है, जब जोर की आवाज होती है तो ज्यादा बिजली पैदा होती है और शीशा ज्यादा हिलता है इसलिए कम रोशनी उस पर पड़ती है और फिल्म पर हल्का निशान आता है। इस प्रकार आवाज का चित्र फिल्म पर आ जाता है। इस प्राप्त चित्र से फिर आवाज पैदा करने के लिए उस पर एक ओर से रोशनी डाली जाती है जो फिल्म से निकल कर एक 'सेलेनियम' की सेल पड़ती है। सेलेनियम की सेल रोशनी को बिजली की लहरों में बदल देती है और यह बिजली आसानी से आवाज में बदली जा सकती है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि सन् १९१३ के लगभग आवाज की फोटो लेने की इस क्रांतिकारी विधि का अन्वेषण हुआ और एक फ्रेञ्च वैज्ञानिक 'यूजेने लाउस्ते' ने इस विधि का पेटेण्ट कराया। अभाग्यवश उस समय 'थर्मो आयनिक वाल्व' की गवेषणा नहीं हुई थी, इन वाल्वों का नाम तुमने अवश्य सुना होगा—जिस रेडियो से तुम मेरी बात सुन रहे हो उसमें बाद को देखना तो तुम्हें उसके पिछले भाग में शीशे के कई बल्ब लगे दिखलाई देंगे। यही थर्मोआयनिक वाल्व है जो बिजली की करेण्ट को सैकड़ों गुना तक बढ़ा देते हैं। १९१३ में इसका पता न होने के कारण जो आवाज दर्शकों तक पहुँचती थी वह बहुत धीमी होती थी, इसलिए प्रत्येक दर्शक को उसे एक टेलीफोन का चोगा कानों पर चढ़ा कर सुनना पड़ता था। इसी कठिनाई के कारण इस गवेषणा का उपयोग व्यापारिक ढंग से न हो सका। यथार्थ में पहिली फिल्म talkie का प्रदर्शन १९२८ में हुआ। इस पहिली बोलने वाली फिल्म का नाम The Singing Fool था जिसे अमरीका में बनाया गया था और इस वर्ष से मूक या Silent चल-चित्रों का युग समाप्त हो गया।

हाँ तो तुम यह तो जान गये कि फिल्म कैसे बनाए जाते हैं। यदि तुम्हें कहीं किसी चल चित्र का फिल्म देखने को मिल जाए तो देखोगे कि उसके मध्य में तो तस्वीरें हैं। ये तस्वीरें चल चित्र कैमरा से एक सेकिण्ड में ३२ की गति से ली जाती हैं—इसलिए तुमको चित्रों में बहुत ध्यान से देखने पर ही कुछ अन्तर प्रतीत होगा। और तुम देखोगे कि फिल्म के कोने पर एक लहरियादार बेल सी बनी है—यही आवाज की तस्वीरें हैं जिससे तुम्हें तस्वीर के साथ ही साथ आवाज भी सुनाई देती है।

आजकल तो फिल्म बनाने की विधि में बड़ी तेजी से प्रगति हो रही है जिसके फलस्वरूप तुम शीघ्र ही 'Three dimensional films भी देखसकोगे। इस नये प्रकार के फिल्मों में तस्वीर परदे के तल पर ही चलती नहीं मालूम पड़ती वरन् तुम दृश्य की गहराई का भी अनुभव कर सकोगे और नायक-नायिका तुम्हारी तरफ आते वा तुमसे दूर जाते भी दिखलाई देंगे।

अफ्रिका के घातक सर्प

जगपति चतुर्वेदी

अफ्रिका अत्यधिक विचित्र-विचित्र रूपों के घातक सर्पों का भंडार है। दीर्घकाय, चपल और अत्यंत उत्तेजनाशील घातक सर्पों की दृष्टि से यह महादेश महत्वपूर्ण है। कुछ जातियाँ तो अत्यन्त दीर्घकाय विषदन्त और विष की भयानक तीव्रता के कारण प्रसिद्ध हैं और कुछ जातियाँ विचित्र व्यवहारों और रंगरूपों के ही कारण अति प्रसिद्ध हैं। वहाँ पर ही कुछ ऐसे रूप के नाग पाये जाते हैं जिनमें दर्शक की ठीक आँख में विष थूक देने की शक्ति और प्रवृत्ति पायी जाती है।

अफ्रिका में गर्त्त मंडली या गर्त्त पृदाकु (पिट वाइपर) नहीं होते किन्तु साधारण मंडली (वाइपर) सर्प और नागवंशीय सर्प अतिशय अधिक पाये जाते हैं। आस्ट्रेलिया में तो नागवंशी सर्पों की बहुत ही अधिकता है। किन्तु उसे छोड़ दिया जाय तो शेष संसार का नागवंशी स्वर्ग अफ्रिका ही कहा जा सकता है। अफ्रिका ही पृदाकु (मंडली) वंश के साधारण सर्पों की जननी प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ वे विभिन्न रूपों में विद्यमान पाये जाते हैं। दीर्घकाय भूचारी मंडली से लेकर मरुभूमि के ऊपर चल सकने वाले या रेत में धसकर छिप सकने वाले मंडली सर्प तक पाए जाते हैं। कृशाकाय लतावत हरित पृदाकु से लेकर दीर्घशीर्षीय वृक्षचारी पृदाकु सर्प तक वहाँ पाये जा सकते हैं। 'एट्रेक्टेस्पिस' प्रजाति के पृदाकु तो अपने विषदंतों को इतना वृहदाकार बना सके हैं कि उनका व्यावहारिक उपयोग भी कठिन ही कहा जा सकता है। एक पृदाकु अर्ध जलचारी भी प्रतीत होता है। इस तरह बीसियों जाति के पृदाकु सर्पों का भण्डार ही वहाँ जुटा पड़ा है।

नागवंशी सर्पों में तो भयानक रूप की जातियाँ अफ्रिका में विद्यमान ही हैं। इस वंश की छोटी जातियाँ भी पाई जाती हैं। इनमें प्रवाल सर्पों का आकार छोटा और कृशित होता है। शल्क चमकीले होते हैं। ये विवर बनाकर भी रहते हैं या धरातल पर ही जीवन यापन करते हैं। बिना छेड़े या चोट पहुँचाए ये आक्रमण नहीं करते। ये दो फुट तक औसत रूप में लम्बे होते हैं। इनकी कई जातियाँ अनेक रंग-रूपों की अफ्रिका में पायी जाती हैं। उष्णकटिबन्धीय और दक्षिण अफ्रिका में इन सर्पों की एलापस्वायडिया प्रजाति की कई जातियाँ हैं। इनमें गुन्थेरी नाम की जति में प्रवालीय (हल्के गुलाबी) और श्वेत रंग की अंगूठीनुमा पट्टियाँ या मुद्रिकाएँ बनी होती हैं। एक जाति उसम्बरा पर्वतों में काले रंग की पायी जाती है जिसमें श्वेत रंग की पतली मुद्रिकाएँ खिची होती हैं। इसे निग्रा जाति कहते हैं किन्तु इनकी मुद्रिकाएँ या अंगूठीनुमा पट्टियाँ चौड़ाई में बदन के चारों ओर नहीं फैली होतीं जिससे पूरी गोल अंगूठी नहीं बनी होती, बल्कि गोलाई का कुछ अधूरा भाग ही बना होता है इस लिए इसे पट्टियों वाला सर्प (पट्टित) कहना चाहिए। होमोरोसेलाप्स प्रजाति की दो जातियाँ दक्षिण अफ्रिका में पाई जाती हैं। ये एक फुट से लम्बी नहीं होतीं। इनके बदन पर का रंग पीला या पीला श्वेत होता है और उस पर हल्के रंग की मुद्रिका या उसकी शृंखला बनाने वाली लाल सी या चमकीली नारंगी पट्टियाँ बनी होती हैं। टाँगानियका झील में जलचारी नाग पृथक रूप का सर्प है। यह कम से कम छः फुट लम्बा होता है।

कोबरा या शुद्ध नाग उत्तरी तट से लेकर धुर

दक्षिणी समुद्र तक के भूभागों में अफ्रिका भर में फैले पाए जाते हैं। एशिया के चश्मा-चिन्हित नाग और नागराज की जातियाँ उत्तर पूर्वी क्षेत्र में अफ्रिका के नाग-साम्राज्य का बृहत्तर भाग ही निर्माण करती कही जा सकती हैं। अफ्रिका की दो जातियों के शुद्ध नागों में शत्रु की ओर विष की फुहार बड़ी कुशलता से फेंकने का गुण पाया जाता है। यह जान-बूझकर ही प्रहार-क्रिया होती है। ऐसे रूप का विष आँख के कोमल पर्दे पर तुरन्त ही प्रभाव करता है इस लिए इन नागों की दुष्टता का अनुमान किया जा सकता है। विष की फुहार बिल्कुल ठीक निशाने पर बल पूर्वक फेंकी जाती है। इस लिए आँख में उसके पहुँचते ही आगन्तुक व्यग्रता और वेदनाग्रस्त हो उठता है। इतने में आक्रामक नाग को भाग कर अपनी रक्षा करने का अवसर मिल जाता है।

"नैया निग्रिकोलिस" जाति का नाग विष की फुहार थूकने वाला सर्प है। इसे कृष्ण ग्रीवा नाग भी कहते हैं। यह घातकतम सर्पों की निकटवर्ती जाति कही जा सकती है किंतु सबसे अधिक घातक सर्प का पद तो "मोम्बाज" जाति को ही है। थूकने वाले साँप की कृष्णग्रीवा जाति का विस्तृत क्षेत्रों में प्रसार है। ऊपरी मिस्र से लेकर दक्षिण में ट्रांसवाल तक यह पाया जाता है। यह आठ फुट की दूरी तक विष की फुहार फेंक सकने में समर्थ होता है। इस कारण खड़े मनुष्य की आँख में वह सहज ही विष पहुँचा सकता है। विष की फुहार छोड़ने में क्षण भर ही लगता है। छेड़ने पर यह सिर उठाकर तुरन्त ही विष की फुहार फेंक देता है। इसकी लम्बाई सात फुट तक होती है। इसके शल्कों का रङ्ग धूमिल और भद्दा होता है। एक उपजाति में काला-नीला रङ्ग होता है और कोई चित्रण पीठ पर नहीं पाया जाता। किन्तु फन फैला कर शत्रु का सामना करते समय इसके फन के नीचे दो बड़े आकार के रक्त वर्ण के धब्बे बदन के रङ्ग से बिल्कुल ही पृथक प्रदर्शित होते हैं। एक उपजाति में बदन का रङ्ग जैतूनी (हल्का पीला भूरा) या भूरा होता है और उसके फन के नीचे पीले रङ्ग के धब्बे होते हैं। इनके फन के निम्न भाग के अन्दर कण्ठ के आर-पार एक काली पट्टी बनी होती है जिसकी चौड़ाई सात शल्कों के बराबर तक होती है। इसी कारण इसका नाम कृष्णकंठ या कृष्णग्रीव पड़ा है। काले या गहरे जैतूनी रङ्ग के कृष्णग्रीव सर्पों में फन के नीचे के धब्बे लाल या पीले रङ्ग के ऐसे चमकीले होते हैं मानो तितली के पख हों। विष थूकने का अर्थ यह न लेना चाहिए कि यह जीभ से उसे फेंकता है। इसका विष तो विषदन्त के छेद से ही सीधे बाहर फेंका जाता है जिसके लिए विषथैलियों पर पेशियों का दबाव पड़ता है और साँप का मुँह थोड़ा खुला रहता है। लेकिन इसके मुँह में विष का फैलाव कहीं भी नहीं होता।

आश्चर्य की बात है कि विष थूकने वाले इस नाग के विष की मात्रा एक प्रहार में ही कई बूँद होती है। किन्तु वह तो निरंतर छः बार तक विष की फुहार छोड़ सकने में समर्थ पाया जाता है। इसलिए उसमें कितना अधिक विष संचित रहता होगा इसका अनुमान करना सरल है। जंतु-शालाओं में इस नाग को काँच की दीवाल वाले कठघरे में रखने पर प्रारंभ में पाँच छः मास तक इन सर्पों को नित्य इतना विष फेंक कर काँच को मलीन करते पाया जा सका है कि उसकी पारदर्शिता लुप्त हो जाती है जिससे कुछ दिखाई नहीं पड़ता। ऐसी दशा में प्रति पाँचवें छठे दिन काँच को स्वच्छ करना आवश्यक हो जाता है। ऐसे विष के भंडार को छः महीने तक बराबर उत्पन्न करते रहना और उसे दर्शक के नेत्रों की सीध में फेंकने की दृष्टि से कांच की दीवाल पर फेंकते रहना ऐसे प्रबल विषधर का ही काम हो सकता है। प्रयोगों में यह अवश्य देखा गया है कि नित्य अधिक समय तक विष-निस्सरण होते रहने से पहले की अपेक्षा बाद के विष में तीव्रता की समानता नहीं होती। फिर भी यह श्वास के साथ फेफड़े में पहुँचने पर कोमल त्वचा को हानि पहुँचा सकता है।

कृष्ण नाग (नैया मेलानोल्यूका) सात फुट लंबाई का सर्प है। इसके बदन पर काले शल्क बिल्कुल कांच की तरह चिकने होते हैं। यह क्रुद्ध होने पर काटने दौड़ पड़ता है। इसके स्थानीय रूप से विभिन्न रंग होते है। परन्तु चिकने शल्क इसके विशेष लक्षण हैं। मध्य अफ्रिका में एक उपजाति ऐसी पाई जाती है जिसमें बदन के अगले आधे भाग का रंग धुँधला भूरा होता है और पिछले आधे भाग का रंग काला होता है। यह उष्ण कटिबंधीय अफ्रिका में ही पाया जाता है। दक्षिणवर्ती अफ्रिका में नहीं पाया जाता है।

दक्षिणीवर्ती अफ्रिका में अंतरीपीय नाग (नैया निविया) या केप नाग पाया जाता है। यह दक्षिण में केप कालानी से लेकर उत्तर में टांगानियका तक पाया जाता है। इसका रंग प्रायः पीलापन सा होता है परन्तु लालपन लिए या भूरा या काला तक हो सकता हैं। यह पांच फुट लंबा होता है। चूहों की खोज में यह बस्तियों के निकट उनका प्राणघातक सिद्ध होता है।

एक नाग दीर्घ नेत्रों का होता है। जिसे दीर्घनेत्री नाग या "नैया गोल्डाई" कहते हैं। यह पश्चिमी अफ्रिका में निम्न नाइजर से लेकर गोल्ड कोस्ट और केमेरून तक फैला पाया जाता है। यह प्रायः वृक्षचारी सर्प है। इसका आकार लंबा होता है। बदन के ऊपरी तल का रंग कलौंछ (काला सा) और निम्न तल का हरापन लिए पीला होता है। एक नाग फणहीन होता है जो मध्य अफ्रिका में पाया जाता है। इसे "नैया ऐंचिमेटी" कहते हैं। फण न होने पर भी यह सिर तिरछे रूप में ऊपर उठाता है। उपरोक्त दीर्घनेत्री नाग भी लगभग फणहीन होता है। ऐंचियेटी नाग का रंग गहरा भूरा या काला होता है। थूथन के छोर और सिर के पार्श्वों का रंग पीला होता है।

रिंघल नाग भी विष थूकने वाला नाग है, परन्तु इसकी लंबाई चार फुट ही होती है और इसका विष छः फुट तक ही पहुँच सकता है। इसलिए खड़े मनुष्य की आँख पर इसका प्रभाव नहीं पड़ सकता। घास-पात में झुके होने पर इसके विष की फुहार आँख में पहुँच सकती है। इसके शल्क आभाहीन होते हैं और उनका रंग मटमैला काला या भूरा होता है। इसके अधोतल का रंग कलौंछ होता है। गर्दन पर धूमिल रंग की एक या दो अँगूठियाँ होती हैं। क्रुद्ध होकर सिर उठाने पर इसके उदर की पट्टिकाएँ बदन के रंग से विभिन्न रंग की चमकीली दिखाई पड़ जाती हैं। यह सर्प अंडे नहीं देता बल्कि सदेह शिशु ही उत्पन्न करता है इसलिए पिंडज कहा जा सकता है। अन्य सब नाग अंडा ही देते हैं। एक बार में दो से पाँच दर्जन तक बच्चे पैदा होते हैं इसलिए बस्तियों के निकट इनकी भरमार ही जाती है।

मोम्बाज अफ्रीका का सबसे प्रसिद्ध सर्प है। इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। इनका विष तीव्र घातक होता है। सन्तानोत्पादन काल में इसके अड्डे की जगहों के निकट इसके द्वारा काटे जाने का अधिक भय रहता है। अन्य समयों में छेड़े न जाने पर यह दिखाई पड़ने पर भाग जाने का ही प्रयत्न करता है। यह सर्प कृशकाय होते हैं। सिर पतला होता है। आँखें बड़ी होती हैं। बदन का आकार कोड़े या चाबुक की तरह ही होने से वृक्षचारी लता सर्पों से इनका आकार मिलता है किन्तु ये उतने लम्बे आकार के नहीं होते। किन्तु मोम्बाज की कई जातियाँ धुँधले हरे रंग की भी होती हैं जिससे लता सर्प होने का धोखा हो सकता है। हरे मोम्बाज सात आठ फुट तक लम्बे होते हैं। कुछ मोम्बाज नाग इतने गहरे जैतूनी रंग के होते हैं कि प्रकाश न पड़ने पर काले रंग के ही जान पड़ते हैं। ये हरे रंग के मोम्बाज से बड़े आकार के होते हैं। इनकी लम्बाई बारह फुट तक हो सकती है। लम्बाई में नागराज भी इतना ही होता है परन्तु लम्बाई की समानता रखने पर भी नागराज मोम्बाज से दुगुना मोटा होता है।

जब मोम्बाज सर्प काटने के लिए मुँह खोले हो तो उसके विषदंत मुँह में इतना आगे निकले दिखाई पड़ेंगे मानो वे उसकी नाक से ही निकले हों। वे सीधे अधोमुखी होते हैं। विषदंत का यह प्रचंड रूप उसकी कृशता और मुख बन्द रखने पर प्रदर्शित भोलेपन के सर्वथा विरुद्ध होता है। इनका विष भी बड़ा भयानक होता है। यह कहा जा सकता है कि नागों ने ही वृक्षचारी रूप बनाकर अपना शरीर इसलिए कृशकाय बना लिया कि शाखा-प्रशाखा पर सुगमतया पहुँच कर जीवनयापन कर सकें। इसकी अगली पसलियाँ थोड़ी लम्बोतरी होती हैं जिससे गर्दन कुछ सीमा तक चपटी बन सकती है। जब यह सर्प पूर्ण क्रुद्ध न होकर केवल सजग होकर ही किसी वस्तु पर दृष्टिपात कर रहा हो तो उसकी गर्दन इस तरह चपटी बनी दिखाई पड़ सकती है किन्तु यह अपने सिर और अगले बदन को पीछे मोड़कर इतनी शीघ्र दुहरा बना सकता है कि सिर बदन के तिहाई भाग से भी बहुत अधिक पीछे तक पहुँच जाता है। वृक्षों पर तो यह पक्षियों को आहार बनाने की धुन में रहता है। परन्तु भूतल पर भी क्षुद्र कृन्तकों की खोज में आ पहुँचता है। ऐसे शिकार के समय इसकी गति बहुत वेगवती होती है। इस दशा में इसे छेड़ना भयावह होता है।

मोम्बाज की चार जातियाँ पाई जाती हैं। इनमें दक्षिण अफ्रिका की जाति "डेंड्रास्पिस ऐंगुस्टिसेप्स" सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसका प्रसार टांगानियका से पश्चिम अफ्रिका तक कांगों के दक्षिण और दक्षिण में नैटाल तक है। यह हरे और काले दो रंगों का पाया जाता है। एक दूसरी जाति उत्तर पश्चिम में नाइजर तक पाई जाती है। एक जाति इथोपिया में पाई जाती है।

अफ्रिका के मंडली सर्प—

मंडली या पृदाकु (वाइपराइडी) वंश की लगभग तीस जातियाँ अफ्रीका में पाई जाती हैं। कौसस प्रजाति की चार जातियाँ साधारण सर्प वंश की तरह होती हैं। उनके सिर पर कवच सा होता है। ये अंडे देती हैं। इनके आँख की पुतली गोली होती है।

अंतरीपीय मंडली को रात्रिचारी मंडली सर्प भी कहते हैं। यह कौसस प्रजाति का ही है। यह दो तीन फुट लम्बा होता है। दक्षिण अफ्रिका के अधिकांश क्षेत्र में इसका प्रसार है। इसका विष भी हल्का होता है। इसका रंग खाकी होता है और उस पर चौकोर, गहरे रंग के धब्बे की जंजीर सी बनी होती है जिनमें पतली किनारी भी बनी होती है। सिर के पिछले भाग में तीर की नोक सा चिन्ह भी बना पाया जाता है जिसकी नोक आगे की ओर रहती है। यह छेड़े जाने पर कुंडली बना कर रुद्र रूप प्रदर्शित करता है और नाग की तरह गर्दन चपटी कर भूमि से पाँच इंच ऊपर तक उठाकर डराता है। फिर भाग खड़ा होता है।

कौसस प्रजाति के सर्पों में विषथैली गर्दन तक फैली पड़ी होती है। वह कई इंच तक लम्बोतरी बनकर गर्दन में पहुँची रहती है। ये सर्प मेढकों को ही खाते हैं। अंडज जन्तुओं को खाने की विशेषता इस वंश के अधिकांश अन्य सर्पों से इनकी विभिन्न प्रकृति प्रदर्शित करती है। इनका प्रसार अफ्रिका के दोनों समुद्र तटों तक और उष्ण कटिबंधीय भाग तक है। इनके बदन पर भी चौकोर चिन्ह बने होते हैं। बदन का रंग खाकी से लेकर हरापन तक होता है। इसकी दो जातियों में थूथन का भाग ऊपर उठा होता है जो शायद बिल खोदने के काम आता है।

वाइपरा प्रजाति के मंडली सर्प की बहुसंख्यक जातियाँ योरप में मिलती हैं। परन्तु अफ्रिका में दो ही जातियाँ होती हैं। इनमें से एक "वाइपरा सुपरसिलियारिस" तो मोजंबिक में पाई जाती है और दूसरी पूर्वी अफ्रिका में मिलती है।

बाइटिस प्रजति की आठ बड़ी जातियाँ के मंडली सर्प अफ्रिका में पाये जाते हैं। ये बड़े ही भयानक सर्प होते हैं। उन्हें भयानकता की मूर्ति

[शेषांश पृष्ठ ९६ पर]

धरती का पोषण

फसलों के हेरफेर का महत्व

डा० अमर सिंह
प्राध्यापक कृषि-बनस्पति शास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

लगभग १६,००० वर्ष पूर्व धरती के अर्धनग्न निवासियों ने वसुन्धरा को वनों से निहित कर उसे भी अर्धनग्न बना प्रकृति द्वारा उसका सर्वस्व लूट लेने का क्रम चलाया। बात उस समय की है जब मानव ने आखेट करना व प्रकृति के स्वतः दिये हुए फल-फूलों से जीवन यापन करना निम्न समझ एक स्थान पर रुक, जंगलों को काट, खेती करना सीखा था। मानवता का उद्‌गम या सभ्यता के विकास के इस युग को आज हम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा पाते हैं। परन्तु तनिक विचार करने से यह भली-भाँति विदित हो जाता है कि मानव ने धरती के शोषण की क्रिया का आरंभ कर जिस समस्या का प्रादुर्भाव किया वह अमिट है।

धरती के शोषण का परिचय

मनुष्य ने उसी समय से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये इच्छानुकूल पौधों को अपनी सीमित भूमि में बराबर उगाया। ऐसा माना जाता है कि खेती का धन्धा अपनाने के साथ-साथ मनुष्य ने पशुओं को भी पाला। फलस्वरूप जो भी भूमि मनुष्य ने अपनाई उससे अपने लिए अन्न व पशुओं के लिये चारा व घास आदि उत्पादित किया। अपने लिये निश्चित व चुने हुए भोज्य-पदार्थों का क्रम स्थिर रखने के लिए मनुष्य ने इने-गिने प्रकार के पौधों को ही उगाया व अन्य का बेखटके ह्रास किया। अनजान में पौधों के इस चुनाव में मनुष्य ने जङ्गली पौधों की उन जातियों को चुना व अपनाया जिनका स्वरूप आज हम गेहूँ, जव, चना, मटर, बाजरा, गन्ना, आलू, शकरकन्द आदि में पाते हैं। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि इस चुनाव में आदि-मावन को यथेष्ट सफलता मिली तथा उन्होंने गर्व के साथ खेती को अपना प्रमुख उद्यम बना कर शांति पूर्ण सभ्यता की नींव डाली।

अधिक उत्पादन के लिये निर्धारित बीजों को अधिक समय तक अधिक मात्रा में उगाकर धरती व पौधों के बीच जो समन्वय जलवायु के प्रभाव से स्थापित था उसमें मनुष्य ने उथल-पुथल मचा दी। इस प्रकार खेती के युग के प्रादुर्भाव के साथ ही भूमि की पोषक व रचनात्मक क्रियाओं में कमी और शोषण का श्रीगणेश हो गया। पौधों के द्वारा भूमि के पदार्थों में कमी होने के साथ-साथ इसका एक सक्रिय कारण उन पौधों का नष्ट होना भी है जो जल, वायु, ताप, भूमि आदि की परिस्थिति में प्रगट और पनप कर धरती की एक परत के रूप में रक्षा करने में सहायक रहे। मनुष्य ने वस्तुतः अनजान में प्रकृति की अवहेलना कर धरती के शोषण व उत्पादन-शक्ति के ह्रास का जो क्रम चलाया वह आज भी जारी है। जनसंख्या की वृद्धि व प्रति एकड़ पैदावार की कमी से उसमें प्रगति ही होती जा रही है।

प्रकृति पौधों की संख्या व उनकी बाढ़ भूमि व जलवायु द्वारा निर्धारित करती है जो स्वतः घटती-बढ़ती रहती है। ये पौधे प्राप्य भोजन को अपनी

आवश्यकतानुसार लेकर फलते-फूलते हैं तथा जब उनकी जीवन लीला समाप्त हो जाती है तो उनका अधिकांश भाग अपने जन्म-स्थान पर ही सड़-गल कर भूमि को अर्पित हो जाता है। इसी कारणवश प्रकृति में भूमि का ह्रास कम होता है और आज भी नई भूमि की उपज अधिक व अच्छी होती है।

यह तो भली-भाँति विदित है कि जो पौधा जितना ही अधिक उत्पादन करने की क्षमता रखेगा वह उतना ही अधिक भूमि का शोषण भी करेगा। इसी प्रकार यह भी मान्य है कि मनुष्य ने निरंतर चुनाव करके जिन पौधों को आज शस्य के रूप में ग्रहण किया है वे घास तथा अन्य प्रकार के पौधों से अधिक चीनी, अन्न, रेशे आदि पैदा करते हैं। ऐसे असंख्यक पौधों को एक स्थान पर बार-बार उगाकर मनुष्य भूमि को निर्बल बनाने में बहुत ही सक्रिय रहा है। पहले भिन्न-भिन्न जाति के पौधे भिन्न-भिन्न अनुपात में उगते थे पर आज खेतों में एक शस्य को उगाते हैं तथा अन्य पौधों को खर-पतवार का नाम दे नष्ट करते हैं।

मनुष्य निर्मित कृषि परिधान में बहुत से वे पौधे जो भूमि व जलवायु की दृष्टि से अनुकूल हैं उगने नहीं पाते हैं। यह सत्य है कि खर-पतवार शस्यों के साथ भोजन, पानी, हवा, उजाला आदि के लिये होड़ लगाते हैं, जिस समय खेत परती रहता है अपना अड्डा अच्छी प्रकार से जमा लेते हैं। परन्तु कुछ खर-पतवार ऐसे भी होते हैं जो यदि सदैव नहीं बने रहते हैं तो नष्ट हो जाते हैं, वे खेती के प्रारम्भ के साथ ही विलीन या लुप्तप्राय हो गये। प्रकृति में इन कृत्रिम परिवर्तनों के समावेश हो जाने से धरती में भी हर प्रकार के परिवर्तन होने लगते हैं। प्रकृति द्वारा अंकुशित सतुंलन बड़ा ही रहस्यपूर्ण है—इसमें स्थिरता नहीं आ पाती, यह सदैव गतिशील है। उदाहरण के लिये, वनों को लीजिये—क्या कभी भी ये इतने घने व गहरे हो जाते हैं कि उनमें उगने वाले छोटे-छोटे पौधों को रोशनी नहीं मिल पाती?—नहीं ऐसा नहीं होता है। पुराने पेड़ों का नष्ट होना, धरती में अपने अस्तित्व को खो देना, वन में पौधों का अकुंरित होना व बढ़ना चलता रहता है और प्रकृति के सतुंलन में कोई त्रुटि नहीं आ पाती।

मनुष्य के हस्तक्षेप करते ही यह संतुलन स्थिर नहीं रह पाता है और जो उपद्रव होते हैं वे भीषण रूप धारण कर लेते हैं। छोटा नागपुर में लगभग १०० वर्ष पूर्व घने वन थे। वहाँ की जलवायु में नमी की मात्रा यथेष्ट रूप से थी। कुछ काल पूर्व मनुष्य ने चाय की खेती करने के निमित्त उन जंगलों को काट खेत बनाये तथा लाभ उठाने का प्रयास किया। इसका फल यह हुआ कि वहाँ की वर्षा अनियमित और न्यून हो गई, जिससे चाय की खेती लाभ-युक्त नहीं हो पाई और वे वन भी नष्ट हो गए। मनुष्य ने प्रकृति के सतुंलन को कैसे अव्यविस्थित किया इसका एक ही उदाहरण आपके सामने रखा है। ऐसे अनेकानेक उदाहरण 'धरती की पुकार' शीर्षक लेख (विज्ञान ८४:१, अक्तूबर १९५६) में मिलेंगे।

हमें इस उदाहरण से यह उपदेश मिलता है कि प्रकृति के नियमों के विरुद्ध हस्तक्षेप करने से प्रकृति संतुलन नहीं कर पाती है और उसमें ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं कि धरती की शोषणात्मक क्रियाओं की गति प्रचंड होती जाती है। इसलिये जब भी हम किसी कारण या कारक में कमी या बेशी ले आवें तो हमें उससे कृत व्यतिक्रम को ध्यान में रख रोकने का प्रयास करना भी आवश्यक है।

मनुष्य द्वारा चुने हुए शस्य उसी समय तक अच्छी उपज देते हैं जब तक भूमि की उर्वरा शक्ति क्षीण नहीं हुई रहती है। यह अनुभव से ज्ञात है कि कई शस्यों की उपज पहले से धरती के काफी भाग में गिर गई है। यह हमारे लिये एक आवश्यक सूत्र है—इसका कारण न जानना व उसे दूर न करने से भविष्य में मानव को बड़ी हानि उठानी पड़ेगी। उत्पादन शक्ति की क्षीणता पौधों के पोषक तत्वों के अनुचित अनुपात के हो जाने से होती है। खरपतवार, भूमि-क्षरण, व भूमि में भौतिक परिवर्तन

भी किसी शस्य की असफलता का कारण बन जाते हैं।

शोषण का समाधान

अतीत काल से जो क्रम चलता आया है उसका अंत करने में मानव को सफलता मिलनी दुर्लभ है क्योंकि अन्न की विषम समस्या का समाधान होने का यह पथ नहीं है। पर इस अन्नोत्पादन के क्रम में कुछ ऐसी रीतियों का समावेश किया जा सकता है जिससे धरती का शोषण न होकर पोषण होवे। इस प्रकार की अव्यवस्था को दूर करने में फसलों के हेर-फेर का योग महान एवं सरल है।

खेत की उपज को स्थिर रखने व बढ़ाने में खाद सहायक है पर कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी हैं जहाँ खाद का प्रयोग या तो नहीं हो पाता है या हानिकारक है। ऐसी जगहों में दलहन की फसलों का समावेश उचित रूप से कर किसान लाभ उठा सकता है। किन्हीं स्थानों में धान—गेहूँ, मक्का—गेहूँ या जव, धान—गन्ना, मक्का—गन्ना, ज्वार या बाजरा—गन्ना, मक्का—आलू, गन्ना—परती—धान का क्रम चालू रखते हैं। यह फसलों का हेर-फेर तो अवश्य है पर इससे लाभ नहीं हानि होने की ही सम्भावना है। इसी भाँति भूमि को परती रखने में भी भूमि और किसान दोनों को हानि होती है जिसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। इसे दूर करना भूमि के पोषण की क्रिया का रूप समझना चाहिये। इसके लिये कम समय में तैयार हो जाने वाली मूंग टाइप १ अथवा लोनिया टाइप १ जैसी फसलों को व्यवहार में लाना चाहिये।

फसलों का चक्र—सिद्धान्त तथा लाभ

फसलों का चक्र एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत पृथक-पृथक दलों की फसलों को नियमानुसार बार-बार आने वाले अनुक्रम में एक ही भूमि पर कुछ समय तक पैदा किया जाता है। इसमें आकस्मिक अदल-बदल का स्थान नहीं है क्योंकि इसके अनुसार कुछ विशेष प्रकार के पौधों का निश्चित क्रम कुछ समय तक बार-बार एक ही खेत में चलता रहता है। फसलों के चक्र के लाभ या हानि का द्योतक भूमि की उत्पादन शक्ति व किसान की आर्थिक स्थिति में सुधार का होना है। बहुधा वही फसलों का चक्र लाभदायक होता है जिसमें दलहन वाली फसल हों, जो वायु से नत्रजन संचित कर भूमि में एकत्र करती हैं। उन पौधों को भी चक्र में रखते हैं जिनसे भूमि में जीवांश की मात्रा बढ़ती रहे। ऐसी फसलें भी रखी जानी चाहिए जिनसे खेत में खरपतवार कम हो जावें। खाद का समुचित प्रयोग फसलों के हेर-फेर के साथ वर्जित नहीं है। कुछ लोगों की धारणा कि खाद का उपयोग नहीं करना चाहिए, सर्वथा अनुचित है।

फसलों के चक्र द्वारा खरपतवार, बीमारियाँ व कीटाणुओं पर अंकुश रहता है। भूमि में नमी की मात्रा का भी नियन्त्रण हो सकता है। भूमि में नत्रजन व जीवांश की पूर्ति होती रहती है जब कि भूमि वर्ष भर केवल खेत की तैयारी छोड़ कर सदैव किसी न किसी शस्य से ढकी रहती है। नियत फसलों के क्रम में श्रम के साधन व सिंचाई की व्यवस्था का सुचारु और अल्पव्ययी इन्तजाम स्वतः हो जाता है। खेत की निकाई, गुड़ाई, जुताई आदि ठीक से होती रहती है जिससे भूमि की पोषक क्रियाएँ कार्यशील रहती हैं व बीमारी तथा कीड़ों के अन्डे आदि का नाश हो जाता है। फसलों के चक्र को निर्धारित करने में भूमि की बनावट, उर्वरा-शक्ति व अन्य परिस्थिति उस स्थान की फसल, जलवायु, सिंचाई की व्यवस्था, खाद की उपलब्धता, पैदावार की बिक्री के अतिरित किसान की आर्थिक स्थिति, खरपतवार की किस्म, पौधों के रोग व कीटाणुओं के उपद्रव आदि का भी ध्यान रखना होता है। इस उलट फेर में नियमबद्ध होने के पहले चतुर किसान को हर बातों का पूर्ण विचार कर लेना पड़ता है।

धरती का समुचित व पूर्ण उपयोग करने के साथ-

साथ धरती का पोषण फसलों के हेरफेर, मिली-जुली शस्यों का साथ-साथ उगाना तथा सयोंजक-कृषि से हो सकता है। फसलों के चक्र का प्रमुख ध्येय भूमि की उत्पादन शक्ति को बढ़ाना व सिथर रखना ही है। 'धरती के पोषण' को परे रख कर कोई भी फ़सलों का चक्र लाभान्वित होने की क्षमता ही नहीं रखता और ऐसा चक्र किसान अपनाने में असमर्थ होगा। फसलों के हेर-फेर का पूर्ण लाभ खेत को शक्तिशाली बनाने में ही है। कभी भी दो समान प्रकार 'फसलें लगातार नहीं बोनी चाहिए जिनकी भूमि से एक ही तरह की मांग हो। उदाहरण के लिये यह जानना आवश्यक है कि गेहूँ, गन्ना विशेषतः नत्रजन चाहते हैं जब कि चना, मटर, अरहर पोटाश ढूढ़ते हैं—अतएव इनका हेर-फेर इस दृष्टि से उचित है। खाद का प्रयोग उस शस्य के लिये करना उपयुक्त होगा जो सबसे अधिक लाभ उठा सकती है फिर भूमि में बची हुई खाद को दूसरे शस्य द्वारा प्रयोग में ले लेना चाहिए जैसे तम्बाकू—गन्ना, मक्का—आलू आदि। परती ढकने वाली हर फसल से बड़ा लाभ होता है। भूमि के घुलनशील पदार्थ इन पौधों की जड़ों द्वारा प्रेरित होकर अधिकतर इनकी पहुँच से दूर नहीं जाने पाते।

यह तो निश्चय है कि हर फार्म पर शस्यों का क्षेत्र पहले से निर्धारित रहे तथा यह स्थायी भी हो। मनुष्य के लिये अनाज के अतिरिक्त अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अच्छी आमद का समुचित प्रबंध होना और पशुओं के लिये चारा-घास होना अनिवार्य है। चक्र में यदि हो सके तो एक ऐसी फसल भी रहे जिससे भूमि की कमाई अच्छी तरह हो सके अथवा किसी घनी बोई जाने वाली शस्य का क्रम रहे जिससे खरपतवार का बिनाश हो जावे। भूमि की उत्पादन शक्ति को स्थिर रखने के अतिरिक्त फसलों के चक्र में हम दूसरे लाभों का समावेश इसलिये करते हैं कि इस कारण से किसान इसे अपनाने में तनिक भी न हिचके।

फसलों के चक्र का प्रभाव भूमि की उत्पादन शक्ति (प्रति एकड़ उपज), शस्यों के अनुक्रम, समय, भूमि-क्षरण की गति आदि से देखा जाता है। इसलिये इस चक्र के निश्चित करने में सतर्कता होनी चाहिए।

विभिन्न शस्यों की जड़ें भिन्न-भिन्न गहराई तक भूमि में पहुँच कर अपने लिये खाद्य सामग्री संग्रह करती हैं। जड़ों के फैलाव में भी भारी अन्तर पाया जाता है। इस प्रकार कई तरह के पौधों का एक ही खेत में साथ-साथ या हेर-फेर कर उगना भूमि के पोषक तत्वों का ह्रास भिन्न गहराइयों से व पृथक-पृथक मात्रा में करता है। यह तो निश्चय है कि यदि एक ही सफल बार-बार एक ही खेत से एक ही तरह के पोषक तत्वों को एक ही गहराई से लेता रहे तो भूमि की पोषक क्रियाओं को भारी ठेस लगती है और उसका स्पष्ट फल है उत्पादन शक्ति को क्षीण तथा धरती के सन्तुलन को नष्ट करना। भूमि के पोषक तत्वों व क्रियाओं का व्यतिक्रम फसलों के हेर-फेर से रोका जा सकता है।

जिन पौधों की जड़ें गहराई तक जाती हैं जैसे तम्बाकू, रेंड़ी, दलहन आदि और जिन पौधों की जड़ें सतह पर ही रहती हैं जैसे जव, गेहूँ, मकई, ज्वार आदि का हेर-फेर लाभदायक सिद्ध हुआ है। जिस समय जड़ एक सतह से अपने लिये खाद्य-सामग्री खींचेगी दूसरी सतह में रचनात्मक क्रियाएँ बढ़ती पर रहेंगी और पहले वाली शस्य की जड़ों द्वारा छोड़े गए जीवांश भूमि को पूर्ण बनाने में समर्थ होंगे।

इसी भाँति एक पौधे की बीमारियाँ व उन्हें हानि पहुँचाने वाले कीड़े भी दूसरी फसलों के (जिन पर उनका आक्रमण नहीं होता) बीच-बीच में बोते रहने से उस स्थान पर पनप नहीं सकते और नष्ट हो जाते हैं। कडुआ, गिरवी आदि गेहूँ; जव में लगते हैं पर चना मटर में नहीं, इसी तरह ज्वार व गन्ना के कुछ हानिकारक कीड़े एक ही होते हैं—इन

बातों का विचार कर फसलों को उगाने का क्रम बनाना चाहिए।

कुछ खर-पतवार जो कि किसी विशेष शस्य के साथ पाये जाते हैं फसलों के हेर-फेर से दब जाते हैं और खेत में नहीं रह पाते हैं। उदाहरण के लिये हिरन खुरी को लीजिये यह अधिकतर सनई के साथ पनपता है। इसी तरह 'टोकरा' (orobanche) टमाटर, आलू, सरसों आदि के साथ होती है और इनकी जड़ों से सम्बन्ध स्थापित कर उनका शोषण करती हैं। कुछ ऐसी भी फसलें हैं जो कि बाद में आने वाली फसलों को भी लाभ पहुँचाती हैं जैसे दलहन-नत्रजन देती हैं; मूँगफली, आलू, प्याज, शकरकन्द आदि भूमि को खूब खोद कर पोली बनाने में सहायक हैं; सनई, ढैंचा आदि को दबा देने से जीवांश की मात्रा बढ़ती है; जव के पौधों को लगे रहने पर वर्षा होने से भूमि से सिलीनियम (एक हानिकारक पदार्थ) का ह्रास हो जाता है।

फसलों के चक्र का प्रभाव एक दृष्टि से और भी लाभदायक है। कुछ सूक्ष्म मात्रा में काम में आने वाले पदार्थ (micro-elements) फसलों को कई प्रकार से हानिकारक होते हैं। इस पथ में फसलों के चक्र का योग उल्लेखनीय है। भूमि में इन पदार्थों की कमी या अधिकता होने से कभी-कभी ऐसे उत्पात हो जाते हैं जिसे मिट्टी की बीमारी (Soil-sickness) कह कर पुकारते हैं। ये बीमारियाँ या व्यतिक्रम (Sulphate of ammonia) सल्फेट आफ एमोनिमा या नत्रजन देने वाली सफेद बोरे की खाद को भूमि में डालने से भी होती देखी गई हैं। इस खाद के उपयोग से अम्ल की मात्रा बढ़ जाती है और एल्यूमिनियम और मैंगनीज की प्राप्ति बढ़ जाती है तथा फलस्वरूप सोयाबीन, कुट्टू, तम्बाकू, आलू, मूँग आदि फसलें रोगयुक्त हो जाती हैं। इसी प्रकार सल्फेट आफ पोटाश (Sulphate of Potash) खाद में जो बोरों में मिलती है कभी-कभी बोरन (Boron) नामक पदार्थ की मात्रा की अधिकता होती है जिससे चुकन्दर, टमाटर आदि को हानि पहुँचाती है।

शलजम, गाँठ गोभी, सेब, फूल गोभी, आलू, लूसर्न, तम्बाकू, नींबू, गाजर आदि के लिये बोरन की कमी हानिकारक है अतएव एक ही भूमि में सदा इन्हीं फसलों के लेते रहने से हानि की मात्रा बढ़ने का डर है। इन फसलों को बोरन-युक्त सल्फेट आफ पोटाश से उतना डर भी नहीं है। इसी भाँति मैंगनीज जई, पालक, आलू टमाटर, खीरा, ककड़ी, मटर, सेम, गन्ना, आदि के लिये आवश्यक है। ताँबा की कमी होने से दलहन, जई, अन्य अन्नादि, जस्ता की कमी में अंगूर, मक्का और कैलशियम की कमी में टमाटर, जई फूल गोभी आदि में रोग हो जाते हैं।

बोरन, मैंगनीज, ताँबा, मालिब्डेनम, अल्यूमिनियम आदि क्रम से टमाटर, सोयाबीन, चुकन्दर; तम्बाकू, आलू, मूँग, बाकला, मटर, सोयाबीन; धान; मूली, तीसी, जव; मक्का, सोताबीन, कुट्टू के लिये अधिक हो जाने से विष समान होते हैं। जहाँ इनकी अधिकता हो वहाँ पर ऐसी फसलों का चक्र में समावेश करना चाहिये। जिन्हें इनसे हानि न हो। इस विषय में अभी अपर्याप्त खोज हुई है पर यह तो सम्भव है कि सफल फसलों के चक्र से इस तरह के व्यतिक्रम से बचाव हो सकता है।

पौधों की जड़ों से कभी-कभी कुछ ऐसे पदार्थ निकलते हैं जो दूसरे पौधों के लिये हानिकारक नहीं होते पर उसी तरह के पौधे के लिये अवश्य हानिकारक होते हैं। इस विचार से भी फसलों का हेर-फेर लाभदायक माना गया है। अतः फसलों के चक्र के महत्व व सिद्धान्त को ध्यान में रख कर कुछ चक्र का अवलोकन करें।

फसलों के चक्र के विविध उदाहरण

भूमि के पोषण के हित को ध्यान में रख कर उन स्थानों व खेतों को छोड़ कर जहाँ पर जलवायु

के अनुपयुक्त होने से वर्ष में एक से अधिक फसल लेना असंभव है। हर खेत में पूरे वर्ष फसल का क्रम जारी रखना चाहिए। ऐसे भी खेत हैं जहाँ पर एक फसली क्रम ही संभव रहता है। खादर कछार, सिंचाई के लिये अनुपयुक्त या सिंचाई के साधन की कमी होने पर ही ऐसा होता है। यह तो हम पहले देख चुके हैं कि फसलों के हेर-फेर में भूमि, व खाद तथा पानी की उपलब्धता के अतिरिक्त उपज की खपत को विचार रखना आवश्यक है। शहर के पास जहाँ कम्पोस्ट पर्याप्त मात्रा में मिलता है या सीवेज से सिंचाई के साधन हैं ऐसा चक्र रखा जा सकता है जिससे खाद का प्रयोग किया जावे।

पौंड़ा (खाद)—तम्बाकू (थोड़ी खाद)—हरी खाद—गेहूँ—मूँग या मक्का (खाद)—आलू—(खाद)—पौंड़ा (खाद)—

इस क्रम में खाद का प्रयोग अच्छी तरह किया गया है और इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि किन फसलों की बेची से किसान को अधिक आर्थिक लाभ होगा। इसी को यदि चार—वर्ष वाला हेर-फेर बनाना हो तो इसमें कुछ परिवर्तन इस तरह होंगे।

पौंड़ा (खाद)—तम्बाकू (थोड़ी खाद)—चरी—गेहूँ—मक्का (खाद)—गोभी (खाद)—बैगन (खाद)—आलू (खाद)—पौंड़ा (खाद)—

इस क्रम में भी खाद के लाभ को छोड़ कर अन्य सभी लाभ हैं। अब उस जगह के लिये हेर-फेर देखना है जहाँ पर शहर की बाजार न होवे और सिंचाई की भी कमी होवे परन्तु भूमि गाँव से लगी होवे।

गन्ना (खाद)—मटर—ज्वार + अरहर—मक्का (खाद)—जव—सनई (रेशा) गेहूँ।

अथवा

कपास—मटर—मक्का—जव—सनई—गेहूँ—मूँगफली—गन्ना (खाद)।

अथवा

गन्ना (खाद)—मटर—कोहड़ा, लौकी आदि—मक्का—जव—सनई—गेहूँ—मूँग—जव।

जिस जगह पर काफी पानी का प्रबन्ध हो वहाँ के लिये निम्न हेर-फेर होगाः—

गेहूँ—कपास—मटर—अगहनी अरहर—मटर—चरी (खाद) चना—सनई।

जहाँ खाद, पानी दोनों को मिलने की कठिनाई हो वहाँ के लिये फसलों का चक्रः—

मूँग—जव—कपास—मटर—मूँगफली—मक्का—चना—सनई—गेहूँ।

जहाँ खाद पानी पूर्ण न मिले और सिंचाई में कठिनता होवेः—

गेहूँ—कपास—ज्वार + अरहर—मूँग—गेहूँ

गेहूँ + चना—अगहनी अरहर—मटर—परती—ज्वार + दाल—सनई—जव + चना।

गेहूँ + चना—कपास—मटर—परती—ज्वार + अरहर—सनई—गेहूँ आदि।

अच्छी भूमि, शहर का पास होना और सिंचाई का साधन रहने से नीचे दिया चक्र अपनाया जा सकता है। पहले दर्जे की भूमि में—

गन्ना (खाद) मटर या तरकारियाँ—सनई—गेहूँ—नील—जव + मटर—मूँगफली।

दूसरे दर्जे की भूमि में—

मूँगफली—सनई—गेहूँ—ज्वार—जव + मटर—बाजरा + अरहर

तीसरे दर्जे की भूमि में—

बाजरा—मटर—मोथी + मसूर + अन्डी—सनई—जव + मटर—ज्वार + अरहर + दालें।

बाजरा—मटर—मोथी + मसूर + अन्डी—सनई—जव + मटर—ज्वार + अरहर + दालें।

उत्तर प्रदेश के लिये फसलों का चक्र

फसलों के चक्र के इन सिद्धान्तों को जानते हुये हमें उत्तर प्रदेश की भूमि व जलवायु को ध्यान में रख कर इसे निश्चित करने की विषम समस्या को सुलझा धरती के पोषण की गति को बढ़ाना निश्चय ही एक महत्वपूर्ण कार्य होगा। उत्तर प्रदेश में कई जगह पर कई प्रकार की फसलें उगाते हैं और किसी

एक क्रम में ढालना असम्भव है। उत्तर प्रदेश को इस विचार से विभिन्न भागों में विभाजित करना आवश्यक है (देखिये चित्र १)। क्षेत्रों का विस्तार व उनके लिये उचित चक्र का उल्लेख यहाँ कर दिया जाता है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि यह फसलों के चक्र का क्रम परीक्षा-योग्य है और इसमें कहीं-कहीं किसान अपनी सुविधा के अनुकूल परिवर्तन भी कर सकता है क्योंकि इस लेख में जिले-जिले का या खेत-खेत का अलग-अलग उल्लेख तो नितांत असम्भव है।
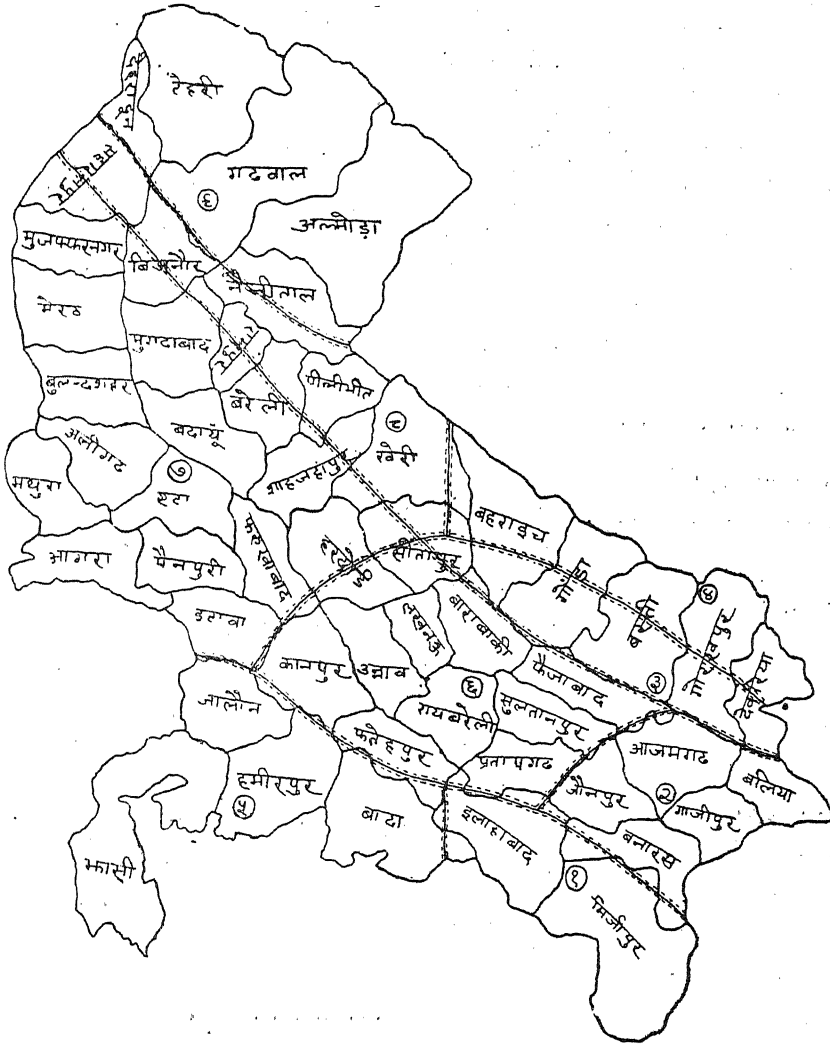
चित्र—१

(१) दक्षिणी-पूर्वी क्षेत्र

उत्तर प्रदेश के दक्षिण पूर्व भाग में इलाहाबाद और मिर्जापुर के जिले शामिल हैं। यहाँ पर धान, गेहूँ, चपरी, केराव, मूँग, मक्का, मटर, गन्ना, सनई, जव, चना, ज्वार, अरहर आदि की खेती की प्रधानतः होती है। भूमि को परती रखने व हरी खाद का

उपयोग करने की प्रणाली भी है। इस क्षेत्र में सिंचाई की सुविधा अच्छी नहीं है। वर्षा ३५"–४५" तक होती है और उसी से यहाँ का पूरा कार्य चलाना पड़ता है पर कहीं-कहीं सिंचाई करके भी अन्नादि उपजाते हैं। मिर्जापुर जिले की एक विशेष आवश्यकता है कि एक ऐसा अगता धान उगाया जावे जो सितम्बर के तीसरे सप्ताह तक पक कर तैयार हो जावे। गन्ना की खेती कुछ ही हिस्से में उचित रूप में हो पाती है और वे जातियाँ या किस्म अच्छी फसल देती हैं जो पानी की कम माँग रखती हैं। इस क्षेत्र की भूमि हल्की दूमट या चिकनी मिट्टी की है। इस प्रकार तरह-तरह की मिट्टी के अनुसार फसलों के हेरफेर में भी कुछ अन्तर हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी जानना आवश्यक है कि मिर्जापुर में जो कि समतल नहीं है खाद का प्रयोग प्रायः नहीं के बराबर होता है। इस हेतु दलहन का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता है—**केवल वर्षा से सींचित भूमि** और **अतिरिक्त सिंचाई वाली भूमि** के लिये अलग-अलग हेरफेर प्रत्येक क्षेत्र के लिये क्रमशः दिये गये हैं।

वर्षा सींचित भूमि

सनई – गेहूँ + चना
मूँग – गेहूँ या जव + चना
सावां या बाजरा या ज्वार – चना
ज्वार + अरहर – हरीखाद – गेहूँ

अतिरिक्त सींचित भूमि

धान – चना या चपरी या केराव या मटर
मक्का – गेहूँ + चना
मूँग – गेहूँ या जव
हरीखाद – बरसीम या अगता आलू – गन्ना
हरी खाद – मक्का – मूँगफली – आलू
धान – मटर – गन्ना – पेड़ी (खाद)
मूँग + अरहर – गन्ना – हरी खाद – गेहूँ

(२) पूर्वी क्षेत्र

इस क्षेत्र के अन्तर्गत बनारस, बलिया, आजमगढ़ गाजीपुर तथा जौनपुर जिले हैं। जिन फसलों को यहाँ उगाते हैं उनमें ज्वार, बाजरा, प्याज, आलू, मक्का, तम्बाकू, मूँग, मटर, ग्वार, गन्ना, उर्द, सावां, चना, लतरी, अरहर, गेहूँ, जव, धान, आदि प्रमुख हैं। यहाँ पर जो फसलों का हेरफेर किसान करते हैं उनमें दलहन का स्थान कम है। एक अन्न के बाद दूसरा लेते हैं और भूमि को परती छोड़ने की प्रथा व्यापक रूप से पाई जाती है। इनको दूर करना आवश्यक है। यहाँ पर ३०"-४५" तक वर्षा होती है और सिंचाई वाले स्थानों में अच्छी पैदावार खाद के समुचित प्रबन्ध रहने से होती है। इस क्षेत्र के कुछ भाग (बनारस—गाजीपुर—बलिया) में एक विशेष प्रकार की मिट्टी पाई जाती है जिसे करैल कहते हैं। यह भारी किस्म की होती क्योंकि इसमें चिकनी मिट्टी की मात्रा अधिक है। तुलना में वह कपास वाली मिट्टी अथवा बुन्देलखंड की 'माड़' से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इस भूमि में सिंचाई की अधिक आवश्यकता नहीं—वर्षा का जल बहुत देर तक बना रहता है क्योंकि इस मिट्टी में पानी धारण करने की शक्ति अधिक है। यों भी इस क्षेत्र की जलवायु तर ही समझी जाती है। इस भूमि में अम्ल की मात्रा कम है और कुछ क्षारपन की ओर झुकाव है। साधारणतः मिट्टी हल्की दूमट या बलुई दूमट से लेकर दूमट तक है जिसमें नत्रजन के अतिरिक्त अन्य सभी आवश्यक पदार्थ उपलब्ध हैं। परन्तु कुछ सीमित स्थानों में पोटाश व फास्फोरस की भी कमी मिली है। बनारस में तो जलहोर (पिछड़ा) बोरो और सिलहट (मध्य) किस्म के धान को बोने की प्रथा विशेषतः है। अब फसलों के चक्र को देखिये।

वर्षा सींचित भूमि

अगता धान—लतरी या मटर या चना
ज्वार (चरी) या साँवा + उर्द—मटर या चना
ज्वार + अरहर—मूंग—गेहूँ
हरी खाद—जव या गेहूँ—साँवा—मटर

अतिरिक्त सींचित भूमि

अगता धान—मटर या चना अथवा चना + गेहूँ या मसूर या मटर + सरसों (चारा) या गेहूँ + आलू (खाद) या मेथा—गन्ना + मूंग।
मक्का—चना या चना + गेहूँ या आलू + जव (खाद) या जव + मटर या आलू + प्याज (खाद)
हरीखाद—गेहूँ + जव या गेहूँ।
चरी (दलहन चारे के साथ)—अगता मटर—गन्ना
सनई—गन्ना
मूंग—जव—साँवा + अरहर—गन्ना
अगता धान—मैथी या मटर (चारा)—गन्ना—हरी खाद—गेहूँ
ज्वार + अरहर—गन्ना (कतार में अरहर के साथ)—हरीखाद—गेहूँ
सनई (रेशा)—आलू (खाद)—मटर—गन्ना—हरी खाद—गेहूँ
हरी खाद—गेहूँ—मूँगफली—आलू या प्याज

जौनपुर में आलू, मक्का और तम्बाकू की खेती अधिक खाद देकर करते हैं।

(३) उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र

गोन्डा, गोरखपुर, बस्ती व देवरिया का निचला (दक्षिणी) आधा भाग से संयुक्त यह क्षेत्र भी बड़े महत्व का है। यहाँ पर गन्ने की खेती प्रचुर मात्रा में होती है। अन्य फसलों में साँवा, धान, अरहर, कोदो, गेहूँ, चना, जव, मक्का, मूंग तथा उर्द उल्लेखनीय हैं। यहाँ की अधिकतर मिट्टी चूने से परिपूर्ण है। अम्ल व क्षार की नाप (pH) ६·८-७·६ तक है जिससे पता चलता है कि मिट्टी या तो अम्लिक है अथवा सम। मिट्टी में पचास से अधिक चिकनी मिट्टी का रूप न होने से यह केवल दूमट ही कही जा सकती है जो कहीं पर हल्की दूमट और कहीं भारी दूमट है। इस भूमि में नत्रजन व पोटाश की मात्रा काफी है और कहीं-कहीं सम्पूर्ण फास्फोरिक एसिड की मात्रा भी काफी है परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता कि फास्फोरिक एसिड पौधों को पर्याप्त मात्रा में प्राप्य है। कुछ नवीन खोजों से गोरखपुर की मिट्टी की किस्म की पूर्णरूप से पता लगाने का प्रयत्न किया गया है जिसके अनुसार ये तीन श्रेणी की मानी गई हैं।

अ—वह मिट्टी जिसमें चूने व कंकड़ की मात्रा बहुत अधिक है और अम्ल या क्षार की मात्रा करीब सम या कुछ क्षारीय है। घुलनशील पदार्थों की मात्रा अधिक है। कैलशियम कार्बोनेट ३०-३५ प्रतिशत तक पाना आसान है। पानी का घोल लेने पर उसमें बाइकर्बोनेट व क्लोराइड की मात्रा अधिक होती है। इस जगह इस तरह की भूमि को "भाट" नाम से पुकारते हैं, इसमें सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती और वर्षा के जल से ही खेती हो जाती है। इसके अतिरिक्त दूसरी दो श्रेणियों को बांगर कहते हैं।

ब—वह मिट्टी है, जिसमें पदार्थों के घुल कर बह जाने के आसार झलकते हैं, जिसकी वजह से घुलनशील पदार्थ व चूना कम हो गया है। अम्ल या क्षार दोनों सम मात्रा में हैं, या क्षारीय हैं। इसमें जाड़े में पानी की सतह ८-१५ फीट तक पाई जाती है, जब कि भाट में ६-८ फीट पर ही पानी मिलता है।

स—अम्ल की मात्रा अधिक, चूना भी १ प्रतिशत से कम। घुलनशील पदार्थ अधिक मात्रा में बह गये हैं, जिससे उनका ह्रास आसानी से पता लग जाता है। मिट्टी के सूक्ष्म कण नीचे घुल कर पहुँच गए हैं। पानी जाड़े में १०-२० फीट पर मिलता है।

बाँगर भूमि को कूएँ से सींचते हैं। यदि ढाल के हिसाब से देखा जाय तो बाँगर (स) प्रकार की मिट्टी पश्चिम की तरफ और भाट प्रकार की मिट्टी पूरब में मिलती है, जब कि ढाल पश्चिम से पूरब की ओर है। बाँगर (ब) प्रकार की भूमि मध्य में स्थित है। इस उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र में वर्षा ४०-५०″ तक होती है।

यहाँ पर जो फसलों के चक्र किसान अपनाते हैं, वह अनुचित है। इस क्षेत्र में सस्ती खाद की भी अत्यन्त आवश्यकता है, विशेषतः पश्चिमी भाग

में। इसलिये यहाँ पर दोनों तरह के फसल के चक्र चलाने होंगे कि जिसमें खाद मिल सके और जिसमें खाद की आवश्यकता ही न हो। इस क्षेत्र के लिये उपयुक्त फसलों के चक्र नीचे दिये हैं।

वर्षा सिंचित भूमि

अगता धान—मटर + जव अथवा चना या मटर अथवा मटर—गन्ना

मूँग—गेहूँ + चना या जव + गेहूँ या जव + मटर।

हरी खाद—गेहूँ या जव या जव + मटर—कोदो + अरहर।

ज्वार + अरहर अथवा धान—मटर अथवा अरहर + कपास—हरी खाद—गेहूँ।

हरी खाद—गन्ना—गन्ना + प्याज (साथ में)

अरहर + कोदो + सावाँ—मूँग—गेहूँ या जव।

मक्का + अरहर—हल्दी—गन्ना (खाद)

अतिरिक्त सिंचित भूमि

धान—मटर।

हरी खाद—गेहूँ।

धान (रोपे)—लाही।

अगता धान—मटर—गन्ना।

हरी खाद—गेहूँ—धान—चना + गेहूँ।

धान—चना—हरी खाद—गेहूँ—मक्का—मटर।

४—पूर्वी-तराई क्षेत्र

इस क्षेत्र के अन्तर्गत लगभग कुल बहराइच और गोंडा, गोरखपुर, बस्ती, व देवरिया का उत्तरी-पूर्वी भाग है। यहाँ पर वर्षा ४५″—६०″ तक होती है। यहाँ की मुख्य फसलें धान, गेहूँ, मटर, चना, मूँग, सनई, अरहर, ढैंचा, मक्का, कपास, कोदो, गन्ना, मूँगफली, मसूर, तीसी, जव आदि हैं। भूमि बलवान, भारी तथा उत्पादन शील है। हिमालय के निचले हिस्से की हर भूमि को "माड़" के नाम से पुकारते हैं। यहाँ की मिट्टी अभी नई है और उसकी उत्पादन शक्ति स्थिर नहीं हुई है। कहीं-कहीं हरी खाद का प्रयोग अथवा परती का छोड़ना, या पेड़ी का रखना भी पाया जाता है। इसमें आवश्यकतानुसार सुधार व परिवर्तन करके कुछ चक्र दिये जा रहे हैं।

वर्षा सिंचित भूमि

मूँग या हरी खाद—गेहूँ।

अगता धान—चना।

धान—मटर या चना या मसूर—हरी खाद—गेहूँ।

धान—मटर—गन्ना

हरी खाद—गन्ना अथवा गेहूँ—कोदो + अरहर।

मक्का + अरहर—कपास—गेहूँ।

अरहर + कोदो या अरहर + कपास—हरी खाद—गेहूँ या जव।

अतिरिक्त सिंचित भूमि

धान—मटर या चना।

हरी खाद या लोबिया या मूँग—गेहूँ।

मक्का—चना।

हरी खाद—गेहूँ—धान—मटर।

कोदो + अरहर या ज्वार + अरहर — हरी खाद—गेहूँ।

मक्का + अरहर—कपास—गेहूँ।

हरी खाद—गेहूँ—कोदो + अरहर।

सनई—गन्ना।

अरहर + मूँगफली—गन्ना (खाद)

धान—मटर (चारा)—गन्ना (खाद) पेड़ी + अरहर।

धान—चना—हरी खाद—गेहूँ—मक्का—मटर।

हरी खाद—गन्ना—धान—मटर।

(५) बुंदेलखण्ड-क्षेत्र

झाँसी, बाँदा, हमीरपुर और जालौन जिलों को मिलाकर यह क्षेत्र उत्तर प्रदेश से दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यहाँ की मिट्टी माड़, काबड़ और पड़वा है। जो मिट्टी भारी किस्म की है उसे माड़ कहते हैं इसमें कार्बोनेट अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। जो हल्की किस्म की भूमि होती है उसकी गहराई कम होती है। इसमें पोटाश व चूना प्रचुर मात्रा में होता है लेकिन फास्फोरिक एसिड व नत्रजन की कमी होती

है। झांसी जिले में राकड़ नाम से पुकारी जाने वाली एक मिट्टी और होती है। यहाँ की काबड़, राकड़ या पड़वा में फास्फोरिक एसिड की कमी नहीं है। पोटाश भी काफी है और नत्रजन ०'०५% मिलता है। साधारणतः चिकनी मिट्टी, दूमट या हल्की दूमट को क्रमशः, काबड़, पड़वा और राकड़ कहते हैं। राकड़ में ३०-५०% तक पत्थर के टुकड़े सतह पर और नीचे भी मिलते हैं।

इस क्षेत्र में लगभग ३०-४०" वर्षा होती है और अधिकतर लोग एक ही शस्य साल में लेते हैं। जनसंख्या की कमी से धरती का उतना शोषण नहीं होता है। हेरफेर का मान व ध्यान किसानों को नहीं है। ढैंचा, ज्वार, बाजरा, तिल, अरहर, मूंग, उर्द, धान, चना, जव, गेहूँ, केसारी, मटर, तीसी आदि यहाँ पर बोते हैं। अधिकतर कठिया किस्म का गेहूँ या बांदा किस्म का चना रबी में बोते हैं। खरीफ में मालवा किस्म का ज्वार व तिल (राकड़) भूमि में पैदा करते हैं। धान झाँसी के बोलबेहाट व उड़वा-सागर क्षेत्र को छोड़कर बाकी जगह पर कम बोते हैं। धान वही बोते हैं जो १०० दिन में तैयार हो जाय जैसे टी ४३, टी २२ आदि। गन्ना व मूँगफली को बोने का प्रयास भी कहीं-कहीं किया गया है। हरी खाद का प्रयोग बहुत कम करते हैं। यहाँ पर गेहूँ + चना या ज्वार + अरहर या अरहर + मूँगफली —गन्ना अथवा बरसीम या लोबिया १ को बोने का प्रयत्न करना लाभदायक है। कपास की खेती में पानी की कमी होने से देर हो जाती है। वर्षा के साथ ही बोया जा सकता है लेकिन इसमें एक कठिनाई यह हो जाती है कि बाद में ठंड जल्दी आरम्भ हो जाने से फूल के खुलने में कठिनाई होती है और इस शस्य की खेती में बेहद हानि हो जाती है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर पानी का रुकना व खरपतवार जो कि बहुतायत से होते हैं कपास को हानि पहुँचाते हैं। कबरी और माड़ भूमि में पानी सितम्बर तक भरा रहता है जिससे उन्हें जोत में लाना कठिन हो जाता है। पड़वा भूमि में हरी खाद दी जा सकती है। खाद और सिंचाई की बेहद कमी है। भूमि में ढाल भी अधिक है। झाँसी में तो कहीं-कहीं मील पीछे ३० फीट ढाल मिलता है। इस कारण जुलाई से सितम्बर में जो वर्षा होती है उससे भूमि क्षरण भी बहुत होता है। कांस जो काबड़ भूमि में अधिक मिलता है और जिसकी जड़ ६ फीट की गहराई तक पहुँच जाती है एक भयानक कठिनाई का कारण है। इसे दूर करने के लिये सबसे उत्तम उपाय बांध बना कर पानी भर देना है। इससे कांस से भी उद्धार हो जायगा तथा बहुत काफी जीवांश भी मिल जावेगा।

इस क्षेत्र में भूमि का परती रहना और बाद में भूमि को निर्बल बना देने वाली फसल को उगाना एक प्रचलित प्रणाली है। इसे रोकना आवश्यक है। परती भूमि में लोबिया टी १ या मूँग टी १ का बोना भी लाभदायक होगा, चकवड़ जैसे अन्य खरपतवार से कम्पोस्ट खाद बना ली जा सकती है। टाउन कम्पोस्ट खाद से भी यहाँ की फसलों में अच्छी उपज हुई है, इसका प्रयोग बढ़ाना चाहिये।

वर्षा सिंचित भूमि

अगता धान—गेहूँ + चना अथवा केसारी अथवा केवल चना।

धान—चना—लोबिया—गेहूँ + चना।

ज्वार + अरहर + मूंग + उर्द—मूँग या हरीखाद—गेहूँ या जव।

ज्वार + अरहर—लोबिया या मूंग (पड़वा भूमि में)

अतिरिक्त सिंचित भूमि

पिछड़ा धान—बरसीम।

ढैंचा—गेहूँ—धान—चना।

बाजरा—चना—हरीखाद—गेहूँ या जव।

मूंग या लोबिया—आलू—हरीखाद—गन्ना।

अरहर + उर्द—गन्ना—पेड़ी + मूंग।

हरीखाद—गन्ना—पेड़ी + मूंग—गेहूँ।

(६) केन्द्रीय-क्षेत्र

इस क्षेत्र में हरदोई, सुलतानपुर, लखनऊ, बाराबंकी, उन्नाव, कानपुर, रायबरेली, सीतापुर, फैजाबाद,

फतेहपुर, प्रतापगढ़ आदि जिले शामिल हैं। यहाँ की मिट्टी हल्की दूमट से दूमट है और अम्ल व क्षार की दृष्टि से सम हैं। पौधों के हर तत्व प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं केवल नत्रजन की कमी मिलती है। २५″ से ६०″ तक वर्षा होती है हरी खाद का प्रयोग कम होता है क्योंकि वर्षा अनियमित है। परन्तु फसलों के हेर-फेर में दलहन का विशेष स्थान है। यहाँ की प्रमुख फसलें ढैंचा, सनई, गेहूँ, बाजरा, ज्वार, धान, मक्का, अरहर, मूंग, आलू, गन्ना, जव, मटर आदि हैं। सिंचाई वाले स्थानों में मूंग टी १ धान के पहले लेते हैं। अन्न के बाद अन्न व गेहूँ के बाद मक्का जैसी छिछली जड़ वाले शस्य का उगाना बन्द करना ठीक होगा। इस क्षेत्र के लिये फसलों का चक्र नीचे दिया जाता है।

वर्षा सिंचित भूमि

अगता धान—चना या मसूर।
पिछड़ा धान—चना या केसारी या मटर।
धान (रोपे)—लाही।
मूंग—गेहूँ अथवा उर्द गेहूँ।
धान—चना या मटर—हरीखाद—गेहूँ या जव।
चरी—चना—हरीखाद—गेहूँ या जव।
अरहर या ज्वार+काकुन—हरीखाद—गेहूँ।

अतिरिक्त सिंचित भूमि

हरीखाद—गेहूँ।
मक्का+मूंग—गेहूँ—चना।
मूंगफली—गन्ना—मूंग (हरीखाद)
हरीखाद—आलू (अगता)—प्याज।
धान—मटर—गन्ना (खाद)
धान—मटर—हरी खाद—गेहूँ।
धान—मटर—गन्ना—मूंग—गेहूँ या जव।
धान—मटर—गन्ना (खाद)—पेड़ी की (खाद)।
उर्द—गन्ना (खाद)—मूंग—गेहूँ+चना या जव+गेहूँ
हरीखाद—गन्ना—ज्वार+अरहर।
चरी—मटर—गन्ना (खाद)—पेड़ी—बरसीम।

(७) पश्चिमी व दक्षिणी—पश्चिमी क्षेत्र

उत्तर प्रदेश के इस क्षेत्र में सहारनपुर, बिजनौर, मुरादाबाद, इटावा, फरुखाबाद, शाहजहाँपुर, रामपुर, बरेली व पीलीभीत के कुछ भाग, मुजफ्फरनगर, मेरठ, बुलन्दशहर, अलीगढ़, मथुरा, आगरा, मैनपुरी, एेटा, बदायूँ आदि जिले हैं। मुरादाबाद, मेरठ, मुजफ्फरनगर, आगरा, इटावा व मथुरा, की भूमि में नत्रजन की मात्रा अधिक है परन्तु फास्फोरिक एसिड कम है। चूना ०·४-१ प्रतिशत पाया जाता है। आगरा, मथुरा व इटावा में पानी की सतह बहुत नीची है और यहाँ पर लगभग रेगिस्तान की सी हालत है जिसके फलस्वरूप पौधे आदि कम हैं तथा भूमिक्षरण विकटरूप से है। कहीं-कहीं बंजर भूमि भी पाई जाती है। वर्षा २५″–४५″ तक होती है। प्रमुख फसलें गेहूँ, धान, गन्ना, मटर, मक्का, प्याज, जव, टमाटर, कपास, ग्वार, तिल, तम्बाकू, बरसीम, आलू, मूंगफली, उर्द, अरहर, लाही, मूंग, मेथी, चना, मसूर, सनई, लोबिया, ज्वार, बाजरा आदि हैं।

वर्षा-सिंचित भूमि

धान—चना या मसूर अथवा जव+मटर
बाजरा+उर्द—जव+चना या गेहूँ+चना
मक्का—चना या मटर
ज्वार या ग्वार—चना या मटर या जव+मटर
ज्वार+अरहर—धान—चना
चरी+ग्वार—चना—मूँगफली—गेहूँ
उर्द+बाजरा—चना या गेहूँ+चना
कोदो—मटर—मूँग—गेहूँ—ज्वार—अरहर

अतिरिक्त सिंचित भूमि

धान—मटर या तिल्ली या बरसीम
ज्वार+ग्वार+लोबिया या मूँग या हरीखाद—गेहूँ
कपास या कपास+उर्द—मटर
मूँग—आलू अथवा मूँग—गेहूँ
मूँगफली—आलू

ज्वार—बरसीम—मूगफली
मक्का (खाद)—चना या आलू (खाद)—तम्बाकू (खाद)
बाजड़ा + अरहर या बाजड़ा—मटर या चरी—चनाया कपास—चना या धान—मटर या गन्ना या हरी खाद—गेहूँ
कपास—मेथी या मटर—गन्ना अथवा मक्का—मटर या चना
ग्वार—गन्ना
धान—बरसीम—अरहर—मूँगफली
हरीखाद या धान—गन्ना
हरीखाद—गेहूँ—मक्का (खाद)—आलू
धान—मटर या चना या मसूर—गन्ना—हरी खाद – गेहूँ
धान—बरसीम—चरी (दलहन के साथ)—गन्ना (खाद)
हरीखाद—गन्ना + मटर चारा—कपास + उर्द अथवा चरी + दलहन
ज्वार + ग्वार — चना — हरीखाद — गेहूँ—कपास—मटर
ग्वार—आलू—गन्ना (खाद)—पेड़ी (खाद)—मूँग
कपास—मेथी—गन्ना—हरीखाद—गेहूँ
हरीखाद—मेथी—गन्ना—पेड़ी—ग्वार—गेहूँ
चरी—चना—हरीखाद—गन्ना—मूँग—गेहूँ

(८) पश्चिमी-तराई क्षेत्र

इसके अन्तर्गत सहारनपुर, बिजनौर, नैनीताल, मुरादाबाद, रामपुर, बरेली, पीलीभीत, खेरी और शाहजहाँपुर के कुछ-कुछ भाग आते हैं। हिमालय के नीचे की सभी भूमि जहाँ पर जंगल हैं मार के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ की मिट्टी सतह पर हलकी दूमट है और अम्ल की तरफ ही झुकाव है। चूना ०·५५ प्रतिशत से कम है और ५% कैलाइयम आक्साइड मिलता है। फास्फोरस कम तथा पोटाश अधिन मात्रा में है नत्रजन की मात्रा ०·६५—१·० प्रतिशत है। इन मिट्टी की अधिक जाँच अभी तक नहीं हुई है। वर्षा ४५″—६०″ तक होती है।

जो फसलों का हेर-फेर इस क्षेत्र में है उसमें कुछ गल्तियाँ हैं। कुछ चक्र भूमि की बहुत शोषण करते हैं। कुछ में दो फसलों के बीच में बहुत दिनों तक परती रह जाती है इसमें जल्दी पकने वाली जातियाँ, हरी खाद का प्रयोग व मूंग या लोबिया जैसी जल्दी होने वाली फसलों को हेर-फेर में लाना आवश्यक है।

वर्षा-सिंचित भूमि

धान—चना या मटर या चना + लाही।
अगहनी धान—जव + मटर या जव + चना।
अ० धान या जूट—मटर या लतड़ी या मेथा (पानी भरी जगह में)।
ज्वार—चना अथवा धान—चना अथवा मक्का-चना अथवा ज्वार—मसूर।
ज्वार + लोबिया या मूंग—जव।
मक्का—चना + सरसों।
कपास—मसूर या चना या मेथा।
हरी खाद—लाही—मक्का—चना या गन्ना।
धान—चना मसूर—हरीखाद—गेहूँ।
ज्वार + अरहर—धान—चना।
चरी—चना—हरीखाद—गेहूँ।
ज्वार—मसूर—ढैंचा—जई।
हरी खाद—गेहूँ—हरीखाद—लाही अथवा मक्का—चना + लाही।
धान—गन्ना—मेथी या मटर (चारा)—हरी खाद—गेहूँ या गन्ना।
धान—चना—हरी खाद—गेहूँ—मक्का—चना।
हरी खदा—गेहूँ—उर्द + ज्वार—गन्ना।
मक्का—लाही + चना—गन्ना (खाद)—पेड़ी (खाद)—मेथा।
हरी खाद—गन्ना—पेड़ी—मेथा—धान—मसूर—गन्ना

अतिरिक्त सिंचित भूमि

धान (रोपे)—मसूर लाही + चना या लाही + अगता
धान—चना या मटर या लतड़ी।
अगहनी धान—बरसीम या धनिया—मक्का।
मूंग टी १—धान—बरसीम या मसूर।
धान—बरसीम—मक्का

मूंग टी १ या लोबिया या हरी खाद—गेहूँ।
कपास—मटर या चना + लाही या मेथा
ज्वार + अरहर + सनई—गन्ना
हरी खाद—चना + गन्ना।
अगता धान—चना + लाही या मसूर—बाजरा + उर्द—गेहूँ + चना।
धान—मटर (चारा)—गन्ना (खाद)।
धान—बरसीम—चरी—चना या मसूर।
अरहर + मूँगफली—गन्ना।
ज्वार—चना—हरी खाद—गेहूँ।
धान—मसूर—हरी खाद—गेहूँ या गन्ना (खाद)।
अगता धान—अगती मसूर—गन्ना—हरी खाद—गेहूँ या जव।
मूँगफली—गन्ना + अरहर—हरी खाद—गेहूँ
हरी खाद—गन्ना (खाद)—पेड़ी (खाद)—मूँग—गेहूँ।

(९) पहाड़ी-क्षेत्र

अलमोड़ा, गढ़वाल, देहरादून व नैनीताल के जिलों से युक्त यह क्षेत्र पहाड़ी है। यहाँ पर भूमि समतल नहीं है, सिंचाई की व्यवस्था भी कठिनता से होती है तथा वर्षा अनियमित है। वार्षिक वर्षा २०″—७०″ तक होती है। भूमि पथरीली है तथा कई दल की मिलती है। अलमोड़ा में जहाँ पर भूमि की कुछ खोज की गई है बलुई तथा पथरीली भूमि ४५° से अधिक ढाल वाले स्थानों में पाई जाती है। इनके नीचे की भूमि भी हल्की है जिससे इस भूमि में पानी नहीं रुकता और नमी नहीं बनी रहती है। जहाँ पर भूरी वन वाली भूमि है उसमें पौधों की बाढ़ अच्छी होती है बाकी में पौधे जल्दी ही सूख जाते हैं व पत्तियाँ गिर पड़ती हैं। देहरादून की भूमि में पोषक पदार्थों की कमी नहीं है और दूमट होने के कारण नमी भी अधिक बनी रहती है। यहाँ की प्रमुख फसलें मक्का, तम्बाकू, कोदो, झिंगोरा, काकुन, गेहूँ, साँवा, मड़ुआ, आलू, जव, मटर तथा धान है। शस्यों के हेर-फेर में यहाँ बड़ी ढिलाई है। इसका प्रमुख कारण भूमि को पोषण करने वाले शस्यों की कमी हो सकती है। इस क्षेत्र में एक फसल को बार-बार या एक के बाद दूसरी उसी तरह की फसल को लेना एक प्रथा सी हो गई है। इस प्रथा को सही पथ पर लाना आवश्यक है। सिंचाई वाले स्थानों (घाटियों) में इसी खाद का उपयोग या बरसीम जैसी दलहन का प्रयोग करना चाहिये। पानी न मिलने वाले स्थानों में उन फसलों को लेना चाहिये जो वर्षा जल या भूमि की नमी से ही तैयार हो जावें। इसके अतिरिक्त हर जिले में अपनी विशेष समस्या है। नैनीताल में खाद की अनभिज्ञता, अलमोड़ा में सिंचाई की कमी (३-४% मात्र) है। गहरी जड़ों वाली शस्य अनुपयुक्त हैं क्योंकि भूमि छिछली है। यातायात की कमी भी फसलों के बोने पर नियन्त्रण करती है। गढ़वाल की मिट्टी अनुपजाऊ है। भूमि क्षरण की मात्रा विशेष है। खाद की कमी, सिंचाई की कमी और खेती के औजार का अनुपयुक्त होना भी खेती को धक्का पहुँचाती है। प्रति एकड़ पैदावार कम है, तथा खेत कम और तितर-बितर हैं। दाल व धान पैदा कर सकते हैं पर ऊपर लिखी बातों, तथा कोहरा, ठंड आदि पड़ जाने से भाव चढ़ जाता है और किसान को लाभ की आशा नहीं रहती है।

वर्षा-सिंचित भूमि

हरी खाद (भाट या लोबिया से)—गेहूँ।
उर्द + झिंगोरा या मड़ुआ या काकुन या सांवा—गेहूँ।
लोबिया या उर्द + मक्का—जव।
धान—गेहूँ + मटर—धान—मसूर।
मड़ुआ—थोर—गेहूँ।

अतिरिक्त सींचित भूमि

धान—सेम या बोड़ा या मटर।
सनई—गेहूँ।
आलू—चना या मटर।
धान—मटर या बरसीम—गन्ना।

ऊपर दिये सभी चक्र में इस बात का ध्यान

रखा गया है कि उस क्षेत्र की फसलें सम्मिलित हों। कहीं-कहीं पर कुछ फसलें अवश्य छूट गई होंगी व किसी के अधिक चक्र दिये गए हैं। किसान अपनी इच्छानुसार उसी ऋतु में होने वाली अन्य फसलों का समावेश कर सकते हैं।

फसलों के चक्र का यह विवरण देने के उपरान्त यह कह देना अनुचित होगा कि ऐसे स्थान में जहाँ भूमि व जलवायु के विचार से भूमि को अवकाश देने की आवश्यकता हो उसे अवश्य देनी चाहिये।

कभी-कभी किसी खेत में खर-पतवार इतने अधिक हो जाते हैं कि भूमि की वर्षा के उपरान्त जोत कर या फावड़े से खोद को सूखने के लिये छोड़ देते हैं। कभी-कभी काँस का विनाश करने को पानी भर कर छोड़ने से लाभ होता पाया गया है, फिर जिस स्थान में पानी की बहुत कमी हो वहाँ पर खेत को परती रखना और सूखी पत्तियों आदि से ढंक देना भी लाभदायक सिद्ध हुआ है।

कभी-कभी यह देखा गया है कि भूमि को अवकाश देने से धान की खेती अच्छी होती है, लेकिन यह सीमित अवस्था में होता है, जबकि नाइट्रेट को बनाने वाले कीटाणु उस अवस्था में अधिक कार्यशील हो जाते हैं।

ध्यान रहे कि यदि वर्षा हो जाती है तो नाइट्रेट लुप्त हो जाते हैं तथा फिर से हवा के संयोग से काम करने वाले कीटाणु शान्त हो जाते हैं और भूमि का उचित पोषण नहीं हो पाता है। इस विचार से भूमि को परती रखना भी लाभकारी होता है, पर ऐसा बहुत कम होता है। इस लेख में हरी खाद को प्रयोग में लाने की परामर्श दी गई है। वहाँ कौन-सी पौधे को काम में लावें, यह पिछले लेख (विज्ञान-८४, २ नवम्बर १९५६ से पता लगाई जा सकती है। हरी खाद की पौधे को फास्फोरस देकर पैदा करने से लाभ कई गुना अधिक होता है। इससे जहाँ कहीं भी सम्भव हो किसान उसे जरूर अपनावें। कृषि का ध्येय पौधे की उत्पादन की क्षमता बढ़ाना ही नहीं वरन् भूमि की उत्पादन-शक्ति का विकास एवं चिर-स्थायी रखना समझ कर कृषि की प्रणाली में अन्तर करना धरती के पोषण का पहला पग है और इस हेतु फसलों के चक्र का योग महान है।

ही कहा जा सकता है। जितना भयानक रूप होता है उतना ही भयानक इनका कार्य भी होता है। इन का प्रसार अफ्रिका के लगभग उन सब भूभागों में है जहाँ नाग वंशी सर्प पाये जाते हैं। लंबाई की तुलना में इनका शरीर अधिक स्थूल होता है और सिर बहुत चौड़ा होता है। विषदंत बड़े विशाल होते हैं। ये विद्यु त वेग से विषदंत का प्रहार करते हैं। पफ ऐडर (बाइटिस एर्येटेंस) जाति का सब से अधिक प्रसार पाया जाता है। इसकी लंबाई साढ़े चार फुट तक होती है जो नौ इंच घेर या मोटाई का हो सकता है। "बाइटिस कोरनूटा" जाति के सर्प में प्रत्येक नेत्र के ऊपर सींग समान उभाड़ बने होते हैं। कई नोकीले शल्क जुट कर इसकी लंबी सी सींग बनाते हैं। गैबून वाइपर नाम का प्रसिद्ध भयानक सर्प भी बाइटिस प्रजाति का होता है।

गैबून मंडली (बाइटिस गैबोनिका) संसार का सबसे भयावह दिखाई पड़ने वाला सर्प है। एक चार फुट लंबे गैबून मंडली का बदन तीन इंच व्यास की गोलाई का हो सकता है और उसका सिर चार अंगुल की चौड़ाई (एक चवे) के बराबर होता है। किन्तु इसका मोटा बदन पीछे की ओर अकस्मात पतला हो कर कुंद बना होता है। आगे भी गर्दन पतली बन गई होती है जिस से सिर बहुत चौड़ा और डरावना दिखाई पड़ता है। इसके बदन का रंग सुन्दर और चित्रण व्यवस्थित होने पर भी इसकी भयानकता बढ़ाते ही हैं। वह तो जादूगरनी के ताने-बाने सा ही दृश्य प्रदर्शित करते हैं। पीठ पर ठीक दीर्घवृत्तीय रूप के लाल भूरे रंग के धब्बों की श्रृंखला होती है जो गहरे भूरे रंग के अंडाकार घेरे से घिरे होते हैं और इसके भी ऊपर नीले लाल रंग के चिन्हों की श्रृंखला होती है। पार्श्व भाग में नीलारुण (नीले लाल) या गहरे भूरे रंग के त्रिकोणीय धब्बे होते हैं जो ऊर्ध्वमुखी होते हैं। इन सब चित्रणों की पृष्टभूमि स्पष्ट रूप के हल्के गुलाबी भूरे रंग की होती है। प्रत्येक नेत्र के नीचे एक गहरे भूरे रंग का धब्बा प्रारंभ होता है और नीचे तथा पीछे की ओर जबड़ों तक पहुँच कर त्रिकोण का निर्माण करता है। आखों का रंग रूपहला होता है। कुछ गैबून में नाक के ऊपर इकहरी सींग और कुछ में दो फंकीय सींग होती है।

मंडली और गर्त्त मंडली सर्पों में रक्त-विनाशक विष की प्रधानता होती है। नई दुनिया के उष्ण कटिबन्धीय कर्कर (झिनझिनिया) सर्प ही इसके अपवाद हैं किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि गैबून मंडली सर्पों में वंश की विशेषता वाला तन्तु और रक्तविनाशक विष ही उत्पन्न नहीं होता। बल्कि नागवंशी सर्पों की विशेषता वाला स्नायुनाशक विष भी उत्पन्न करने की भी वैसी ही शक्ति होती है। पूरी तरह विषदंत गड़ाने के स्थान पर उसकी साधारण खरोंच से भी घातक प्रभाव हो सकता है।

बाइटिस प्रजाति में ही नेसिकार्निस जाति का सर्प गैबून से भी अधिक घातक कहा जाता है। इसे गंडक मंडली भी कहते हैं। यह नदियों के किनारे पाया जाता है। इसलिए सरिता मंडली भी कहा जा सकता है। इसका बदन भी गैबून की तरह स्थूलकाय होता है। परन्तु सिर छोटा और पतला होता है। किन्तु थूथन पर दो ऊँची सींगें इसका विकराल रूप बनाती हैं। उनके आधार में कभी-कभी अन्य छोटी सींगें भी होती हैं। यह सर्प चार फुट तक लंबा होता है।

मरुस्थलीय मंडली सर्प भी सहारा में होते हैं। वे दो फुट तक लंबे होते हैं। उन का रंग मटमैला पीला या हल्का गुलाबी या बलुहा होता है। एक बलुहा मंडली श्रृङ्गीय (सिरेस्टीज कौरनूटर) सर्प होता है। इसके प्रत्येक आँख के ऊपर सींग बनी होती है। यह सर्प ढाई फुट लंबा होता है।

क्षुप मंडली सर्प (एथेरिस) की कई जातियाँ अफ्रिका में पाई जाती हैं। इनकी लंबाई एक गज होती है और हरा रंग होता है।

एट्रैकोस्पिस प्रजाति के मंडली सर्प डेढ़ दो फुट लंबे होते हैं। ये दुबले और लंबे होते हैं। विषदंत छोटे होते हैं जो छोटे शिकारों के लिए बने होते हैं। इनमें नेत्र छोटे होते हैं और दृष्टि दुर्बल होती है।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)
२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ।।।=)
३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)
४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८) । इस पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।
५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)
६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)
७—निर्णायक डिटमिनैंटस—प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ।।)
८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)
९—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)
१०—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)
११—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; (अप्राप्य)
१२—वायुमंडल डाक्टर के० बी० माथुर, २)
१३—लकड़ी पर पालिश डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २) (अप्राप्य)
१४—कलम पेवंद ले० श्री शंकरराव जोशी; २)
१५—जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)
१६—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)
१७—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—(अप्राप्य)
१८—वायुमण्डल का सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ।।)
१९—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती; मूल्य ।।।)
२०—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),
२१—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २।।)
२२—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । मूल्य ४)
२३—मधु मक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान; ३)
२४—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)
२५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३।।)
२६—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३।।)
२७—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)
२८—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ।।।)
२९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)
३०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २।।)

अन्य पुस्तकें

१—विज्ञान जगत की झाँकी (डा० परिहार)		२)
२—खोज के पथ पर (शुकदेव दुबे).		।।)
३—विज्ञान के महारथी (जगपति चतुर्वेदी)		२)
४—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ	(,,)	१।।)
५—हमारे गाय बैल	(,,)	।।)
६—मवेशियों के छूत के रोग	(,,)	।।)
७—मवेशियों के साधारण रोग	(,,)	।।)
८—मवेशियों के कृमि-रोग	(,,)	।।)
९—फसल-रक्षा की दवाएँ	(,,)	।।)
१०—देशी खाद	(,,)	।।)
११—वैज्ञानिक खाद	(,,)	।।)
१२—मवेशियों के विविध रोग	(,,)	।।)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

Reg. No. A 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री,दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तक उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० देवेन्द्र शर्मा
सहायक संपादक— जगपति चतुर्वेदी

मुद्रक—श्री सरयू प्रसाद पांडेय, नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग तथा प्रकाशक—डा० रामदास तिवारी प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद।

इस अंक के कुछ लेख

विज्ञान का लक्ष्य : प्रकृति परिचय

मंगल-ग्रह पर जीवन

धरती की आयु और विकास

अगले अंक के लेख

कृत्रिम तारे—डा० सत्य प्रकाश

सरीसृपों का युग—जगपति चतुर्वेदी

भाग ८४

संख्या ४

जनवरी १९५७ मकर २०१३

प्रति अङ्क छः आने

वार्षिक मूल्य चार रुपये

विषय-सूची

१—विज्ञान का लक्ष्य : प्रकृति परिचय	.....	प्रो० तोताराम शर्मा	९७
२—धरती का पोषण	.....	डा० अमरसिंह प्राध्यापक, कृषि वनस्पति शास्त्र विभाग, प्रयाग वि० वि०	१०१
३—मंगल-ग्रह पर जीवन	.....	श्री हरिभगवान एम० एस-सी०, विज्ञानरत्न रसायन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय,	११२
४—धरती की आयु और विकास	.....	जगपति चतुर्वेदी	११५
५—विज्ञान-समाचार	.....		१२४
६—समालोचनायें	.....	कृष्ण जी	१२८

—:०:—

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ८४	मकर २०१३; जनवरी १९५७	संख्या ४

विज्ञान का लक्ष्य: प्रकृति परिचय

प्रो० तोताराम शर्मा

ज्ञान का सरल और सीधा अर्थ जानना, जाना या पहुँचना[1] है। उपयुक्त साधनों द्वारा ज्ञाता का ज्ञेय तक पहुँचना ही ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञेय और करण (ज्ञान के साधन) ज्ञान के तीन[2] मुख्य अंग हैं। करणों के अनुसार ज्ञान के, प्रत्यक्ष और परोक्ष, दो भेद हो जाते हैं। आँख, कान नाक आदि पाँच बाह्येन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष और उनकी पहुँच से परे का अन्तःकरण[3] जन्य ज्ञान परोक्ष

१—हिन्दी भाषा में 'पहुँचा हुआ' पद उस विशेष ज्ञानी के लिए प्रयुक्त होता है जो अपनी असाधारण प्रतिभा से ज्ञेय के ऐसे अगोचर भाग में पहुँच सकता है जहाँ साधारण मनुष्य की गम्य नहीं। संस्कृत भाषा का ऋषि पद भी, ऋ = गतौ धातु से बना होने से, ज्ञान की गतिशीलता की ओर संकेत करता है।

२—कुछ प्राचीन और अर्वाचीन विचारकों के मत में ज्ञाता और ज्ञेय का सीधा सम्बन्ध सम्भव होने से ज्ञान के तीसरे अंग, करण की आवश्यकता अनिवार्य नहीं।

३—भारतीय मनीषियों ने अन्तःकरण के ४ भाग मानना इसलिए आवश्यक समझा है कि इन्हीं के आधार पर हम विभिन्न मनुष्यों की ज्ञानोपार्जन सम्बन्धी योग्यता के भेद को समझ सकते हैं। अन्तः करण के ४ भेद ये है:—१ मन जो ज्ञाता की जिज्ञासा को ज्ञानोपार्जन में प्रेरित करता है। २ चित्त-हमारी स्मरण शक्ति का आधार है स्मरण शक्ति के अभाव में हमारा सम्पूर्ण जीवन क्षणस्थायी होगा। यह चित्त हमारे जीवन के स्थायित्व का मूलाधार है। ३ बुद्धि, जिससे हम अपनी भूत और बर्त्तमान अनेक अनु-भूतियों की तुलना करते और उनमें से सामान्यताओं और विशेषताओं को अलग-अलग देखते हैं। उन्हीं सामान्यताओं और विशेषताओं के आधार पर हम अपने परम जटिल प्रत्यक्ष को सरलतम परोक्ष का रूप देने में समर्थ होते हैं। हमारी यही बौद्धिक प्रक्रिया विचार कहाती है। ४ अहंकार, जिसके ऊपर ज्ञाता के विचार करने की क्षमता और उसका प्रकार निर्भर है। मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का आधार यह अहंकार ही माना गया है। जहाँ सात्विक अहंकार वाला ज्ञान-विज्ञान में विशेष रुचि रखता है वहाँ राजस अहंकारी कर्मठ जीवन पसन्द करता है तथा तामस अहंकार के वशीभूत हो हम ज्ञान और कर्म दोनों से अलग रहते हुये सुख और चैन का जीवन चाहते हैं।

है। बाह्य इन्द्रियों के व्यापार को वेदना तथा अन्तः करणों के व्यापार को विचार कहते हैं। अतः प्रत्यक्ष का आधर वेदना और परोक्ष का विचार है। प्रत्यक्ष मनुष्य और पशु का लगभग समान प्रतीत होता है। परन्तु परोक्ष मनुष्य की विशेषता[४] है, क्योंकि यह परोक्ष मननशीलता का फल है और मननशीलता मनुष्य का विशेष धर्म[५] है। ज्ञान के इस विभाजन के साथ क्षेत्र के भी दो भेद, गोचर और अगोचर[६] किये गये हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद—बाह्येन्द्रियावलम्बी होने से हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान का इन्द्रियों के नीचे दिये दोषों से प्रभावित होना स्वाभाविक है :—

(क) हमारी इन्द्रियाँ एक दूसरी से सर्वथा भिन्न होने से एक के द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष दूसरी के प्रत्यक्ष से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। 'गिरा अनयन नयन बिनु वाणी' के अनुसार वाणी का प्रत्यक्ष, शब्द, नेत्र के प्रत्यक्ष रूप से नितान्त भिन्न है। नाक के यंत्र के प्रत्यक्ष और जीभ के स्वाद के प्रत्यक्ष में कोई समानता दिखाई नहीं देती।

(ख) हमारी इन्द्रियों की सामर्थ्य अति सीमित है। इसलिए उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान का क्षेत्र भी सीमित है। वर्त्तमान विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रकाश के अथाह सागर में जहाँ हमारी आँख लगभग अन्धी है, शब्द सागर में वहाँ हमारे कान भी लगभग बहरे हैं, यह कल्पना करना कठिन नहीं कि यदि हमारी इन्द्रियों की सामर्थ्य दस बीस गुना अधिक होती तो यह गोचर जगत कितना भिन्न भासता ? जिसे अब हम निबिड़ अंधकार कहते हैं वह अनेकों अनोखे रङ्गों के प्रकाश से जगमगाता दिखाई देता और जो नितान्त नीरवता प्रतीत होती है वह अपूर्व नाद से निनादित सुनाई पड़ती।

(ग) इंद्रियों की संख्या भी सीमित है, इसलिए हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान का क्षेत्र भी इन्हीं तक सीमित है। जन्म के अंधे और बहरे के प्रत्यक्ष ज्ञान का क्षेत्र जिस प्रकार हमारी अपेक्षा बहुत सीमित है उसी प्रकार हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान का क्षेत्र भी उन प्राणियों के ज्ञान-क्षेत्र की अपेक्षा सीमित समझना चाहिये जिन्हें १० या १५ इंद्रियाँ मिली हों। इस विचार के अनुसार हम (ज्ञाता) इस शरीर रूपी कारागार में बन्दी के समान हैं और इसलिए कारागार की ५ खिड़कियों से झाँक कर ही बाह्य जगत का थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। यदि हम इन इंद्रियों का आश्रय छोड़ सकते तो हम ज्ञेय का अधिक पूर्ण और और अधिक निर्दोष ज्ञान प्राप्त कर सकते। क्या योगीजन ऐसा करने में समर्थ नहीं ?

(घ) इंद्रियों का प्रत्यक्ष प्रायः निभ्रान्त नहीं होता नौकारोही को नदी तट के वृक्षादि अचल पदार्थों का चलते भासना और सूर्यादि तारों का पृथ्वी की प्रदक्षिणा करते प्रतीत होना हमारे प्रत्यक्ष की भ्रांति के प्रसिद्ध उदाहरण हैं। मृगतृष्णा का दृश्य हमारे दृष्टिभ्रम का दूसरा उदाहरण है।

कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि वर्त्तमान विज्ञान प्रत्यक्षवादी है। परन्तु यदि प्रत्यक्ष का उपरोक्त अर्थ, अर्थात् इंद्रियजन्य वेदना रूप ज्ञान, किया जाय तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि न केवल वर्त्तमान विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान वरन् हमारा लगभग सभी ज्ञान अप्रत्यक्ष या परोक्ष है। न केवल मनुष्य का ही लगभग सारा ज्ञान अप्रत्यक्ष है, वरन् पशुओं का भी अधिकांश ज्ञान ऐसा ही है, क्योंकि पहिले प्राप्त हुई अनुभूतियों की स्मृति उनके वर्त्तमान ज्ञान और व्यवहार को प्रभावित करती हैं। प्रत्यक्ष तो क्षणस्थायी ही होता है।

४—ऐतरयोपनिषद् के 'परोक्ष प्रिया हि देवाः' के अनुसार परोक्ष प्रिय होना मनुष्य (देव का लक्षण है।

५—पदार्थ के वे गुण या उसके व्यवहार के वे सुनिश्चितनियम जिनसे इसकी ठीक-ठीक पहचान हो सके उस पदार्थ का 'विशेषधर्म' कहाते हैं। इस अर्थ में ही मननशीलता मानव धर्म है।

६—इंद्रियों को संस्कृत भाषा में 'गो' भी कहा जाता है। इसलिए इंद्रियों की पहुँच के भीतर का प्रत्यक्ष भाग गोचर और उनकी पहुँच से परे का परोक्ष भाग अगोचर है।

इंद्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान के उपरोक्त अनेक दोषों को ध्यान में रखते हुए ही विचारकों ने बुद्धि आदि अन्तः करणों द्वारा प्राप्त परोक्ष ज्ञान को अपेक्षाकृत निर्दोष समझा। प्राचीन विचारकों ने इंद्रियों के दोषों को ध्यान में रखते हुए जहाँ उन्हें निर्दोष ज्ञानोपार्जन के लिए अनावश्यक समझा, वर्त्तमान वैज्ञानिकों ने इंद्रियों के स्थान पर अपेक्षाकृत निर्दोष यंत्रों का प्रयोग आवश्यक माना।

ऊपर यद्यपि दिखाया जा चुका है कि परोक्ष ज्ञान का आधार विचार है, परन्तु यह भी भले प्रकार समझ लेना चाहिये कि कोई भी विचार विना प्रत्यक्ष की सहायता के संभव नहीं। प्राचीन विचारकों के विचार का आधार जहाँ सदोष इंद्रियों का प्रत्यक्ष था वर्त्तमान विज्ञान के विचार का आधार निर्दोष उपकरणों द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष है।

प्रत्यक्ष ज्ञान का मौलिक स्वरूप उसका भेदमय होना है। उपकरणों द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष भी भेदमय ही है। यद्यपि इंद्रियों द्वारा जाने प्रकार भेद को उपकरणों द्वारा जाने हुए आधार-भेद में परिणत कर दिया गया है, परन्तु भेद बना ही हुआ है। परोक्ष ज्ञान का वास्तविक स्वरूप उसका अभेदमय होना है। क्योंकि परोक्ष ज्ञान का लक्ष्य प्रत्यक्ष अनेकता या जटिलता में एकता या सरलता स्थापित करना है। इसलिए कहा जा सकता है कि हमारी मननशीलता (विचार शक्ति) का लक्ष बाह्य और प्रत्यक्ष अनेकता में छिपी एकता को दिखाना है। वर्त्तमान विज्ञान की प्रगति को ध्यान से देखने पर यही परिणाम निकलता है कि प्रत्यक्ष अनेकता की विधिवत् परीक्षा द्वारा इस अनेकता के परोक्ष आधाररूप एकता को ढूँढ़ना और इस परोक्ष एकता में प्रत्यक्ष अनेकता का बीज दिखाना विज्ञान का मुख्य लक्ष्य है। यह बीज रूप एकता जिसमें विश्व की अनेकता उसी प्रकार निहित और अस्फुट है जिस प्रकार छोटे से बट-बीज में विशाल बट-वृक्ष इस विश्व-वृक्ष[१] की प्रकृति या 'प्रतिकृति' है।

प्रकृति पद के दो अर्थ—अंग्रेजी भाषा के नेचर पद की नाईं यह प्रकृति पद भी प्रायः दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसके एक अर्थ का संबंध यदि पदार्थों के आचार से है तो दूसरे अर्थ का सम्बन्ध उनके आकार और आकृति से है। पहिला अर्थ, स्वभाव, यदि पदार्थों के पारस्परिक आधार सम्बन्धी नियमों की ओर संकेत करता है तो दूसरा अर्थ इन पदार्थों के मौलिक बीज के स्वरूप का बोध कराने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार ये दोनों अर्थ एक ही मौलिक पदार्थ के स्वभाव और स्वरूप का बोध कराते हैं। पदार्थों के स्वभाव और स्वरूप में एक गहरा सम्बन्ध है। ऐसी मान्यता प्रायः सभी विचारकों की रही है। यही मान्यता वर्तमान विज्ञान के सिद्धान्तों के प्रतिपादन का आधार है।

कुछ विचारकों के मत में प्रकृति पद मनुष्य से भिन्न उसके प्रतिद्वंदी एक मौलिक पदार्थ का वाची है। ये विचारक संसार के दो भागों में विभक्त करते हुए एक को प्रकृति और दूसरे को पुरुष या मनुष्य कहते हैं। उनके इस विभाजन का आधार मानवीय और प्राकृतिक व्यवहारों का यह मौलिक भेद है कि जहाँ प्राकृतिक पदार्थ एक अटूट नियम में बंधे कोल्हू के बैल की नाईं एक मर्यादा के भीतर ही व्यवहार करने को बाध्य हैं वहाँ मनुष्य के लिए किसी सर्वथा अटूट मर्यादा का विधान नहीं। मनुष्य अपने आचार की मर्यादा अपनी अवश्यकता और सुविधानुसार बदलने में स्वतंत्र है। आचार की मर्यादा की स्वतंत्रता और परतंत्रता ही पुरुष और प्रकृति के मौलिक भेद का आधार माना गया है।

दूसरी पद्धति के विचारक पुरुष और प्रकृति का भेद इच्छा-स्वातंत्र्य के आधार पर करते हुए कहते हैं

१—प्राचीन वैदिक साहित्य में (पुरुष सूक्त में) सजीव शरीर, सुव्यवस्थित समाज और संसार की वृक्ष (अश्वत्थ) रूप में कल्पना की गई है। 'बीज में वृक्ष तथा वृक्ष में बीज,' 'वृद्धि और क्षय', 'शोषण में पोषण और पोषण में शोषण' आदि काव्य इस विश्व-वैचित्र्य की ओर संकेत करते हैं।

कि पुरुष में इच्छा-स्वातंत्र्य है और प्रकृति इससे सर्वथा रहित है। परन्तु आज वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों के लिए यह एक अनिर्णीत मौलिक प्रश्न है कि क्या सभी प्राकृतिक पदार्थ व्यवहार-परतंत्र और सभी मानवीय व्यवहार-स्वतंत्र हैं ? वर्त्तमान विज्ञान का यह भेद अमान्य है, क्योंकि इसने सिद्ध किया है कि जिस प्रकार वैयक्तिक मानव व्यवहार स्वतंत्र प्रतीत होता है परंतु उसका सामूहिक व्यवहार सांख्यिकी गणित के सुनिश्चित नियमाधीन होता पाया जाता है वैसे ही अणुओं और परमाणुओं के वैयक्तिक व्यवहार भी अनिश्चित स्वतंत्र प्रतीत होते हैं और परमाणु समूह रूपी पिंडों के व्यवहार सुनिश्चित नियमानुसार देखे जाते हैं।

विज्ञान और कला—शिक्षित समुदाय में भी ऐसे लोग कम न होंगे जो विज्ञान और कला को एक दूसरे का विरोधी न मानते हों। परंतु गहरा विचार करने से प्रतीत होता है कि विज्ञान और कला के साधनों में यद्यपि भेद है उनके लक्ष समान हैं। अपने अपने ढङ्ग से दोनों ही बाह्य भेद में आंतरिक अभेद देखने का प्रयत्न करते हैं। कवि प्रकृति और पुरुष के भेद के परे उनमें एक मौलिक एकता देखता हुआ कहता है। "जड़ चेतन है एक नियम के वश परि-चालित, मात्रा का है भेद उभय हैं अन्योन्याश्रित।" जर्मनी के प्रसिद्ध भौतिकज्ञ, माक्स प्लांकके[२] मत में भी मौलिक विज्ञान का लक्ष एक ऐसे परम व्यापक नियम की खोज है जिसके अनुसार संसार की समस्त क्रियायें होती हैं।

यद्यपि दोनो के लक्ष एक हैं, परन्तु उस लक्ष तक पहुँचने के उनके साधनों में मौलिक भेद है। कल्पना के परों के सहारे कवि जहाँ एक उड़ान में अनायास पहुँच जाता है वहाँ वैज्ञानिक अपने प्रयोगों की सीढ़ी लगा कर धीरे-धीरे स्वयं चढ़ता हुआ अपने अन्य साथियों को भी पहुँचा देता है। इस प्रकार कला और विज्ञान में भेद यह है कि जहाँ कला व्यक्ति की कुछ जन्मजात विशेषताओं पर निर्भर है वहाँ विज्ञान अपेक्षाकृत सर्वसुलभ साधन प्रदान करने में समर्थ है।

बाहर से ज्ञान, कर्म और कला बहुत भिन्न भासते हैं, और इसलिए कवि, कोविद और कर्मठ के जीवनों में कम समानता दिखाई देती है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो तीनों के लक्ष और साधन लगभग समान हैं। जहाँ कोविद (ज्ञानी या विज्ञानी) सत्य का खोजी है, वहाँ कवि या कलाकार सौन्दर्य का संस्थापक है, और कर्मठ (कर्मयोगी) शाश्वत सुख के साधन संयम या न्याय का समर्थक है। इस प्रकार कोविद का लक्ष सत्य, कवि का सौन्दर्य और कर्मठ का संयम या न्याय है और गहरे विचार से देखा जाय तो सत्य और संयम भी सौन्दर्य के ही भेद सिद्ध होंगे, क्योंकि जहाँ सत्य विचार का सौन्दर्य[३] है वहाँ संयम आचार का सौन्दर्य है, और अंत में समस्त सौन्दर्य संयम का फल है तथा संयम भी एक सुनिश्चित और व्यापक नियम की आधीनता का दूसरा नाम है। इस प्रकार सुनिश्चित व्यापक नियमाधीन आचरण ही समस्त सुख और सौन्दर्य का सार है, और इस नियम की खोज ही विज्ञान का चरम लक्ष है। इस प्रकार आकार, आचार और विचार तीनों के सुव्यवस्थित (नियमाधीन) होने में ही मानव जीवन की पूर्णता है जिसे प्राचीन भारतीय मनीषियों ने 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' के सूत्र द्वारा व्यक्त किया है।

२—माक्स प्लोङ्क रचित 'भौतिक विज्ञान का पर्यवेक्षण' (Survey of Physics) प्रथम पृष्ठ

३—अँग्रेजी भाषा के प्रसिद्ध कवि कीट्स का प्रसिद्ध विचार इसी का समर्थक है। "Truth is beauty, and beauty is Truth.

धरती का पोषण

शस्य-योग का योग

डा० अमर सिंह

प्राध्यापक, कृषि-वनस्पति शास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

परिचय

शस्य-योग या शस्य-मिश्रण की प्रणाली भारतीय-कृषि में युगों से प्रचलित है। इसके अन्तर्गत एक से अधिक जाति के पौधों को एक ही क्षेत्र में एक समय में ही उगाते हैं। यह प्रणाली प्राकृतिक स्थिति का एक प्रतिबिम्ब है जिसमें कई प्रकार के पौधों को एक ही स्थान पर विभिन्न योगों व अनुपात में भूमि, जलवायु तथा अन्य वातावरण के दबाव से स्वयं विकसित वनों या स्वाभाविक चरागाहों में पाया जाता था। आज इसका मिलना अलभ्य-सा हो रहा है।

भारत में शस्य-मिश्रण का प्रादुर्भाव, शस्यों के हेर-फेर व खाद की आवश्यकता को स्वीकार करने के साथ-साथ ईसा से लगभग २००० वर्ष पूर्व हुआ था। चीन में इसका प्रचार ईसासे कुछ ही वर्ष पूर्व, रोम तथा ग्रीस में आज से केवल ३०० वर्ष पूर्व एवं पूर्वी एशिया, मेक्सिको एवं अमेरिका में अठारहवीं शताब्दी में हुआ।

सिद्धान्त

यदि हम शस्य-मिश्रण को फसलों के चक्र का वह आकार या रूप मान लेवें जिसमें दो शस्यों के अदल-बदल में जो समय बीता है वह बिल्कुल विलीन कर दिया गया हो तो कुछ अनुपयुक्त न होगा। यह पारिभाषिक संकेत अक्षरशः सत्य नहीं फिर भी इसमें कोई लाक्षणिक (technical) त्रुटि नहीं है। सह-शस्यों में एक प्रकार की स्थिति में उगने व बढ़ने की समानता होकर भी भूमि को शोषण करने की रीति व विस्तार में असमानता का पाया जाना इस प्रणाली का अनिवार्य अंग है। सह-शस्यों में प्रतिकूल अवस्थाओं में फूलने-फलने की क्षमता नहीं होती, ऐसी बात नहीं है; फिर भी यह आवश्यक है कि ये शस्य समान वातावरण में पनपें। ऐसा देखा गया है कि कभी-कभी खाद व पानी की पृथकता व जलवायु के अस्वाभाविक हो जाने से सह-शस्य पृथक-पृथक ढंग से प्रभावित होकर किसान के लिये हानि के विरुद्ध बीमा के रूप में सहायक होता है।

लाभ

जिस भाँति फसलों के चक्र का योग धरती के पोषण में महान है उसी भाँति एक से अधिक शस्यों को साथ-साथ उगाना (शस्य-योग) भी वैज्ञानिक दृष्टि से बड़े महत्व का है। दलहन शस्यों द्वारा भूमि को कुछ ऐसे लाभ हैं जो अन्य फसलों से नहीं होते। इसी आधार पर दलहन फसल को दूसरी फसल के साथ उगाने का क्रम भारत में सदियों से प्रचलित है। इस शस्य-योग या मिलवाँ शस्य के अनेकानेक लाभ हैं। किसान को उसकी आवश्यकतानुसार विविध प्रकार की भोजन की सामग्री, रूई, सन आदि उसके छोटे से तथा अपर्याप्त क्षेत्र से ही मिल जाता है और उसका कार्य बिना दूसरे का सहारा लिये ही चलता रहता है।

इस क्रम से एक लाभ यह भी है कि यदि एक शस्य एक खेत में बोया गया और उसके पनपने तथा बढ़ने के लिये जलवायु प्रतिकूल हो गया (जैसा बहुधा हो जाता है) तो किसान को उस ऋतु में हानि की विशेष सम्भावना रहती है। दो, तीन या अधिक शस्यों को एक साथ खेत से लेने पर बहुधा कुछ फसलों को मौसम की खराबी से उतनी हानि नहीं पहुँचती और किसान को खेत से कुछ न कुछ उपज मिल ही जाती है। इसके अतिरिक्त फसलों के शत्रु के प्रकोप से भी बचत हो जाती है क्योंकि एक बीमारी व एक प्रकार के कीट-पतंगे हर एक फसल पर हानि नहीं पहुँचा पाते हैं। साथ में दूसरी फसलों के रहने से आक्रमण होने वाली फसल पर भी कम हानि पहुँच पाती है। उदाहरणार्थ मोथ व कपास के शस्य-योग से कपास को जड़ों में सड़न की बीमारी को कम प्रभाव पड़ता है और इसके पौधों की हानि कम होती है। इसी भाँति ज्वार और कपास की साथ-साथ खेती करने का लाभ है। फिर देशी कपास व अमरीकी को साथ उगाने से पत्तियों का सिकुड़ना व लाल होना कम होता है।

शस्य-योग में भूमि को पोषित करने की विशेष क्षमता हो जाती है। कई प्रकार की फसल को एक खेत में साथ लगाने से बहुधा ऐसा होता है कि भूमि पर छाया अधिक मात्रा में हो जाती है और वहाँ की नमी भी बढ़ती है जिससे भूमि में नत्रजन को सहज प्राप्य रूप में बदलने की क्षमता बढ़ जाती है। चूँकि भूमि के विभिन्न सतह से पौधों द्वारा पोषक पदार्थ खींचे जाते हैं। इनका भूमि में घुल कर विलीन हो जाने की सम्भावना कम हो जाती है। एक फसल की जड़ों से निष्कासित द्रव से दूसरे का लाभान्वित होना भी संभव है।

भारतीय शस्य-योग

शस्य मिश्रण या शस्यों के योग का अनेक रूप भारत में मिलना स्वाभाविक ही है। खरीफ व रबी दोनों फसलों का मिश्रण यहाँ पर मिलता है। इस पद्धति का विकास विशेषतः उस स्थान पर अधिक हुआ जहाँ किसान को भूमि में जल व पुष्टिकारक वस्तुओं की कमी मालूम हुई और पैदावार में निश्चयता न रही। आज जो शस्य-योग प्रधानतया मिलते हैं उनमें गोचना, गोजई, बर्रे, आदि व्यापक हैं। शस्यों के विविध मिश्रणों की आगे दी हुई तालिका से यह प्रमित होता है कि इसके अनेकानेक रूप हैं और अनगिनत योग प्रचलित हैं।

इनके अतिरिक्त और कितने ही प्रकार के पौधों के योग साधारणतया मिलते हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं शस्य-मिश्रण में सदैव दलहन का योग आवश्यक नहीं है साथ ही अन्य पौधों की श्रेणियाँ भी इसमें सम्मिलित होती हैं। फलवृक्षों में आम, जामुन, अमरूद, बेर, कटहल, नींबू, सन्तरा, सुपारी आदि का विभिन्न योगों में मिलना अस्वाभाविक नहीं। कहवा—सन्तरा—मिर्च, सुपारी—नारियल—लवंग—कहवा—चाय, पान—करेला—तरोई—परवल भी एक साथ उगाये जाते हैं।

कहीं-कहीं सनई, जैत जैसी पालक शस्य (nursery-crop) भी और पौधों के साथ उन्हें धूप से बचाने के लिये तथा समय-समय पर छटाई द्वारा भूमि में हरी खाद देने के लिये उपयुक्त मानी गई है। केला-नारियल के मेल में नारियल के छोटे पौधों को धूप से बचाया जाता है। इसी भाँति नारियल के साथ ज्वार, मडुआ, काकुन, मूँगफली, मूँग, उर्द, कुल्थी आदि को रिक्त स्थान की पूर्ति के विचार से लगाकर भूमि को कई तरह से पोषित करते हुए लाभान्वित करते हैं। गन्ने के साथ धनिया, प्याज, मूली, साग, अरहर आदि का योग इसी ध्येय से रहता है। चरागाहों में भी भाँति-भाँति के मेल मिलते हैं, इनमें से कुछ प्राकृतिक व कुछ अप्राकृतिक होते हैं।

वैज्ञानिक अन्वेषण की कमी

यों तो किन्हीं दो जाति के पौधों को जो समान वातावरण में फल-फूल सकते हैं एक स्थान पर

प्रधान शस्य-मिश्रण में सह-शस्य

प्रधान शस्य	सह-शस्य		
	धान्य	शमी धान्य	अन्य
धान	ज्वार, चना, बजरी, मक्का, काकुन, कोदो।	मूँग, उर्द, केसारी, ग्वार लोबिया, अरहर।	सनई, कपास, जूट, तिल पटसन।
मड़ुआ	गेहूँ, काकुन, मिझरी, बजड़ा, मक्का, सावां काकुन, ज्वार।	उर्द, कुल्थी, अरहर, बवरी, लोबिया।	सनई, रेंड़ी, तारामिरा, मूँगफली तिल, अलसी, सरसों, पटसन, मसों, तम्बाकू, कपास।
बाजरा	मड़ुआ, मक्का, काकुन, ज्वार।	कुल्थी, बवरी, मूंग, उर्द, अरहर, मोथ, ग्वार, लोबिया।	कपास, तरबूज, नील, मूँगफली तिल, रेंड़ी, सनई।
ज्वार	धान, गेहूँ, मक्का, काकुन, बाजड़ा।	अरहर, उर्द, लोबिया, ग्वार मूँग, बवरी, मोथ, कुल्थी, चना।	रेंड़ी, बे न, भिन्डी, खीरा, तरबूज़, नील, पटसन, कुसुम, अलसी, मूँगफली, कपास, सरसों, तिल
जव	गेहूँ	चना, अरहर, मसूर, बरसीम, मटर, सेन्जी।	अलसी, सरसों, तारामिरा
गेहूँ	जव, ज्वार, मड़ुआ।	चना, मटर।	सरसों, शलजम, कुसुम, अलसी।
मक्का	धान (उपरवार) सावां, काकुन, बाजड़ा, ज्वार, कोदो, मड़ुआ।	मूँग, सोयाबीन, मोथ, बरसीम, अरहर, ग्वार	सरसों, शलगम, कपास, तरकारियाँ, गन्ना, आलू, रेंड़ी, मूँगफली, जूट, तिल।
अरहर	धान, ज्वार, बाजरा, मक्का, कोदो, काकुन, मड़ुआ।	बवरी, चना, मूंग, मोथ, लोबिया, मूंगफली, मसूर	सन, कपास, तिल, पटसन।
कपास	धान, काकुन, मड़ुआ, बाजड़ा, ज्वार, मक्का कोदो।	अरहर, उर्द, कुल्थी, मूंग, मोथ, लोबिया।	मूंगफली, तिल, रेंड़ी, पटसन, मिर्चा, भिन्डी, सरसों, खरबूज।
काकुन	धान, ज्वार, मड़ुआ, बाजड़ा, मक्का, गेहूँ, मिझरी।	उर्द, मूंग, मूंगफली, अरहर, ग्वार, लोबिया।	तिल, प्याज़, सनई, कपास, धनिया, रेंड़ी, तारामिरा। पटसन।
मूंगफली	बाजड़ा, ज्वार, मड़ुआ, धान, काकुन, मक्का।	उर्द, मूंग, लोबिया, कुल्थी, चना, अरहर।	तिल, धनिया, कपास, पटसन, रेंड़ी।

एक साथ उगाया जा सकता है पर क्या यह लाभ-दायक होगा ? क्या प्रत्येक शस्य-योग भूमि का पोषण करते हुए लाभकारी सिद्ध हो सकेगा ? अभी जिन शस्य-मिश्रणों में सह-शस्यों को देखा गया है क्या वे सभी भूमि को बलवान बनाते रह कर अधिक अन्न व चारा देने की क्षमता रखते हैं। इसका उत्तर पाने के लिये हमें वैज्ञानिक अन्वेषणों के फल की आवश्यकता है और इसकी है नितान्त कमी।

इस कृषि-पद्धति के पूर्ण लाभ किसान या भूमि कोई भी नहीं उठा पा रहे हैं। इसके पूर्णतया लाभकारी होने के लिये जिन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है उनमें से सह-पौधों में से एक का दूसरे पर प्रभाव, इनका आपस में अनुपात, इनके बोने का ढङ्ग, खाद व पानी की आवश्यकता, खाद की उपलब्धि व उपयोग, भूमि की किस्म व उत्पादन शक्ति, सिंचाई के साधन आदि प्रमुख हैं। जब भी एक से अधिक फसलें साथ-साथ उगाई जाती हैं उन्हें साथ उगाने में किसी प्रकार की अड़चन न होनी चाहिये बल्कि दोनों का साथ रहना एक दूसरे के लिये तथा भूमि के लिये लाभ-दायक होना अनिवार्य है। इन विषयों पर वैज्ञानिक विचार नहीं के बराबर हुआ है। यह हमारी कृषि-पद्धति की ओर कृषिपंडितों की उदासीनता का एक उदाहरण है। १९५० ई० में भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् ने इस विषय पर जो लेख प्रकाशित कराया था उससे यही मालूम हुआ कि यद्यपि हमारी भारत भूमि में यह प्रथा पहले से चली आ रही है तथापि यहाँ पर इस पर कम से कम विचार दिया गया है।

यद्यपि सस्य योग की प्रथा पुरातन है, उपकारी है और प्रचलित है, कृषि पंडितों का ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं हो सकता। ऐसा होना हमारे लिये खेद का विषय है। देश की प्रचलित कृषि प्रणालियों में वैज्ञानिक अन्वेषण व विश्लेषण कर इनकी त्रुटियों को दूर करने का उपाय ढूढ़ निकालना कृषि उन्नति तथा देश की समृद्धि के लिए अनिवार्य है। यही देश की सबसे बड़ी सेवा है और इसी के द्वारा भारतीय-कृषि को गौरवान्वित बना सकते हैं। किसान व भूमि (वर्तमान व भविष्य) दोनों के लिये हितकर पहलुओं पर विचार करते हुए उपयुक्त विधि से शस्य-मिश्रण प्रणाली को चलाने का क्रम यहाँ दिया गया है। जिन स्थानों में खाद और पानी की कमी है वहाँ तो शस्य मिश्रण आवश्यकता से पनपा पर जहाँ इन दो प्रतिकारक की प्रचुरता है वहाँ भी यह प्रणाली अति लाभ-युक्त है। इन स्थानों में खाद और पानी का पूर्ण उपयोग करने के लिये प्रधान शस्य के साथ अन्य सह शस्य को रिक्त स्थान में रख कर किसान बहुत लाभ उठा सकता है। खाद पानी की कमी भारत में है पर जहाँ मिल सकता है वहाँ उसका पूरा उपयोग करना भी अपना धर्म है।

अनुपयुक्त सहचारिता

शस्य-मिश्रण में सह-शस्यों का सम स्वभाविक होना इस प्रथा की सफलता की कुन्जी है। इसके पहले कि हम सह-शस्यों के उस दल पर विचार करें जिन्हें लाभयुक्त माना गया है। यह जानना आवश्यक है कि कभी-कभी शस्यों का योग हानिकारक हो पाया गया है। रबड़ की खेती में यदि कोई भी ऐसा पौधा साथ लगा दिया जाता है जिससे छाया होवे तो बीमारी (Pink disease) फैलाने में सहायक होती है। इसी भाँति राजिका-कुल Cruciferae family) के पौधे जैसे चुकन्दर, सरसों, राई, मूली, गोभी, आदि को एक साथ न लगाना चाहिये, क्योंकि इन सब पर (White rust) होता पाया गया है। यदि बाग में चन्दन व कच्‍ू-प्रजाति (अरूई) के पौधे लगे हों तो सुपारी पर (kola roga नामक बीमारी हो जाती है। आलू, मिर्चा, बैंगन, टमाटर पर ('ring disease') नामक बीमारी फैलती है। यह एक शाकाणीय शिथिलन (bacterial wilt) है जो कि धतूर-कुल (Solanaceae Family) के खरपतवार पर भी होती है अतः इनका साथ रहना

ठीक नहीं। इसी तरह से आलू, टमाटर,, लोबिया, मूंगफली पर (Hypochonas) मिरचा बैंगन, ज्वार, लहसुन, मेथी, सौंफ, सोआ पर (Mildew; कुष्माण्ड-कुल (Cucurbitaceae family) के पौधों पर (downy mildew) आदि बीमारियाँ होती हैं। शणपट्ट-प्रजाति के कुछ पौधों की जड़ों द्वारा रबड़ के पौधों में जड़ का रोग होता है। अतः इनका साथ होना भी ठीक नहीं। सेब के बगीचों में घास का रहना व कपास के लिये दूब विष समान है। इसी तरह से समान सिंचाई तक जाने वाली जड़ों के पौधे व समान शोषक पौधे सह-शस्य के रूप में हानियुक्त हैं। प्रतिद्वन्द्विता की मात्रा बढ़कर किसी भी शस्य-योग को हानिकारक बना सकती है। अतः अनुकूल सह-शस्यों का भी प्रत्येक अवस्था में लाभयुक्त होना आवश्यक नहीं।

उपयुक्त सहचारिता

उत्तर प्रदेश में कुछ शस्य-योग प्रचलित हैं, वे उपयुक्त मालूम पड़ते हैं क्योंकि सदियों से लोग चलाते आ रहे हैं। गेहूँ + जव + चना का मिश्रण झाँसी, प्रतापगढ़, मैनपुरी, बिजनौर में, गेहूँ + सरसों—अलमोड़ा, सहारनपुर, बरेली, आगरा, रायबरेली, सुलतानपुर में, गोचना—बनारस, एटा, गोरखपुर, मेरठ, गोंडा, बाँदा, इटावा, गढ़वाल, हरदोई में; गेहूँ + चना + सरसों – बहराइच, सीतापुर में; चना + अलसी—मिर्जापुर, बस्ती, बाराबंकी, लखनऊ, बदायूँ में, जव + सरसों—गाजीपुर, इलाहाबाद, फैजाबाद, गोरखपुर, उन्नाव, एटा, बदायूं, बुलन्दशहर में, मटर + सरसों—सुलतानपुर में, चना + सरसों—इलाहाबाद व गोंडा में; जव + अलसी—फतेहपुर में, जव + चना—आजमगढ़, गोंडा, हमीरपुर, खीरी, फरुखाबाद, मैनपुरी, मुजफ्फरनगर, अलमोड़ा में, गेहूँ + अलसी—इलाहाबाद में, चना + गन्ना—मेरठ में, जव + मटर—जौनपुर, कानपुर, सीतापुर, इटावा, अलीगढ़ मुरादाबाद, देहरादून में तथा गेहूँ + जव—गोरखपुर, गाजीपुर, फैजाबाद, उन्नाव, एटा, बदायूँ और बुलन्दशहर में अधिक मात्रा में सफल पाए गए हैं। अतः ये मिश्रण उपयुक्त होंगे ऐसा विचार है लेकिन यह सदैव सत्य नहीं।

धान + ज्वार—पीलीभीत, बदायूँ और खीरी में, मक्का + उर्द, मक्का + मूंग, ज्वार + उर्द, ज्वार + मूंग, अरहर + उर्द—आगरा, पीलीभीत, देवरिया, झांसी, बदायूं और इटावा में, अरहर + कपास—इटावा, आगरा, बुलंदशहर और बिजनौर में, ज्वार + अरहर—प्रतापगढ़ तथा बनारस में, बाजरा + अरहर—इटावा, आगरा, बदायूँ और गाजीपुर में, ज्वार + ग्वार + लोबिया, ज्वार + उर्द, ज्वार + मूंग—आगरा, बदायूं, बिजनौर और सुलतानपुर में विशेष लाभदायक पाए गए हैं। इन स्थानों पर ऊपर दिये हुए शस्य-मिश्रण उपयोगी सिद्ध हुए हैं। शायद इसलिये कि जलवायु तथा वातावरण का सहयोग प्राप्त है।

प्रधान प्रतिकारक

किसी भी शस्य-मिश्रण के सफल होने में जो प्रधान प्रतिकारक माने गए हैं उनमें से शस्यों में उपयुक्त सहचारिता, श्रेष्ठतम अनुपात, भूमि की उर्वरता व जलप्रदायिनी-शक्ति अति महत्वकारी हैं।

फसलों की बाढ़ तथा विकास पर अंकुश रखने वाले जितने भी कारण हैं उनमें भारत की जलवायु में नत्रजन व पानी नियत्रंण की विशेष क्षमता रखते हैं। साधारण उत्पादनशील भूमि में पौधों का घनापन उपज पर अंकुश रखता है क्योंकि भूमि से उपलब्ध व्यवहार योग्य-पोषक पदार्थों की मात्रा सीमित होने के साथ-साथ प्राप्य प्रकाश की मात्रा भी सीमित होती है। ऊष्ण व शीतोष्ण कटिबन्ध में प्रति एकड़ बीज की मात्रा क्षेत्र की उपज पर विशेष महत्व रखती है क्योंकि पौधों को पूरी खुराक न मिलने से उनकी बाढ़, विकास व उपज सभी कम हो जाती है। यह तो उस समय भी सत्य होता है जब खेत से एक ही फसल एक बार में ली जाती है पर दूसरी फसल के मिश्रण का प्रश्न आते ही यह प्रश्न जटिल हो जाता है—जब प्रतिद्वन्दिता की मात्रा विशेषतः

सजग व कार्यान्वित हो जाती है। ऐसा न केवल घनेपन की वजह से होता है बल्कि अन्य कारणों से भी—जिसमें सह-शस्यों की सहचारिता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सह-शस्यों में सहयोग होने से उपज में कमी नहीं होती पर यदि शस्य-योग में प्रतिकूल स्वभाव की फसलें हुईं तो प्रतिद्वन्दिता बीज के अंकुरित होने से लेकर अन्त तक प्रतिकूल फल देती रहती हैं। प्रतिकूलता में उपलब्ध पोषक पदार्थों के लिये विविध शस्यों में होड़ होना स्वाभाविक तौर से उपज में कमी लाती है। पोषक तत्वों में समन्वय न होने से भी यही फल दृष्टिगोचर होता है। फसलों के योग में दलहन का स्थान होने से नत्रजन की कमी की समस्या सुलझी-सी जान पड़ती है। यद्यपि सह-शस्य का प्रभाव नत्रजन के स्थापन की मात्रा पर प्रचुर मात्रा में पड़ता है।

शस्य संयोजन में सह-शस्य

गेहूँ+चना+सरसों का एक साथ बोना व उगाना उत्तर प्रदेश में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इस मिश्रण में तीन सह-शस्य हैं। इनमें से एक का अन्य पर क्या प्रभाव है, इसका निश्चय करने के लिये लेखक ने एक प्रयोग किया। इस प्रयोग में शस्यों के अनुपात को श्रेष्ठतम रख कर सह-शस्यों की बाढ़ की गति, विकास, उपज आदि देखी गयी। गेहूँ : चना : : ४ : १, गेहूँ : सरसो : : १० : १, चना : सरसों : : ६ : १ व गेहूँ : चना : सरसों : : २० : ५ : १ अनुपात रखा गया।

जो फल निकला उनमें मूल गेहूँ व चना का मिश्रण एक दूसरे के लिये लाभकारी होना है—इनकी उपज अलग-अलग बोने की अपेक्षा बढ़ी। आयु भी बढ़ी या यों कहिये कि फसलों के पकने का समय कुछ पिछड़ गया। उपज में प्रोटीन की मात्रा अधिक हुई, जिससे उपज अधिक पोषक मानी गई। चना व सरसों के मिश्रण में सरसों को तो लाभ हुआ पर चना को नहीं—इसका मतलब यह हुआ कि एक ने दूसरे को हानि पहुँचा कर लाभ उठाया। गेहूँ—सरसों मिश्रण में हानि व लाभ का निश्चयात्मक फल नहीं मिला।

त्रिशस्य मिश्रण में दलहन के पौधों में पानी की विशेष कमी मिली जिसका तात्पर्य यह हुआ कि पानी की कमी में भी चना की जीवन-क्रिया पूर्ण रूप से चलती रही। उपज भी तीनों शस्य के मिश्रण में अधिक हुई। बीज की उपज तो इन शस्यों को अलग बोने से ही मिली पर मिश्रण में भूसे की उपज इतनी अधिक हुई कि बीज में उपज की कमी को आसानी से पूरा कर सकी। केवल सरसों का योग लाभकारी नहीं मालूम पड़ा जिसका कारण अनुपयुक्त सहचारिता के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता है। गेहूँ के पौधों द्वारा गोचना में भूमि से नत्रजन का अधिक उपयोग हुआ तथा गेहूँ का पौधा दलहन द्वारा नत्रजन संचय करने की गति का भी पूर्ण द्योतक रहा। दलहन की जड़ों की ग्रन्थियाँ गेहूँ के साथ उगने वाले पौधों में खूब लगीं और उनकी जड़ों का भी विकास खूब हुआ। इन ग्रन्थियों द्वारा नत्रजन का ग्रहण संचय व प्रदान भी गोचना में ही अधिक रूप से हुआ। चने के साथ उगने वाले गेहूँ के पौधों ने इससे लाभ भी अधिकतम उठाया। इस प्रयोग द्वारा यह प्रमित हो जाता है कि एक शस्य दूसरे के साथ लाभान्वित हो सकती है और दूसरी शस्य उसी के साथ हानि पा सकती है या हानि पहुँचा सकती है। अतः प्रत्येक मिश्रण से सह-शस्य के बीच आपस में जो प्रभाव पड़ता है वह ध्यान में रख कर ही शस्य-योग को अपनाने में बुद्धिमानी है। वातावरण में अदल-बदल होने पर भी एक शस्य-मिश्रण अधिक या कम लाभकारी हो सकता है क्योंकि सह-शस्यों का एक दूसरे पर जो प्रभाव पड़ता है वह भी कुछ बदल जाता है।

विभिन्न मिश्रणों के अनुपात में पृथकता

किसी भी शस्य-योग में शस्यों के बीच तरह-तरह के अनुपात प्रचलित हैं। ऐसा क्यों? एक कारण

तो यह हो सकता है कि स्थान-स्थान की जलवायु या वातावरण से प्रेरित होकर सदियों की सीख के सार का समावेश इसमें हो गया है और दूसरे यह कि इस बात को कोई महत्व ही नहीं दिया गया ताकि शस्य संयोजन में किसी भी अनुपात में बो देना ठीक समझा गया। यदि पहली दलील लागू होती तो एक ही स्थान पर एक ही शस्य-मिश्रण में कई अनुपात न मिलते अथवा वातावरण के हेर-फेर से अनुपात का परिवर्तन भी सीमाबद्ध होता। परन्तु ऐसा नहीं पाया जाता। बीज की मात्रा (अनुपात) से सह-शस्य अनुकूल या प्रतिकूल हो सकता है। कुछ सह-शस्यों के प्रचलित अनुपात का अध्ययन करने से हमें पता लगता है कि इनमें अत्यधिक अन्तर पाया जाता है।

शस्य-मिश्रण में सह-शस्य का अनुपात

सह-शस्य	अनुपात	सह-शस्य	अनुपात
गेहूँ : जव : :	१ : १ से १ : १/६	बाजरा : धनिया : :	१ : १/५ से १ : १/१५
गेहूँ : चना : :	१ : १ से १ : १/१०	कपास : धान : :	१ : १/२ से १ : ४
गेहूँ : मटर : :	१ : १/८ से १ : १/१५	कपास : मड़ुआ : :	१ : १/८ से १ : ६
जव : मसूर : :	१ : १ से १ : १/९९	कपास : काकुन : :	१ : १/२ से १ : १०
जव : मटर : :	१ : १/३ से १ : १	कपास : अरहर : :	१ : १/१९ से १ : १/२
जव : सरसों : :	१ : १/८ से १ : १/५०	कपास : मूँग : :	१ : १/७ से १ : १/३
ज्वार : उर्द : :	१ : १ से १ : १/५	कपास : कुल्की : :	१ : ३/२ के १ : १/४
ज्वार : मूंग : :	१ : १ से १ : १/१५	कपास : मूंगफली : :	१ : ५ से १ : १३
ज्वार : मूंगफली : :	१ : ५ से १ : २८	कपास : तिल : :	१ : १/२० से १ : १/३
ज्वार : सनई : :	१ – १/३ से १ : १/२०	कपास : मिरचा : :	१ : १ से ७ : १/३२
ज्वार : कपास : :	१ : १ से १ : ६	कपास : सरसों : :	१ : १/३ से १ : १/३२
ज्वार : कुसुम : :	१ : १/३ से १ : १/८	अरहर : काकुन : :	१ : ५ से १ : ५/३
ज्वार : तरबूज : :	१ : १/२ से १ : १/५०	अरहर : ज्वार : :	१ २ में १ : १०
बाजरा : तिल : :	१ : १/३ से १ : १/५१	अरहर : धान : :	१ : २ से १ : १२
बाजरा : कपास : :	१ : १/४ से १ : १/२	अरहर : मड़ुआ : :	१ : १/२ से १ : ६
बाजरा : उर्द : :	१ : १/८ से १ : १/३	अरहर तिल : :	१ : से १ : १०
बाजरा : लोबिया : :	१ : १/३ से १ : १/१०	अरहर : बाजरा : :	१ : ४ से १ : २

ऊपर दी गई तालिका में दो शस्यों के अनुपात में कहीं-कहीं पर सौ गुने तक का भी अन्तर मिलता है। यह हमारी उस धारणा की पुष्टि करने में सहायक है कि भूतकाल में अनुपात पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। सम्भवतः उचित अनुपात का महत्व न समझने से ही यह ढिलाई रही है।

उत्तर प्रदेश में गोचना मिश्रण खूब प्रचलित है, गेहूँ तथा चना के बीच भी अनेक अनुपात प्रचलित हैं। इन दो शस्यों के बीच श्रेष्ठतम अनुपात की खोज से तथा इस विषय में जानकारी बढ़ाने के ध्येय से लेखक द्वारा किये गए प्रयोग में गेहूँ चना के बीच कई अनुपात रखे गए। गेहूँ: चना : : ५ : १, ४ : १, ३ : १, २ : १, १ : १, १ : २, १ : ३, १ : ४, १ : ५ अनुपात में बो दिये गए और इनकी उपज आदि पर प्रभाव देखा गया। प्रत्येक अनुपात के लिये उपज की तालिका मन एकड़ में नीचे दी जाती है।

सह-शस्यों की अनुपात का उपज पर प्रभाव

बीज की तौल द्वारा अनुपात, गेहूँ, चना

उपज पदार्थ	५ : १	४ : १	३ : १	२ : १	१ : १	१ : २	१ : ३	१ : ४	१ : ५
गेहूँ (दाना)	१०·४५	११·६३	१०·६३	१०·१४	८·६२	६·८६	४·४१	४·२२	३·७६
गेहूँ (भूसा)	२०·१४	२१·५१	२१·००	१८·३६	१७·४८	१२·५४	८·४७	६·३४	५·२२
चना (दाना)	४·७०	६·२१	७·६३	७·२८	८·५६	६·४६	११·७७	१२·६१	१४·५१
चना (भूसा)	१०·४४	१६·३२	११·६०	१०·०६	४·३६	४·७७	५·६३	६·७२	७·२४
योग	४५·७३	६१·६७	५१·१६	४५·८७	३६·०५	३१·६६	३१·२८	२६·५६	३०·१३

इन प्रयोगों द्वारा यह ज्ञात होता है कि शस्य-मिश्रण की उपज में सह-शस्यों के अनुपात का भारी प्रभाव पड़ता है। गेहूँ : चना :: ४ : १ का अनुपात गेहूँ (दाना व भूसा दोनों) चना (भूसा) तथा कुल (समस्त उत्पादन का योग) के लिये श्रेष्ठतम पाया गया। चना (दाना) के लिये गेहूँ : चना :: १ : ५-अच्छा पाया गया। ज्यों-ज्यों चना का अनुपात बढ़ा चना (दाना) की उपज बढ़ती रही, यद्यपि यह गेहूँ के लिये सर्वथा सत्य नहीं। अनुपात के साथ साथ पौधों की दाना या भूसा पैदा करने की क्षमता में भी परिवर्तन होना एक महान खोज है। अनुपात में ही हेर-फेर कर मनुष्य अपने लिये दाना या पशुओं के लिये चारा के उत्पादन में अन्तर ला सकता है। इन प्रयोगों से निश्चित है कि अनुपात का शस्य-मिश्रण की सफलता में भारी हाथ है।

भूमि-उर्वरता

अन्य प्रयोगों द्वारा लेखक ने यह निश्चय पाया है कि शस्य-मिश्रण प्रणाली से भूमि-उर्वरता पर भी प्रभाव पड़ता है। गेहूँ, चने की सह-खेती (मिश्रण) का आंतरिक भेद जानने के लिये एक प्रयोग में यह पाया गया कि चने द्वारा नत्रजन का संचय शस्य-मिश्रण में अधिक होता है चाहे दलहन पौधे से भले ही कम नत्रजन का आभास मिले। नत्रजन की कमी वाली भूमि में यह क्रिया प्रचुर मात्रा में होती है पर ज्यों-ज्यों नत्रजन की मात्रा बढ़ती जाती है इसका संचय कम होता जाता है। गेहूँ का पौधा भी चने के पौधे को भूमि में नत्रजन देने में सहायक रहा। गोचना मिश्रण में चना द्वारा जो नत्रजन का संचय हुआ वह लगभग ५२ सेर प्रति एकड़ था जब कि अकेला बोया हुआ चना करीब इतने ही पौंड नत्रजन

संचय कर सका। यह अतिरिक्त नत्रजन जो संचय हुआ वह शस्य मिश्रण के कारण हुआ क्योंकि गेहूँ (सह-शस्य) के साथ इस क्रिया में चने के पौधों को सहायता मिली। इतनी नत्रजन पाना बड़े महत्व की बात है जब कि हम यह देखते हैं कि इसमें २½ मन एमोनियम सल्फेट खाद के बराबर ताकत है और फसल की उपज में भी शस्य-मिश्रण द्वारा ही लाभ रहा।

इस लाभ को तो प्रत्येक किसान जो शस्य-योग को अपनाएगा वह अनुभव कर सकेगा। इससे परे कुछ और भी लाभ हैं जिनके विषय में किसान को जानकारी भले ही न हो पर धीरे-धीरे भूमि के सुधार होते रहने से इसका भी ज्ञान हो जाना संभव है। भूमि के कणों की बनावट पर तो मनुष्य का उतना हाथ नहीं है पर इन कणों के समूह (aggregation) को अवश्य ही अदल-बदल सकता है। इस कण-समुदाय पर कृषि की पैदावार में कमी या बढ़ती बहुत हद तक सीमित है। भूमि में खाद व पानी सब कुछ प्राप्य होते हुए भी यदि उपयुक्त कण-समुदाय नहीं बन पाता है तो पैदावार में भारी कमी हो जाती है। इस हेतु भूमि का कर्षण (Cultivation) व उत्पादित शस्यों का प्रभाव विशेष होता है। केवल अलसी की खेती से मिट्टी की रन्ध्रिता (Porosity) ९·३ प्रतिशत पाई गई पर अलसी के साथ यदि घास का संयोजन हो गया तो यह १९·७ प्रतिशत हो जाती है—कितना महान अन्तर, लाभ-युक्त अन्तर है। इसी तरह अन्य शस्य योगों का भी प्रभाव पड़ता है जिनका पूर्ण विवरण अन्य लेख में दिया जावेगा। प्रतिशत कण-समुदाय (aggration) को देखिये २ साल तक रामपर्ण (clovl) और १ साल कपास की खेती से २३·०; २ साल कपास व १ साल रामपर्ण से १७·५, ३ साल कपास से ९ और ३ साल रामपर्ण से २५ हो जाता है। अब यदि इसी तरह की कण-समुदाय को लाभ पहुँचाने वाली शस्यों का मेल इसको बिगाड़नेवाली शस्यों के साथ हो जावे तो भूमि की भौतिक बनावट को बनाये रखने में भी सहायता मिल सकती है।

शस्य-मिश्रण-अभिस्ताव

अनुभव के आधार पर कुछ शस्य-योग प्रचलित हैं। इनमें में कुछ पर प्रयोग कर उन्हें अधिकतम हितकर बनाने का मार्ग ढूढ़ निकालने का प्रयत्न किया गया है। इन्हें अपनाकर कृषक समृद्धिशाली और भूमि उत्पादनशील हो सकती है। सर्वप्रथम तो यह निश्चय कर लेना होगा कि वर्षा सींचित भूमि व अतिरिक्त सिंचाई वाले क्षेत्र में पृथक-पृथक कौन शस्य-योग चलाये जायँ। इसके बाद उनकी बीज का अनुपात और खाद या बोने का ढंग आदि जानना हितकर है। आगे भूमि का पोषण करने को ध्येय में रख कुछ दलहन शस्य मिश्रण दिये गए हैं।

कृत्रिम या रसायनिक खाद अब भारत में बनने लगी है उसका उपयोग भी हमें अपनी प्रणाली में इस तरह से करना है कि पूरा लाभ हो।

इस शस्य मिश्रण में जैविक व रसायनिक खाद के समावेश का पूरा ध्यान दिया गया है जिससे भूमि की उर्वरा शक्ति को स्थिर रख कर उत्पादन को भी बढ़ाने का एक सहज मार्ग मिल जाता है। कृषि में धरती के पोषण का क्रम यदि नित्यप्रति की शस्य प्रणाली से हम चलाने में समर्थ हों तो निस्संदेह भारत-भूमि के सुदिन लौट पड़ेंगे।

दलहन के कुछ शस्य-मिश्रण

संख्या	शस्य-योग अनुपात	खाद (प्रति एकड़)	विशेष
१	गे : चना ४ : १	कम्पोस्ट — ५ गाड़ी सुपर-फा० —२५ सेर जिप्सम —१२ सेर एम० सल्फेट—१० सेर	अक्टूबर के अन्त में बोवें। गेहूँ और चना दोनों क्रम से कतार में रखें। बोने के समय भूमि में नमी आवश्यक है। २-३ सिंचाई आवश्यकतानुसार देवें।
२	जव : मटर ४ : १	गोबर की खाद—३ गाड़ी सुपर फास्फेट —२० सेर जिप्सम —१५ सेर एम० सल्फेट —१० सेर	अक्टूबर के अन्त में या नवम्बर से पहले सप्ताह में कतार में एक के बाद दूसरा बोवें। और क्रम ऊपर जैसा ही। केवल सिंचाई कुछ कम लगती है।
३	ज्वार : लोबिया : अरहर ८ : ६ : २ या उर्द ६ या मूंग ५	वाटिका खाद —८ गाड़ी सुपर फास्फेट —३० सेर जिप्सम —३ सेर एम० सल्फेट —१२ सेर पोटाश सल्फेट— १०सेर	वर्षारम्भ में बोवें। कतारों में एक के बाद दूसरे को इस तरह बोवें कि २ फीट की दूरी हो। अरहर जमने के बाद पौधों को निकाल कर ऐसा करें कि हर पौधे के बीच में २ फीट का दूरी रहे। केवल अरहर को पाला से बचाने के लिये एक बार उसी कतार में सिंचाई करें। ज्वार तथा लोबिया इत्यादि बोने के ३ महीने के बाद निकाली जा सकती है और अरहर कलियों को पकने पर। खरीफ के चारा के लिये उत्तम
४	ज्वार : ग्वार : लोबिया १० : ४ : ५	गोबर की खाद—१५गाड़ी सुपर फास्फेट —२५ सेर जिप्सम —२० सेर	ज्वार कतार में ५ फीट की दूरी पर लगावें बीच में ग्वार और लोबिया की कतार बराबर दूरी पर रखें। ३ महीने बाद चारा के लिये काट सकते हैं। खरीफ बिना सिंचाई।
५	धान : ज्वार २५ : २ धान जल्दी तैयार होने वाला। ज्वार बीज के लिये।	गोबर —१० गाड़ी सुपर फास्फेट —३० सेर जिप्सम — २०सेर एम० सल्फेट —२० सेर पोटाश-सल्फेट—१० सेर	खरीफ—बिना सिंचाई। परन्तु वर्षा न होने पर सिंचाई अनिवार्य। २ फीट की दूरी पर कतार से एक के बाद दूसरा बोवें। धान अक्टूबर के पहले सप्ताह में पकने पर काट कर ज्वार महीने के अन्त तक काट लेवें।
६	बाजरा : तिल : मूंग : अरहर १ : $\frac{3}{2}$: २ : २	गोबर —८ गाड़ी सुपर —२० सेर जिप्सम —२० सेर सुपर फास्फेट २० सेर सल्फेट अमोनिया-१० सेर सल्फेट पोटाश १० सेर	अरहर ६ फीट की दूरी पर कतार में लगावें बाकी शस्य २ फीट की दूरी देकर क्रम से लगावें। जमने पर यदि अरहर के पौधे अधिक हो तो निकाल कर कम कर लेवें। पाला से बचने के लिये, सिंचाई ऊसर को देवें।

७	गन्ना : लोबिया	सुपरफास्फेट—२ मन गन्ने में जो खाद दी हो वह यहाँ नहीं लिखी गई है।	६ इंच की दूरी पर गन्ने की फसल या मेड़ी के बीच में लोबिया या मूंग बोने से लाभ होता है। घास-फूस निकालें और खेत को गोड़कर ठीक रखें। लोबिया या मूंग मार्च-अप्रैल में लगा सकते हैं और पकने पर इनकी फसल प्रयोग में ले आवें।
८	रेंड़ी : लोबिया ३ : ४	पूरी खाद दें	निकम्मी भूमि के लिए उपयुक्त। सिंचाई की आवश्यकता नहीं। वर्षारम्भ के साथ बोवें। ५ फीट की दूरी पर रेंड़ी लगावें इसके १५ दिन बाद कतार में लोबिया लगावें। लोबिया नवम्बर में तैयार हो जाती है और अप्रैल तक रेंड़ी।
६	मक्का : लोबिया १६ : ६	गोबर —१५ गाड़ी सुपर —३० सेर जिप्सम —२० सेर सल्फेट एम०—२० सेर	मक्का चारे के लिये, लोबिया की हरी खाद तोड़ने के बाद अप्रैल-मई में बोवें। बोने के बाद प्रति पन्द्रहवें दिन सिंचा देवें। मक्का १½ महीने बाद चारे के लिए काट सकते हैं और लोबिया (फली तोड़ कर) वर्षा के साथ जोत देवें।
१०	अरहर : कपास २ ६ देर से तैयार होने वाली अरहर लगाना चाहिये	गोबर —६ गाड़ी खली —१ मन सुपरफास —२० सेर एक सल्फेट—२० सेर	मई के मध्य तक कपास और अरहर बोवें। अरहर १२ फीट की दूरी में कतार में और कपास कतार में २ फीट की दूरी पर लगावें। प्रति पौधा ३ फीट की दूरी पर रहे। फरवरी में गन्ना कपास की जगह पर लगावें। सिंचाई जमने के ३ सप्ताह बाद फिर करें।
	अरहर : मूंग २० : २ अरहर : उर्द २० : ३ अरहर : लोबिया २० : ४ लोबिया : उर्द ४ : ३ लोबिया : ज्वार ४ : ६	गोबर—१० गाड़ी सुपरफास्फेर ३० सेर जिप्सम २० सेर एम सल्फेट १० सेर	पाता के समय १ सिंचाई अरहर में देवें। फरवरी में खाली जगह में गन्ना बोवें (मूंग, उर्द, लोबिया आदि के काटने के बाद)। नोट : ऊपर दिये गए हर शस्य-मिश्रण में गोबर या कम्पोस्ट की खाद सड़ी हुई तैयार होनी आवश्यक है और फसल बोने के एक महीने पहले ही खेत में डाल दी जावें। सुपर और जिप्सम् दलहन वाली शस्य की कतार में भूमि से ३-४" नीचे बोने से ३ दिन पहले और एक सल्फेट या पोट् सल्फेट हल्की बूंदा बांदी के साथ पौधा के जमने के २-३ सप्ताह बाद डालें। यदि बूंदा बांदी न हो तो सिंचाई के साथ डालें सिंचाई आवश्यकतानुसार करें।

मंगल-ग्रह पर जीवन

श्री हरिभगवान, एम० एस-सी०, विज्ञानारत्न

रसायन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

कुछ समय पूर्व समाचार-पत्रों में उड़न तश्तरियों की बड़ी चर्चा हुई थी। संसार के प्रायः सभी क्षेत्रों में इनको देखा गया। कई प्रतिष्ठित पत्रों के प्रमुख संवाद-दाताओं ने स्वयं देखकर उनके उड़ने की विचित्र विधि का वर्णन भी किया। कुछ लोगों के अनुसार ये मंगल ग्रह वासियों के वायुयान थे। हाल में प्रकाशित दो पुस्तकों के लेखकों ने संकेत चिन्हों द्वारा मंगल ग्रहवासियों से किए गए अपने वार्त्तालाप का वर्णन भी किया है। क्या मंगल ग्रह में भी पृथ्वी के सदृश मानव हैं? क्या उस ग्रह में भी पृथ्वी की भाँति सभ्यता का उसी प्रकार विकास हुआ है।

पृथ्वी के ग्रह-पथ से बाहर की ओर मंगल दूसरा पड़ता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत से ही ग्रह-विज्ञान शास्त्री इस ग्रह की ओर आकर्षित हुए। इसके लाल रङ्ग के कारण इसको सरलतापूर्वक पहिचाना जा सकता है। उड़न-तश्तरियों के मंगल-ग्रह वासी चालकों में विश्वास करने वालों को यह जानकर दुख होगा कि आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान के अनुसार इस ग्रह पर पृथ्वी सदृश पूर्ण विकसित एवं सभ्य मानवों के होने की आशा अत्यल्प है, तथापि इसकी परिस्थितियों के अध्ययन के फलस्वरूप इस पर निम्नश्रेणी के जीवन पाए जाने की काफी आशा है।

मंगल ग्रह की परिस्थितियाँ :—

उपर्युक्त कथन की सत्यता मंगल ग्रह की परिस्थितियों के अध्ययन के फलस्वरूप स्पष्ट हो जाएगी। मंगल ग्रह का घेरा ४२१६ मील अर्थात् पृथ्वी से लगभग आधा है। फलतः इसके ऊपर की सतह पृथ्वी की अपेक्षा चौथाई है। किन्तु पृथ्वी और मंगल ग्रह का भूमि क्षेत्र लगभग समान है। इसका कारण यह है कि मंगल ग्रह पर कोई समुद्र नहीं पाए जाते। दोनों ध्रुवों पर पृथ्वी सदृश हिम-टोपियाँ अवश्य दिखलाई पड़ती हैं। ये ग्रीष्म काल में पिघलकर छोटी (शीत काल में जमकर बड़ी होती हुई) दिखाई देती हैं। मंगल ग्रह पर पर्वत श्रेणियाँ नहीं हैं। कदाचित् ध्रुवीय क्षेत्रों में दो-तीन हजार फीट ऊँची पहाड़ियाँ हों।

मंगल ग्रह का वर्ष पृथ्वी की अपेक्षा काफी बड़ा होता होता है। उसमें ६८७ दिन होते हैं। मंगलग्रह के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वहाँ मुख्यतया चार ऋतुएँ होती हैं। ये भी पृथ्वी की अपेक्षा काफी बड़ी होती हैं। ऋतुएँ इस प्रकार होती हैं :—

(१)	दक्षिणीय ध्रुव में वसंत एवं	उत्तरीय ध्रुव में पतझड़	—१४६ दिन
(२)	,, ,, , ग्रीष्म	,, ,, , शीत	—१६० दिन
(३)	,, ,, , पतझड़	,, ,, , वसंत	—१९९ दिन
(४)	,, ,, , शीत	,, ,, , ग्रीष्म	—१८२ दिन
			६८७ दिन

मंगल ग्रह की कीली का झुकाव प्राय: उतना ही है जितना पृथ्वी का है। यहाँ पहाड़ों और समुद्रों की अनुपस्थिति के कारण तूफान आदि नहीं आते, वर्षा भी बहुत कम होती है। मंगल ग्रह का दिन पृथ्वी के दिन के समान होता है। किन्तु रात्रि और दिन के तापक्रम में पर्याप्त अंतर हो जाता है। दिन में तापक्रम ८५° फ होता है किन्तु रात्रि में यह-३०° फ से लेकर—९०° फ तक नीचे हो जाता है। रात्रि एवं दिन के ताप में उस महान् अंतर से मंगलग्रह के जीवों को बड़ी कठिनाई पड़ती होगी। सम्भव है कि वहाँ के उच्चतम विकसित जीव शीत-रक्त वाले अर्थात् यहाँ के मेंढकों के समान हों। इस प्रकार के जीव के शरीर का ताप स्थिर नहीं रहता। वातावरण के ताप के अनुसार उनके शरीर का ताप बदलता रहता है। इस कारण उन्हें गरमी सरदी का भान नहीं होता।

मंगल ग्रह पृथ्वी की अपेक्षा कुछ अधिक ठंडा है। वहाँ का अधिकतम तापक्रम ८७° से ९०° फ तक और निम्नतम तापक्रम-९५° फ होता है। पृथ्वी का उच्चतम ताप १३६° फ है। १९२२ में त्रिपोली में यह ताप नापा देखा गया गया था। निम्नतम ताप साइबेरिया में १८९२ में—९०° फ नापा गया था।

मंगल ग्रह का वायुमंडल :—

मंगल ग्रह पर बादल २० मील तक ऊँचे पाए जाते हैं। पृथ्वी पर के बादल साधारणतया ६ मील से अधिक ऊँचे नहीं होते। इससे सिद्ध होता है कि मंगल ग्रह की गुरुत्वाकर्षण शक्ति पृथ्वी से काफी कम है। इस कारण पृथ्वी पर दो मन वाले व्यक्ति का मंगल ग्रह पर केवल ३०½ सेर भार होगा। मंगल ग्रह पर हवा का दबाव भी बहुत कम है। पृथ्वी पर साधारण रीति से हवा का दबाव ७६ सें० मीं० होता है अर्थात् पारे की कटोरी में औंधी खाली नली में पारा हवा के दबाव से ७६ सें० मी० ऊपर उठ जाता है।

यद्यपि मंगल ग्रह पर बादल देखे गए हैं तथापि वहाँ जल की बहुत कमी है। पृथ्वी की अपेक्षा वहाँ जल का केवल चालीसवाँ भाग पाया जाता है। वायुमंडल में जल-वाष्प की कमी के साथ-साथ आक्सीजन की भी कमी पाई जाती है। पर इसके विरुद्ध कार्बन डाई-आक्साइड की अधिकता है। वानस्पतिक जीवन के लिए तो अधिक कार्बन डाई-आक्साइड हानिकर नहीं होती किन्तु मानवीय एवं जन्तु जीवन के लिए अधिक कार्बन डाई-आक्साइड विष का सा काम करती है। पृथ्वी के वैज्ञानिक यदि भविष्य में राकेट द्वारा मंगल ग्रह तक यात्रा करने में सफल हुए तो उनको अपने को जीवित रखने के हेतु आक्सीजन ले जाना पड़ेगा।

दिन और रात में ताप का भारी अन्तर, आक्सीजन और जल की कमी तथा कार्बन डाई-आक्साइड की अधिकता से ज्ञात होता है कि मंगल पर पृथ्वी सदृश जन्तु जीवन की कोई आशा नहीं है। आज कल वहाँ पर मानव की कल्पना करना वैज्ञानिक कहानी लेखकों की कल्पना के समान है।

मङ्गल ग्रह पर वनस्पति

अवरक्त (infrared) एवं अति बैंजनी (ultraviolet) प्रकाश की सहायता से दूरदर्शक यन्त्र द्वारा मंगल ग्रह को देखने पर ज्ञात हुआ कि वहाँ कुछ विशिष्ट रंगीन क्षेत्र हैं। पहले तो यह समझा जाता था कि ये समुद्र हैं किन्तु आधुनिक ज्ञान के अनुसार यह प्रायः निश्चित सा है कि ये रेगिस्तान हैं। यदि दक्षिण अमरीका के रेगिस्तानों को किसी बाहरी ग्रह से दूरदर्शक यन्त्र द्वारा देखा जाय तो वे भी रंगीन दृष्टिगोचर होंगे।

इन रंगीन क्षेत्रों के सम्बन्ध में सबसे मनोरंजक बात यह है कि ऋतु के अनुसार इनके रंगों में अन्तर होता रहता है। हल्के हरे से रंग गहरा हरा हो जाता है और तत्पश्चात् सुनहला पीला। ऋतु के अनुसार इस प्रकार रंग के परिवर्तन से यह स्पष्ट है कि मंगल ग्रह पर किसी प्रकार की

वनस्पति अवश्य है। रंग-परिवर्तन वस्तुतः वनस्पति की वृद्धि और पकने के कारण होते हैं इस प्रकार की व्याख्या से मंगल ग्रह पर वनस्पति होने की संभावना अत्यधिक है।

मङ्गल ग्रह की नहरें

१८७७ ई० में इटली निवासी प्रसिद्ध ग्रह-नक्षत्र शास्त्री शियापैरेली ने दूरदर्शक यन्त्रों से कुछ सीधी रेखाओं को देखा। उसने इनको नहरों का नाम दिया है। १८९४ ई० में लावेल नामक दूसरे प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने इनको देखा और इन पर विस्तारपूर्वक शोध कार्य किया। ये नहरें इतनी सीधी और ज्यामितीय नमूने की जान पड़ती हैं कि ऐसा मालूम होता है कि प्रकृति के कार्यों में हस्तक्षेप करके किसी बुद्धियुक्त जीव ने इनका निर्माण किया है। इन नहरों की व्याख्या करने के लिए ही मंगल ग्रह पर पृथ्वी सदृश मानवों की कल्पना की जाती है।

आधुनिक ज्ञान के अनुसार ऐसा माना जाता है कि यद्यपि ये नहरें एक निश्चित ज्यामितीय नमूने की जान पड़ती हैं तथापि वे वैसी नहीं हैं। यदि कभी मंगल ग्रह की नहरों को सीधा और निश्चित ज्यामितीय रूप का सिद्ध किया जा सकेगा तो इससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा कि या तो पहले वहाँ सभ्यता का विकास हुआ था या अब भी यहाँ की सी अथवा उससे भी उच्चतर सभ्यता वहाँ विद्यमान है। मंगल ग्रह तक जाने वाले भावी राकेट-यात्रियों के लिए यह समस्या ज्यों की त्यों बनी रहेगी।

जीवन और परिस्थिति अनुसार परिवर्तन

जीवों में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन करके जीवन को स्थिर रखने एवं चलाने की इतनी अधिक क्षमता है कि कठिन से कठिन परिस्थितियों में उसकी उपस्थिति को असंभावित नहीं किया जा सकता। पहले यह समझा जाता था कि जीवन के लिए आक्सीजन गैस सबसे अधिक आवश्यक है और उसकी अनुपस्थिति में जीवन असंभव है। अब ऐसे कीटाणु भी ज्ञात हैं जो आक्सीजन की अनुपस्थिति में भी जीवित रहते हैं, तो पृथ्वी के समान परिस्थितियों में ही जीवन की सम्भावना की कल्पना करने की धारणा भ्रममूलक है। पृथ्वी से भिन्न परिस्थितियों एवं वातावरण में विभिन्न प्रकार के जीवन का भी विकास हो सकता है—इस कथन से मंगल ग्रह पर जीवन होने की आशा बलवती हो जाती है।

मंगल ग्रह के ऋतु-कालीन रंग-परिवर्तनों के कारण वहाँ वानस्पतिक जीवन होने की तो पूर्ण आशा है। वहाँ की नहरों की व्याख्या करने के लिए बुद्धियुक्त जीव की भी कल्पना करनी पड़ती है किन्तु वहाँ की परिस्थितियों के अध्ययन से बुद्धियुक्त पृथ्वी सदृश मानवीय जीवन होने की सम्भावना बिल्कुल नहीं है। भविष्य के अनुसंधान एवं राकेट यात्राएँ इस विषय पर अधिक प्रकाश डाल सकेंगी।

———

धरती की आयु और विकास

जब धरती के जन्म होने की कथा ही निस्संदिग्ध नहीं कही जा सकती तो उसकी आयु का निर्धारित करना जटिल प्रश्न ही है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने इस स्थिति में भी कुछ पुष्ट अधारों पर धरती की आयु निश्चित करने के उद्योग किए हैं। एक निर्दिष्ट वर्षों की संख्या में धरती की आयु मानना हो तो सबसे सुगम उपाय तो किसी देश की कुछ पुरानी रूढ़िगत मान्यताओं या अंध-विश्वासों या पौराणिक कथाओं का आश्रय लेना ही है। विदेशों में एक पादरी को धरती का जन्म ईसा के ठीक ४००४ वर्ष पूर्व होने की घोषणा करते पाया जाता है। हमारे देश में पुराणों में भी सृष्टि की आयु दी हुई है। एक भारतीय कालगणना के अनुसार सृष्टि की आयु १ अरब, ९७ करोड़ २९ लाख आदि निर्दिष्ट संख्याओं में द्वारा बताई जाती है। आज का विज्ञान ऐसी कोई निर्दिष्ट संख्या धरती की आयु के वर्षों को बताने के लिए सामने रख सकने में असमर्थ है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि कुछ अरब वर्षों पहले धरती की उत्पत्ति हुई होगी।

यदि कोई निश्चित बात कह कर उसके सच्चेपन का प्रमाण रखने का उत्तरदायित्व दूर फेंक देना हो, तब तो कोई भी कहने-सुनने की बात अनहोनी या असंभाव्य हो ही नहीं सकती। परन्तु विज्ञान इस मार्ग का अनुसरण नहीं करता। धरती की ही आयु की बात ले लीजिए। वह जो कुछ भी आयु की संख्या घोषित करने की बात सोचे, उसे हर प्रकार से विश्वस्त और प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए तैयार रहना पड़ेगा। इसी लिए कुछ निश्चित बँधी संख्या में धरती की आयु वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकट नहीं की जाती। कुछ क्रियाओं में अवधि की मात्रा लगती देख कर उस हिसाब से धरती की उत्पत्ति से आज के विकास तक के परिवर्तनों का समय पूरा कर आयु समझने का उद्योग किया गया है।

धरती की आयु बताने के लिए भूगर्भ विज्ञान के दो विभिन्न साधन हैं, एक से तो समुद्र की आयु का पता लगता है और दूसरी से भूखंडों या महाद्वीपों की आयु ज्ञात होती है। हमें समुद्र की आयु जानने में उसके खारेपन की मात्रा से विशेष सहायता मिल सकती है।

महासागरों में जितना खारापन है, उसे ३ प्रतिशत घुला लवण कह सकते हैं। यदि सारे समुद्र से लवण की यह मात्रा किसी प्रकार सुखा कर निकाली जा सके तो भारत ऐसे बड़े देश की सारी भूमि पर चार मील ऊँची ढेरी एकत्रित की जा सकती है। इतना अधिक लवण समुद्रों में कहाँ से आया, यह प्रश्न विकट लगता है, परन्तु हम आज भी नदी-नालों को भूभागों का लवण पानी में घुला-घुला कर समुद्रों में पहुँचाते देखते हैं। जब भूमि पर पानी बरसता है तो वह भूमि के लवणों को घुलाकर अपने बहाव के साथ प्रवाहित कर ले जाता है। समुद्र में इस तरह का घुला लवण देश देशान्तरों से आ आकर भरता रहता है। धूप के प्रयोग से समुद्र का बहुत-सा पानी भाप बनकर आकाश में उठ जाता है और फिर भूभागों में उसे जा कर बरसा देता है। यह पानी का फेरा या चक्कर है जो सदा चला करता है।

इधर से उधर और उधर से फिर इधर चक्कर लगाने की क्रिया पानी को तो करनी पड़ती है। परन्तु लवण इतना भ्रमणशील नहीं होता। वह एक बार नदी-नालों के वर्षा कालीन या वर्ष के अन्य भागों

में भी जल प्रवाह में घुलित होकर जब किसी प्रकार भूखंड से बिछुड़ जाता है तो फिर इस ओर लौट आने के लिए उसके लिए मार्ग नहीं रहता। भाप तो हवा से हल्की हो सकती है इसलिए उसकी प्रचुर मात्रा समुद्र से आकाश में उठती है और कहीं अन्यत्र जाकर बरसती है। परन्तु बेचारा लवण पंगुहीन हो गया रहता है। उसमें किसी भी रूप से पुनः आकाश में उठने या भूभागों में लौट आने की क्षमता नहीं होती। इस प्रकार सृष्टि के आदिम युग से आज तक समुद्र में लवणों की मात्रा पहुँचते रहने का अबाध क्रम चलता आया है जो आज भी जारी है। वही समुद्र के पानी के खारेपन का कारण है। समुद्र में आज प्रतिवर्ष लवण की कितनी मात्रा पहुँचती है, कुल मात्रा के एकत्रित होने में कितना समय लगा होगा। यह प्रसंग वैज्ञानिकों के सम्मुख विवेचन के लिए आया है। जिसका कुछ उत्तर ढूँढ़ा गया है।

भूगर्भवेत्ताओं के अनुमान से संसार भर की नदियाँ प्रति वर्ष सवा ग्यारह अरब मन (४० करोड़ टन) लवण समुद्र में पहुँचाती हैं। आज के समुद्र में इससे दस करोड़ गुना अधिक लवण विद्यमान है इसको संख्या में बताना हो तो ४० पद्म टन या सवा ग्यारह शंख मन लवण की मात्रा आज समुद्रों में विद्यमान होगी, अतएव इस हिसाब से समुद्रों को आज की इतनी मात्रा का लवण नदियों द्वारा भूखंडों से उनतक इसके जल के साथ पहुँचाने की क्रिया होने वाले वेग की दृष्टि से दस करोड़ वर्ष में संचित हो सका होगा किन्तु इस अवधि को पचीस-पचास गुना अधिक ही करना पड़ेगा क्योंकि आज भूमि का जितना अधिक क्षरण होता है, उसकी अपेक्षा पूर्व समयों में न्यून क्षरण ही होता था।

पहले आज की अपेक्षा अल्पसंख्यक पर्वत-श्रेणियाँ ही थीं अतएव उच्चतल से निम्नतल गमन-धर्मी नदियाँ कम ही रही होंगी, इस कारण भूत-कालीन भौगर्भिक युगों में सदा आज से बहुत न्यून भूक्षरण ही होता रहा होगा। आज के समुद्रों में लवण के अधिक से अधिक घुल सकने की सीमा जिसे संपृक्त होना कहते हैं, नहीं पहुँच सकी है अत-एव जब पानी का लवण घुलाकर अपने कलेवर में आत्मसात कर लेने का स्वभाव ही है और नदियाँ चिरकाल से निरंतर उनतक लवण-वहनकार्य द्रव रूप में करती ही आ रही हैं तो संपृक्त अवस्था समुद्री जल की न हो सकने से यह निश्चय ही कहना पड़ता है कि समुद्र एक सीमित अवधि से ही विद्यमान हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि उनकी उत्पत्ति आज से कुछ अरब वर्षों पूर्व हुई होगी।

भूखंडों की आयु निर्धारित करने के भी उपाय किये गये हैं। भूखंड या महाद्वीप जिन शिलाओं से बने हैं उनकी आयु का पता लगाकर महाद्वीपों की आयु आंकी जा सकती है। यह ज्ञात हो चुका है कि विभिन्न शिलाओं के अंतर्गत थोड़ी मात्रा में कुछ ऐसे पदार्थ पाये जाते हैं जिनको रश्मिविकिरण धर्मी या रश्मिशक्तिक (रेडियो ऐक्टिव) कहा जाता है। ये पदार्थ यूरेनियम, थोरियम आदि हैं। ये धीरे-धीरे अपने कलेवर को बिखेर कर अधिक क्षीण रूप का तत्व बनने लगते हैं और अंत में सीसा बन जाते हैं। शिला का पहले द्रवित रूप रहने के बाद जब ठंडा बनकर ठोस रूप बन जाता है तो उनके अंदर की विद्यमान रश्मिशक्तिक वस्तु से बिखरा सीसा भीतर ही पड़ा रह जाता है।

इस सीसे का जन्म उसके रश्मिशक्तिक पदार्थ से ही हुआ रहता है, जिसे साधारण सीसे से कुछ विभिन्न रूप का पाया जाता है। अतएव किसी शिला के अंतर्गत रश्मिशक्तिक पदार्थ और उसके कुछ अंश से विकिरित होने या कलेवर बिखेरने से बने सीसे की मात्राओं की तुलना कर उस शिला की आयु ज्ञात की जा सकती है। रश्मिशक्तिक पदार्थ को अपना अंग बिखेर या क्षीणकर सीसा बनने में कितनी अवधि लगती है, यह भौतिक विज्ञान को ज्ञात हो सका है, अतएव एक निर्धारित मात्रा की मूल रूप में रश्मिशक्तिक वस्तु के स्थान पर कुछ अंश इस शक्ति या क्रिया से हीन होकर सीसा बनने पर सीसा और

शेष रूप में आज विद्यमान रश्मिशक्तिक यूरेनियम या थोरियम की मात्रा के अनुपात से यह ज्ञात होता है कि किस समय वह शिला ठोस रूप धारण कर जन्म ले सकी होगी। उससे हम उस भूखंड की आयु भी ज्ञात कर सकते हैं जिसका अंश वह शिला बनी होगी।

यदि हम किसी ऐसी भट्ठी का अनुमान करें जिसकी राख बाहर फेंकी नहीं जा सकती है तो निरंतर उस भट्ठी के जलते रहने पर जितनी राख और बिना जले कोयले की मात्रा का अनुपात हो सकता है उसे देखकर हम नित्य उस भट्ठी में जलने वाले कोयले की मात्रा और जलने पर प्राप्त राख से तुलना कर यह ज्ञात कर सकते हैं कि वह कितनी अवाध से जलती आ रही है। यही दशा रश्मिशक्तिक पदार्थों रूप की भट्ठी का है जिसमें राख की जगह हम सीसा पाते हैं और जलनेवाले कोयला की जगह, रश्मिशक्तिक पदार्थ यूरेनियम या थोरियम पाते हैं। उनके जलने का वेग और उससे मिलने वाली राख अर्थात् शीशे की यात्रा का भी हमे ज्ञान है अतएव यदि विज्ञान आज से अत्यंत भूतकालीन युगों की प्रारंभ हुई क्रियाओं का अनुमान कर शिलाओं की आयु निर्धारित करने का प्रयास करता है तो वह कपोल कल्पना या मनगढ़ंत बात नहीं कही जा सकती।

इस विधि का प्रयोग कर हमे ज्ञात होता है कि विभिन्न भौगर्भिक युगों की विभिन्न शिलाओं की आयु क्या होगी इस तरह भूखंडों की प्राचीनतम शिलाओं की अधिक से अधिक प्रमाणित आयु कुछ अरब वर्ष ज्ञात होती है। किन्तु यह महाद्वीपों की अधिकतम आयु यही कही जा सकती है। उनकी रचना हुए अधिक से अधिक इतने वर्ष व्यतीत हुए होंगे। धरती की आयु भी इसी को मानना चाहिए।

धरती की आयु का प्रश्न सामने आने पर हमारा ध्यान सृष्टि की आयु की ओर भी जाता है। उसके निर्धारण के भी प्रयत्न किये गये हैं। कुछ बोधगम्य प्रमाणों की चर्चा भी की जा सकती है। सूर्य या अन्य तारात्रों की उष्णता का क्या आधार हो सकता है, इस पर अधिक समय से गहन विचार होता आया है। भिन्न-भिन्न समयों में विद्वानों द्वारा विभिन्न मन्तव्य प्रस्तुत किये जाते रहे। परन्तु सूर्य या सब तारागणों के कलेवर में उष्णता उत्पन्न करने वाला स्रोत, हाइड्रोजन (सब से छोटा या हल्का तत्व) आज सर्वमान्य रूप में माना जाता है। परमाणु के विशेष अध्ययन और काया-पलटों की क्रियाओं का ज्ञान होने से ही यह सिद्धांत सर्वमान्य हो पाया है। सूर्य या तारा अपने उष्ण गर्भ में हाइड्रोजन के परमाणु को एक श्रेणी ऊपर के दूसरे तत्व हीलियम के रूप में परिवर्तन करते रहते हैं। हीलियम का बीज केन्द्र हाइड्रोजन के बीज केन्द्र का चौगुना होता है।

विद्वानों ने मौखिक रूप में ही ज्ञात नहीं किया है बल्कि प्रयोगों से तथ्य सिद्ध किया है कि छोटी इकाई के बीजकेन्द्र एकत्र होकर जब बड़ी इकाई का बीजकेन्द्र बनाते हैं तो आबद्ध रूप की बड़ी इकाई होने से पदार्थ की कुछ मात्रा न्यून ही लगती है। इस कारण हाइड्रोजन की छोटी इकाई वाले बीजकेन्द्र को बड़ी इकाई या हीलियम के बीजकेन्द्र बनने में अपनी कुछ मात्रा अतिरिक्त या शेष बनाकर क्षीण कर देनी पड़ती है। यह क्रिया ही उष्णता या शक्ति उत्पन्न करती है या दूसरे शब्दों में यह कहा जाय कि यह अतिरिक्त पदार्थों की मात्रा ही उष्णता या शक्ति रूप में पलट जाती है। यह विज्ञान की नई खोज ही है कि पदार्थ ही शक्ति है और शक्ति ही पदार्थ है परन्तु हमारी सीमित शक्तियाँ पदार्थ को सहज ही शक्ति या उष्णता रूप में परिवर्तित करने में जहाँ अक्षम्य-सी होती है, वहाँ तारा या सूर्यों के कलेवर का असीम उत्ताप सहज ही यह कायापलट या पदार्थ-ध्वंस की क्रिया कर दिखलाता है। पदार्थ की इतनी अधिक मात्रा ध्वस्त होती है और उस न्यूनतम मात्रा से ही इतनी अधिक उष्णता या शक्ति उत्पन्न होती है कि हमारे अनुमान में भी वह बात जल्दी नहीं आती

फिर भी इस सतत क्रियाशील पुरातन प्राकृतिक नियम से तारागण अपनी ज्योति और उष्णता की उत्पत्ति इस प्रकार किया करते हैं। मनुष्य तो अभी उसका श्रीगणेश ही करने जा रहा है।

तारागणों या सूर्य की आयु जानने में पदार्थ के ध्वंस से उष्णता या शक्ति प्राप्त करने की क्रिया की सहायता ली गई है। जिस स्वाभाविक वेग से सूर्य या कोई तारा पदार्थ-ध्वंसन या उष्णता-उत्पादन क्रिया करता है उसी के अनुरूप उसकी आयु निर्धारित होती है। कोई तारा किस वेग से उष्णता उत्पन्न करता है और उसमें उष्णता उत्पन्न करने वाले मूल पदार्थ, हाइड्रोजन की कितनी मात्रा आदि समय में रही होगी, इन बातों के ज्ञान से उनकी आयु जानी जाती है। यह तथ्य है कि किसी तारा के कलेवर में विद्यमान पदार्थ की जितनी मात्रा होती है उसके घन रूप में ही उस तारा की चमक होती है। और उसके अन्दर हाइड्रोजन रूप में ईंधन की मात्रा उसकी कुल पदार्थमात्रा के अनुपात में ही होती है। साधारणतया किसी तारा में कुल पदार्थ की जितनी मात्रा होती है उसका आधा सबसे छोटे रूप का तत्व, हाइड्रोजन ही होता है।

दूसरी बात यह है कि जो तारा जितना अधिक चमकीला होता है वह मन्दतर अन्य तारे की अपेक्षा अधिक वेग से अपने पदार्थों का ज्वलन या ध्वंस करता पाया जायगा। और वह जितनी-मात्रा का निर्मित होगा, उसके वेग के बराबर उसके कुल आयु की अवधि होगी। हमारा सूर्य अपेक्षाकृत मंद तारा है। इसलिए इसके पूर्ण आयु की अवधि दस अरब वर्ष कही जा सकती है। इतनी अधिक आयु की जब पूर्ण अवधि सूर्य की होगी तो अभी तो वह कुछ अरब वर्षों का ही हो सका है जिससे उसको युवा तारा ही कहेंगे।

जो तारा सूर्य से ४० प्रतिशत अधिक भार के हैं, उनमें इसके दुगुने वेग से ज्वलन क्रिया होती है अतएव उनकी आयु की पूर्ण अवधि सूर्य की कुल आयु की अवधि का आधा, पाँच अरब वर्ष ही होगी। आकाश मंडल के तारागणों का अध्ययन करने वाले विद्वानों का कहना है कि उतनी अधिक मात्रा के तारे हाइड्रोजन का भण्डार प्रायः समाप्त ही कर चुके हैं। इस ईंधन की न्यूनता को उनकी चमक के व्यतिक्रम रूप में प्रकट होते देखा जाता है। वे अपने वृहद आकार को नाड़ी की गति की तरह कभी बहुत प्रदीप्त और कभी मंद ज्योति का कर प्रकाश के भारी उतार चढ़ाव का दृश्य रखते हैं। इनको ही रूप-परिवर्तक तारे कहते हैं। इनकी ही तरह वे भयानक विस्फोट करने वाले तारे भी हैं जो नोवा या महान नोवा कहलाते हैं और ज्योति का एक बार ही विस्फोट कर अस्तित्व हीन हो जाते हैं।

इन रूपपरिवर्तक या न्यून अधिक प्रकाश दिखाने और प्रकाश के विस्फोट वाले तारों को देख कर यह अनुमान होता है कि हमारी नीहारिका या आकाश गंगा (हमारी आखों से दिखाई पड़ने वाला प्रायः पूरा तारा लोक) के अधिकांश तारों की उत्पत्ति आज से पाँच अरबों वर्ष पूर्व हुई होगी। इनमें जो प्रकाश की तीव्रता और मंदता के भारी उतार चढ़ाव के दृश्य उपस्थित करने वाले रूपपरिवर्तक तारे हैं, वे मरण काल की वेदना सी प्रदर्शित करते हैं और उनका अंत हो रहा है।

तारा लोक की आयु बताने का एक अन्य भी साधन प्राप्त किया गया है। समस्त सृष्टि में हमारी आकाश गंगा की तरह अन्य अरबों तारा लोक हैं जिनको प्रायः हम अपनी नंगी आखों से नहीं देख पाते। प्रबल दूरदर्शक यंत्रों से वे दिखाई पड़ते हैं। वे तब कदाचित पहले एकत्र ही पदार्थ के महान घटाटोप रूप में ही पड़े थे। उनसे उनका पृथक रूप बन कर अन्यत्र फैलने का अवसर आया। वे विभिन्न तारा लोक (नीहारिकाएँ) आज भी दूर-दूर भागे जा रहे हैं जिनके हमारे तारा लोक से दूर पहुँचने के वेग और दूरी का पता किरणों के विचित्र रूप के चित्रण और अध्ययन से ज्ञात किया जाता है। तिपहल शीशे में हम जो सात रंग देखते हैं,

उन रंगों को प्रकाश लहर के विभिन्न लंबान का रूप कहा जाता है। उनमें लाल को सब से लंबे रूप की लहर माना जाता है, और कासनी रंग को छोटे से छोटे रूप का। किरणों के चित्र की पट्टी में लाल रंग की पट्टी यदि दूर खिसकती जान पड़े तो उसको उत्पन्न करने वाली वस्तु दर्शक से दूर जाती होगी। इसी तरह तारालोकों के प्रकाश में खिसकाव पाकर ज्ञात किया गया है कि वे एक दूसरे से दूर होते जा रहे हैं। वे किस वेग से दूर जाते हैं और एक दूसरे से या हम से कितनी दूर हो चुके हैं, इनके अध्ययन से यह पता लगाया गया है कि मूल रूप के एकत्रित पदार्थ-केन्द्र से उनको आज की दूरी तक जाने में कितना समय लगा होगा। इस से भी ज्ञात होता है कि तारालोकों की उत्पत्ति पाँच अरबों वर्ष पूर्व हुई होगी। सृष्टि के उत्पन्न होने की इस अवधि से ही हमारी धरती की उत्पत्ति काल का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इसतरह के कई प्रकार के बाह्य और आंतरिक प्रमाणों के आधार पर ही वैज्ञानिकों ने धरती की आयु निर्धारित करने का प्रयास किया है।

धरती की उत्पत्ति किस प्रकार हुई और कैसे उसका विकास कैसे हुआ, इसका चित्रण आज कठिन है, परन्तु प्रकृति में अरबों वर्ष पूर्व जो घटना घटित हुई, उसका रेखाचित्र आज की वर्तमान स्थितियों और उनको प्रस्तुत करनेवाली शक्तियों के विधान को समझ कर किसी प्रकार अंकित किया जा सकता है। यदि यह बात मान ही ली गई कि धरती का पूर्वतम रूप प्रदह्यमान वायव्यों के सतत नर्तनशाली गोले के समान था, तो उसके शीतल रूप धारण करना पारंभ करने पर एक अद्भुत दृश्य ही उपस्थित हुआ होगा। उत्तप्त कड़ाही में पानी की बूँदें पड़ने पर हम उसका अविलंब लोप होते देखते हैं। तवे या कड़ाही में तेल की छौंक में विलंब करने पर पानी से धोई सब्जी के पड़ते ही ज्वाला की लहर फूट निकलते देखते हैं। यह हमारे घरेलू कृत्यों के अत्यंत क्षुद्र दृश्य हैं किन्तु धरती के उस भयानक गोले के रूप की कल्पना की जाय जो पूर्व में पूर्णतः प्रज्वलित वायव्य (गैस) रूप में ही रहने के पश्चात् द्रव राशि बनी हो और कुछ ठोसपन का आभास देने लगी हो तो स्थिति की भयानकता कुछ अनुमानित हो सकती है।

धरती के वायव्य रूप से पूर्ण द्रव रूप होने के बाद भी कलेवर के अन्तर्तम की रश्मिशाक्तिक वस्तुएँ अपनी क्रिया से अंतर्भाग के ताप को अक्षुण्ण ही नहीं रख सकी होंगी कदाचित बढ़ा भी सकी होंगी किन्तु धरातल पर अवश्य ही द्रव रूप रहने के समय से ही स्थिति परिवर्तित होने लगी होगी। ताप का विकिरण होकर ऊपरी तल का रूप क्रमशः शीत बनने के लिए उन्मुख होने लगा होगा। धरातल का तापमान इतना गिर गया होगा कि तल पर का द्रव भाग ठंडा पड़कर ठोस बनने लगा और ठोस पपड़ी का निर्माण हुआ।

ठोस पपड़ी के बनने पर उसके नीचे के द्रवरूप में पड़े पदार्थों में भीषण उष्णता रहने के कारण नीचे से ऊपर तक लहरें उमड़ने के खेल होते रहे होंगे जिनको धरातल तक पहुँचने देने में ठोस पपड़ी कुछ बाधा डालने का प्रयास करती होगी। किन्तु धरती के कलेवर की अधिकांश राशि के उत्तप्त रह कर भीतरी भाग से बल पूर्वक उमड़ते रहने पर बेचारी निर्बल कृषकाय पपड़ी कहाँ तक दबाए रह सकती होगी। फलतः ठोस रूप को भस्मसात कर अपनी द्रव काया की लपेट में ही उसे भी लुप्त करने का तुमुल संघर्ष चलता रहता होगा।

द्रव और ठोस रूपों के संघर्ष में एक परिणाम तो स्पष्टतः हमारी कल्पना के अनुसार हुआ होगा। दही को तीव्रवेग से मंथित करने पर घी के अंश को हल्केपन के कारण ऊपरीतल पर आ पहुँचते देखा जा सकता है। लोहे की विकराल भट्ठियों में कच्ची धातु के गलाने पर हल्के रूप की वस्तुएँ मैल बनकर ऊपरी तल पर आ जाती हैं और भारी लोहा द्रव बना नीचे पड़ा रहता है। इसी तरह प्रकृति की

विशाल कड़ाही में धरती के निर्माण करने वाले उत्तप्त पदार्थों के मंथित होते रहने से लोहा, निकल आदि भारी वस्तुएँ भीतरी भाग में दबती गईं और पाषाण रूप के ग्रेनाइट, बसाल्ट आदि के हल्के पदार्थ ऊपरी भागों में फेंक दिए गए।

जब पाषाण के द्रवित पदार्थों ने ऊपरी तल पर ठंडा बनकर ठोस पपड़ी का रूप धारण कर लिया तो धरती के नीचे की गर्मी अपने प्रभाव को पपड़ी के नीचे ही रखने लगी। उधर पपड़ी क्रमशः ठंडी होकर मोटी पड़ती गई। जिस समय पपड़ी के तल का रूप विशेष ठंडा न पड़ा गया होगा, उस समय के भूतल की स्थिति का चित्रण किसी प्रज्वलित भट्ठी की भीतरी दीवाल के समान ही हो सकता है। उस पर से श्वेत उत्तप्त बनी वस्तुएँ अर्ध द्रव रूप में आकाश में उछाल मार मार कर अग्निप्रलय का भीषण दृश्य उपस्थित करती होंगी।

उन दिनों धरती पर वायु का कहीं नाम भी नहीं था। पाषाणों का इतना उत्तप्त रूप था कि पानी की भाप का दर्शन होने या पानी रूप में जमने की बात अकल्पनीय ही थी। सच पूछिए तो पानी की भाप के बादलों का तो कहीं नाम भी नहीं हो सकता था। उसके बदले नई ठोस पपड़ी बनने के साथ तो पपड़ी के ऊपर से भयंकर प्रज्वलन क्रिया से उत्पन्न उत्तप्त धूम राशि ही उमड़ती दिखाई पड़ती होगी। इस तरह धरातल से सैकड़ों मील ऊपर तक ज्वाला ही ज्वाला का विकट, लोमहर्षक साम्राज्य व्याप्त रहा होगा।

क्रमशः इस स्थिति का परिवर्तन हुआ। पपड़ी में नीचे से आ आकर द्रवित पाषाणों ने उसके कलेवर वृद्धि की, वह मोटी पड़ती गई। उष्णता के मेघ पराभूत होकर शीतलता के दूत जल बूँदों को मचल मचल कर धराखंड की चिर अतृप्त तृषा के शमन के लिए व्योम मंडल में अठखेलियाँ खेलने के लिए स्थान देने के लिए विवश हुए।

धरती का आज का रूप विकसित होने तक की आयु को युगों में विभाजित करने का प्रयास किया गया है। इस तरह का वैज्ञानिक रूप का विभाजन एक विद्वान ने अठारहवीं सदी में किया था जो बफन नाम से प्रसिद्ध है। उसने पृथ्वी के इतिहास के सात विभाग कर उनको युगों के नाम से प्रसिद्ध किया। उसके अनुसार पहला युग उसने ३००० वर्षों की अवधि का बताया। उसके बाद ३५००० वर्षों की अवधि का उसने दूसरा युग निर्धारित किया। पहले युग में धरती दहकते हुए वायु के रूप से द्रवित रूप में आयी। यह युग बीतने पर दूसरा युग धरती को द्रवित रूप की जगह धीरे-धीरे जमा रूप बना कर ठोस तल बना सका। तीसरा युग पन्द्रह बीस हजार वर्षों की अवधि तक था जिसमें आकाश से जल की भाप पानी बनकर भूतल पर बरसने लगी, जिस से सार्वभौम रूप का समुद्र भूतल पर छाने लगा। इसी समय धरती पर पानी में पहले पहल जीव का उदय हुआ। इसी समय समुद्र की तली में जमी हुई तलछट तलछटीय शिलाओं का निर्माण करने लगी। चौथे युग की अवधि ५ हज़ार वर्षों की थी। इस युग में समुद्र का पानी खिसकने लगा और ज्वालामुखियों में उद्गार का दृश्य उपस्थित हुआ। अंत में तीन अन्य युग आये जिनमें अधिक उन्नत जीवों का उदय हुआ और उनके सम्राट रूप में मानव का उद्भव हुआ।

बफन की यह कल्पना धरती के इतिहास निर्धारण का प्रारंभिक प्रयास थी। इसमें बहुत कुछ परिवर्तन करने पड़े। इतनी कम अवधि से धरती पर की अन्य स्थितियों, क्रियाओं, प्राचीनता के प्रमाण स्वरूप विद्यमान वस्तुओं की संगति न बैठने लगी। कुछ दिनों तक तो वैज्ञानिक जगत में भी बफन की इस कल्पना को एक धार्मिक मत सा अपरिवर्तनीय सिद्धान्त या मंतव्य माना जाता रहा। रूढ़िवादी दल इसमें कुछ भी परिवर्तन स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं होते। घोर वाद विवाद होते और प्रबल प्रमाणों को पाकर भी पृथ्वी के इतिहास को इससे अधिक लंबी अवधि का न बनाया जाता। इसी तरह कभी सार्वभौम समुद्र के प्रसार की भी

बात थी जो आज प्रमाणित बात नहीं मानी जाती। संसार का समस्त धरातल सार्वभौम रूप में जलमग्न रहने के प्रमाण किसी भी रूप में नहीं पाये जाते। इसी तरह पृथ्वी की आयु भी हजारों लाखों वर्षों की जगह करोड़ों वर्षों के विभिन्न युगों में विभाजित मानी जा सकी है और संपूर्ण आयु तो कई अरबों वर्ष की ही मानी जा रही है।

बफन ने धरती के इतिहास का भिन्न-भिन्न क्रमिक विभाजन करने का प्रयास करने पर भी उसकी पूर्ण आयु जानबूझ कर निर्धारित नहीं की थी। उन विभाजनों की अनुमानतः जो अवधियाँ उसने निर्देशित कीं, उनको मिलाने पर कुल आयु लगभग ६००० वर्ष आती थी। कालान्तर में इस अवधि को बिल्कुल ही अपर्याप्त देख कर लोगों ने इसे एक लाख वर्ष तक बढ़ाया किन्तु उससे भी सब प्रमाणों और स्थितियाँ की संगति न बैठते दिखाई पड़ने पर ४० करोड़ वर्ष तक माना। वह आयु विज्ञान-जगत ने अरबों वर्ष में प्रदर्शित करने की सहमति प्रमाणों से विवश होकर आज दी है।

आयु की अवधि और धरती के ठोस धरातल बनाने की क्रिया तक उसके विकास का कुछ रूप हमने ऊपर बताने का प्रयत्न किया है। यह पृथ्वी के इतिहास का प्राक्कथन सा कहा जा सकता है। इसके बाद उसके इतिहास की यथार्थ या प्रामाणिक कथा का श्रीगणेश-सा होता है।

जब धरती की पपड़ी का ठोस रूप बन ही गया, अग्निज्वालायें शमनोन्मुखी होने के लिए यथारूढ़ हो चलीं तो प्रथम शीतलता के आगमन स्वरूप पानी की वाष्पराशि आकाश में इतनी उमड़ चली कि संसार का सम्पूर्ण तल अंधकाराच्छन्न ही हो गया। जो बूँदे पहले धरातल पर पैर भी नहीं जमा पातीं थीं, प्रथम आघात में ही उष्णता से त्रस्त होकर वाष्प बन वायुमंडल में ढकेल दी जाती रहीं, उसने ही पहले कहीं बादलों के टुकड़े जहाँ-तहाँ इस अग्निमय धरा के ऊपर गगन मंडल में फैलाने प्रारम्भ किए। क्रमशः उनकी वृद्धि होकर आकाश का सम्पूर्ण क्षेत्र गर्भसात-सा होने लगा। जल मेघों के घटाटोप से धरती पर सूर्यरश्मियों का दर्शन भी दुर्लभ बन गया।

जब मेघों ने प्रारंभिक प्रयासों में धरातल के अंश मात्र को भी जलप्लावित करने में भारी असफलता प्राप्त की, उसकी बूंदाबांदी का कुछ भी परिणाम नहीं निकल पाता, वे धरातल पर आकर सूख सी ही जाती रहीं तो आकाश में ही उनकी राशि प्रबलतम और प्रगाढ़तम बनती गई। उनके पुनः साहसिक प्रयास से धरातल पर अविरल जल-वर्षण का नाट्य आरम्भ हो सका। धरातल का क्वथनांक के तुल्य तापमान न्यून होकर शीतल जल ग्रहण करने के योग्य बन सका। सारी वसुधरा पर अग्निशिलाओं के कृष्णवर्ण तलों पर और वीथिकाओं में क्षुद्र जल धाराओं का प्रवाह होने लगा। उनके द्वारा छिछले तलों में जल राशि एकत्र होने लगीं। बसुंधरा के वे ही आदि तड़ाग और जलाशय बने। किन्तु धरती पर निरंतर इतनी वर्षा होने लगी कि कभी भी कालान्तर में किसी युग में उस प्रकार के भीषण जलवर्षण का दृश्य पुनः उपस्थित न हो सका। सदा से तृषित रहती हुई दग्धकाय वसुंधरा पर मेघों की जलवर्षण क्रिया इतनी भीषण होती रही कि जान पड़ता था मानों जल का भंडार कभी समाप्त ही होने वाला नहीं और अग्निप्रलय के कालमुख से किसी प्रकार बाहर निकलने के प्रयास करने वाली धरा इस जलप्रलय में ही निमज्जित हो जा सकेगी।

किन्तु इस जलवर्षण का भी शमन होने का समय आया। निरन्तर आकाश को तिमिराच्छन्न रखने वाले मेघ जलराशि की क्षीणता से आकाश से हटना प्रारम्भ होने लगे। धरातल पर कुछ मध्य तापमान का वातावरण सा उत्पन्न हो चला। मेघ जलवर्षण कर लुप्त होने और धरातल के जल को पुनः वाष्प बनाकर दूसरे समय और स्थान पर जलवर्षण की क्रिया के आवर्तन का क्रम भेद कर सके। यह धरती के तल-निर्माण और परिवर्तन के युग का श्रीगणेश था।

धरती की पपड़ी या ऊपरी तल के ठोस बन जाने पर शीतलता की स्थिति पहुँचने पर जो घोर वर्षा का युग आ सका था, उसके परिणाम स्वरूप प्रारंभ रूप के छोटे-मोटे सोतों, छिछले तालाबों आदि का रूप कायापलट सा करने लगा और भीषण नदी-नदों ने जन्म धारण किया। उनके प्रबल प्रवाहों के संचित जलों से समुद्र की उत्पत्ति हुई। समुद्रों में इन नदी-नदों से सतत पपड़ी के ठोस भाग की धूल बह-बहकर तलछट रूप में वेला संगमों (मुहानों) के समीप विशाल क्षेत्रों में जमने लगी। धरती के भीतर की गर्मी का धरातल पर प्रभाव लुप्त सा ही होता जान पड़ने लगा। सूर्य की किरणें ही उस पर प्रभाव डालकर जलवायु का रूप निर्धारित करने लगीं।

धरती की पपड़ी बन जाने पर आज के बेडौल रूप का तल बना सकने वाली कौन सी क्रियायें थीं, उनका क्या प्रभाव पड़ा, ये स्वाभाविक प्रश्न हैं जो विचारशील पाठक के सम्मुख सहज ही आते हैं। इन सब के प्रमाण आज धरती की पपड़ी में हमें अनेक स्थलों पर देखने को मिलते हैं। उनको जान और समझ सकने के लिए केवल आवश्यक विवेचन बुद्धि की आवश्यकता ही है जिसे भूगर्भ विज्ञानवेत्ता हमारे लिए सुगम कर थोड़ी ही कठिनाई से समझने योग्य भाषा में बताता है।

हम जानते हैं कि धरती की पपड़ी में एक तो अग्निक्रिया से उत्पन्न शिलायें हैं जिनको आग्नेय या अग्निजन्य शिलायें कहते हैं और दूसरी तलछटीय शिलायें हैं जो जल द्वारा स्तर जमाने की क्रिया से निर्मित हुई हैं। इन सब का रूप पहले जिस प्रकार का रहा होगा उनमें इतना अधिक तोड़-फोड़ और रूपान्तर हुआ है कि उसे सृष्टि के संहारकारी देवता शंकर के विकट नर्तन का ही खेल कहा जा सकता है।

आज धरातल पर जलवायवीय शक्तियों द्वारा परिवर्तन उपस्थित किए जाते देखे जाते हैं। वर्षा की बूंदों से ही धरातल की शिलाएँ शनैः शनैः छिन्न-भिन्न होकर जल-प्रवाहित हो हिम और समुद्र गर्भ में पहुँचती हैं। सर्दी गर्मी के परिवर्तन-शिला खंडों के चूर्णन में सहायक होते हैं। वायु वेग से भी वालुका या मृत्तिका कण स्थानान्तरित होते रहते हैं। ये धरातलीय परिवर्तन करने की प्राकृतिक शक्ति है जो आज भी क्रियाशील है और पूर्व युगों में भी क्रियाशील रहती आई हैं। परन्तु पूर्व समयों में इतनी अधिक अवधि तक उनको क्रियाशील रहने का अवसर मिलता रहा है कि उसके परिणामों का संचित फल आज समझने का प्रयास बड़ा कठिन हो सकता है।

पुराने युगों में बड़े-बड़े महानदों ने धरातल को चूर्ण कर तलछट की जितनी भारी राशि समुद्र के पेंदों में मुहानों के निकट जमाना प्रारम्भ किया, उससे समुद्रों में बड़े-बड़े डेल्टा बनते गये और समुद्र के गर्भ में नया स्तर जमकर नई शिला निर्मित करने लगा। इनके ऊपर पुनः नए स्तर जमते गये। उन पर विभिन्न रूप में दबाव और ताप के प्रभाव पड़े जिससे उनके विभिन्न रंग रूप बनते गये। यदि यह सब तलछटीय तहें (तलछटीय शिला स्तर) प्रारम्भ काल से ही एक दूसरे के ऊपर अबाध रूप से जमने दिये जा सकते तो उनकी मोटाई कम से कम ९५ मील हो चुकी रहती।

पपड़ी में इतनी मोटी तलछटीय तह आज क्यों विद्यमान नहीं रह सकी है, उसके विशेष कारण हैं। धरती का आकार पूर्व रूप से संकुचित हुआ विश्वास किया जाता है। उष्णता की हानि से धरती का गर्भस्थ भाग संकुचित हुआ होगा, उससे धरती की पपड़ी पर भी भारी खिंचाव का प्रभाव पड़ा होगा। धरातल की शिलाएँ एक दूसरे के ऊपर टूट-फूट कर आ पड़ी होंगी और भारी खींचातानी के परिणाम स्वरूप विकराल पर्वत-मालाओं और गहन्-भूगह्वरों या भूदरियों का जन्म हुआ होगा।

धरती की परिधि पपड़ी बनने के समय की अपेक्षा कदाचित आज ९४ मील कम ही है। इस

तरह उसके धरातल का क्षेत्रफल भी उस समय की अपेक्षा पन्द्रह लाख वर्ग मील कम ही होगा। इसका फल यह हुआ होगा कि २ करोड़ ३० लाख घन मील ठोस शिला धरातल के ऊपर आने के लिए विवश हुई होंगी। इसका अधिकांश भाग अवश्य ही तलछटीय रहा होगा। उस पर उन शक्तियों का पूरा प्रभाव पड़ा होगा जो निम्नतल की आग्नेय शिलाओं को क्षत-विक्षत करने वाली थीं। इन भारी प्रभावकारी शक्तियों के कारण इसे तलछटीय शिलाओं का कुछ भाग पूर्णतः ध्वस्त हो गया होगा और कुछ का इतना कायापलट हुआ होगा कि उन्हें आज पहचाना भी नहीं जा सकता। संकोचनशील धरती की दबाव उत्पन्न करने वाली शक्तियों के ये भयानक विध्वंसक कार्य होंगे। इतना ही नहीं इनके साथ ही विकट ज्वालामुखियों और भूगर्भीय शक्तियों ने भी इन भारी परिवर्तनों में प्रबल योग दान दिया होगा। उनके प्रभावों से नई आग्नेय शिलायें द्रवित रूप में ऊपर आ फट पड़ती होंगी, जिनके नीचे तलछटीय शिलायें पददलित होकर अपने रूप का ही लोप कर देती होंगी।

हमारे देश में अत्यन्त प्राचीनकाल में दक्षिण भारत की रचना आग्नेय शिला के रूप में हुई थी। परन्तु संसार के कितने ही भूभागों में तलछटीय शिलाओं की रचना होने के कालों में भी आग्नेय शिलाएँ उनके ऊपर कभी-कभी ज्वालामुखी के मुखों या बड़ी दूर के ध्वस्त फटानों के मार्गों से द्रवित पाषाण की प्रचुर राशि भूगर्भ से फट पड़कर ऊपर आ पड़ती रही होगी। उसी तरह दक्षिण भारत में एक ऐसा समय आया जब धरती के अन्दर सैकड़ों मील लम्बा दरार बन कर भूगर्भ से अनन्त राशि में द्रवित पाषाण आकर धरातल को पाटने लगा। उस द्रवित पाषाण की राशि ही नर्मदा के आस-पास तथा दक्षिणवर्ती हजारों वर्ग-मील भूमि पर फैली हुई पाई जा सकती है। हमें धरातल को देखकर कुछ पुरानी प्राकृतिक भीषण क्रियाओं का कुछ भी अनुमान नहीं हो सकता, परन्तु आज के भूगर्भ विज्ञानवेत्ता भूगर्भीय शक्तियों के प्रभाव से धरातल पर उपस्थित हुए परिणामों की छानबीन कर हमें पुरानी कथा का कुछ आभास दे सकते हैं। यदि विज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि से धरातल की विविध रचना के भेदों और उसके बनने के कारणों का ज्ञान न हो सकता तो हमें इतनी प्राचीन अलिखित कहानी सुनने को कभी नहीं मिल सकती थी। परन्तु शिलालेखों या साधारण लिपियों में अंकित न होने पर भी वह कहानी अन्य प्रमाणों के रूप में विद्यमान है, जिसको सूक्ष्म विवेचन शक्ति के अधिकारी विद्वान ही समझ सकते हैं और उसकी सरल व्याख्या कर हमारे लिए सुबोध बना सकते हैं।*

—जगपति चतुर्वेदी

---

*सृष्टि का इतिहास

विज्ञान समाचार

देहरादून की वनगवेषणाशाला तथा कालेज

भारत के विस्तृत वनों में वृक्षों की अनेक जातियाँ पायी जाती हैं। हिमालय का शानदार देवदार, तराई का साल, प्रायद्वीप का सागौन तथा चीड़, रूस, शीशम आदि अनेक प्रसिद्ध जातियाँ गिनायी जा सकती हैं। भारतीय वनों में फूलदार वृक्ष भी हैं और हरे-हरे पत्तों से ढके हुए कदम्ब जैसे वृक्ष भी।

प्रारंभ

भारत की इस विस्तृत वन-सम्पत्ति की रक्षा के लिए सब से पहला कदम लार्ड डलहौजी ने उठाया था। उन्होंने अपने ३ अगस्त १८५५ के प्रसिद्ध ज्ञापन में वनों को क्षति पहुँचाये बिना इस वन-सम्पत्ति का उचित उपयोग करने की आवश्यकता पर बल दिया। तदुपरांत, १८७८ में वन-निरीक्षकों को प्रशिक्षण देने के लिए देहरादून में इम्पीरियल फारेस्ट स्कूल की स्थापना की गयी।

किन्तु, स्कूल में प्रशिक्षण देने वाले वन-अधिकारियों ने शीघ्र ही यह महसूस किया कि व्यवस्थित अनुसंधान के बिना यह प्रशिक्षण अधूरा है। अतः भारत सरकार ने १९०६ में इस स्कूल के साथ एक अनुसंधान-विभाग भी खोल दिया। साथ ही, इसका नाम बदल कर इम्पीरियल फारेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट तथा कालेज कर दिया गया।

एशिया में अग्रगण्य

प्रारंभ में इस संस्था में ५ विभाग और उतने ही परिमाण के थोड़े से कर्मचारी थे। लेकिन आज इसमें १६ विभाग तथा ३ कालेज हैं और इसके कर्मचारियों की संख्या भी बहुत बढ़ गयी है। एशिया भर की वनगवेषणाशालाओं में यह अग्रगण्य है तथा यूरोप और अमेरिका की संस्थाओं में भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

इतना ही नहीं, राष्ट्रसंघ के खाद्य तथा कृषि संगठनों ने दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के वन-अनुसंधान सम्बन्धी प्रशिक्षण के लिए इसे मान्यता प्रदान की है। यहाँ पर दिसम्बर, १९५४ में अन्तर्राष्ट्रीय वन-कांग्रेस का चौथा सम्मेलन हुआ था। अक्टूबर, १९५५ में यहाँ पर वन-अनुसंधान-कर्ताओं की एक गोष्ठी का भी आयोजन किया गया था जिसमें ९ देशों के १८ वन-अधिकारियों ने भाग लिया था।

कार्यक्षेत्र का विस्तार

इस गवेषणाशाला के कार्यक्षेत्र का विस्तार होने पर इसे १९२४ में चाँदबाग में स्थानान्तरित कर दिया गया। लगभग इसी समय वन-अधिकारियों को प्रशिक्षण देने के लिए इसके साथ एक कालेज भी खोल दिया था। प्रथम महायुद्ध के दौरान में युद्ध-सामग्री के उत्पादन की दृष्टि से इसके गवेषण-कार्य को बढ़ाने की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। चांदबाग में इस संस्था के विकास के लिए पर्याप्त स्थान नहीं था, इसलिए १९१९ में इसे नगर से ४ मील दूर कौलागढ़ में स्थानान्तरित कर दिया गया।

नये स्थान पर वनगवेषणाशाला तथा कालेज की विशाल इमारत का उद्घाटन नवम्बर १९२९ में

हुआ था। इस शाला के साथ लगी हुई १,१०० एकड़ भूमि में परीक्षण के तौर पर वन उगाये गये। इस समय इस वन में १,००० जातियों के वृक्ष हैं। इसके अलावा यहाँ पर ऐसी दुर्लभ किस्म के कुछ वृक्ष भी उगाये गये हैं जो केवल विदेशों में ही पाये जाते हैं।

वनगवेषणाशाला में विविध प्रकार की इमारती लकड़ी का प्रदर्शन-कक्ष और जड़ी-बूटियों का एक संग्रहालय भी है जिसमें लगभग ३ लाख किस्म की जड़ी-बूटियों के नमूने हैं। यहाँ पर कीड़े-मकोड़ों का एक अद्भुतालय भी है जिसमें २०,००० जातियों के २ लाख कीड़े रखे हुए हैं।

तीन प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम

गवेषणाशाला का कार्यक्षेत्र बढ़ने से इसके प्रशिक्षण-कार्य में वृद्धि की जरूरत अनुभव की गयी। अतः इंडियन फोरेस्ट सर्विस के अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए, जिन्हें पहले इंगलैंड में ट्रेनिंग दी जाती थी, वहाँ पर १९२६ में एक पाठ्यक्रम शुरू किया गया।

इस समय इस गवेषणाशाला के साथ तीन कालेज हैं। इनमें से दो कालेज-इंडियन फारेस्ट कालेज तथा नार्दरन फारेस्ट रेंजर्स कालेज तो देहरादून में हैं और तीसरा कोयमुत्तूर में है। इस कालेज को भारत सरकार ने १९४८ में अपने अधिकार में लिया था। इन कालेजों में भारत के अतिरिक्त लंका, नेपाल, श्याम, सिक्किम, भूटान, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, ईरान, बर्मा आदि पड़ोसी देशों के वन-निरीक्षकों को भी ट्रेनिंग दी जाती है।

गवेषणाशाला के अनुसंधान-कार्य के फलस्वरूप कुछ नये उद्योगों की स्थापना भी हुई है। इनमें कागज, दियासलाई, प्लाइवुड, कपड़ा, मिलों के पुर्जे तथा बांस का गत्ता बनाने के उद्योग उल्लेखनीय हैं।

दूसरे महायुद्ध में शाला ने युद्धसामग्री सम्बन्धी ५०० चीजें बनाने के लिए उचित प्रकार की भारतीय लकड़ी का सुझाव दिया था। यहाँ पर किये गये परीक्षणों से यह भी पता चला है कि विमानों के पंखे बनाने के लिए भारतीय सरू सर्वथा उपयुक्त है।

पुनर्गठन योजना

द्वितीय महायुद्ध के बाद शाला के विस्तार एवं पुनर्गठन की आवश्यकता महसूस की गयी। अतः, १९४७ में शाला के वृहत् विस्तार की एक योजना मंजूर की गयी और आधुनिक ढङ्ग की मशीनें लगायी गयीं। इसके अलावा इसके अनुसंधान कार्य को व्यवस्थित करने के लिए टिम्बर इंजीनियरिंग, प्रचार, सम्पर्क आदि और विभाग भी खोले गये।

कुछ प्रसिद्ध जातियों के वृक्षों को छोड़कर, भारत के अधिकांश किस्म के वृक्ष अधिक उपयोगी नहीं हैं। अतएव शाला के अनुसंधान-कार्यकर्ता इन पेड़ों के तथा वनों में पैदा होने वाली चीजों के उपयोग ढूंढ़ने की ओर ध्यान दे रहे हैं। उनके प्रयासों के फलस्वरूप सन्दल-तेल, तारपीन का तेल तथा युकूलिप्टस-तेल के नये उद्योग स्थापित हुए हैं। टिम्बर इंजीनियरिंग विभाग इस्पात के स्थान पर लकड़ी को काम में लाने के विविध परीक्षण एवं अनुसन्धान कार्य कर रहा है।

दूसरी आयोजना में कार्य

दूसरी आयोजना में शाला के कार्य की रूपरेखा इस प्रकार की बनायी गयी है कि इससे उन उद्योगों को अधिकाधिक सहायता मिल सके जो वनों में पैदा होने वाली सामग्री पर निर्भर हैं। इसके अलावा कोयमुत्तूर तथा बंगलौर में दो अनुसन्धान-केन्द्र स्थापित करने की भी योजना है। दूसरी आयोजना की अवधि में शाला के लिए ८५ लाख रु० की व्यवस्था की गयी है।

वन-गवेषणाशाला ने युद्धकाल में तथा शान्तिकाल में देश की अद्वितीय सेवा की है। इसके पिछले ५० वर्षों के कार्य को देखते हुए इसकी स्वर्ण-जयन्ती मनाना उपयुक्त ही है।

वैज्ञानिक कथा-साहित्य

साहित्यिक समालोचकों में यह प्रवृत्ति है कि वे वैज्ञानिक कहानियाँ लिखने वालों को अपरिपक्व छुट भइयों के समान उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसा होने पर भी आज का वैज्ञानिक कहानी साहित्य श्री एडवर्ड बेलामि के प्रसिद्ध काल्पनिक उपन्यास "लुकिंग बैकवर्ड", ब्रिटेन के प्रसिद्ध लेखक श्री एच० जी० वेल्स की गत शताब्दी के अन्तिम भाग में अपने उत्साही पाठकों को दूसरे लोकों और दूसरे काल में ले जाने वाली कहानियों तथा जर्मनी के कूर्ट लास विट्रस तथा फ्रांस के जूल्स वर्ने के उन उपन्यासों पर गर्व कर सकता है, जिन में पनडुब्बियों तथा बड़े-बड़े वायुयानों के आविष्कार की चकाचौंध कर देने वाली कल्पना की गई थी। यह समस्त साहित्य एक प्रकार की भविष्यवाणी से पूर्ण है।

प्राचीन काल के ऐसे मँजे हुए लेखकों तथा भविष्य के काल से सम्बन्धित काल्पनिक एवं वैज्ञानिक उपन्यास लिखने वाले अन्य लेखकों से आजकल वैज्ञानिक कहानियाँ लिखने वाले सैकड़ों अमेरिकी लेखकों को प्रोत्साहन मिला है।

विज्ञान की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी

निस्सन्देह वैज्ञानिक कहानियों का सब से बड़ा उद्देश्य मनोरंजन की सामग्री जुटाना होता है। किन्तु उन में अन्य प्रकार की भी साहित्यिक सामग्री पाई जाती है। इस सम्बन्ध में एक प्रकार की विशिष्ट सामग्री की अधिक स्पष्टता से व्याख्या भी उपस्थित की गई है। इन व्याख्याओं में से एक यहाँ दी जा रही है। "वैज्ञानिक किस्से-कहानियों का आधारभूत उद्देश्य विज्ञान की सामान्य प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में ठीक-ठीक भविष्यवाणियाँ करना है।" यह परिभाषा जोन डब्ल्यू० कैम्पबेल जूनियर द्वारा की गई है। आप कई वर्ष तक अमेरिका की प्रसिद्ध वैज्ञानिक कहानी पत्रिका "एस्टाउण्डिंग साइन्स फिक्शन" के सम्पादक रहे हैं। श्री कैम्पबेल का कथन है कि गत वर्षों में अमेरिकी वैज्ञानिक कहानियाँ लिखने वाले लेखकों ने शब्द की गति से भी तेज चलने वाले वायुयानों, राकेटइंजनों के उपयोग, बिजली से कार्य करने वाली गणना मशीन के आविष्कार, स्वचालित यन्त्रों, आणविक शस्त्रास्त्रों और अणुशक्ति के सम्बन्ध में ठीक-ठीक भविष्यवाणियाँ की हैं।

वैज्ञानिक किस्से-कहानियाँ लिखने वाले कुछ भविष्यवाणियाँ स्वभावतया सही सिद्ध हुई हैं, क्योंकि वे स्वयं वैज्ञानिक हैं। उनमें से एक श्री आइजक एसिमोव बोस्टन विश्वविद्यालय के चिकित्सा-स्कूल में जीव-रसायनशास्त्र के प्रोफेसर हैं। अन्य लेखक भौतिकविज्ञान-शास्त्री, इंजिनियर तथा टैक्निशियन हैं।

गल्प के अन्य आवश्यक साहित्यिक तत्वों पर बल

इसका यह अर्थ नहीं कि लेखक प्रत्येक दशा में गल्प के अन्य आवश्यक तत्वों, चरित्र के विकास, कथावस्तु तथा संघर्ष की अपेक्षा कहानी के वैज्ञानिक विषय में अधिक दिलचस्पी लेते रहे हैं। आरम्भ में वैज्ञानिक किस्से-कहानियाँ लिखने में अन्य आवश्यक तत्वों के विषय में अधिक ध्यान नहीं दिया गया, किन्तु कुछ समय से साहित्य के वास्तविक गुणों को दृष्टि में रख कर वैज्ञानिक कथा-साहित्य की रचना की ओर प्रवृत्ति बढ़ रही है।

उदाहरण के तौर पर, एक अमेरिकी लेखक ने गम्भीर साहित्य के रूप में वैज्ञानिक साहित्य की रचना की है। आप का नाम रे ब्रैडबरी है। आप के उपन्यासों की चर्चा साहित्यिक गुणों तथा काव्यमय कल्पना की प्रचुर मात्रा की दृष्टि से प्रायः की जाती है। श्री ब्रैडबरी ने हाल में "मोबी डिक" फिल्म

के लिए हरमैन मेलविल के प्रसिद्ध उपन्यास का रूपान्तर तैयार किया है।

विभिन्न विषयों पर प्रकाश

हाल में लिखे गए वैज्ञानिक किस्से-कहानियों से प्रकट होता है कि उनके द्वारा विभिन्न प्रकार के विषयों पर प्रकाश डाला गया है। पाठक को अन्य नक्षत्रों की काल्पनिक यात्राएं कराई जाती हैं। ऐसे यन्त्रों के साथ परीक्षण किए जाते हैं जो ठीक समय पर आगे अथवा पीछे हो जाते हैं। सभी प्रकार की यान्त्रिक सुविधाएं इनमें उपलब्ध हैं। कल्पना के लिए यान्त्रिक मनुष्यों की सेवाएं भी प्राप्त हैं। हर प्रकार के काल्पनिक पिशाचों, अर्द्ध-मानव और पूर्ण मानव, सभी प्रकार के व्यक्ति इन कथानकों में मिलते हैं। वैज्ञानिक किस्से-कहानियाँ पढ़ने वाले पाठकों को लेखक ऐसे लोकों तथा कालों में ले जाते हैं, जो उनकी कल्पना से बाहर होते हैं तथा इस प्रकार उनको उत्साहित तथा आह्लादित बनाते हैं।

वैज्ञानिक गल्पकार और उसका आदर्शवाद

आज के वैज्ञानिक गल्पकार को एक ऐसा आदर्शवादी बताया गया है जो मनुष्यनिर्मित काल्पनिक जगत की खोज रहा है, किन्तु इसके साथ ही यह ऐसा आदर्शवादी भी है जो मशीनों के बोलबाले से युक्त सभ्यता के खतरों से भली प्रकार परिचित है। वह जानता है कि प्रत्येक समस्या का उत्तर मशीन द्वारा नहीं दिया जा सकता।

हम देखते हैं कि वैज्ञानिक कहानियाँ लिखने वाले अमेरिकी लेखक दर्शन, मनोविज्ञान, मानवी सम्बन्धों और मनुष्य की मूलभूत भावनाओं तथा इसके साथ ही साथ विज्ञान से सम्बन्धित साहित्य की रचना कर रहे हैं। इस सबके पीछे यह धारणा कार्य करती है कि मनुष्य एक ऐसी प्रक्रिया की खोज में प्रयत्नशील है, जो अनेक दृष्टियों से उसकी समझ और बुद्धि की सीमा से परे हैं। वह भावी आशाओं की पूर्ति करने तथा खोज के प्रत्येक नये युग की बाधाओं का मुकाबला करने के लिए प्रयत्न कर रहा है। वैज्ञानिक किस्से-कहानियों ने लेखक के लिए एक नया उत्तेजनापूर्ण क्षेत्र मुक्त कर दिया है। इससे पाठकों में मनोरंजन के साथ-साथ सोचने-समझने की शक्ति पैदा होती है।

(पृष्ठ संख्या १२८ का शेषांश)

लिये लिखी गयी है, परन्तु अधिकतर भाग में इसकी भाषा ऐसी है कि मिस्त्री समझ नहीं सकते। पुस्तक मिस्त्रियों के लिए लिखी गयी है, इस कारण उसके लिखने का ढङ्ग ऐसा नहीं है कि पाठक, रेडियो विज्ञान का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कर सके। ऐसी दशा में पुस्तक उतनी उपयोगी नहीं हो सकेगी जितनी होनी चाहिये।

पारिभाषिक शब्दों के बारे में भी कोई एक सिद्धान्त नहीं पालन किया गया है। कहीं तो अकारण ही एक कठिन पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया गया है जैसे Filter के लिए निःस्यंदक या Elimination के लिए लुप्तिकरण और कहीं अंग्रेजी का ही शब्द प्रयोग किया गया है जब कि उसका हिन्दी अनुवाद बहुत सरल है जैसे केबिनट, नोब, इत्यादि।

मेरे विचार में यह पुस्तक अत्यन्त ही उपयोगी होगी अगर इसकी भाषा और पारिभाषिक शब्दों में सुधार कर दिया जाय।

कृष्ण जी
भौतिक विज्ञान विभाग

[आलोचना के मत के लिए सम्पादक उत्तरदायी नहीं है।]

समालोचनायें

सरल वितन्तु ज्ञान या नभोवाणी

लेखक—ब० सोबती (पृ० संख्या ५६)

श्री सोबती का सरल वितन्तु ज्ञान या नभोवाणी लिखने का प्रयत्न अत्यन्त सराहनीय है, क्योंकि इन्होंने इस विषय का प्रारम्भिक ज्ञान बहुत सरल रूप में प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक किसी विशेष वर्ग के लिए नहीं परन्तु जन साधारण के लिए लिखी गयी है और इसलिए कठिन भाषा का प्रयोग नहीं किया है। ऐसे विषय को सरल भाषा में लिखना अत्यन्त कठिन कार्य है परन्तु श्री सोबती ने सरल चित्रों के द्वारा यह कार्य करने का प्रयत्न किया है।

यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसी पुस्तकों में भाषा और पारिभाषिक शब्द पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। भाषा पर तो इस पुस्तक में विशेष ध्यान दिया है, परन्तु पारिभाषिक शब्दों पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया। इसके पारिभाषिक शब्द डा० रघुवीर के 'आंग्ल-भारतीय महाकोष' से लिये गये हैं जिन्होंने शब्दों की सरलता पर बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया है। हमें पारिभाषिक शब्द ऐसे प्रयोग करने पड़ेंगे जो सरल हों, जिनका ठीक अर्थ हो और जहाँ तक हो सके अन्तर्राष्ट्रीय हों। शब्दों को तो अपनी भाषा और व्याकरण में पचा सकते हैं। अन्य देशों ने भी सब पारिभाषिक शब्दों का अनुवाद करने का प्रयत्न नहीं किया है। रूस, जापान, जर्मनी इत्यादि ने भी अनेक पारिभाषिक शब्द अपनी लिपि और व्याकरण में पचा लिये हैं।

श्री सोबती की यह पुस्तक कई गुना उपयोगी हो जायगी अगर पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग में परिवर्तन हो जाय। इस परिवर्तन की आवश्यकता पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि आज की प्रकाशित पुस्तकें भविष्य में प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों का पथ प्रदर्शन करेंगी।

रेडियो पथ प्रदर्शक

लेखक—कामता प्रसाद भार्गव (पृष्ठ संख्या २६०)

प्रकाशक—विज्ञान पब्लिशिंग हाउस, जयपुर

श्री कामता प्रसाद भार्गव ने 'रेडियो पथ प्रदर्शक' नामक पुस्तक लिखने में एक अत्यन्त सराहनीय प्रयास किया है। हिन्दी भाषा में वैज्ञानिक विषयों पर बहुत कम पुस्तकें हैं और आजकल इस कमी को दूर करने के लिए अनेक प्रयत्न किए जा रहे हैं। इसी कारण कुछ विचार करने की आवश्यकता है कि ऐसी पुस्तक लिखने का प्रथम ध्येय क्या होना चाहिये। यह तो स्पष्ट ही है कि अंग्रेजी भाषा में इस विषय पर कई प्रकार की सुन्दर पुस्तकें हैं और इस कारण विषय और इसके प्रस्तुत करने के ढंग में उन्नति करने का अधिक मौका नहीं है। मेरे विचार से ऐसी पुस्तकों में भाषा और पारिभाषिक शब्दों पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

'रेडियो पथ प्रदर्शक' विशेषतया मिस्त्रियों

[शेष पृष्ठ १२७ पर

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)
२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ।।।=)
३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)
४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८) । इस पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।
५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)
६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)
७—निर्णायक डिटमिनेंटस—प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ।।।)
८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस सी०, १।)
९—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)
१०—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)
११—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; (अप्राप्य)
१२—वायुमंडल डाक्टर के० बी० माथुर, २)
१३—लकड़ी पर पालिश डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २) (अप्राप्य)
१४—कलम पेवंद ले० श्री शंकरराव जोशी; २)
१५—जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)
१६—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)
१७—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—(अप्राप्य)
१८—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ।।)
१९—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती; मूल्य ।।।)
२०—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),
२१—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २।।)
२२—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । मूल्य ४)
२३—मधु मक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान; ३)
२४—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)
२५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३।।)
२६—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३।।)
२७—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)
२८—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ।।।)
२९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)
३०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २।।)

अन्य पुस्तकें

१—विज्ञान जगत की झाँकी (डा० परिहार)		२)
२—खोज के पथ पर (शुकदेव दुबे).		।।)
३—विज्ञान के महारथी (जगपति चतुर्वेदी)		२)
४—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ	(„)	१।।)
५—हमारे गाय बैल	(„)	।।)
६—मवेशियों के छूत के रोग	(„)	।।)
७—मवेशियों के साधारण रोग	(„)	।।)
८—मवेशियों के कृमि-रोग	(„)	।।)
९—फसल-रक्षा की दवाएँ	(„)	।।)
१०—देशी खाद	(„)	।।)
११—वैज्ञानिक खाद	(„)	।।)
१२—मवेशियों के विविध रोग	(„)	।।)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

Reg. No. A 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्दक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों की परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तक उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक – डा० देवेन्द्र शर्मा
सहायक संपादक— जगपति चतुर्वेदी

मुद्रक—श्री सरयू प्रसाद पांडेय, नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग तथा प्रकाशक—डा० रामदास तिवारी प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद।

विज्ञान

भाग ८४

संख्या ५

फरवरी १९५७ कुंभ २०१३

प्रति अङ्क छः आने

वार्षिक मूल्य चार रुपये

आदिश्रृंगी सरट (प्रोटोसेराटाप्स) [पृष्ठ १६०]

विषय-सूची

१—कृत्रिम तारे	... डा० सत्य प्रकाश	.....	१२९
२—प्रकृति का पुराण	... .	.....	१३३
३—जीवन का उद्भव	... .	.....	१३८
४—सरीसृपों का युग ❋	... जगपति चतुर्वेदी	.....	१४६
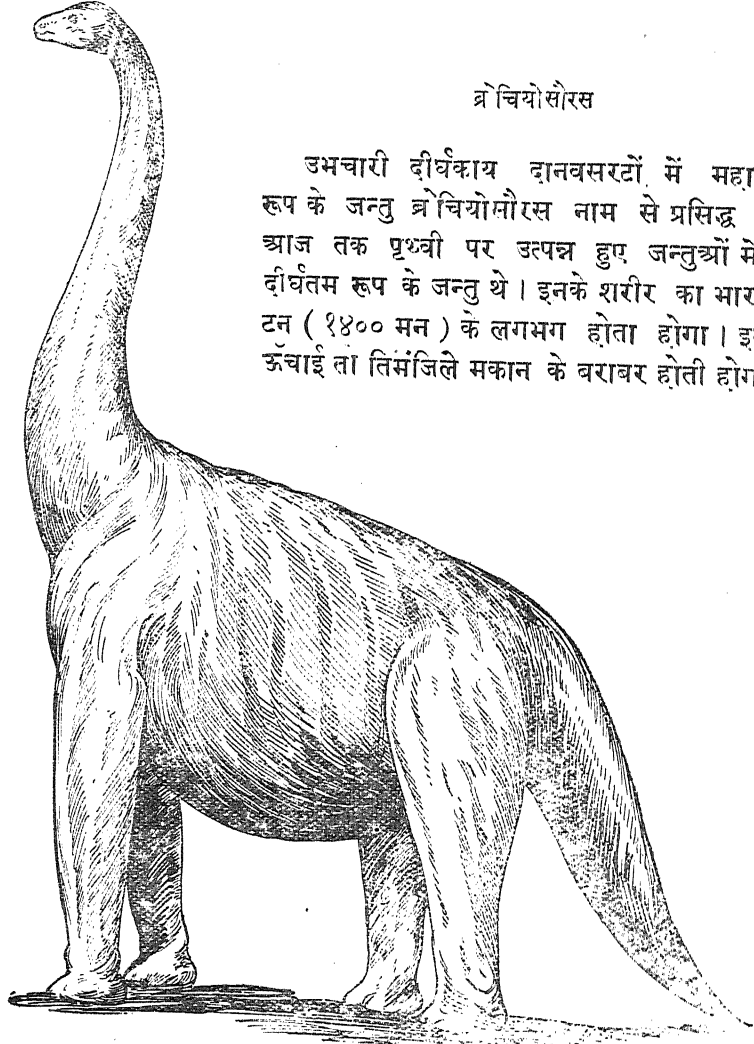
ब्रेचियोसौरस

उभचारी दीर्घकाय दानवसरटों में महाकाय रूप के जन्तु ब्रेचियोसौरस नाम से प्रसिद्ध हैं। आज तक पृथ्वी पर उत्पन्न हुए जन्तुओं में ये दीर्घतम रूप के जन्तु थे। इनके शरीर का भार ५० टन (१४०० मन) के लगभग होता होगा। इनकी ऊँचाई तो तिमंजिले मकान के बराबर होती होगी।

❋ इस लेख के सभी ब्लाक किताब महल, इलाहाबाद के सौजन्य से प्राप्त

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ८४	कुंभ २०१३; फरवरी १९५७	संख्या ५

कृत्रिम तारे

डा० सत्यप्रकाश

[१२ दिसम्बर १९५६ को प्रयाग के रेडियो स्टेशन से प्रसारित]

इस युग में मनुष्य प्रकृति से होड़ ले रहा है। उसने अपनी कृत्रिम विधियों से बहुत सी ऐसी चीजें तैयार कर दी हैं जो पहले केवल प्रकृति की प्रयोगशालाओं में ही बना करती थीं। कृत्रिम रेशम, कृत्रिम रंग, कृत्रिम औषधियाँ, कृत्रिम रबर और न जाने कितने कृत्रिम पदार्थ रसायनज्ञों ने दिए, कृत्रिम आँख, कृत्रिम कान कृत्रिम दाँत और यहाँ तक कि कृत्रिम फेफड़े भी मनुष्य ने बना कर जनता को भेंट किए। ऐसी कृत्रिम मशीनें बनायीं, जो न केवल आपको तौल ही सकती हैं, आपकी तौल भी टिकट पर छाप कर क्षण भर में आपको दे सकती हैं। ऐसी बुद्धिमान मशीनें बनायीं जो बड़े-बड़े गुणा-भाग थोड़े ही समय में कर के आपको चकित कर देंगी, इस प्रकार कृत्रिमता का यह युग नित्य नूतन आविष्कार हमारे सामने रख रहा है। ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य अपनी इस प्रगति में कहीं रुकना नहीं चाहता। हमारा सन् १९५७ का वर्ष इसलिए ऐतिहासिक माना जायगा, कि इस वर्ष मनुष्य एक कृत्रिम तारा बनावेगा और चन्द्रमा के समान यह तारा हमारी पृथ्वी की परिक्रमा करेगा। कहा जाता है कि किसी पौराणिक युग में विश्वामित्र ने कुपित होकर एक नयी सृष्टि बनाने की धमकी दी और सप्तर्षि मंडल बना कर दिखाया जो तब से आज तक ध्रुव से सम्बद्ध परिक्रमा कर रहा है। विश्वामित्र वाली बात कहानी है स्वप्निल कल्पना है, पर कृत्रिम तारे वाली बात तो हमारे जीवन काल में हमारे सामने ही घटेगी। सन् १९५७-५८ के इंटरनेशनल जिओफिजिकल ईयर अथवा सांकेतिक प्रक्षरों में आइ-जी-वाई (I. G. Y.) के कार्य्यक्रम में सब से कौतूहलप्रद कार्य्यक्रम कृत्रिम तारिका के निर्माण का और उसे अन्तरिक्ष में छोड़ने का है। संयुक्त राज्य अमरीका का यह आयोजन वैज्ञानिक इतिहास का एक नया पृष्ठ खोलने वाला है।

कृत्रिम तारे की यह आयोजना कुछ-कुछ इस प्रकार है। पहले तो पृथ्वी से २५० मन का एक आयोजित पिण्ड ४००० मील प्रति घंटा के वेग से ऊपर अन्तरिक्ष में उठेगा और लगभग चालीस-मील तक की ऊँचायी तक जायगा। इतनी ऊँचाई पर पहुँच कर इस पिंड का अधिकांश भाग तो छूट पड़ेगा, किन्तु इस पिंड का कुछ अंश फिर १३० मील की ऊँचाई तक पहुँचेगा, और अब इसकी अन्तिम तीसरी यात्रा में साढ़े दस सेर के लग-भग की एक छोटी-सी तारिका इस पिंड में से निकलेगी, जो १८ हजार मील प्रति घंटा के वेग से पृथ्वी की परिक्रमा लगाने लगेगी। यह नया चन्द्रमा लगभग १०० मिनट में पृथ्वी की एक परिक्रमा लगा लेगा। इस तारिका को पृथ्वी की, परिक्रमा एक ऐसी परिधि पर करायी जायगी, जिससे इसकी पृथ्वी से न्यूनतम दूरी २०० मील और अधिकतम दूरी ८०० मील रहे।

आप यह जानना चाहेंगे, कि मनुष्य द्वारा बनाया गया यह चन्द्रमा कहाँ से छोड़ा जायगा। अनुमान यह है कि इसे संयुक्तराज्य अमरीका के फ्लोरिडा प्रान्त के अन्तरीप केनेवेराल (Point-Canaveral) से छोड़ा जायगा। यह स्थान पैट्रिक एयर फोर्स (Patrick Air Force) अर्थात् पैट्रिक वायु सेना का प्रधान केन्द्र है। यहाँ से यह चन्द्रमा जिस परिधि पर यात्रा करेगा, वह भूमध्य या विषुवत् रेखा पर २८° के लगभग झुकी हुई होगी। इसका फल यह होगा कि जिस समय यह पृथ्वी की परिक्रमा करेगा, यह २८° उत्तर और २८° दक्षिण के बीच के समस्त अक्षांशों के ऊपर होकर जायगा। इस समय आयोजना ऐसी है कि एक ही चन्द्रमा नहीं, थोड़े-थोड़े समय के बाद छः के लगभग चन्द्रमा अन्तरिक्ष में भेजे जायँगे और आशा यह की जाती है, कि इनमें से तीन तो पूर्वीय पृथ्वी की परिक्रमा करने में सफल रहेंगे। आइ-जी-वाई की आयोजना में इनके बाद ६ चन्द्रमा और छोड़ा जाना भी सम्मिलित है। इस प्रकार कुल १ दर्जन चन्द्रमाओं के छोड़े जाने, की व्यवस्था की जा रही है। इन एक दर्जन चन्द्रमाओं में से प्रत्येक चन्द्रमा एक दूसरे से थोड़ा बहुत भिन्न रक्खा जा रहा है।

आप यह जानने के लिए उत्सुक होंगे कि यह कैसे पता चलेगा कि यह चन्द्रमा अपनी परिक्रमा की परिधि में पहुँच गया है। इस बात को जानने के लिए प्रत्येक चन्द्रमा के भीतर एक छोटे संवाद-प्रेषक या रेडियो ट्रान्समिटर रक्खा होगा, जिसका संचालन सुपर-बैटरियों द्वारा होगा। यह ट्रान्समिटर प्रति सेकंड संभवतः १०८ मेगा-साइकिल अर्थात् ३ मीटर दैर्घ्य की रेडियो तरंगें देगा। इस रेडियो ट्रान्समिटर से जो रेडियो तरंगें चलेंगी उनमें ऊर्जा एक वाट के हजारवें भाग के बराबर अर्थात् बहुत ही कम होगी और इतनी कम ऊर्जा की तरंगों को पकड़ने के लिए पृथ्वी के अनेक भागों में बड़े ऊँचे आकाशी या एंटिना लगाए जायँगे। जैसे ही कोई चन्द्रमा इन एंटिनाओं के पास ६०० मील के सामीप्य तक आ जावेगा, उस चन्द्रमा के रेडियो संवाद यहाँ अंकित किए जा सकेंगे, या सुने जा सकेंगे। इस प्रकार चन्द्रमा की स्थिति का अन्तरिक्ष में ठीक-ठीक पता चल सकेगा और इस स्थिति की गणना में एक या दो मिनट के कोणान्तर से अधिक की भूल न होगी।

मान लीजिए कि इस कृत्रिम तारे के भीतर रक्खा हुआ रेडियो ट्रान्समिटर बेकाम हो गया, तो फिर कैसे पता चलेगा कि तारा कहाँ पर है। ऐसी अवस्था में यह तारा ठीक सूर्यास्त के समय गोधूली बेला में अपने परावर्तित प्रकाश से देखा जा सकेगा। भूमि के विभिन्न स्थलों में स्थापित दूरबीनें इसे देख सकेंगी। स्मिथसोनियन एस्ट्रोफिजिकल ओबजरवेटरी के तत्त्वावधान में इन तारों के वेध की आयोजनायें की जा रही हैं। तारे को आँख से देखने में क्या कठिनाई होगी, इसका अनुमान आप इतने से ही लगा सकते हैं, कि समस्त तारा २० इंच व्यास का एक ऐसा गोला है, जो हमारी पृथ्वी से २९० मील

की दूरी पर रक्खा हुआ है। २० इंच व्यास के पतीले के गगरे आपने देखे होंगे। इनमें से एक पतीला २०० मील ऊँचाई पर टांग दिया जाय, तो कोरी आँखों से तो नहीं, पर बाइनोक्यूलर की सहायता से दिखायी पड़ सकता है, पर सावधानी यह रखनी होगी कि आकाश में न बहुत उजाला हो। और न बहुत अँधेरा, अर्थात् जब अँधेरा तो हो गया हो, पर फिर भी सूर्य्य का थोड़ा-सा प्रकाश इससे परावर्त्तित हो रहा हो। इस तारे के निरीक्षण के लिए हमारे देश में भी संभवतः दिल्ली या नैनीताल में प्रबन्ध किया जायगा। यह याद रखना चाहिए कि प्रयत्न यह किया जा रहा है कि इस कृत्रिम तारे का पृष्ठतल दर्पण के समान चिकना हो, जिससे यह अधिक से अधिक प्रकाश परावर्त्तित कर सके।

आप यह जानना चाहेंगे, कि यह कृत्रिम तारा आकाश में कितने दिन ठहर सकेगा। ज्योतिर्विदों का अनुमान है कि यह कुछ सप्ताह तक तो अवश्य ही पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा लगावेगा। इसके अनन्तर यह जब पृथ्वी की ओर गिरने लगेगा, उस समय भी इसका निरीक्षण अच्छी तरह किया जा सकेगा, यह अनुमान किया जाता है कि लगभग एक वर्ष के अनन्तर ही यह तेजी से गिरना आरंभ होगा। हमें आज इस बात का पूरा पता नहीं है कि अंतरिक्ष में २०० से ८०० मील की ऊँचाई तक हवा का क्या हाल है, यह तारा कितनी गति से गिर रहा है, यदि इस बात की गणना की जा सकी, तो उसके आधार पर हिसाब लगाया जा सकता है, कि इसके मार्ग में हवा का अवरोध कितना है। यह अवरोध हवा की दशा के ज्ञान पर अच्छा प्रकाश डालेगा।

हम कह चुके हैं, कि यह कृत्रिम तारा १८००० मील प्रति घंटा के वेग से पृथ्वी की परिक्रमा लगावेगा। इसका अर्थ यह है कि एक मिनट में ३०० मील चलेगा। जो पिंड इतनी तेजी से चल रहा हो उसकी अंतरिक्ष में स्थिति जानने के लिए हमें हिसाब लगाने वाली मशीनों से ही काम लेना होगा। वेध और हिसाब का सारा काम मशीनों से ही होगा।

अब थोड़ा-सा आप इस कृत्रिम तारे की रचना पर भी ध्यान दीजिए। यह तारा स्वतः तो इतना छोटा है कि एक बालक भी इसे उठा सकता है, पर इसे आकाश में लटकाने और छोड़ने का काम एक बलशाली इंजन द्वारा लिया जायगा। इस समय तक कितने रॉकेट-यान बने हैं, उनमें वैंगार्ड (Vanguard) सबसे बड़ा और सबसे प्रबल है "पैट्रिक एयर बेस" के चबूतरे पर रक्खा हुआ यह रॉकेट ७२ फुट ऊँचा प्रतीत होगा। यह भीमकाय सूई के आकार का चमचमाता हुआ पिंड है, जिसके अन्दर नाक के भीतर कहीं पर कृत्रिमतारा रक्खा हुआ है। इस पिंड में तीन रॉकेट परस्पर जुटे हुए रक्खे होंगे।

सबसे पहला नीचे वाला रॉकेट सबसे बड़ा और सबसे प्रबल होगा। प्रारम्भिक उड़ान का कार्य्य इसी के द्वारा होगा। इस रॉकेट में एलकोहल और पेट्रोल के मिश्रण को जलाकर शक्ति पैदा की जायगी। यह आप जानते हैं, कि पेट्रोल और एलकोहल को जलाने के लिए ऑक्सिजन चाहिए। अन्तरिक्ष में ऊपर हवा इतनी कम है कि उसके ऑक्सिजन से काम नहीं चल पावेगा। अतः इस पहले रॉकेट में द्रव-ऑक्सिजन साथ में रक्खा जायगा। पहला रॉकेट समस्त पिंड को ३ या ४ हजार मील प्रति घंटा के वेग से ऊपर ले जावेगा। एक मील ऊँचाई पर जब यह पिंड पहुँच जायगा, तो स्वतः ही यह तिरछा कर दिया जायगा और इस तिरछी दिशा में यह ३०-४० मील तक आगे बढ़ेगा। इतनी दूर पहुँचने पर पहले रॉकेट का पेट्रोल और एलकोहल सब जलकर समाप्त हो जायगा, और अब यह पहला रॉकेट अपने आप समस्त पिंड से छूटकर नीचे सम्भवतः समुद्र में गिर पड़ेगा।

पहले रॉकेट के गिरते ही दूसरा रॉकेट अब स्वतः काम करना आरम्भ कर देगा। इस रॉकेट में

पेट्रोल और एलकोहल से काम नहीं लिया जायगा। इसमें हाइड्रोजीन की जाति के एक यौगिक से ईंधन का काम निकलेगा। गत महायुद्ध के दिनों में जर्मन-वालों के मेसरस्मिट १६३-बी रॉकेट प्लेप में इस यौगिक का सफलतापूर्वक उपयोग किया गया था। हाइड्रोजीन के साथ धूमवान नाइट्रिक ऐसिड भी मिलाया जायगा, जिससे हाइड्रोजीन जल सके। इस विस्फोटक द्रव द्वारा बहुत हलकी वायु वाले अन्तरिक्ष में से होकर यह पिंड ११ हजार मील प्रति घंटा के वेग से ३०० मील की ऊँचाई तक ऊपर जायगा। इतनी ऊँचाई पर पहुँचते ही दूसरा रॉकेट भी नीचे गिर पड़ेगा।

तीसरे रॉकेट में एक ठोस विस्फोटक से सहायता ली जायगी। इस विस्फोटक की शक्ति से तीसरा राकेट १८ हजार मील प्रतिघंटा के वेग से क्षैतिज मार्ग में आगे बढ़ेगा, और आगे बढ़ने पर वह रॉकेट भी गिर जायगा, और इसमें से कृत्रिमतारा निकल-कर पृथ्वी की परिक्रमा लगाना प्रारम्भ कर देगा।

इस प्रकार की कृत्रिम तारों की यह आयोजना है। हम इस समय इसे आयोजना ही कहेंगे, क्योंकि पुराने अनुभव हमें यह बताते हैं, कि पहले से चाहे कितनी भी सावधानी क्यों न रक्खी गयी हो, प्रयोग के समय कोई न कोई ऐसी अनहोनी घटना घट सकती है, कि जिससे समस्त आयोजना विफल हो जाय और केवल कल्पना या स्वप्न ही रह जाय। राकेटों के निर्माण का सारा इतिहास ही ऐसा रहा है।

मान लीजिए कि बैंगार्ड ने अपना कार्य्य सच्चा-सच्चा किया, तो फिर यह मनुष्य का बनाया हुआ तारा या चंद्र पृथ्वी की परिक्रमा करने लगेगा। हमारी पृथ्वी पश्चिम से पूर्व को घूम रही है, और तारा भी पश्चिम से पूर्व की ओर यात्रा करेगा, और ९० मिनट में पृथ्वी की एक परिक्रमा कर डालेगा। हमारी शुभ कामना है, कि मनुष्य अपने इस प्रयास में सफल हो।

———

प्रकृति का पुराण

मनुष्य तो अपनी हार्दिक वृत्तियों से प्रेरित होकर प्रसिद्ध पुरुषों, राजाओं आदि की जीवन कथाएँ लिपिवद्ध करने का प्रयास करता है। देश-देशों में इस तरह की रचनाएँ पुराण, इतिहास आदि नामों से ज्ञात हैं। अन्य रूपों के वर्णन भी प्राचीन घटनाओं को स्मरण दिलाने के लिए लिखे होते हैं। कुछ सौ या हजार वर्षों तक पुरानी घटनाओं के वर्णन कागज पर लिखे हो सकते हैं। इससे भी अधिक पुराने वर्णनों को पार्चमेंट, ताड़पत्र, ताम्रपत्र या शिलालेखों रूप में पाया जा सकता है। इनमें वर्णित घटनाओं की प्राचीनता की कुछ सीमित अवधि हो सकती है परन्तु प्रकृति अपने विशाल रंग-मंच पर घटित वर्णनों का भी प्रबन्ध रखती दिखाई पड़ती है जो लाखों ही नहीं, करोड़ों, अरबों वर्ष तक पुरानी कथा हो सकती है। इनको प्रकृति का पुराण कहा जाय तो क्या अपत्ति हो सकती है!

किसी अपराधी के बड़ी ही सावधानी तथा अत्यन्त गुप्त रूप से किए अपराधों की टोह लेने के लिए आज के वैज्ञानिक गुप्तचर तरह-तरह के उपायों और विलक्षण युक्तियों से काम लेकर उस समस्त घटना की सांगोपांग कथा उपस्थित करने में प्रायः सफल हो जाते हैं। उनके या किसी अन्य पुरुष के सम्मुख प्रत्यक्ष रूप से वे घटनाएँ नहीं घटित होतीं। फिर भी युक्तियों के कौशल और यंत्रों की चातुरी से साधन तथा प्रतिभा-सम्पन्न गुप्तचारों को अत्यंत गूढ़ घटनाओं का भी रहस्योद्‌घाटन करते देखा जाता है। इसी प्रकार मनुष्य ने भी अपनी विकट मेधा शक्ति तथा सूझ से उन पुरातन कथाओं को भी ज्ञात करने की कोशिश की है जो उसकी जाति नहीं, प्रत्युत्त स्तनपोषी मात्र के भी उदय होने के पूर्व या जीवों के संसार में आविर्भूत होने के पूर्व भी आज से करोड़ों या अरबों वर्ष पूर्व घटित हुई होंगी। इनके कुछ वर्णन तो धरती की आयु के प्रमाणों के विवेचन में प्राप्त होते हैं, परन्तु हम यहाँ पर उनकी चर्चा करना चाहते हैं जो संसार में जीवों के रूप उदय तथा विकसित होने के सम्बन्ध में प्राप्त होते हैं। इनको प्रस्तरावशेष या फासिल नाम से प्रसिद्ध पाया जाता है। ये ही पृष्ठों रूप में प्रकृति के पुराण की पोथी हैं।

प्रस्तरावशेष या फासिल तो प्राचीन समय से मनुष्यों को देश-देशों में हस्तगत होते रहे होंगे, परंतु उनके यथार्थ मर्म को जान सकना कठिन था। इस कारण उनके जब-तब उल्लेख अन्य देशों में पाकर उनकी व्याख्या के रूपों का आज अवलोकन करना एक विलक्षण प्रसंग ही है। आज के वैज्ञानिक तो हमारे सम्मुख यह यथार्थ व्याख्या रखते हैं कि वे प्राचीन काल में विद्यमान जन्तुओं के किसी प्रकार रक्षित रूप या छाप ही हैं, परन्तु पहले के विद्वानों तक को भी यह बात समझाना कठिन होता था। एक तो कठिनाई यह हो सकती थी कि उनके रूप लाखों ही नहीं, करोड़ों वर्ष पुरानी जातियों के जीवों के हो सकते थे जो आज बिल्कुल ही लुप्त हो गए हों या सर्वथा परिवर्तित ही विद्यमान हों। दूसरे भूमि के तल में घोर परिवर्तन होते रहने से उनके जलचारी, थलचारी आदि जीवनों का भी इस कारण बोध होना कठिन होता था कि आज के सूखे भूभाग को कभी समुद्र का पेट मानने का सहज विश्वास कौन कर सकता था। परन्तु सतत अनुशीलन और

विवेचन करते रहने से जब भौगर्भिक शक्तियों द्वारा प्रस्तुत परिवर्तनों और आज के रूप से धरती के जल-थल या ऊँचे-नीचे खण्डों में विभिन्नता के भी उदाहरण अन्य समयों या युगों में होने की कल्पना एक सत्य घटना होने का विश्वास करना आज सम्भव हो सका है तो हम प्रस्तरावशेषों के यथार्थ मूल्य को भी आज समझने लग गए हैं।

फासिल के लिए हमारे यहाँ पहले खनन (खोदने) अर्थ का शब्द प्रयुक्त करने का भी प्रयास किया गया था लैटिन भाषा के फासिल शब्द का अर्थ "खोदने से मिली हुई वस्तु" है किन्तु इसके शब्द परिवर्तन या अनुवाद से कुछ भाव व्यक्त होना कठिन है। फिर खोदने से तो हजारों वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। इसलिए प्रस्तरावशेष शब्द कुछ अधिक उपयुक्त है। फासिल या प्रस्तरावशेष का अर्थ जीव या वनस्पति का कोई भी समाधिस्थ या गड़ा हुआ मृत रूप नहीं लिया जाता। उसमें प्राचीनता की भावना भी निहित है। इस कारण उन रूपों को ही प्रस्तरावशेष या फासिल कहा जायगा जिनमें शव या वानस्पतिक कंकाल अल्पकालीन या तत्कालीन न हो।

प्रस्तरावशेष कैसे बनते होंगे, उनका यथार्थ रूप क्या हो सकता है, यह कुछ अधिक व्यौरे की बातें हैं। कुछ पदार्थ या वातावरण ऐसे हो सकते हैं जिनमें शव या मृत पदार्थ का रूप या कंकाल दीर्घकाल तक रक्षित रह सकने का सुभीता हो सकता है किन्तु कुछ ऐसे हो सकते हैं जिनमें कीटाणु प्रबल रूप से सक्रिय रहकर उसका रूप सर्वथा नष्ट कर देते हैं। चूने के पत्थर में कंकाल के रक्षित रहने का अधिक अवसर होता है। अस्फाल्ट या तेल के प्राकृतिक स्रोत में भी शव विलक्षण रूप से रक्षित रह जाते हैं। सूखी खोहों में भी दीर्घकाल तक शव रक्षित रहते पाये गए हैं। बर्फ के अगाध-भंडार में तो बीसों हजार वर्ष तक बर्फीले हाथी के शव रक्षित होने के इतने उत्तम उदाहरण मिले हैं कि कुत्ते उनके मांस को ताजे मांस की तरह खाने दौड़ सके हैं।

पत्थर के अंदर शव के कोमल अंग गलकर हड्डी की ठठरी रक्षित करने का अवसर पा सकते हैं। पत्थरों को तलछटीय तथा आग्नेय दो रूपों का पाया जाता है। तलछटीय शिलाएँ तो चूर्ण रूप में पानी के अन्दर धीरे-धीरे जमने से बनी हैं। इसलिए उनमें शव के अकस्मात दब जाने से कंकाल पड़ा रहने का अवसर मिल सकता है। फिर कालान्तर में शनैः शनैः पृथ्वी की पपड़ी सिकुड़ने की क्रिया प्रारंभ हुई होगी तो उनके तल दबकर कठोर रूप धारण कर सके होंगे। कालान्तर में उसी का पर्वत या ऊँची भूमि के रूप में उभाड़ हुआ होगा और धरती पर रूपान्तर उपस्थित करने वाली शक्तियाँ, वायु, हवा आदि तल को काटने लगी होंगी। यदि कोई प्रस्तरावशेष किसी पहाड़ी के ढाल पर हुआ जहाँ तलभंजक प्राकृतिक शक्तियाँ क्रियाशील हैं तो ऊपरी तल पर कभी उसका खुला दिखाई पड़ जाना संभव है। फिर किसी कुशल भूगर्भवैज्ञानिक की दृष्टि पड़ने पर लाखों, करोड़ों वर्ष पूर्व धरती पर घटित हुई घटना का उद्घाटन हो सकता है और यह ज्ञात हो सकता है कि उस विशेष स्थान पर पुराने काल में वह जन्तु रहता था जो दैवयोग से फँसकर समाधिस्थ हो गया; मानों प्रकृति ने अपनी प्राचीन कथा का एक छोटा पृष्ठ ही वहाँ उस जन्तु के पूरे या अधूरे कंकाल रूप में गर्भस्थ कर रक्खा जिससे कभी तल के खुले रूप में ऊपरी भाग पर दृष्टिगोचर होने का अवसर होने पर वह तथ्य मनुष्यों को ज्ञात हो सके।

प्रस्तरावशेष प्राप्त होने के स्थान कुछ भी हो सकते हैं, परन्तु आग्नेय शिलाओं में वे बहुत ही दुर्लभ होते हैं। उसका कारण भी हम समझ सकते हैं। आग्नेय शिलाओं की निर्माण-शक्ति आग होती है। किसी समय उसके पदार्थों के तप्त द्रव के रूप में रहने के बाद ही जमने की क्रिया हुई रहती है। ज्वालामुखी के मुख से निर्गत पाषाण के द्रवित रूप

लावा को हम आज भी भूतल पर यदाकदा आ पहुँचते देखते हैं जिनके जमने से लावा की शिलायें बनती हैं। इसी प्रकार अन्य आग्नेय शिलायें भी बनी होंगी। इनके द्रव रूप में दहकते हुए धरातल पर प्रवाहित या प्रसारित होने के अवसर उस समय भी रहते होगें, जब पृथ्वी पर जीवों का प्रादुर्भाव तथा प्रसार हो चुका था। कालान्तर में भी अवसर आते रहते होगें। परन्तु दहकते द्रवित पाषाण या लावा के मध्य किसी जीव के शव का जल-भुनकर सर्वथा नाश हो जाना सहज क्रिया है। इसी कारण उनका कोई रूप या कंकाल रक्षित होना सर्वथा कठिन सी क्रिया है, फिर भी कभी कुछ विशेष स्थितियाँ ऐसी आ सकती हैं जिनमें किसी प्रकार लावा में दबे शव का कुछ रूप रक्षित हो सके। इस तरह का एक दुर्लभ उदाहरण अमेरिका के ओरेगन प्रदेश में पाया गया है जहाँ लावा की धारा के मध्य फँसे हुए एक प्राचीन गंडक का कुछ रक्षित अंश प्रस्तरावशेष रूप में मिल सका है। इस जीव के वास्तविक अंश रूप में तो एक दो झुलसी हुई हड्डियों के टुकड़े ही मिले हैं, परन्तु इसका शव जब लावा में फँसा होगा तो उसके चारों ओर लावा की तह उसका ढांचा सा बनाकर जम गई होगी और बाद में शव के लावा के अन्दर ही नष्ट हो जाने का अवसर मिला होगा। परन्तु उसके दबे रहने से लावा के अन्दर बना हुआ ढांचा अब भी विद्यमान रह सका है जिससे गंडक की रेखाकृति प्रकट होती है।

ऐसे उदाहरण तो विरले ही मिल सकते हैं, परन्तु आग्नेय शिलाओं के बाद उनके ऊपर जो तलछटीय शिलाएँ बनीं उनमें शव के रूप किसी न किसी प्रकार रक्षित होने के बहुसंख्यक उदाहरण संसार के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं। आज से करोड़ों वर्ष पूर्व समुद्र के पेटे में जीवों के शव का रक्तमांस अन्य जन्तुओं तथा कीड़े मकोड़ों द्वारा खा लिए जाने के पश्चात् कंकाल दृढ़ रूप का होने से मिट्टी की तह में रक्षित रहने का अवसर हो सकता है। नदियों के मुहानों या ऊपरी पेटों में भी प्रस्तरावशेष रक्षित हो सकते हैं।

प्रस्तरावशेष के सबसे अधिक प्रसारित रूप पानी द्वारा प्रवाहित तलछट में, विशेषतया समुद्र के पेटे में उत्पन्न होते हैं। दृढ़ भाग के शव को रक्षित पाने की कल्पना हम कर सकते हैं, परन्तु कभी-कभी कोमल अङ्गों की छाप भी शिलाओं के अन्दर रक्षित हो सकती है। एक तीस करोड़ वर्ष पुराने ग्राह का ऐसा प्रस्तरावशेष प्राप्त हो सका है कि उसमें ग्राह के शरीर के पृथक-पृथक रेशे और उनके आड़े रूप के रेखांकन तक सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा स्पष्ट देखे जा सकते हैं। अतएव जिन जन्तुओं में दृढ़ कंकाल का सर्वथा अभाव ही होता है, यदि उनके शवों की ऐसी छापें प्राचीन रूपों की सुलभ हो सकें तो हमारे ज्ञान में विशेष अभिवृद्धि हो सकती है। सौभाग्य से ऐसे दुर्लभ प्रस्तरावशेष भी कुछ प्राप्त हो सके हैं जिनमें झिल्ली मत्स्य तथा अन्य अपृष्ठ-वंशी जन्तुओं के रूपों की छाप देखने को मिलती है किन्तु इनकी संख्या अवश्य ही बहुत कम है।

प्रस्तरावशेष को साधारणतया जीवों के प्राचीन शवों का पथराया रूप माना जाता है, परन्तु यह धारणा सर्वथा सत्य नहीं है। प्रस्तरावशेष में किसी जीव के शव का कंकाल बिल्कुल पत्थर बन जाना आवश्यक नहीं। प्रत्युत अधिकांश प्रस्तरावशेषों में हड्डी का कंकाल पत्थर रूप में बदला ही नहीं होता। होता यह है कि जब किसी जीव का कंकाल मिट्टी या तलछट की तह में दब जाता है और उसके ऊपर रेत की तहें आ जमने लगती हैं तो कंकाल की हड्डी के भीतरी भाग में अपेक्षाकृत कोमल पदार्थ शीघ्र जल जाते हैं जो हड्डी के नमूने के नहीं होते। उनकी जगह ऊपर से रेत आकर स्थान घेर लेती है और हड्डी को छोड़ कर शेष भाग पूर्णतः रेत के द्वारा ही भर कर कालान्तर में पृथ्वी की सिकुड़न, गर्मी, दबाव आदि की क्रियाओं से पत्थर बन जाता है। अतएव जब कभी ऐसे रूप का भाग भूतल-क्षरण के पश्चात् खुले रूप में स्वयं दिखाई पड़ता है या

कुछ खुदाई करने से प्राप्त होता है तो उसके अंदर हड्डी और रेत के पथराये रूप के भाग पृथक रंगरूप रक्खे मिलते हैं। वैज्ञानिक सावधानी से कंकाल के अन्दर हड्डी की रचना का रूप ज्ञात कर लेते हैं। कभी-कभी तो सारे कंकाल का ढांचा सा ही पत्थर द्वारा बना मिलता है या वैज्ञानिक स्वयं उसका ढाँचा ढाल कर उसी का नया रूप प्रस्तुत कर लेते हैं।

लावा के अन्दर शव-छाप बन जाने के उदाहरण की भाँति अन्य पदार्थों में भी जीवों का ढाँचा बनकर सुरक्षित होने का अवसर हो सकता है। उन छापों या ढाँचों का अध्ययन किया जा सकता है। यदि छाप ही सुलभ हो तो सडमें सिमेन्ट के द्वारा ढाँचा ढाल कर जीव का पूर्व रूप खड़ा करने का उद्योग किया जाता है। अन्य पदार्थों के अन्दर छाप बनने की कुछ दशायें ऐसी भी हो सकती हैं जिनमें प्रकृति ने ही रेत या अन्य पदार्थ भीतर पहुँचा कर जीवों का ढाँचा खड़ा कर दिया हो।

ऐम्बर या पुराकालीन गोंद के अन्दर भी जीवों के रक्षित होने के अद्भुत उदाहरण पाये जाते हैं। प्राचीन काल के चीड़ देवदार आदि वृक्षों की सुरक्षित पड़ी गोंद को अम्बर या ऐम्बर कहा जाता है जो जमकर पत्थर-सी बनी होती हैं। जब यह गोंद कहीं वृक्ष से गिर कर चिपचिपी अवस्था में ही रही होंगी कोई कीट दुर्भाग्य से उस पर आ गिरा होगा और बाहर निकलने में असमर्थ ही होगा। ऊपर से गोंद की कुछ और मात्रा उसी में आ गिरने से कीट को उसी के अन्दर समाधिस्थ हो जाने का अवसर मिला होगा। कभी-कभी एक ही टुकड़े में कई कीट आ गिरे भी हो सकते हैं। एक बार उसके अन्दर फँस जाने पर ऊपर की क्रियाओं से उनके शव के क्षीण या नष्ट होने का अवसर ही नहीं मिल सकता थ अतएव उन गोंदों में जमकर पारदर्शी बने होंगे पर दीर्घ काल पश्चात् आज हम उन कीटों का रूप भव्य रूप में अन्दर रक्षित पाते हैं जो आज से करोड़ों वर्ष पूर्व की ऐसी क्षुद्र घटनाओं का चित्रण करते हैं।

अम्बर के अन्दर कीटों के सूक्ष्म अङ्ग नष्ट हो गए होते हैं, परन्तु दृढ़ अङ्ग रक्षित पाये जाते हैं। इन ढाँचों में कीट के पूर्ण आकार और रचना को सुरक्षित पाया जाता है। इस ढङ्ग से हम प्राचीन कालीन कीटों के शरीर की सम्पूर्ण सूक्ष्म रचना का ही ज्ञान प्राप्त नहीं करते बल्कि उनके सूक्ष्म रोम और पंखों की झिल्लियों तक का निरीक्षण सूक्ष्मदर्शक यंत्रों द्वारा कर सकते हैं। इसी तरह अस्फाल्ट में भी दबे पड़े रहने के उदाहरण मिलते हैं जिनमें बड़े आकार के जन्तुओं का शव सूक्ष्म अङ्गों सहित रक्षित पाया जा सकता है। अस्फाल्ट के अन्दर कीटाणुओं का प्रवेश ही नहीं हो सकता, इस कारण शव के क्षीण होने का अवसर नहीं होता। इसी तरह पीट की तह में भी शव रक्षित हो सकते हैं। अमेरिका में महादन्ती नामक हस्तीनुमा जन्तु के सौ शव एक स्थान पर पीट की तह में रक्षित पाये गये हैं।

पेड़-पौधों के प्रस्तरावशेष जीवों की अपेक्षा कम ही रक्षित हो सकते हैं। उनमें हड्डी की तरह दृढ़ पदार्थों का अभाव ही होता है। उनके पथराए रूपों के कुछ प्रस्तरावशेष प्राप्त हो सके हैं जिनमें उतने भाग में रेत (सिलिका) या चूना (कालसियम) समान पदार्थ भर कर ठोस रूप बने पाये जाते हैं जितना भाग उनके अंदर पहले काठ या अन्य पदार्थों द्वारा भरा रहता था। यह रूप उसी प्रकार का समझा जा सकता है जिस में हड्डी के अंदर ऊपेक्षाकृत दुर्बल पदार्थों का स्थान पत्थर लेकर ढाँचा बनाता हो परन्तु पेड़ पौधों में तो हड्डी की तरह कोई कड़ा दृढ़ भाग होता ही नहीं। इसलिए सम्पूर्ण भाग ही रेत चूने आदि द्वारा स्थानापन्न हो जाता है और केवल पेड़ पौधे का रूप झलकता है। अमेरिका में इस तरह पथराये पेड़ों के जंगल भूमि में खोद कर

पाए जा सके हैं। वृक्ष के पथराये तनों के नमूने संग्रहालयों में भी रक्खे मिलते हैं।

वृक्षों के कोमल अंग, फूल, पत्तों या पौधों के अंग तो पथराये नहीं मिल सकते, परन्तु पत्थर के अंदर उनके छाप कहीं-कहीं मिलते हैं। जीवों की तरह ही इनके तलछट में फँस कर समाधिस्थ बनने पर कभी-कभी शिला के अंदर इन कोमल अंगों के नष्ट होने से अवशिष्ट भाग, कार्बन द्वारा कुछ छाप बनी मिल सकती है जिससे उनके आकार का भव्य रूप ज्ञात हो सकता है।

जीवों के कंकालीय प्रस्तरावशेष के अतिरिक्त भी कुछ प्रस्तरावशेष मिलते हैं जिनसे उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ बातें ज्ञात होती हैं। इनमें उनके मल या लीद की चर्चा की जा सकती है। लीद के प्रस्तरावशेष अनेक विलुप्त जंतुओं की आहार-वृत्ति का प्रमाण उपस्थित करते हैं। पगचिन्ह भी वैज्ञानिकों के लिए विशेष मूल्य रखते हैं। उनके द्वारा वे पता लगाते हैं कि अमुक जंतु मंदगामी था या दौड़ या भाग सकने वाला था। वह कूद कर चलता था या दौड़ता था। इसी तरह जंतु के प्रस्तरावशेष के समीप पत्तियों और पौधों की छाप मिलने से वैज्ञानिक ज्ञात करता है कि उन जंतुओं का आहार क्या था। कंकाल के रूप से वह ज्ञात कर लेता है कि अमुक जंतु शाकाहारी था या मांसाहारी था अथवा दोनों ही वृत्तियाँ रखने वाला जंतु था।

प्रस्तरावशेषों को आज हम जहाँ इतना ज्ञान-वर्द्धक और सृष्टि के प्राचीन इतिहास का द्योतक पाते हैं, वहाँ पहले इनके सम्बन्ध में पुराने लोगों में विचित्र ही धारणा में फैली पाई जाती थी। अरस्तू नाम के यूनान के प्रसिद्ध विद्वान ने तो यह मत निर्धारित किया था कि ये किसी अधम रूप के जीवों की पृथक सृष्टि ही है जो किसी विचित्र शक्ति द्वारा स्वतः ही शिलाओं के अंदर उत्पन्न होती है। एक अन्य विद्वान ने भी यह कल्पना की थी कि ये सजीव सृष्टि के ही मृतरूप हैं। परन्तु उसके विचार से इनकी उत्पत्ति पत्थरों में बिखरे अंडों या बीजों से ही हुई होगी। हिरोडोटस नाम के विद्वान ने मिस्र और लीबिया की यात्रा करने के समय समुद्री जंतुओं के प्रस्तरावशेष स्थल खंडों में देखकर यह कल्पना अवश्य की थी कि भूमध्यसागर कभी उन भूभागों तक अवश्य फैला रहा होगा और वे समुद्री जंतुओं के उस समय के फैले रूपों के अवशेष होंगे।

हिरोडोटस की धारणा वहीं तक सीमित रह गई। उसके बाद भी लोग मिथ्या धारणायें ही रखते रहे। रोम सभ्यता के उदय के समय इस संबंध में कुछ भी खोज आगे न बढ़ सकी। उन दिनों सृष्टि के आरम्भ होने का समय कुछ हजारों वर्ष पहले ही माना जाता था और सारी सृष्टि चार छ दिनों में विश्व नियंता द्वारा रची हुई मानी जाती थी। इस दशा में प्रस्तरावशेषों का प्रसंग ही नहीं उठाया जा सकता था। लोग उस तथ्य की जानबूझ कर उपेक्षा करते। कुछ जनसाधारण यह कल्पना करते कि कहीं आसमान पर से जीवों के उत्पादक कण आ गिरे होंगे जिनसे ये उत्पन्न हुए होंगे या सदेह जीव ही आ गिरे होंगे और शिलाओं में जम गए होंगे। बहुत से लोग तो इसे शैतान की करामात ही समझते थे।

पूर्व समय में प्रलय की कल्पना भी लोगों में प्रचलित थी। कहीं कहीं प्रागैतिहासिक हाथियों के मस्तक का कंकाल देखने को मिलता। उसे पाश्चात्य देशों में लोग किसी महादानव का ही रूप समझते। ईसाई जगत में कुछ लोगों ने यह मंतव्य प्रकाशित किया था कि सृष्टि की उत्पत्ति तो ईसाइयों की तत्कालीन धारणा के अनुसार कुछ हजार वर्षों पूर्व सप्ताह के छः दिनों में पूरी हुई और सातवें दिन रविवार को सृष्टि के कार्य को समाप्त कर स्रष्टा ने विश्राम का दिन घोषित किया। वे लोग प्रस्तरावशेषों को देख-कर कहते कि सृष्टि होने के पहले से ही वे उसी तरह विद्यमान पड़े होंगे। कुछ अंधविश्वासी तो यह कहते कि शैतान ने नास्तिकता का बीज बोने के लिए लोगों को मतभ्रष्ट करने के लिए ही प्रस्तरावशेषों को भूमि में दबा रक्खा है।

———

जीवन का उद्भव

संसार में चौरासी लाख योनियाँ हैं। वे ब्रह्मा द्वारा स्थायी रूप से निर्धारित हैं। उनकी उत्पत्ति जब कभी भी हुई एक साथ ही हुई। उनको किसी की अपेक्षा पूर्ववर्ती या पश्चात्वर्ती उत्पन्न नहीं माना जा सकता। पुनर्जन्म मानने से कोई प्राण रूप की वस्तु एक योनि के शरीर से निकल कर दूसरी योनि में पहुँच सकती होगी। वह धर्म-कर्म, पाप-पुण्य के लेखा-जोखा के अनुसार ही परिवर्तन होगा। परन्तु एक योनि के जंतु के शरीर का दूसरी योनि वाले जंतु के शरीर से उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई परस्पर-बंधक सूत्र न रहता होगा। इस तरह के विश्वास धर्म ग्रंथों के द्वारा हमें कराये जाते हैं। अन्य देशों में भी इस तरह की आस्थाएँ पुराने समयों से प्रचलित पाई जाती हैं। परन्तु आज का विज्ञान हमें इससे अधिक उच्च स्तर का व्यवस्था-क्रम प्रदर्शित करता है और सरल रूप के जंतु से शाखा प्रशाखावत् जटिल रूप के जंतुओं का विकास होते रहने का सिद्धान्त हमारे सम्मुख रखता है। यह मत आज केवल तर्कजन्य ही नहीं रह गया है। प्रत्युत धरती की क्रमिक रूप की प्राचीन कहानी का प्रस्तरावशेषों के आधार पर प्रमाणित अंग बन गया है।

मनुष्य के धरती पर अवतार लेने के आधुनिक काल से पीछे की ओर प्राचीन इतिहास की अनुक्रमिक स्थितियों की ओर दृष्टि डालने से हमें एक रूप के जीव के पूर्व दूसरे रूप के जीवों के उदाहरण स्पष्ट मिलते हैं जो विकास के उच्च शृंग से नीचे की ओर की पूर्ववर्ती शाखाओं का दर्शन कराते हैं। उससे हम यह समझ सकते हैं कि क्रमशः प्राचीनतर कालों में जीवों के क्या-क्या रूप संसार में उत्पन्न तथा प्रसारित रहे होंगे। किस प्रकार स्तनपोषियों के पहले सरीसृपों का उदय और प्राधान्य स्थापित रहा होगा। उनसे पूर्व कैसे उभचारी जीवों की प्रधानता तथा उदय का समय रहा होगा। इससे भी अधिक पुराने काल में मछली की विभिन्न जातियों का पृष्ठवंशी जंतुओं के रूप में पहले-पहल उदय तथा प्रसार हुआ होगा तथा इन सब पृष्ठवंशी जंतुओं के भी पूर्व एक मात्र अपृष्ठवंशी जंतुओं, कीड़ों-मकोड़ों आदि के विभिन्न रूपों का ही बहुत अधिक समय तक संसार के समुद्रों में विस्तृत प्रसार रहा होगा। वह प्राचीन समय संसार के जंतु रूपी वंश वृक्ष के मूल या तने के समान प्रारंभिक भाग के उदय या विकास का काल ही कहा जा सकता है।

जीवों के रूप विकसित होने का ज्वलंत उदाहरण हमें गर्भ विज्ञान या जनन विज्ञान के अनुशीलन से प्राप्त हो सकता है। जन्म के पूर्व किसी एकाकी जीव की जीवन-कथा का अध्ययन करने वाला विज्ञान गर्भ-विज्ञान या भ्रूण-विज्ञान कहलाता है। यह एक ज्ञात तथ्य है कि प्रत्येक जीवित जन्तु के शरीर की रचना विन्दु रूप के व्यवस्थित जीवनरस (प्रोटोप्लाज्म) की करोड़ों क्षुद्र कणिकाओं से हुई रहती है जिसे कोष या कोशा नाम दिया गया है। किसी वयस्क जीव का शरीर चाहे जितने जटिल रूप का हो, वह अपना अस्तित्व सदा ही एक एकाकी कोष या अंडे से बनाता है। केवल यह बात ही जन्तुओं के संबंधित रूप को प्रकट करती है। किन्तु इससे महत्वपूर्ण प्रमाण भी यह मिलता है कि जीव कोष का विकास अंडे के अन्तर्गत या माता की कुक्षि में जैसे-जैसे होता जाता है, वह प्रायः उस जाति की विकासात्मक जीवन कथा की प्रत्येक स्थितियों या सोपानों को पार करता है। उदाहरणार्थ प्रत्येक पृष्ठधारी

जन्तु अपनी भ्रूणावस्था की एक स्थिति में अवश्य पहुँचता है जब उसमें मछली के गलफड़ों के छिद्र (कंठचीरी छिद्र) प्रकट होते हैं। मनुष्य की ही बात ले लीजिए। उसके भ्रूण में वृद्धि की विभिन्न स्थितियों में पहले दुम और बाद में रोमाच्छादित कलेवर का रूपपशुओं तथा वानर की पूर्वकालीन काया की स्मृति दिलाता है जिन स्थितियों में पहले रह कर मानव आज इस रूप में विकसित हो सका है।

यह बात अवश्य है कि संबंधित श्रेणियों में ही प्रायः वृद्धि के रूप साम्य पाये जाते हैं। मनुष्य और कीट के भ्रूणों में कहीं भी रूप की समानता नहीं दीख सकती। मनुष्य और अन्य पृष्ठवंशियों के भ्रूणों को अधिक गम्भीर समानता प्रदर्शित करते पाया जा सकता है। पृष्ठवंशियों में भी सरीसृपों को मछलियों की अपेक्षा मनुष्य का अधिक निकटवर्ती भ्रूणीय वृद्धि-क्रम दिखाते पाया जा सकता है। उष्णरक्तीय जन्तुओं, जैसे शूकर एवं वानर के भ्रूणों को मानव भ्रूण के और भी निकट का पाया जाता है।

यही बात जन्तुओं के शरीर विज्ञान तथा उनके कंकालों के तुलनात्मक अध्ययन से भी जानी जा सकती है। कुछ संबंधित रूपों में इस तरह के साम्य उनके परस्पर निकट या आपेक्षाकृत दूर के सम्बन्धों को प्रकट करते हैं। परन्तु ये समानताएँ विकास के उत्तरवर्ती क्रमों का ही परिणाम हैं। इनकी स्पष्ट विधमानता भौगर्भिकीय इतिहास में अपेक्षाकृत पश्चवर्ती घटनाएँ होने के कारण है। यथार्थ में जीवों के रूप-विकास का क्रम तो बहुत पूर्वकाल से ही क्रमागत रूप से चलता आ रहा होगा। अतएव पूर्व की विकास-क्रियायें इतनी पुरातन हो गई हैं कि वे हमारे इन सुलभ प्रमाणों की पहुँच से बाहर ही रह जाती हैं।

दृढ़ कंकालों के क्षेत्र से परे भी सृष्टि का क्रम था। बड़ी ऊहापोह से उसकी शृंखला भी बैठाने का प्रयास किया जाता है। हमारे सामने उनका स्पष्ट रूप खड़ा करने प्रश्न आता है। जीवों के उद्भव शीर्षक में हमें कंकाल की बाधा छोड़कर भी सब जीवों के अपेक्षाकृत पूर्वतर रूपों का आभास पाकर पूर्वतम या आदितम जीव की छानबीन करनी पड़ सकती है। यह विषय इतना सुगम और क्षुद्र नहीं है कि एक अध्याय के दो चार वाक्यों में तुरन्त बाँधा जा सके। उधर एक दूसरे पक्ष का भी एक बड़ा ही गम्भीर प्रश्न है जो इस शीर्षक का महत्वपूर्ण ही नहीं प्रत्युत अधिकांश विषय कहा जा सकता है किन्तु उस प्रश्न का ठीक निराकरण आज विज्ञान ही नहीं कर सका है और न विश्वास पूर्वक यह भी कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में उसका निस्संदिग्ध उत्तर विज्ञान-जगत को प्राप्त ही हो जायगा। वह प्रश्न यह है कि "जीव कैसे अस्तित्व में आता है?" या "प्राण की उत्पत्ति किस प्रकार होती है?"

इन कठिनाइयों में विषय की चर्चा स्थगित रखना किसी भी प्रकार समीचीन नहीं हो सकता। जो कुछ भी ज्ञात है या ज्ञात होना सम्भव मालूम पड़ने लगा है, उन बातों की कुछ झांकी ली जा सकती है। हमारा ध्यान मूर्त रूप के प्राचीन जीवों के प्रमाणों की ओर जब जाता है तो जीवों के वंशवृक्ष के निम्नतलों का अत्यन्त असंतोष-जनक चित्रण सम्मुख आता है। बिना रीढ़ के जन्तुओं से ही आदिम वंशवृक्ष की उत्पत्ति हुई होगी परन्तु जीवन के अनेक रूपों को इस वंशवृक्ष में अत्यन्त अधूरा या धूमिल चित्र दिखाते ही पाया जा सकता है। जीवन की श्रेणी में तो वनस्पति और जन्तु दोनों ही आते हैं। इन दोनों का आदिम रूप या इन दोनों के स्थान पर दोनों के जनक रूप का कोई एक आदिम रूप भी हो सकता है। इनमें हम वनस्पतियों की रचना अधिकांशतः कोमल तन्तुओं से निर्मित पाते हैं जो प्रस्तरावशेष बनने का बहुत कम अवसर पा सकते हैं। फिर उनके आदिम रूपों का प्रमाण पाना तो और भी कठिन हो सकता है। प्राणियों

में अपृष्ठवंशी जन्तुओं में भी अनेक ऐसे होते हैं जिनमें कठोर ढक्कन या आवरण या अन्य कठोर भाग हो सकते हैं। इनका तो प्रस्तरावशेष यथेष्ट संख्याओं में पाया जा सकता है किन्तु विकास क्रम की पूरी शृंखला बैठाने वाले रूपों में अत्यन्त महत्वपूर्ण कड़ियों में से अधिकांश को कोमल अंग के जन्तु ही माना जा सकता है जिनके प्रस्तरावशेष दुर्लभ ही हैं। हमारे लिए यह समझना कठिन नहीं है कि बहुतेरी अपृष्ठवंशी श्रेणियों का इतिहास इतना दीर्घकालीन रहा है कि उनके प्रस्तरावशेष, जिनका पुरातन शिलाओं में विद्यमान हो सकना सम्भव था, अतीत के गर्भ में विलीन ही हो चुके हैं। यथार्थतः हमारी प्राचीनतम सृष्टि-कथा चित्रित करनेवाली शिलाएँ पृथ्वी की पर्पटी से पूर्णतः लुप्त ही हो गई हैं या घोर उत्ताप एवं भौमिक भार-मर्दन से इतनी परिवर्तित हो चुकी हैं कि उनके अन्तर्गत प्रारंभिक प्रस्तरावशेष विद्यमान रहने पर भी सर्वथा अगम्य बन गए हैं।

कठिनाइयों के इतने घटाटोप में भी विज्ञान-शोधक कुछ तथ्य का रूप निर्धारित करने के आधार ढूँढ़ते हैं। हम भी पहले यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि हमारे ज्ञान-सूत्रों द्वारा विद्ध कौन से क्षुद्रतम जीव हो सकते हैं जिनका सृष्टि के विकासक्रम की आधार-भित्ति से सम्बन्ध हो सकता है। यदि किसी जन्तुशास्त्री से प्रश्न किया जाय कि उसके नवीनतम सूक्ष्मबोध उपकरणों से जन्तु सागर में अवगाह्य क्षुद्रतम प्राणियों के रूप-वैचित्र्य, संख्यांकन और जनन तथा जीवनक्रम क्या हो सकते हैं तो वह इतनी अधिक मननशील प्रचुर सामग्री का अगाध भंडार हमारे सम्मुख रख देगा कि साधारणजन के लिए कुछ गम्य, कुछ अर्द्ध बोधगम्य और शेष दुर्बोधगम्य रूपों के संमिश्रण का एक अगाध सिन्धु ही होगा जिसमें अवगाहन करने में संलग्न होकर हम इतर प्रसंगों पर तनिक भी दृष्टिपात करने का अवसर न पा सकेंगे। यह विषय अवश्य ही बड़े मनोयोगपूर्वक अध्ययन अनुशीलन करते रहने के लिए बड़े विलक्षण, मनोरंजक और विवेचनपूर्ण रूप का है जिसको कोई भी ज्ञानार्जन कर मनोरंजन करने वाला पाठक अपने जीवन के न्यून या अधिक भाग के सदुपयोग का साधन बना सकता है, परन्तु हमें तो इस विषय की कुछ पृष्ठभूमि की ही चर्चा कर सृष्टि के विहंगम विकास-क्रिया की झाँकी लेने के लिए अग्रसर होना है।

जीवों के कलेवर की चर्चा करते हुए हमने देखा है कि उसकी रचना विविध रूप की तथा छोटी या बड़ी होने पर भी मूल निर्मायक इकाइयाँ विशाल प्रासाद की निर्मायक छोटी-छोटी ईंटों की भाँति क्षुद्र सजीव कणिकाएँ होती हैं जिनको हम कोष या कोशा (सेल) नाम देते हैं। कोषों के विभिन्न रूप और आकार होते हैं। वे बड़े शरीर के निर्माण में मुख्य भाग लेने पर भी स्वयं अत्यंत क्षुद्र स्थान ग्रहण करते हैं। सब का समूह ही किसी जीव के किसी अंग का भव्य रूप निर्माण करता है। इस बड़े रूप की भव्यता में नन्हीं ईंटों की गिनती ही कौन करने बैठ सकता है। ताजमहल के सौन्दर्य पूर्ण भवन की बाह्य भव्यता, रचना-चातुरी आदि की चर्चा करने में संगमरमर के टुकड़ों की संख्या या लेखा जोखा का उल्लेख किसने देखा या सुना है? हम भी बेचारे कोषों के ही दास होकर भी अपने सुन्दर कलेवर का ध्यान आने पर कभी उन नन्हीं कणिकाओं की बात नहीं सोचते परन्तु एक पल उन बेचारे हीनकाय प्राणियों पर भी दृष्टि डालें जिनके कलेवर की पूँजी के नाम पर केवल एक ही कोष होता है। जिनके मकान के नाम पर एक ही एकाकी ईंट होती है।

एक छोटी इकाई वह भले ही है, परन्तु जीवन के नाम पर जितनी भी क्रियाएँ अनिवार्य मानी जा सकती हैं, वे सब उनके उतने क्षुद्र, सीमित अंग में ही संचालित पाई जाती हैं। उनका अध्ययन अवश्य ही हमें प्राणि जागत के निम्न सोपान का मर्म अधिक

सुगमता से अनावृत करने में समर्थ हो सकता है। फलतः हम हीन रूप के इन जीवों को नेत्र खोल कर अपने अनुशीलन का विषय बनाएँगे। इन जीवों को एक कोष की पूर्ण इकाई से ही शरीर बनाने के कारण "एककोषी" कहना ठीक ही है। इनमें जो किसी अन्य जीव के अंग का निर्माण न कर स्वतंत्र जीवन-व्यतीत करते हैं उनका ही अध्ययन अधिक जीवन तथ्य प्रकट कर सकता है।

स्वतंत्रजीवी एककोषी जीवों या बनस्पतियों की स्थिति घृण्य नहीं कही जा सकती। अपने विशेष आवश्यकता के अनुसार वे तैर सकने, रेंग सकने या एक स्थान पर स्थिर ही रहने की क्रिया करते हैं। अपने क्षुद्र कलेवर के अंतर्गत ही वे सब कार्य प्रायः सम्पन्न कर लेते हैं जो मनुष्य और वृक्ष करते हैं। एककोषी हरित वनस्पति अपने ऊपर सूर्य की किरणें पड़ते रहने पर पानी और घुली हुई कार्बन डायक्साइड से खाद्य द्रव्य मांड (स्टार्च) का निर्माण कर लेते हैं। तालाबों या समुद्रों में एककोषी जंतु पूर्वनिर्मित आहार ग्रहण कर लेते हैं, उसका पाचन करते हैं और अपाच्य अंश के बहिष्करण का कार्य उसी भाति संपन्न करते हैं जैसे अधिक जटिल रूप के कलेवरों वाले जंतु अपने मल-मूत्र का विसर्जन करते हैं। पूर्वनिर्मित आहार का नाम लेने के लिए इस कारण आवश्यकता पड़ी कि जन्तु मात्र ही अपने आहार के पदार्थों का निर्माण स्वयं नहीं कर पाते। उसे किसी न किसी रूप में वनस्पतियों द्वारा निर्मित आहार ही ग्रहण कर जीवित रहना पड़ता है।

आजकल हम आधुनिक कोषों की भासमान सरलता जो देखते हैं वह कदाचित भ्रमात्मक है। आदिम कोष इतने क्षीणकाय रहे होंगे कि उनका प्रस्तरावशेष का कोई चिन्ह नहीं रह सकता था। किन्तु आज जो औसत एककोषी प्राणी हम विद्यमान पाते हैं उनसे अधिक सरल रूप ही आदिम-कोषों का कदाचित रहा होगा। इस कल्पना का यह आधार हो सकता है कि जब बहुकोषी विशाल-काय जन्तुओं में हाथी और वनस्पतियों में बट-वृक्ष या रेडवूड सदृश रूपों का विकास हो सका तो उन्हीं युगों में क्या इन क्षुद्रकाय एककोषी प्राणियों का भी विकास न हुआ होगा ? बहुकोषिता का पचड़ा उनके सामने नहीं था। अतएव एककोष का ही अधिक विशद रूप विकसित क्यों न हो सका होगा ?

क्षुद्र आकार होना ही असफलता का लक्षण न मानना चाहिए। प्रत्युत वह एक प्रकार की सफलता का ही द्योतक है। अन्य बन्धुओं से पृथक क्षेत्र में सीमाबद्ध होकर विकसित होने का अवसर मिलने का विलक्षण परिणाम हो सकता है। दक्षिण में गालापागो द्वीपसमूह और आस्ट्रेलिया के शेष महाद्वीपीय भूखंडों से पृथक होने पर वहाँ के जीवों को हम विचित्र रूप में विकसित पाते हैं। शिशुधानी श्रेणी के कंगारू तथा अन्य जंतु अंडज-पिंडज संतान-विधि के मध्य मार्ग निकाल कर अविकसित नन्हें शिशु अपनी थैली में पालने का अद्भुत उदाहरण रखते हैं। इसी तरह अन्य विचित्र रूपों में विकास का अवसर पृथक सीमाबद्ध बने जीवों को मिल सकता है।

जलीय वनस्पति और जंतु एक प्रकार से पृथक सीमाबद्ध क्षेत्र का जीवन व्यतीत करने का अवसर पाते हैं। समुद्र विशाल क्षेत्र होकर भी एक कारावास कहा जा सकता है जिसमें के जीव भूखंड के जीवों से सम्पर्क छोड़ बैठे होते हैं। साधारण रूप में स्थल खंड की अपेक्षा जलखंड में जीवन के लिए अधिक रक्षित क्षेत्र ही होता है। हवा की अपेक्षा पानी की अधिक प्रगाढ़ता के कारण तापमान की परिवर्तन-शीलता अधिक मंदक्रमिक होती है। पानी की गति वायु की अपेक्षा अधिक मंथर होने का भी तापमान की न्यून परिवर्तन गति पर प्रभाव पड़ता है। पानी में प्लवन शक्ति भी जीवों या वनस्पतियों के कलेवर को अवलंब देने में भारी सहायता होती है। वहाँ जीवों को धरातल पर अपने शरीर का भार घसीट-कर वहन करने की आवश्यकता नहीं होती। पानी में निमग्न पदार्थ पानी की तरलता के अवलंब से

सवित रह सकते हैं--या बहुत थोड़े प्रयास से ही गति कर सकते हैं।

इन अनेक विवेचनों से प्रतीत होता है कि भूखंड की अपेक्षा समुद्र में बहुत मन्दगति से विकास होने की धारणा कदाचित ठीक ही है। किन्तु व्याघात-प्रधान तटीयभूमियों, सुदूर अवस्थित भूमि-प्रांगणों तथा पर्वत-अंचलों की अपेक्षा पृथ्वी की लालनशील सलिल-राशि में जीवन इतनी दीर्घ अवधि तक विद्यमान रहता आया है कि आज आर्द्र जलराशि और रुक्ष स्थलखंडों के विकास की उन्नति समान ही पाई जा सकती है।

हमारे मन में कभी मोटा प्रश्न उठता है कि पहले बीज उत्पन्न हुआ या वृक्ष, या पहले अंडा उत्पन्न हुआ या मुर्गी। इस तरह के मनोरंजक प्रश्नों में यह भी हो सकता है कि पहले वनस्पतियों ने जन्म धारण किया या प्राणियों ने। इस प्रश्न का तो सीधा निर्विवाद उत्तर यही हो सकता है कि पहले वनस्पति ही का उदय हुआ होगा। इसका स्पष्ट तर्क यह है कि वनस्पति तो अपनी आहार-व्यवस्था स्वावलंबी रखते हैं परन्तु प्राणी अपना आहार स्वयं निर्मित करने की क्षमता ही नहीं रखते। इनको वनस्पतियों से आहार प्राप्त करने के लिए मुँह ताकना पड़ता है।

यदि धारणा ही बनानी है तो इन परिस्थितियों में एक यह भी विचार रक्खा जा सकता है, जो कदाचित भ्रामक ही है, कि आदिम जंतुकोई मंथर गति वनस्पति ही रहा होगा। वानस्पति-कोष अपने सलिल वातावरण के अवयवों से आहार निर्मित करने की क्रिया अपने ऊपर सूर्य की शक्तिपुंज किरणें पड़ने से पूर्ण कर लेते होंगे। संभव है कि निर्मूल्य सब पदार्थ सुलभ होने पर भी इन वनस्पति-कोषों में से कुछ कदाचित आलसी बनने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर सके हों। कोषों के निर्मायक पदार्थ, जीवन रस (प्रोटोप्लाज्म) में मट्ठरपन स्वाभाविक वृत्ति ज्ञात होती है। आवश्यकता पड़ने पर वह सक्रिय होने में समर्थ अवश्य होता है। विशेष प्रयोजन के समय उपयोग में आ सकने वाली शक्ति विद्यमान रखने की चिन्ता में जीवों में भौतिक तथा शरीरवैज्ञानिक प्रसुप्त शक्ति निहित होना अवश्यंभावी है।

बात चाहे जो हो, यह तर्कसंगत ज्ञात होता है कि कुछ वनस्पति-कोषों ने चिरकाल पूर्व अपने वानस्पतिक धर्म सूत्र, पर्णहरित (क्लोरोफिल) नाम के हरेतत्व का परित्याग किया जो सूर्य की किरणों की सहायता से आहार निर्माण करने का साधन होता है। उन कोषों ने परिश्रम करना छोड़कर, अन्य वनस्पति कोषों को ही आहार बनाकर जीवित रहना प्रारम्भ किया। अन्य जीवित या मृत वनस्पति कोषों या स्वजातीय कोषों को ही भक्षण करना प्रारम्भ करने पर ये प्रथम प्राणी हुए। किन्तु अत्यन्त निकट के स्थान में उन्हें अन्य कोष कहाँ तक मिलते! उन्हें तो आहार मिलता ही रहना चाहिए! इसलिए निकट के क्षेत्र के कोष खा चुकने पर उन्हें दूर खिसक कर अन्यों द्वारा उपार्जित आहार हड़प लेते रहने की वृत्ति जारी रखने की आवश्यकता हुई। इस कारण उनमें आवश्यकता वश गमन शक्ति प्राप्त हुई। इसी कारण एक स्थान पर स्थिर रहने के प्राचीन कालीन धर्म का परित्याग करने से वनस्पति-कोषों ने जन्तु-कोष नाम धारण किया होगा। वास्तविक अंतर तो आहार निर्माण की क्रिया ही थी, परन्तु बाह्य रूप में मुख्यतया गमन करने की शक्ति को ही कालान्तर में जन्तुओं का प्रमुख लक्षण प्रदर्शित होता पाया गया।

आहार निर्माण न कर सकना जन्तुओं की एक भारी दुर्बलता है। इस दुर्बलता के ही फलस्वरूप उसे अपने शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ तथा स्नायु मण्डलों के विकास की विशेष आवश्यकता पड़ी। वृक्ष को अपने भूमिगत मूलों के आधार पर एक स्थान पर ही जड़ बने रहने से इस तरह की जटिल व्यवस्थायें व्यर्थ ही जान पड़ सकती हैं, परन्तु उसी उपेक्षा का यह परिणाम दिखाई पड़ता है कि उनका जीवन लकड़ी और काठ की खोज करते रहने वालों की कुल्हाड़ियों का आघात पाकर सहज ही नष्ट होता

रहता है। उनको जड़ता का कलंक भी जन्तुओं की स्वार्थान्धता और अहमन्यता के कारण अपने सिर पर लादना पड़ता है और वे जन्तुओं के सम्मुख अपनी बन्धुता का भाव प्रमाणित करने का कभी स्वप्न भी नहीं देखते।

आदिम जीव-जगत की झाँकी लेने के लिए हम क्षुद्र वानस्पतिक कोष की चर्चा करते हैं। एक वनस्पति 'क्लेमिडोमोनस' प्रजाति का एककोषी है। सूक्ष्म दर्शक यंत्र से देखने पर इसे अण्डाकार पाया जाता है। इसके आकार का अनुमान करने के लिए इञ्च की नाप से कुछ काम नहीं चल सकता। उसके लिए तो दूसरी अत्यन्त छोटी नाप से काम लेना पड़ेगा। एक इञ्च में ढाई सेंटीमीटर होता है और प्रत्येक सेंटीमीटर में दस मिलीमीटर होते हैं। इस तरह एक इञ्च में २५ मिलीमीटर हुए। ये नाप तो स्वयं ही छोटे नाप के हैं जिनका अर्थ मीटर का सौवां (सेंटी) और हजारवाँ (मिली) भाग है। इस हिसाब से यह स्पष्ट ही है कि एक मीटर १०० सेंटीमीटर या ४० इञ्च का होता होगा। अब मिलीमीटर से भी नीचे की बात सोचिए। एक मिलीमीटर के सहस्रांश को 'माइक्रोन' कहते हैं। यह एक इञ्च का पचीस हजारवां भाग हुआ माइक्रोन न कह कर सहस्रांश मिलीमीटर भी कह सकते हैं। हमारे ऊपर बताए एककोषी वनस्पति के अण्डाकार की लम्बाई १५ माइक्रोन (सहस्रांश मिलीमीटर) और चौड़ाई ८ माइक्रोन होगी। इतने क्षुद्र रूप के कोष यदि दस लाख जुटाए जायँ तो एक चम्मच को ऊपरी छोर तक भर सकते हैं। इन एककोषी वनस्पतियों में अंडाकार के एक छोर पर दो जोड़े सूक्ष्म सूंड़ या रोम होते हैं। प्रत्येक कोष के अन्दर का अधिकांश पदार्थ पर्णहरित (क्लोरोप्लास्ट) होता है जिसमें क्लोरोफिल नाम की वस्तु विद्यमान रह कर वनस्पतियों का रङ्ग हरा बनाती है।

कोष के अन्दर उससे भी क्षुद्रतर आकार की वस्तु बीजकेंद्र (न्यूक्लियस) होती है। यह एक चिरस्थायी कौतूहल का पदार्थ है। जीवन का अधिकांश मर्म इस बीजकेंद्र में ही निहित माना जा सकता है। जीवन क्या वस्तु है, यह कुछ ज्ञात ही नहीं। केवल उसकी गतिविधि का ही ज्ञान हो पाता है। कोषों के अन्तर्गत मर्मस्थल रूप के बीजकेंद्र का ही अध्ययन हमारी जीवन-विद्या की इतिश्री है। एक अत्यन्त अद्भुत वैज्ञानिक विधि से जब बीजकेंद्र को कोष के जीवन रस (प्रोटोप्लाज्म) से पृथक कर दिया जाता है तो जीवन रस शनैः शनैः निष्क्रिय बनकर अन्त में मृत हो जाता है परन्तु कोष का बीजकेंद्र भी कभी मरता है, इसकी चर्चा विज्ञान जगत में अभी तक कहीं सुनने को नहीं मिलती, क्या आत्मा की अमरता का यही प्रतीक है?

कोषों के अध्ययन में बीजकेन्द्र में ही जीवन क्रिया केन्द्रित ज्ञात होती है। वह एक केन्द्रीय विन्दु का जड़वत स्थित मठाधीश नहीं होता। वह तो आवश्यकता के क्षेत्र की ओर अग्रसर होते रहने वाला सजीव विन्दु होता है। एककोषी जीवों में जहाँ कहीं भी कोष के अंग का प्रमुख कार्य प्रचालित रहता है, उस कार्य स्थली के निकट ही बीज केन्द्र पहुँचा प्रतीत होता। है। आहार ग्रहण करना, पचाना या निर्माण करना आदि कोई भी जीवनोपयोगी या रक्षा का कार्य हो, वह बीजकेन्द्र के निर्देश, सक्रिय सहयोग से ही सम्पादित होता रहता है। इन बीजकेन्द्रों को विशेष रूप या प्रयोजन के कोषों में विशेष कार्यों का ही स्वभाव रखने वाला भी पाया जाता है। उनका अध्ययन जीवविद्या का विस्तृत विषय है।

बीजकेन्द्र कोष की क्रियाशीलता का सैकड़ों रूप में केन्द्र ज्ञात होता है। वह कोष के अंतर्गत प्रायः गति करता है। किन्तु कोष में जीवन-रस (प्रोटोप्लाज्म) में भी धारावत प्रवाह पाया जाता है जिसमें कोष के अंतर्भाग के पदार्थ बहते पाये जा सकते हैं। जीवित पत्तियों के कोष में पर्णहरित को प्रसारित प्रकाश के अंतर्गत सब दिशाओं में प्रवाहित होते पाया जाता है, परन्तु एक ही स्रोत से आने वाले प्रकाश के सम्मुख पर्णहरित का प्रवाह

प्रकाश रेखा से समकोण बना कर नर्तित होते पाया जाता है। इस प्रकार जड़रूप में एक स्थान पर ही खड़े पेड़-पौधों में भी हम कोषों को अंतर्भाग में गतिशील पाते हैं। जीवन का रूप हमें गतिशीलता रूप में प्रदर्शित होता है परन्तु जीवन के अन्य लक्षण भी होते हैं जो जीवित पदार्थों में अनेक रूपों के पाये जाते हैं। जीवन के अन्य सब लक्षणों से तो यह ही सब से अद्भुत लक्षण है कि जीवित पदार्थों के अत्यधिक रूप हो सकते हैं। केवल जंतुओं के दस लाख प्रकार हैं जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। इसी प्रकार वनस्पतियों के भी तीन चार लाख रूप परस्पर एक दूसरे से भिन्न ही पाये जाते हैं।

हम लोग सन्तानोत्पत्ति का साधन स्त्री और पुरुषों का संयुक्त धर्म समझते हैं। अन्य जातियों में भी हमें नर-मादा संतान उत्पन्न करते दिखाई पड़ते हैं। इसे मैथुनी सृष्टि कहा जाता है। परन्तु निम्नवर्ग के जंतुओं और वनस्पतियों में नर-मादा के झगड़े बिना भी संतानोत्पत्ति देखी जाती है जिसे अमैथुनी सृष्टि कहते हैं। हमें यह जान कर घोर विस्मय हो सकता है कि एककोषी जन्तुओं और वनस्पतियों में भी आदिवनस्पति या अलगी और आदिजन्तु या प्रोटोज़ोआ कहलाने वाले प्राणियों में मैथुनी सृष्टि पाई जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि सब एककोषी आदिवनस्पतियों और आदिजन्तुओं में मैथुनी सृष्टि की व्यवस्था है परन्तु उनमें से बहुत से ऐसे हैं जिनमें मैथुनी सृष्टि की भी व्यवस्था देखी जाती है। वे अपनी श्रेणी के प्रगतिशील सदस्य प्रतीत होते हैं। इनसे ही उच्चतर वनस्पतियों और जन्तुओं के विकास का मार्ग अग्रसर होता पाया जा सकता है। लैंगिकता प्रारम्भ से ही एक उपयोगी गुण प्रतीत होती है। जीवनधारियों के अधिक जटिल रूपों के लिए यह एक मात्र और अधिकाधिक आवश्यक सन्तानोत्पादक साधन होता है। अंत में मानव वर्ग में उस विधान की चरम सीमा पहुँच गई है।

क्षुद्र प्राणवान पदार्थों में कदाचित उस रूप को आदितम माना जा सकता है जिसे जीव वैज्ञानिक न तो वनस्पति वर्ग में रख पाते हैं और न जन्तु वर्ग में ही स्थान दे सकते हैं। यह पदार्थ इन दोनों का मध्यवर्ती या उभयनिष्ठ पूर्वज होगा। इसे वैज्ञानिक प्रोटिस्टा या आदितम अनुप्राणी कहते हैं। इनमें से अधिकांश एककोषी ही होते हैं। कालान्तर में उद्भूत उन्नत वनस्पति तथा जीव रूपों के जनक इन्हें माना जा सकता है। इसके लिए पहले जीवन की रूप-निर्मायक आधार वस्तुओं का कुछ विवरण ज्ञात करना चाहिए।

जीवन की रूप-निर्मायक वस्तु प्रधानतः प्ररस या जीवनरस (प्रोटोप्लाज्म) है। यह प्रोटीन से निर्मित एक जीवन्त जेली होती है। जेली का अर्थ मृदु झिल्ली ले सकते हैं। छोटे या बड़े सब प्राणवान वस्तुओं के कलवेर का पार्थिव पदार्थ वही होता है किन्तु जीवनरस (प्रोटोप्लाज्म) एक संलग्न राशि रूप में नहीं होता जिससे उड़ेल कर इधर से उधर सहज लुढ़काया जा सके। जीवनरस की मृदु झिल्ली क्षुद्र सूक्ष्मदर्शकीय इकाइयों रूप में विभाजित रहती है जिसे कोष या कोशा नाम दिया गया है। प्रत्येक कोष में एक आवरक झिल्ली होती है जिसके अन्दर जीवनरस विद्यमान रहता है और बीजकेन्द्र तथा उसके चारों ओर व्याप्त वस्तु, दो भागों में विभक्त रहता है। बीजकेन्द्र के चारों ओर कोष के सारे भाग में व्याप्त प्ररस या जीवन-रस को कोशारस (साइटोप्लाज्म) कहते हैं।

स्वतंत्रजीवी एककोषी प्राणवान वस्तुओं का अध्ययन करने पर उनका तीन मुख्य विभाग पाया जाता है। एक को वनस्पति, दूसरे को प्राणी और तीसरे को दोनों का संयुक्त गुणधारी रूप में होने का अनुमान किया जाता है। वनस्पति और प्राणी में मुख्य अंतर कोष के आवरण श्लेष्मा (झिल्ली) के रूप और आहार-विधान में होता है। वनस्पति-कोषों में अपेक्षाकृत स्थूल आवरक झिल्ली होती है जो कार्बोहाइड्रेट सेल्युलोज नाम की वस्तु से

बनी होती है। यह काष्ठ-निर्मायक वस्तु होती है। प्राणिकोष की आवरक झिल्ली अपेक्षाकृत बहुत पतली होती है और प्रायः चर्बी और प्रोटीन से मिलकर बनी होती है। पर्णहरिन (क्लोरोफिल) के रहने से वनस्पतिकोष की आहार-निर्माण व्यवस्था की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। ये इस पदार्थ द्वारा सूर्य की किरणों के सहयोग से मिट्टी और वायु में विद्यमान पदार्थों को आहार योग्य वस्तुओं के रूप में परिवर्तित करने में समर्थ होते हैं। यह कार्य प्राणिकोष नहीं कर पाते।

प्रोटिस्टा या आदितम अनुप्राणी वर्ग की चर्चा पहले की गई है। वे ऊपर के वर्णनों के अनुसार किसी एक वर्ग में नहीं आते तो सब प्रकार के प्राणवान पदार्थों की वंशावली में उनका स्थान पूर्वतम हो सकता है। इस वर्ग के प्राणवान पदार्थों की कुछ चर्चा आवश्यक है।

नेत्रीय सूक्ष्मदर्शक यंत्र से दिखाई पड़ने वाले सूक्ष्मतम् प्राणवान पदार्थ कीटाणु है। दुर्भाग्यवश कीटाणुओं का नाम बहुत से लोगों की दृष्टि में रोगों को फैलाने के लिए ही कलंकित है। परन्तु रोग फैलाना तो उनके कुछ सदस्यों या जातियों का ही काम है। कुछ भीषणतम रोग उनके ही परिणाम होते हैं, परन्तु एक ओर जहाँ क्षय, आन्त्र ज्वर (टायफायड), अतिसार (डिसेंटरी), विशूचिका या हैजा, कुष्ट और महामारी आदि भयानक रोग कीटाणुओं की किसी न किसी जाति के परिणाम होते हैं, वहाँ बहुत से कीटाणुओं की जातियाँ लोक-कल्याणकारी या कम से कम निरीह होती हैं। इस कारण एक मात्र रोगों का फैलाव ही कीटाणुओं का कार्य मानना भारी भ्रम ही है! जीवन की रक्षा के हजारों मार्गों में कीटाणुओं का हाथ होता है। उदाहरणतः मिट्टी की उर्वरता रक्षित रखने के लिए कीटाणुओं की नितान्त आवश्यकता होती है जिसके बिना किसी भी वनस्पति या प्राणी का जीवित रहना कठिन हो सकता है।

कीटाणुओं के तीन प्रकार के रूप पाये जाते हैं। एक तो गोला या गेंदनुमा, दूसरा दंड या डंडानुमा और तीसरा सर्पिलनुमा। यदि डंडा या दंडनुमा एक कीटाणु को बड़ा कर एक पेंसिल के बराबर कर लिया जाय तो उस अनुपात में मनुष्य का आकार २० मील ऊँचा होगा। गोलाकर या गेंदनमा कीटाणुओं का आकार भी इतना छोटा होता है कि एक आलपिन के माथे पर ढाई लाख रक्खे जा सकते हैं। ये सब एककोषी होते हैं और दो भागों में विभाजित होकर अपनी संख्यावृद्धि करते हैं। यही इनकी संतानोत्पादन क्रिया है। यदि उपयुक्त वातावरण या स्थितियाँ हों तो प्रत्येक बीस या तीस मिनट पर एक कीटाणु से दो कीटाणुओं के बनने की विभाजन क्रिया हो सकती है। ये नए विभाजित भाग स्वयं भी अगले २० या ३० मिनट पर अपने शरीर का विभाजन कर नए कीटाणु पैदा कर लेते रहते हैं। यदि प्रत्येक आधे घंटे पर कीटाणु के विभाजन से नए कीटाणुओं के बनने के क्रम का हिसाब लगाया जाय तो पहले घंटे की समाप्ति पर चार कोष बने होंगे। दूसरे घन्टे बाद १६, तीसरे घन्टे बाद ६४ कोष बन चुके रहेंगे। इस तरह पन्द्रह घन्टों बाद एक कीटाणु द्वारा ही एक अरब कीटाणु उत्पन्न हो चुके रहेंगे। इससे भी दूने समय में उनकी संख्या इतनी बढ़ गई रहेगी कि सौ डब्बों वाली मालगाड़ी को वे ही भर सकते हैं। उनके समा सकने के लिए ४५०० घन फुट जगह की आवश्यकता होगी। किन्तु इतने विकट प्रसार के उपयुक्त अवसर नहीं आ पाते। कुछ समय तक ही उनकी विभाजन क्रिया प्रचलित रहने पर किन्हीं बाधाओं से बंद या शिथिल हो जाती हैं।

कीटाणुओं से भी सूक्ष्म प्राणवान वस्तु परम-कीटाणु है जिसकी चर्चा पृथक ही की जायगी। कीटाणुओं में प्ररस या जीवन रस तो अवश्य पाया जाता है किन्तु बीजकण भी होता है या नहीं, यह संदिग्ध बात है। कुछ बड़े रूप के कीटाणुओं में बीजकण देखा जाता है किन्तु यह सन्देह की बात खड़ी होती

है कि उन बड़े आकारों को कीटाणु की गिनती में रक्खा जाय या नहीं। अन्य रूपों के कीटाणुओं में बीजकेन्द्र का स्थान एक क्षुद्र कणिका लिए होती है जिसे बीजकेन्द्रीय प्रोटीन कहते हैं। वह मध्यविन्दु पर रहने के स्थान पर कोष के समस्त भाग में एक समान प्रसारित रहती है।

हमें इस बात की आशा नहीं हो सकती कि कीटाणु सरीखे क्षुद्रकाय प्राणधारी पुरातनकाल की प्रागकैम्ब्रियन काल की पेचीदी शिलाओं में कोई प्रस्तरावशेष रक्षित् रख सके होंगे, तथापि कुछ यथेष्ट तर्कसंगत प्रमाण इस बात के लिए सुलभ हैं कि ये प्राणधारी उस समय विश्व में विद्यमान थे। अमेरिका के मिशिगन प्रदेश की शिलायें क्षुद्र काली वस्तुओं का चिन्ह प्रदर्शित करती हैं जो लोहा-संग्राहक उन कीटाणुओं के अवशेष ही हो सकते हैं जिनकी संबंधित जातियाँ आज भी जीवित पाई जाती हैं। मोंटाना में भी कैम्ब्रियन काल के पूर्व की शिलाओं में क्षुद्र गेंदनुमा (गोल) कीटाणुओं के समान छोटी कंदुकीय वस्तुएँ भी पहचानी जा सकी हैं। यह विस्मय की बात है कि इतने क्षुद्र और भंगुर प्राणधारी के चिन्ह अरब वर्षों से सुरक्षित पड़े होंगे।

कीटाणुओं को हमने वनस्पति (उद्भित) और प्राणी दोनों के ही मध्यवर्ग का प्राणधारी या अनुप्राणी बताया है परन्तु इस मध्यवर्ती बर्ग में अकेले कीटाणु ही नहीं होते। उनसे कुछ अधिक उन्नत अन्य प्राणधारी भी हैं जो इस मध्यवर्ती वर्ग में ही हैं। जीव विज्ञान और पृथ्वी के इतिहास की शोध करनेवाले विद्वानों के लिए वे विलक्षण प्राणधारी हैं। इस दल के प्राणधारियों का वर्ग रोमपुच्छीय या रोमशुंडीय कहला सकता है। इनके बदन में कोड़े (कशा) के समान एक प्ररस (जीवनरस) का लबोतरा उभाड़ या शुंड होता है जिसे द्रव वस्तु में हिलाडुलाकर ये चल लेते हैं। इस कारण इन्हें कशांग (फ्लेगेलाटा) कह सकते हैं। अपने थोड़े रूप के इस अंग के झटके या कंपन द्वारा ये पानी या अन्य द्रवों में यथेष्ट गति कर सकते हैं।

कोड़ाधारी या कशांग प्राणधारियों में से किसी को भी उद्भिज या प्राणी वर्गों में से एक में गिन सकना बड़ा कठिन है। उनमें से कुछ में पर्णहरिन (क्लोरोफिल) की व्यवस्था पाई जाती है जिससे वे प्रकाशसंश्लेषण द्वारा अपने वातावरण से आहार प्राप्त कर लेते हैं। अन्यों ने अपने पर्णहरिन का लोप कर दिया है और साधारण एककोषी प्राणियों की भाँति वे अपनी कोषीय झिल्ली के द्वारा आहार ग्रहण करते हैं। कई कोड़ाधारियों को उद्भिज और प्राणी दोनों की व्यवस्थायें अपने कलेवर में विद्यमान रखते पाया जाता है जिससे वे उद्भित या प्राणी दोनों की ही भाँति आहार ग्रहण कर सकते हैं।

उद्भिज और प्राणी दोनों की ही भाँति आहार ग्रहण करने वाले कशांग (कोड़ाधारी) प्राणधारी का एक उत्तम नमूना "युग्लेना" नाम का अनुप्राणी है। है। प्राकृतिक अवस्था में 'युग्लेना' प्रकाशसंश्लेषण द्वारा आहार निर्मित कर ग्रहण करता है। प्रकाश या धूप में खुले रूप में किसी प्याली या तश्तरी में रक्खे होने पर बड़ी प्रसन्नता से रह सकता है किन्तु पूर्ण अंधकार में यदि पोषक द्रव्यों के घोल में इसे रख दिया जाय तो यह अपनी प्रकृत्ति बदल कर प्राणी की वृत्ति ग्रहण कर लेता है और अपने आवरण (त्वचा) के मार्ग आहार ग्रहण करता है।

उद्भिज और प्राणी के मध्य की स्थिति के प्राणधारियों के ये नमूने हैं। उद्भिज का उदाहरण हम पहले ही दे चुके हैं। अब प्राणी के नमूने का उल्लेख करना उचित है। हम एककोषी प्राणी रूप में अमीबा की बहुत चर्चा सुनते हैं। अमीबा साधारण रूप में सरलतम प्राणी समझा जाता है किन्तु कीटाणुओं और कशांगों (कोड़ाधारियों) से यह बहुत आगे बढ़ा हुआ होता है। उनकी तुलना में यह एक जटिल रूप का प्राणधारी कहा जा सकता है। इसका जीवनक्रम भी विशेषताओं से युक्त होता है। अमीबा कोई एक प्राणी नहीं है। इसकी अनेक जातियाँ पाई जाती हैं। उनमें से कुछ का आकार आधा मिलीमीटर

या इंच के पचासवें भाग बराबर लंबा होता है। इसलिए उसे नंगी आँखों से भी देखा जा सकता है किन्तु नदी, तालाबों के साधारण अमीबाओं का रूप बहुत सूक्ष्म होता है। उन्हें सूक्ष्मदर्शक यंत्र बिना देख सकना कठिन है।

अमीबा में साधारण एककोषी प्राणी की व्यवस्था पाई जाती है। मध्य में बीजकेन्द्र होता है और कोशारस (साइटोप्लाज्म) विद्यमान होता है। सबके ऊपर एक पतली कोषीय झिल्ली होती है जिसके छिद्रों द्वारा यह जल और आहारकण ग्रहण कर सकता है।

अमीबा का संतानोत्पादन बीजकेन्द्र और कोशारस के विभाजन द्वारा होता है। ये दोनों विभाजित भाग स्वयं पूरे अमीबा बन जाते हैं। उनका पृथक-पृथक अस्तित्व हो जाता है किन्तु कृत्रिम रूप में इस तरह विभाजन किया जाय कि एक अर्द्ध भाग में पूरा बीजकेन्द्र चला जाय और दूसरे में केवल आधा कोशारस ही रह जाय तो बीजकेन्द्र वाला भाग तो बढ़कर स्वतंत्र अमीबा बन खड़ा होगा परन्तु बीजकेन्द्र हीन भाग अमीबा के जीवनक्रम को न चला सकेगा और कुछ देर में मृत हो जायगा। बीजकेन्द्र युक्त खंड बढ़कर पूर्ण अमीबा के समान बन जाता है और आगे के लिए संतानोत्पादन क्रम जारी रखने में समर्थ होता है। यह संतानोत्पादन विधि कोष-विभाजन विधि कहलाती है। बीजकेन्द्र न होने पर अमीबा खंड में आहार ग्रहण करने, बढ़ने या कोष-विभाजन की शक्ति लुप्त हो चुकी रहती है। इससे स्पष्ट होता है कि बीजकेन्द्र ही कोष का अधिष्ठाता होता है।

अमीबा में कौन भाग अगला और कौन पिछला है, इसका कोई हिसाब नहीं है। वह किसी भी दिशा में जल के अन्दर सुगमतया गति कर सकता है। आहार-ग्रहण की क्रिया भी किसी दिशा से कर सकता है। किसी दिशा में गति करने के लिए उसके कोशारस का तनिक लम्बा उभाड़ होता है मानो वह उसका पैर ही हो। उसे उसका मिथ्यापाद कहा जाता है। कोष की कुछ मात्रा इस मिथ्यापाद के निर्माण के लिए नाली फूटने के समान एक ओर बह निकलती है वह ही मिथ्यापाद होता है जिसकी सहायता से यह उस दिशा में आगे बढ़ता है। फिर उसके ही निकट से दूसरा मिथ्यापाद निर्मित हो उठता है और उस दिशा में आगे बढ़ने की क्रिया परिचालित होती रहती है किन्तु यह किसी एक ही दिशा में देर तक चलता नहीं रहता। अगल-बगल ही घूम फिर कर समय बिताता है।

आहार के लिए अमीबा को चलने के समान ही क्रिया करनी पड़ती है। प्राणिज या उद्भिजीय खाद्य द्रव्य के नन्हें कण को अपने मिथ्यापाद बढ़ाकर दोनों ओर से आवृत कर लेता है और वह इसके कोशारस में पच जाता है। पचाने की क्रिया के लिए इसके बदन में आहार रखने के लिए एक खोखला सा बनता है। उसमें इसके कोष के रासायनिक रस मिलकर पाचन क्रिया करते हैं। आहार के पच जाने पर वह खोखला भाग (रसधानी) भी लुप्त हो जाता है। इनका सब जीवन-कार्य इन सरल रूपों में ही परिचालित पाया जाता है। यह व्यवस्था इनके सरल जीवन के सर्वथा अनुरूप ही होती है।

अमीबा से भी विशेष उन्नत रूप का एककोषी प्राणी पैरामीसियम होता है। इसमें अमीबा की तरह कोष का चारों ओर का भाग एक समान नहीं होता, बल्कि अगले और पिछले सिर स्पष्ट होते हैं। पैरों में पहनने के स्लिपर (सृप्रिका) की तरह इसका रूप होने से इसे 'सृप्रिका एककोषी' भी कहते हैं। इसमें अमीबा की अपेक्षा अधिक तीव्र-गति से चलने की क्षमता होती है। इसके बदन पर दो हजार क्षुद्र रोम या झालरें लटकी होती हैं जो डांड़ की तरह इसका बदन खेने में काम आती है। पानी में तेज चलने का यही कारण होता है। सृप्रिका एककोषी" प्राणी की आहार

व्यवस्था भी विशेष रूप की होती है। इसके लिए इसके बदन में निश्चित मुख बना होता है। मुँह के पीछे गला भी होता है जो इसके कोशारस में पहुँचा होता है किन्तु इतनी व्यवस्था होने पर भी इसका शरीर इतना क्षुद्र होता है कि नंगी आँखों से नहीं दिखाई पड़ सकता।

पैरामीसियम (सृप्रिका प्राणी) में अमीबा की भाँति एक ही बीजकेन्द्र नहीं होता। बल्कि दो बीजकेन्द्र होते हैं। उनमें से एक बीजकेन्द्र अपेक्षाकृत छोटा होता है। उसका प्रयोजन संतानोत्पादन कार्य संचालित करने के लिए होता है। इस प्राणी में संतानोत्पादन की दो विधियाँ प्रचलित पाई जाती हैं। पहली व्यवस्था तो अमीबा की भाँति कोष-विभाजन द्वारा होती है किन्तु दूसरी व्यवस्था मैथुनी संतानोत्पादन क्रम की झलक प्रदर्शित करती है। इस क्षुद्र प्राणी में स्पष्ट रूप के नर मादा नहीं होते इसलिए एक ही गोत्र के प्राणियों के मध्य मैथुनी संतानोत्पादन क्रिया नहीं होती किन्तु जब विभिन्न गोत्रों या उपविभेदों के सृप्रिका प्राणी एकत्र रक्खे जाते हैं तो यह क्रिया प्रायः प्रचलित हो सकती है। एक गोत्र का सृप्रिका प्राणी दूसरे गोत्र के सृप्रिका प्राणी से चिपकता है और अपने मुँह के छेद द्वारा छोटे बीजकेन्द्र के भाग का आदान प्रदान करते हैं। इसके बाद वे पृथक हो जाते हैं। उनका कई बार विभाजन होता है। इस क्रिया का यह लाभ होता है कि एक दो गोत्रों की वंशानुक्रमीय निधि नवउत्पन्न सन्तान को प्राप्त होती है।

अमीबा और पैरामीसियम आधुनिक एक-कोषी प्राणी हैं किन्तु सृष्टि के जीवन क्रम में निम्नतम स्तरों में से कुछ का विहंगम रूप हमें इन प्राणियों के जीवन-क्रम से कुछ प्रदर्शित होता है। स्थूल प्रस्तरावशेषों के प्राप्त होने की स्थिति कैम्ब्रियन काल में आने के पूर्वकालों में भी जीवन का अस्तित्व क्षीणकाय प्राणधारियों के रूप में रहा होगा जिनके प्रस्तरावशेष हमें प्राग्कैम्ब्रियन काल की शिलाओं में दुर्लभ ही हैं, अतएव जीवन क्रम के सांग रूप की झाँकी लेने के लिए इस लुप्त कड़ी का कुछ आभास आज के इन क्षुद्र प्राणियों का अवलोकन कर पा सकना संभव है। कैम्ब्रियनकाल के पूर्व समयों की शिलायें तो हमें संसार के विभिन्न भागों में प्राप्त होती हैं जिनमें कोलोरडो नदी के महागर्त्त की बड़ी प्रसिद्धि है जहाँ इस नदी ने भूस्तर को एक मील गहरा काट-काटकर अपना पेटा मैदानों में बनाया है परन्तु अन्य स्थानों में भी प्राग्कैम्ब्रियन शिलायें विद्यमान पाई जाती हैं जिनमें अफ्रिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, स्कैंडिनेविया, भारत, साइबेरिया, दक्षिणी अमेरिका और इंगलैंड के कुछ भागों का नाम लिया जा सकता है। इन शिलाओं के ऊपर प्राकृतिक कोपों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि प्राचीन प्रस्तरावशेषों की स्थिति असंभव ही हो सकती है। परन्तु इन शिलाओं की विद्यमानता से हमें प्राचीनता की स्मृति हो आती है और इनके बाद की शिलाओं में जीवों का जो सोपान प्रस्तरावशेष प्रकट करता है उसके पूर्व की सीढ़ियाँ इन घोर पुरानी शिलाओं में कभी रहने की कल्पना की जा सकती है। एक विशेष बात यह भी है कि इतने क्षुद्र जीवों का आकार बहुत काल तक लगभग एक समान ही रहता है अतएव उस दीर्घ पुरातन काल की सृष्टि का आभास आज के इन विद्यमान क्षुद्र रूपों से पाना संभव है। इसी कारण अमीबा और पैरामीसियम आज हमारे बीच प्राचीनतम सृष्टि की लुप्त शृंखला के प्रतिरूप कहे जा सकते हैं। इनके उन्नति-क्रम को अवलोकन कर हम जान सकते हैं कि जीवों के कलेवर तथा जीवन-क्रम की किस प्रकार उन्नति हुई होगी जिससे अन्य उच्च वर्ग के जन्तुओं तथा उद्भिजों का रूप निर्मित तथा प्रसारित होकर संसार को आच्छन्न करता रहा। उसी रंग-मंच की सबसे बाद की दृश्यावली हमारे सम्मुख विद्यमान है जिसमें मनुष्य भी प्रमुख रूप में सम्मिलित होकर जन्तु-जगत का अधिपति बना हुआ है।

सरीसृपों का युग*

जगपति चतुर्वेदी

प्रकृति में सृष्टि के विकास और प्रसार का क्रम कदाचित समुद्र में प्रारंभ हुआ होगा, परन्तु आगे का क्रम समुद्र में चलना कठिन था। स्थलचारी जंतुओं के विकास की कोई विशेष आवश्यकता पड़ी होगी। उसका हम आज कुछ अनुमान कर सकते हैं। समुद्र तो अपनी विशालता के कारण एक सुरक्षित स्थान है। उसमें उत्पन्न हुए या निवास करनेवाले जीव परस्पर 'घ' भले ही करते रहें, परन्तु दैवीकोप उनके नाश में अधिक भाग नहीं ले सकता, परन्तु इसके विपरीत नदी, तालाबों की ओर दृष्टि डाली जाय तो दूसरी स्थिति ही दिखाई पड़ती है। स्थल से घिरे हुए किसी भी जलखंड के सूखने या पानी बहुत कम रह जाने की संभावना हो सकती है। नदी भी धारायें बदलकर अपने छोड़न का जलखंड सूखने का अवसर दे सकती हैं। उनकी भी स्थिति सूखने वाले सरोवरों की-सी हो सकती है। जब प्राचीनकाल में ऐसी दैवी विपत्तियों में पड़े हुए जलजंतु अपने जीवन के लाले पड़े देखते होंगे तो उनमें छिछलेपन के कारण गँदले जलों में साँस लेने की कठिनाई अनुभव होती होगी। जलखंड बिल्कुल ही सूख जाने पर तो और भी अधिक विपत्ति आ पड़ती होगी। उन दशाओं में जीवों का नाश होता रहता होगा परन्तु कुछ जलजंतु साहस कर कहीं पंक में दबे पड़े रहने या अन्य गहरे जल के जलखंडों में पहुँचने के लिए स्थल मार्ग पार करने का प्रयास कर सके होंगे। इन स्थितियों में उनके गलफड़े जीवन रक्षा के बहुत दुर्बल साधन सिद्ध होते होंगे। परिणामतः फेफड़ेवाली मछलियों या जलजंतुओं का उद्भव एक विशेष स्थल की जीवनयापन की अनिवार्य कठिनाइयों के कारण ही हो सका होगा। स्थल पर चलने के लिए विवश होने पर पैरों की भाँति कुछ अंग भी बनने प्रारंभ हुए होंगे। यही स्थलचारी जीवों की उत्पत्ति की आवश्यकता होगी।

स्थल जीवन के लिए अन्य आवश्यकताएँ भी जो हो सकती हैं उनको पूरी कर लेनेवाले सर्वप्रथम जीव जब सरीसृप रूप में उत्पन्न होकर सृष्टि का एक उन्नत सोपान बन सके तो इनके रूपों का विविध रूपों में विकास भी होना प्रारंभ हुआ। वही सरीसृपों के विविध तथा दीर्घ रूपों का जन्म देने वाला सृष्टिक्रम था जो एक महान युग का ही प्रवर्तक पाया जाता है जिसे हम आज मध्यजंतुक या सरीसृप युग नाम देते हैं। यह अवधि सृष्टि के इतिहास में संक्रान्ति युग कही जा सकती है जब कि पुराने ढङ्ग के जंतुओं का प्राधान्य समाप्त हुआ और नये रूप के प्रमुख जीवों की उत्पत्ति की क्रमशः आधार शिला स्थापित होने की पृष्ठभूमि रचित हुई।

सरीसृप का अर्थ हम रेंगने वाले जंतु करते हैं। ये जंतु अवश्य ही अत्यंत मंथरगामी रहे होंगे। परन्तु इनकी वह मंथरगति भी काल तथा आकार की दृष्टि से भूतल पर गमन की चरम सीमा का नमूना रखती होगी। इन जंतुओं ने मंदगति से चलना जब प्रारंभ किया तो उस समय तो भूतल पर तीव्र चलने का नमूना ही नहीं था। पादधारी दीर्घकाय जंतुओं को संसार ने देखा ही नहीं था। अतएव सरीसृप मंथरगति से भी भूतल पर चलने की क्रिया सिखाने वाले बड़े आकार के जंतुओं के लिए आदि गुरु कहे जा सकते हैं। स्थलगमन के इन

* "संसार के सरीसृप" मूल्य ४) ● किताब महल, इलाहाबाद

आदि आचार्यों की दशा पर आज हँसी छूट सकती है परन्तु आदि प्रयत्नों का रूप इससे उत्तम पहले ही कहाँ से उत्पन्न हो सकता था। इनके बदन में पैर के नाम पर दो अंग शरीर को ऊपर उठाये न रहकर बगलों में बाहर निकले से थे। इनका पग-चिन्हित मार्ग चौड़ा बनता था। पग बहुत छोटे ही पड़ते थे। चाल रेंगने की ही थी। उसमें कितनी अधिक थकान होती होगी। बदन को भूमि से उठाए ही रखने में पेशियों को कितना अधिक श्रम करना पड़ता होगा। इनकी चाल अधिक होना या शरीर का अधिक बड़ा हो सकना एक असंभव कार्य सा ही था।

सरीसृपों की आदि मंथर गति का नमूना आज भी कच्छप वंशी जंतु बनाए हुए मिलते हैं। गोधा कुछ पतले पैरों के अवश्य बन गए हैं, इनमें चार पैर मौजूद होते हैं परन्तु पैरों की अधिक उन्नति नहीं कर सके हैं। इनके चचेरे बन्धु सर्पों ने तो पैरों का परित्याग ही कर दिया है और चलने का अपना नया नमूना ही प्रस्तुत किया है। मालूम पड़ता है कि इस तरह की कुछ झंझटों से जान बचाने के लिए ही कुछ सरीसृप पुनः जलजीवी बने दिखाई पड़ते हैं। उनमें पैरों का रूप पुनः परिवर्तित होकर पानी में खे सकने वाले डांडों या मछलियों के पखनों (पक्षतों) का बन गया है।

जहाँ सरीसृपों में इतनी विभिन्न स्थितियों की गमन-समस्या दिखाई पड़ती है वहाँ कुछ सरीसृपों को स्थलगामी रूप में चतुष्पद ही रहते पाया जाता है और चलने की क्रिया में उन्नति किए पाया जाता है। ये स्तनपोषी जंतुओं के अग्रज थे। इन जंतुओं ने अपने पैरों को बदन के नीचे इस रूप में विकसित करने में सफलता प्राप्त की कि बदन का बोझा आसानी से सँभाल कर, भूमि पर भाग सकना संभव हो। ये ही तत्परता से दौड़ सकने वाले चतुष्पद हुए।

दौड़ने वाले जंतुओं के लिए चौपाया होना ही आवश्यक नहीं। शुतुमुर्ग या मनुष्य की तो बात जाने दीजिए, प्राचीन काल में भी त्वरागामी स्थल जीवी जन्तुओं में द्विपदों का नाम पाया जा सकता है। यह सरीसृपों की दूसरी शाखा है जो दो पैरों पर चलने तथा दौड़ सकने का नमूना रख सकी। ये सरीसृप आदिसरट (आर्कोसौरस) या महा-सरट थे। इनका वर्तमान नमूना आज के मगरों में पाया जाता है जो भूमि पर चल सकने में भद्दे जन्तु ही हैं किन्तु विलुप्त दानवसरट और उड़ाकू-सरट भी आदिसरट शाखा के ही थे। पक्षियां इस शाखा की ही संतति हैं। मध्यजन्तुक युग में महा-सरट ही भूमि तथा आकाश के जन्तुसम्राट थे। सरीसृपों के युग की विकास कथा अधिकांशतः इस महासरट वंश के उत्थान पतन की कथा है।

आदि सरटों या महासरटों की तीव्रगति केवल पिछले दो पैरों पर चलने से प्राप्त हो सकी थे। इन महासरटों में ही संसार के सर्वप्रथम द्विपदजन्तु थे। चतुष्पद तो हमें इतने अधिक देखने को मिलते हैं कि तीव्रगति के लिए स्थल पर उनके रूपों के अतिरिक्त दूसरे रूपों की हम कल्पना भी नहीं कर पाते। परन्तु इनकी तरह चतुष्पदों में द्विपाद-गमन के भी कुछ नमूने हमें अपवाद की तरह देखने को मिलते हैं। कंगारू चतुष्पद जन्तु ही है परन्तु उसने दो पैरों पर ही दौड़ने का अभ्यास किया है। उसके अगले पैर चलने के लिए निकम्मे ही कहे जा सकते हैं। पिछले पैरों पर ही सारे बदन को सँभा-लने के लिए वह अपनी भारी दुम से पीछे का शरीर संतुलित कर लेता है और पिछले पैरों पर छलांग मारकर ही दौड़ता है। उसकी इस क्रिया में सहायता करने के लिए प्रकृति ने पिछले पैरों को पुष्ट और अगले पैरों को अविकसित कर दिया है। कोई भी सरट शुद्ध द्विपदगामी नहीं बना पाया जाता। परन्तु महासरट एक पृथक ही शाखा के थे जिनका प्राचीन इतिहास सरटों के समकक्ष ही है। आदिम महासरटों का उदय मध्यजन्तुक युग के प्रथमकाल ट्रयासिक में हुआ। ये दानवसरट के और पक्षियों के जनक थे। उनका रूप उस समय

अपेक्षाकृत क्षुद्र ही था। अधिक प्रचलित रूप के महासरटों का औसत आकार एक गज लम्बा होता था जिसमें अधिकांश भाग लम्बी पूँछ रूप में ही था। बाह्य आकृति में "ओर्निथोसूचस" नाम के क्षुद्र महासरट को आज के बड़े आधुनिक सरटों समान ही कदाचित पाया जा सकता था। किन्तु आन्तरिक रचना में महान भेद था। अगले पैर क्षुद्रकाय थे, पिछले पैर बहुत ही बड़े और परिवर्तित थे।

ऐसे रूप के जंतु के लिए चार पैरों पर चल सकना संभव था। विश्राम करने या धीमे-धीमे चलने के समय वह चारों पैरों पर ही चलता होगा, परन्तु तीव्र गति से भागने के लिए वह अगले पैरों को भूमि से उठा लेता था और पिछले दो पैरों पर ही दौड़ता था। उसकी लंबी दुम शरीर को पिछले पैरों पर संतुलित रख कर दौड़ने में सहायता करती थी। ऐसे पुरखों से ही मगरों, दानवसरटों, उड़ाकू सरटों, और पक्षियों का जन्म हुआ होगा। इन क्षुद्राकार द्विपाद जंतुओं से ही दानवसरटों का युग प्रारंभ हुआ।

ओर्निथोसूचस नाम के जिस छोटे आकार के आदिसरट की चर्चा भी गई है उस तरह के आदि सरटों से अन्य छोटी मोटी शाखायें भी फूटीं जिनमें कुछ समय तक दिखाई पड़ने वाले रूप उत्पन्न होकर शीघ्र ही विलुप्त हो गए। नमूने के रूप में "फाइटोसौरस" का नाम लिया जा सकता है जो स्थल पर द्विपदगमन वृत्ति छोड़ कर जलजीवी जंतु बना था। यह ट्रयासिक युग का एक प्रचलित जंतु हो गया था जिनके प्रस्तरावशेष संसार के अनेक भागों से प्राप्त होते हैं। आकार और बाह्याकृति में ये जंतु मगरों की ही तरह थे और कदाचित उनका स्वभाव भी इनकी ही तरह रहा हो। इन में पानी में ही रह कर शीघ्र सांस लेने के लिए मगरों की तरह आँख के ऊपर एक गड्ढे के रूप में नासिका स्थित पाई जाती है।

मगरों का विकास मध्यजंतुक युग के द्वितीय काल जुरासिक में भली-भाँति हो चुका था। और उन्होंने फाइटोसौरस का स्थान जलजीवी जंतु के रूप में ले लिया था। फाइटोसौरसों को मगरों का जनक नहीं कहा जा सकता परन्तु पूर्वजों की पंक्ति में उन्हें बैठाया जा सकता है। मगरों का आदिसरटों से सीधे ही विकास हुआ। आज के नक्र, मगर तथा घड़ियाल आदिसरटों या महासरटों के अवनत रूप कहे जा सकते हैं। इनके पूर्वजों ने तो द्विपदगमन में बहुत कुछ आगे तक प्रगति कर ली थी किन्तु ये उनकी विकासगति से पीछे जा कर चतुष्पदगामी मंथर जंतु बन गए हैं किन्तु आज भी उनके पिछले पैर लंबे और अगले पैर बहुत छोटे पाये जाते हैं। यह उनकी द्विपदगामी वंशपरम्परा का प्रसाद ही है। किन्तु आदि सरटों में ये ही आज जीवित रह सके हैं और संसार में अपने विशिष्ट स्थान को रक्षित रख सके हैं किन्तु उनके अधिक प्रगतिशील सहवंशी सरीसृप संसार में अपना अभ्युदय प्रदर्शित करने का स्वर्णयुग देखकर विलुप्त हो चुके हैं।

मगर गणों में एक उल्लेखनीय उन्नति मिथ्या तालु का विकास है। आदिम स्थलजीवी जंतुओं में नासिका रंध्र का भीतरी द्वार मुँह के सम्मुख होता है किन्तु पानी में रहने वाले लंबे थूथन वाले जंतु के लिए यह व्यवस्था बहुत कष्टकर हो सकती है। साँस लेने के साथ ही पानी भी सुड़क लेने की आशंका रह सकती है। आदिम सरटों में पाइथोसौरस में नासिका सिर के छोर पर पीछे की ओर खिसकी पाई जाती है जिससे गले की दूरी कम हो जाती है। मगर में बहुत विशद श्वास व्यवस्था पाई जाती है। नासिका तो थूथन के छोर पर रहती है किन्तु मुँह के ऊपरी चँदोवे (तालु) की पूरी लंबाई में नासिका के नीचे एक पर्दा बना रहता है जो श्वास नली को मुँह से पृथक रक्खे रहता है। इस अस्थिनिर्मित मिथ्या तालु तथा नासिका रंध्र के गले में मिलने के द्वार पर कपाटिका के प्रबंध से नक्र या मगर अपना मुँह पानी के अंदर रख कर भी उस दशा में भली-भाँति श्वास लेते रह सकते हैं जब कि केवल थूथन की ऊपरी छोर नासिका को

पानी के ऊपर रक्खे हो। यह व्यवस्था मगर ऐसे जीव के जीवन के लिए बहुत ही सुविधाजनक सिद्ध होती है।

उड़ाकू सरट

आदिम सरट भूमि और आकाश पर तो अपना पूर्ण प्रभुत्व जमा सके थे, परन्तु समुद्र में फैलने की प्रवृत्ति प्रायः नहीं दिखाई पड़ती थी। केवल एक महासरट श्रेणी का जंतु ही खारे पानी में निवास कर सका जिसे जुरासिक काल की शिलाओं में समुद्री मगर रूप में पाया जाता है। इन जंतुओं में पैरों का रूपान्तर मछली के पखनों रूप में हो सका था और मछलियों की तरह दुम भी विकसित हो सकी थी किन्तु इनका प्रसार अल्पकाल तक ही था। इनके स्थान पर सरीसृप की दूसरी शाखा के जंतुओं ने समुद्र पर आधिपत्य जमाने में सफलता प्राप्त की।

द्विपद रूप धारण करने पर आदिसरटों के अगले पैर अन्य कार्यों में उपयुक्त हो सकते थे। कुछ रूपों में तो वे भ्रष्ट होने लगे। कुछ रूपों में वे हाथ की भाँति वस्तुएँ पकड़ सकने के उपयोग में आने लगे किन्तु दो रूपों में उनका विचित्र उपयोग पंख की भाँति हुआ। एक ओर तो पक्षियों के पूर्वज सरीसृपों को उड़ान का प्रथम प्रयास करते पाया गया, दूसरी ओर कालान्तर में उड़ाकू सरीसृपों ने उस दिशा में अपने कर्तृत्व प्रदर्शित किए।

टेरोसौरस (पक्षीय सरीसृप) या टेरोडेक्टाइलस (चर्मपक्षीय) जंतुओं का प्रसार मध्यजंतुक युग के मध्यकाल, जुरासिक में बहुत अधिक था। इन जंतुओं तथा अन्य समकालीन जंतुओं के प्रस्तरावशेष जर्मनी के लिथोग्राफीय प्रस्तरों में बहुसंख्यक विद्यमान पाये जाते हैं। ये तलछटीय शिलाएँ बारीक चूरों से निर्मित थीं। इनमें कोमल अंग के जंतुओं तथा पंखों तक की छाप संरक्षित पाई जा सकी है। इनमें ही टेरोसौरस (पक्षीय सरीसृप) का भव्य प्रस्तरावशेष सुलभ हो सका है। दूसरे नमूने का उड़ाकू सरीसृप आदिम उड़ाक सरट पाया जाता है जिसका नाम "रैम्फोरहिंचस" पड़ा है। यह सरीसृप एक गज लंबा था, एक लंबी चोंच थी जिसमें तीक्ष्ण दांत सज्जित थे, ठिगना बदन था और लंबी दुम थी जिसकी छोर पर दिशानियंत्रक पतवार सा था। पिछले पैर पतले और अशक्त थे किन्तु अगले पैर पंखों को प्रश्रय देने वाले शक्तिशाली रूप के थे।

रैम्फोरहिंचस या आदि उड़ाकू सरट में, हाथ की प्रथम तीन अंगुलियाँ छोटी थीं और उनमें चंगुल बने थे। कनिष्ठा अंगुली लुप्त ही थी। चौथी अंगुली बड़ी पुष्ट और लंबी थी। पंख को पूरा प्रश्रय वह ही देती थी। इस में से चमगीदड़ के त्वचा पंख की भाँति चमड़े, की झिल्ली जांघ तक फैली थी। इसी कारण इस सरीसृप को पक्षांगुलीय कह सकते हैं। इसमें चिड़ियों की भाँति परों का नाम भी नहीं था।

सरीसृपों के उड़ाकू रूपों के प्रस्तरावशेष उनके शरीर का रूप तो प्रदर्शित करते हैं, परन्तु उनके जीवन का अधिक परिचय नहीं दे पाते। इतना ज्ञात किया गया है कि वे उड़ाकू जन्तु मछली का आखेट करने के लिए पानी के तल पर उड़ते रहते होंगे और तल पर तैरती मछलियों को झपट कर खा लिया करते होंगे परन्तु भूमि पर इनका निवास तथा नीड़ निर्माण के क्या विधान रहे होंगे इसका कुछ पता नहीं। पिछले पैर तो इतने दुबले थे कि भूमि पर इनका ठीक तरह चल सकना कठिन ही था, परन्तु पंखों में सहायता करने वाले अगले पैरों की तीन अंगुलियाँ चंगुलों से मढ़ी होने के कारण चमगीदड़ों की भांति इन्हें वृक्ष की शाखायें पकड़ सकने में समर्थ बनाती होंगी अतएक संभव है कि चमगीदड़ो की भांति वृक्ष की शाखाओं मे लटके रह कर ही ये विश्राम करते रहे हों। वृक्षों के स्थान पर कहीं चट्टानों के बाहर निकले भागों के तल से भी चिपटे रह कर विश्राम करना संभव था।

जुरासिक काल में द्वीपों या मूंगे के बांधों से घिरे समुद्र में लंबी पूंछ वाले उड़ाकू सरटों के अतिरिक्त छोटी पूंछ के उड़ाकू सरट भी थे जिनमें से कुछ का आकार गौरैया से बड़ा न होता था। आदिम रूप के डांड़नुमा पूंछ के पक्षीय सरटों के विपक्ष इन क्षुद्र पुच्छीय उड़ाकू सरटों का प्रसार मध्यजंतुक युग के अंतिम काल, क्रिटेशश तक था। इनमें से कुछ का रूप दीर्घकाय भी हो सका। खड़िया मिट्टी की प्राचीन शिलाओं में अमेरिका के पश्चिमी कंसा प्रदेश में टेरानोडोन नाम का उड़ाकू सरट इस रूप का ही प्रतिनिधि मिलता है जिसके एक नमूने में पंखों का फैलाव २७ फुट पाया जाता है। यह रूप तो किसी भी पक्षी से बड़ा है। चोंच में दांतों का अभाव था। एक विचित्र रूप यह था कि सिर के पीछे से कलंगी की भाँति एक लंबा उठा हुआ विशाल पंख होता था। उड़ाकू सरटों में टेरानोडोन तथा उसके अन्य बंधु ही अंतिम थे। उस समय पक्षियों का विकास-क्रम यथेष्ट अग्रसर हो चुका था। उन्होंने इन उड़ाकू सरीसृप बंधुओं को आकाश क्षेत्र में पीछे ढकेलकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

दानवसरट

दानवसरटों की कहानी पृष्ठवंशियों के इतिहास में बड़ी रोमांचक है। इनका आरंभ ट्रयासिक काल में हुआ। संख्या और आकार में जुरासिक तथा क्रिटेशश कालों में इनकी बहुत बृद्धि हुई। मध्यजंतुक युग की पूरी अवधि में ये ही संसार के जन्तु जगत के एकछत्र शासक थे। पृथ्वी भर में इनका प्रतिद्वन्दी कोई जन्तु दिखाई नहीं पड़ सकता था। मध्यजंतुक युग की समाप्ति पर इनका संसार से सदा के लिए लोप हो गया।

दानवसरट (डिनोसौर) कहने से सरीसृपों या सरटों का ही दीर्घकाय रूप समझा जा सकता है किन्तु तथ्य यह नहीं है। कुछ दानव सरट तो इतने अधिक बड़े थे कि भूमिचारी जन्तुओं में कभी भी उतने दीर्घ आकार का रूप कभी दिखाई ही नहीं पड़ा किन्तु कुछ दानवसरटों का रूप तो मामूली मुर्गी के बच्चे बराबर ही था। ये सब आदिम सरट वंश के ही थे परन्तु उनमें दो सर्वथा पृथक शाखायें थीं। इनमें से प्रत्येक में विशिष्ट रूपों का उदय हुआ।

दानवसरटों की दोनों शाखाओं में से एक को वैज्ञानिक रूप में सरीसृप वस्तीय (सौरिश्चिया) और दूसरी को "पक्षिवस्तीय" (ओर्निथिश्चिया) कहते हैं। वस्तिदेश या कूल्हे की हड्डियाँ इन दोनों शाखाओं का भेद जानने की विलक्षण कुञ्जी हैं। अतएव कूल्हे (वस्ति देश) की रचना पर एक दृष्टि डालना उचित हो सकता है।

सभी स्थलचारी जंतुओं के कूल्हे (वस्तिदेशीय) की हड्डियों में तीन भाग होते हैं। बीच में ओखली से (उलूखल श्रोणिचक्र) के ऊपर तो पृष्ठ नितंबास्थि या श्रोणि अस्थि (इलियम) होती है जो रीढ की हड्डी से जुटी होत है। उलूखल के नीचे और आगे की ओर एक अस्थि होती है जिसको पुरोनितंबास्थि या विटप अस्थि (प्यूबिस) कहते है। इसी तरह श्रोणि चक्र और पृष्ट नितंबास्थि (इलियम) के नीचे और पिछली दिशा में दूसरी हड्डी होती है जिसको कुकुंद अस्थि या आसनास्थि (इश्चियम) कहते हैं।

आदिम स्थलचारी जन्तुओं में कूल्हे के चक्र के नीचे वाली दोनो हड्डियाँ, पुरोनितंबास्थि (प्यूबिस) और आसनास्थि (इश्चियम) संयुक्त रह कर एक ठोस पट्टी बनाती हैं किन्तु प्रारभिक महासरटों में ये दोनों हड्डियाँ यथेष्ट पृथक पाई जाती हैं जिसमें पुरोनितंबास्थि आगे की ओर झुक कर नीचे गई होती है और आसनास्थि पीछे की ओर नीचे झुकी होती है। इससे तीन फांकों का रूप बन जाता है। श्रोणिचक्र की तीनों ही हड्डियाँ एक दूसरे से यथेष्ट कोण बना कर दूर भागी रहती हैं।

सिंहसरट (टाइरनोसौरस)

उष्ट्रपक्षीवत् सरट (स्ट्रुथियोमिमस)
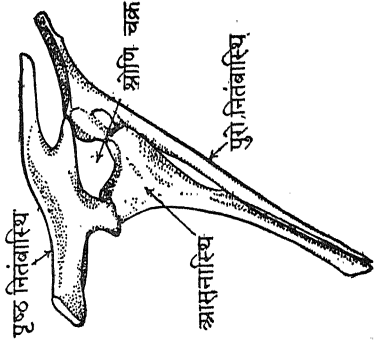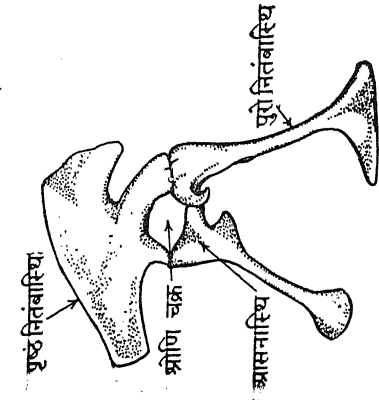
बाईं ओर—सरीसृपवत सरट (सौरिश्चिया) का दाहना श्रोणिचक्र
दाहिनी ओर—पक्षीवत सरट (आर्निथिश्चिया, का दाहना श्रोणिचक्र

ब्रोंटोसौरस

साधारण सरीसृपों से यह रूप बहुत विभिन्न नहीं होता। सरीसृप-श्रोणिचक्रीय दानव महासरटों (सौरिश्चिया) में त्रिफंकीय श्रोणिचक्र या कूल्हे की हड्डियों का तीन फाँकों में रूप विद्यमान पाया जाता है। इन सरीसृपवत् दानवसरटों में मांसभोजी तथा उभचारी रूप के वृहदाकार जन्तु इस तरह के श्रोणिचक्रीय रचना के थे। किन्तु दानवसरटों की दूसरी शाखा, पक्षीवत् दानवसरट (आर्निथिश्चिया) में जिसमें बत्तखमुखी (हसक चंचु) दानवसरट और कवचीय तथा शृङ्गीय सरट भी पाये जाते हैं, एक अधिक जटिल रचना प्रदर्शित होती है। उनके श्रोणिचक्र या कूल्हे की हड्डियों में पुरोनितंवास्थि (आगे वाली निचली हड्डी) पीछे की ओर आसनास्थि के समानान्तर फैली हुई होती है। पक्षियों में इन हड्डियों का ठीक ऐसा ही रूप होता है। किंतु उदर को अवलंब प्रदान करने के लिए पुरोनितंबास्थि के आधार से हड्डी का एक उभाड़ आगे की ओर हुआ रहता है। इस तरह चार फाँकों की रचना-सी बनी होती है। यह रचना पक्षियों के श्रोणिचक्र की रचना के समान है परन्तु यह कभी न समझ लेना चाहिए कि पक्षियों का जन्म इन पक्षीवत् दानवसरटों से हुआ। बल्कि तथ्य यह है कि किसी एक ही पूर्वज से एक ओर तो पक्षियों की शाखा विकसित हुई और दूसरी ओर पक्षीवत् दानवसरटों की शाखा प्रस्फुटित हो सकी। इस तरह एक अग्रज आदिसरटों, की सन्तान होने से ये दोनों चचेरे बंधु कहे जा सकते हैं।

पगचिन्हों से भी पुरातन काल के जीवों का रूप समझने में सहायता मिलती है। ट्रयासिक काल के अन्त के पूर्व दानवसरटों की दोनों शाखाओं के रूप विद्यमान थे। अतएव उस काल के दानवसरटों के बहुसंख्यक पगचिह्न उस समय की शिलाओं में अमेरिका की कोनेक्टिकट घाटी क्षेत्र में उपलब्ध हो सके हैं। उस समय के जलखंडों के तटपर दानवसरटों का दल जैसा पाया जाता रहा होगा उसकी कुछ कल्पना करने का प्रयास किया गया है। इनमें से कुछ रूपों से पगचिह्न पाये जाते हैं जो मीठे जल के तलछट की तह पर जम सके होंगे। इन पगचिन्हों को देखकर संसार पहले चकित हो उठा था। किसी दानवसरट के प्रस्तरावशेष का लोगों को ज्ञान नहीं था। उस दशा में पक्षियों समान किंतु दीर्घाकार पगचिन्हों के सुरक्षित मिलने का कुछ अर्थ ही समझ में नहीं आता था। यदि वे सचमुच ही पक्षियों के पगचिन्ह हों तो इतने बड़े आकार वाले पक्षी कहाँ हो सकते थे।

पगचिन्हों की प्रस्तरावशेषीय छाप से दानव-सरटों के अस्थिकंकाल का रहस्य खुल सकता था। अनेक दानवसरटों में द्विपदगमन वृत्ति होती है। वे पैर का मुख्य बल मध्य की तीन उँगलियों पर ही अवलम्बित करते थे। बाहर की ओर की (कनिष्ठिका) उँगली तो लुप्त ही थी और भीतर की ओर की उँगली (अँगूठी) अनेक बार पीछे की ओर मुड़ी मिलती थी जो पिछले उभाड़-सी थी। ऐसी अवस्था में पैर की उँगलियाँ बिल्कुल पक्षियों का ही अनुकरण करती थीं। उँगलियों की सन्धियों की संख्या और लम्बाई भी पक्षियों के समतुल्य थी। ये पगचिन्ह जब आज से एक शताब्दी पूर्व प्राप्त हुए थे तो उस समय तक दानवसरटों का कोई नाम ही नहीं जानता था। कालान्तर की खोजों में दानवसरटों के कंकालों का प्रस्तरावशेष मिलने और उनकी तुलनात्मक रचना का अध्ययन करने से रहस्यभेदन हो सका था।

सरीसृपवस्तीय या सरीसृप श्रोणिचक्रीय (सौरिश्चिया) शाखा के दानवसरटों को ट्रयासिक काल के अन्त में बहुसंख्यक प्रसारित पाया जाता था। इनके प्रारम्भिक रूप तो अपेक्षाकृत क्षुद्र, तीव्रगामी और मांसाहारी द्विपद सरटों के थे। आदिसरटों में कुछ का रूप इनके ही समान था। इसलिए प्रारम्भिक सरीसृप रूपीय दानवसरटों (सरीसृप श्रोणिचक्रीय) के आवरण के लिए उन पुराने रूपों में से किसी एक का बहुत अधिक परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। द्विपद

मांसाहारी दानवसरट सरीसृप-वस्तीय शाखा के इतिहास में बराबर प्रमुख स्थान प्राप्त किए रहे। उनमें कितने तो बहुत दिनों तक क्षुद्र आकार ही बनाए रख सके। इनमें "कम्पोसोगनेथस" का नाम लिया जा सकता है जो एक छोटे आकार का ही था और छोटी-मोटी छिपकली समान अन्य सरीसपों का आहार करता या कदाचित् नन्हें स्तनपोषी जन्तुओं को भी आहार बनाता जो संसार में हमारे वंशों का जन्म देने वाले प्राचीनतम स्तनपायी जन्तु ही होंगे और छोटे रूपों में ही पहले-पहल उन स्तनपोषियों का उदय हो रहा होगा।

क्षुद्र रूप के मांसाहारी दानवसरटों की श्रेणी का विलक्षण अन्तिम विकास क्रिटेशस काल की शिलाओं में उष्ट्रपक्षीवत् दानवसरटों (शुतर्मुर्गनुमा दानवसरटों) के प्रस्तरावशेष रूप में प्रकट होता है जो "स्ट्रुथियोमिमस" या अन्य नामों से ज्ञात हैं। इनका आकार अपेक्षाकृत कुछ बड़ा था। शुतर्मुर्ग-सा ही इनका रूप था। परन्तु अगले पैरों तथा पूँछ का भी रूप बना था। इनका मुख दंत-हीन था और पक्षियों के चंचु समान कदाचित् शृङ्गरचित था। पिछले पैरों की रचना उनके द्रुतगामी होने का प्रमाण उपस्थित करती है। अगले पैर या भुजाओं में तीन उँगलियाँ थीं जिनमें वस्तुएँ पकड़ रखने की क्षमता थी परन्तु इन अगले पैरों या भुजाओं की लम्बाई कम थी।

अगले पैर छोटे होने और मुँह में दाँत न होने की स्थिति में इनका जीवन किस प्रकार का होगा, आहार क्या होगा। यह विकट प्रश्न था। विद्वानों ने क्लिष्ट कल्पना कर यह मत स्थिर किया है कि कदाचित ये जंतु दूसरे सरीसृपों के अंडे चुराकर ही खाते होंगे। अगले पैरों की उँगलियाँ अंडे ले भागने में सहायता करती होंगीं। तीव्र गति की क्षमता वाले पिछले पैर अण्डों के क्रुद्ध स्वामियों से इनकी रक्षा करने में सहायता करते होंगे। अण्डे का भीतरी द्रव्य पी लेने के लिए दाँत की आवश्यकता ही नहीं हो सकती। सींग के बने पक्षियों के चोंच समान मुँह से ये अण्डे फोड़ लिया करते होंगे। यह कल्पना कदाचित बिल्कुल ही निराधार समझी जाती। परन्तु गंभीर विवेचन करने वाले विद्वानों का कहना है कि मांसाहारी या अंडाहारी दानवसरट अपने अण्डे चुराने के कृत्य में सदा ही सफल न होते होंगे। कभी-कभी संकट में फँस जाते होंगे और अण्डों के माता-पिता द्वारा दंडित होने के भी अवसर पा जाते होंगे। इसके प्रमाण स्वरूप एक स्थान पर मंगोलिया में शृङ्गधारी दानव-सरट के अण्डा देने के स्थान पर एक मांसाहारी दानवसरट का कपाल ध्वस्त रूप का प्राप्त हो सका। शृङ्गधारी दानवसरट दम्पति ने अपने अण्डे चुराने वाले इस मांसाहारी सरट की कपाल-क्रिया कर दी होगी।

मांसाहारी दानवसरटों की मुख्य शाखा वृहद् आकार निर्मित करने वाली मिलती है। जुरासिक काल के अन्त तक इन मांसाहारी दानवसरटों में से कुछ इतने बड़े बन गए थे कि उभचारी रूप के भीमकाय दानवसरटों का आखेट कर सकें। ये शाकाहारी भीमकाय सरट उस काल में अधिक संख्या में पाये जाते थे। क्रिटेकस काल में इससे भी बड़े रूप के मांसाहारी सरट दिखाई पड़े। उस काल के अंतिम भाग में जो सरीसृपों का युगान्त था, सिंह-सरट (टाइरनो सौरस) नाम के वृहदाकार द्विपद पाये जाते थे। ये भीषणकार्य मांसाहारी दानवसरट, भूतल पर आजकल जन्म लेने वाले समस्त मांसा-हारी जन्तुओं में बृहत्तम आकार के थे। इनका आकार उन्नीस फुट ऊँचा पाया जाता था। इनके पिछले पैर बड़े प्रबल थे, किन्तु अगले पैर इतने छोटे हो गए थे कि मुँह तक भी नहीं पहुँच सकते थे। चलने में तो इनका कोई उपयोग ही नहीं हो सकता था। उनमें केवल दो उँगलियाँ ही शेष रह गई थीं। कपाल तो भारी भरकम होता था, जिसकी लम्बाई चार फुट होती थी। मुँह में कटार समान दाँत थे जो आक्रान्त जन्तुओं के बध करने, बदन काटने और चीरने के प्रबल अस्त्र रहे होंगे।

ट्रियासिक काल के अन्त में कुछ सरीसृपवत् दानवसरटों को जो बहुत बड़े आकार के हो रहे थे, दन्तावली की रचना देख कर शाकाहारी वृत्ति धारण करते पाया जाता है। शरीर का भारी आकार बन जाने और वनस्पतिभोजी वृत्ति धारण करने के कारण तीव्र गति की आवश्यकता न्यून हो जाने के कारण इनको भूतल पर चलने के लिए चतुष्पद (चौपाया) विधि का अनुसरण करते देखा जाता है।

शरीर के आकार-प्रकार और जीवनक्रम के परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप जलथलचारी (उभचारी) वृत्ति के महा दानवसरट उत्पन्न हुए जिनको सौरोपाड्स कहा जाता है। धरातल पर आज तक जन्म लेने वाले चतुष्पदों में ये दीर्घतम आकार के थे। ये जुरासिक तथा क्रिटेशस कालों में विद्यमान थे किन्तु कदाचित् जुरासिक के अन्त में इनकी चरम उन्नति हो सकी थी। इस काल के उभचारी दानवसरटों के बहुसंख्यक प्रस्तरावशेष पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका में खोद निकाले गए हैं।

डिपलोडोकस इसी रूप का उभचारी दानवसरट था जिसके एक प्रस्तरावशेष की लम्बाई ८७½ फुट पाई गई है। यह संसार में सबसे अधिक लम्बाई का जंतु कहा जा सकता है किन्तु लम्बाई की तुलना में शरीर कृशकाय था और शरीर का भार भी अत्यधिक नहीं था। इस श्रेणी के दानवसरटों के शरीर का औसत भार २५ से ३५ टन (सात सौ से एक हजार मन) तक रहता होगा। इन सब रूपों में पुष्टनिर्मित शरीर, शक्तिशाली पैर और चारों पैरों से चलने का स्वभाव प्रकट होता है किन्तु अगले पैर पिछले पैरों की अपेक्षा अधिक छोटे होते थे। लम्बी दुम और लम्बी गर्दन भी पायी जाती है जिसमें छोटा-सा सिर होता था।

इतने लम्बे चौड़े बदन के जंतु का इतना छोटा सिर हास्यास्पद जान पड़ता है। आँखें ऊँचाई पर बगल में होती थीं। ये जंतु अधिकांश समय पानी में ही व्यतीत करते होंगे। मगर की तरह केवल मुँह का सिरा ही पानी के ऊपर रखकर ये साँस ले सकते थे।

डिपलोडोकस के जबड़े छोटे और दुर्बल ही थे। दाँत निश्शक्त और अल्पसंख्यक थे। आहार ग्रहण करने के इतने क्षुद्र उपकरणों से अपना विशाल शरीर पोषित करना किस प्रकार सम्भव होता होगा, यह एक पहेली जान पड़ती है। इतना अवश्य है कि पानी में उगने वाले नर्म पौधे ही इसका आहार होते होंगे जिन्हें यह आसानी से नोच खा लेता होगा।

नन्हें सिर में मस्तिष्क का स्थान ही कितना हो सकता है, यह कल्पना की बात है। फलतः वृहद् आकार रखने पर भी यह अत्यन्त मंदबुद्धि जन्तु ही रहा होगा। सरीसृपों के हिस्से तो बुद्धि यों ही अल्प मात्रा में पड़ी है। उसमें भी शरीर की तुलना में अत्यन्त क्षुद्र सिर के इस जन्तु में बुद्धि का विशेष अभाव रहता होगा।

हजार मन तक के भारी शरीर का भार वहन करने के लिये रीढ़ का दृढ़ होना अत्यावश्यक था। इस भार को अवलंब देने वाले पैर भी बलिष्ठ होने चाहिये। इसके लिये प्रकृति द्वारा विचित्र व्यवस्था की गई थी। इसकी पीठ मेहराबनुमा बनी थी जिससे पैरों पर कम बोझ पड़ सके। इस मेहराब का शीर्ष प्रबल रूप के पिछले पैरों के ऊपर अवलम्बित था और दोनों ओर ढालवाँ शरीर होता था। इतने बड़े बोझ को सँभालने वाली रीढ़ का भी भार अधिक हो सकता था। उस कठिनाई के निवारण के लिये पृष्ठवंश की कशेरुकाओं के पार्श्व भाग खोखले बने होते थे। केवल काम भर का हड्डियों का ढाँचा ही उनमें होता था।

डिपलोडोकस के पिछले पैर हाथीपाँव की तरह बड़े पुष्टकाय और बिल्कुल सीधे होते थे। अगले पैर प्रायः छोटे ही होते थे जो द्विपद पूर्वजों से उत्पन्न होने की स्मृति से दिलाते थे। उन पर कम बोझ

ही पड़ता था इसलिये घुटने पर कुछ झुके होते थे। पैर का निम्न भाग (पादतल) हाथी के पैर की तरह वृहद् आकार की गोल गद्दी का रहा होगा जिसमें दो या तीन लम्बे चंगुल फिसलन बचाने में सहायता करने के लिये रहते होंगे।

डिपलोडोकस की भाँति ही ब्रोंटोसौरस भी बड़े आकार का होता था। इनके कंकाल संसार के प्रसिद्ध संग्रहालयों में प्रदर्शित पाये जा सकते हैं। ब्रोंटोसौरस उभचारी महासरट था। यह उथले जल में ही समय बिताता रहा होगा।

हम छोटे आकारों की गतिविधि आँखों से देख सकते हैं। उसी के अनुसार हमारी कल्पना भी होती है। परन्तु हज़ार मन भारी जंतु प्रबल पैरों से युक्त होने पर भी किस प्रकार से चल सकता होगा, यह हमारे लिए कल्पनातीत बात ही हो सकती है। भौतिक तत्वों का अनुशीलन करने से यह प्रकट होता है कि चतुष्पदी स्थलचारी पृष्ठवंशी जंतु के आकार की एक सीमा हो सकती है। शरीर के फैलाव के घन के अनुपात में शरीर का भार पाया जाता है किन्तु किसी स्तम्भ की भाँति पैर की अवलम्बन शक्ति उसके विस्तार के अनुपात में ही होती है जो उसके वर्ग रूप में ही बढ़ती है। यदि किसी सरीसृप का आकार दुगुना हो जाता है तो उसका भार पहले का अठगुना हो जाता है किन्तु उसके पैर चौगुनी शक्ति ही बढ़ पाते हैं। इसलिये बड़े जंतुओं में पैर का फैलाव भी शेष शरीर के अनुपात में बेढब रूप में बढ़ाना पड़ सकता है। एक हाथी का पैर हिरनी के पैर के समान कभी भी पतला नहीं हो सकता। इस प्रकार इन वृहदाकार सरीसृपों के सम्बन्ध में भी बात है। इनके पैर पुष्ट अवश्य रहे होंगे। फिर भी इतने भारी शरीर को अवलम्बित कर सकना उनके लिये दुष्कर होगा। इससे विदित होता है कि सौरोपाड दानवसरट अवश्य ही उभचारी रहे होंगे। वे अपना अधिकांश समय उथले पानी में रहकर व्यतीत करते होंगे जिससे उनका शरीर पानी पर तैरते ढंग से अवलम्बित रहता होगा। इस प्रकार भारी शरीर के भार-वहन की समस्या सुगम हो सकती होगी।

उभचारी दीर्घकाय दानवसरटों में महाकाय रूप के जन्तु ब्रेचियोसौरस नाम से प्रसिद्ध हैं। आज तक पृथ्वी पर उत्पन्न हुए जन्तुओं में ये दीर्घतम रूप के जन्तु थे। इनके शरीर का भार ५० टन (१४०० मन) के लगभग होता होगा। इनकी ऊँचाई तो तिमंजिले मकान के बराबर होती होगी। इनके प्रस्तरावशेष अमेरिका के व्योमिंग नाम के प्रदेश में और पूर्वी अफ्रीका में पाये गए हैं। पहले अमेरिका में इसके अगले पैर की एक हड्डी ही मिली जिससे विज्ञान जगत स्तब्ध हो गया था और स्थिति का कुछ अनुमान ही नहीं हो पाता था। परन्तु बाद में जर्मनों ने पूर्वी अफ्रीका में इसका प्रस्तरावशेष प्राप्त किया जो बर्लिन के संग्रहालय में रक्षित किया गया। यह जन्तु ५० टन का था। अपनी गर्दन उठाकर यह तिसरी मंजिल के मकान के ऊपर तक सिर पहुँचा सकता था। यह यथेष्ट गहरे पानी में रह सकता था। इसके अगले पैर असाधारण लंबे होते थे और पूँछ ठूँठी होती थी। इन दानवसरटों का चरम उत्कर्ष जुरासिक काल के अंत में हो चुका था। क्रिटेशस काल में लड़खड़ाते रह कर इनका रूप लुप्त हो गया।

पक्षीवत् दानवसरट

सरीसृपवत् या सरीसृप श्रोणिचक्रीय दानवसरटों के समान ही दूसरी शाखा के पक्षीवत् या पक्षी-श्रोणिचक्रीय दानवसरटों का विकास होता रहा। कूल्हे की हड्डियों की रचना (श्रोणिचक्र) से ये पक्षियों के समान थे। इस कारण इनका नाम पक्षीवत् या पक्षी-श्रोणिचक्रीय पड़ा है। पक्षीवस्तीय भी नाम दिया जा सकता है। ये जन्तु पक्षियों के अग्रज नहीं थे, प्रत्युत एक आदि जन्तु से इनका विकास एक शाखा रूप में हुआ और पक्षी दूसरी शाखा रूप में पृथक विकसित हुए। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि दानवसरटों की सरीसृपवत

और पक्षीवत् शाखायें परस्पर जितना मेल दिखलाती हैं, उससे अधिक मेल हम पक्षीवत् दानवसरटों को पक्षियों के साथ प्रदर्शित करते नहीं पाते। एक अङ्ग की विशेषता से ही पक्षियों का नाम लिया गया है या इन दानवसरटों के नाम में पक्षी का नाम जुटाया गया है।

प्रारम्भिक शाकाहारी दानवसरट ही दानवसरट के पहले रूप थे। ये ट्रयासिक काल में अल्पसंख्यक ही थे, परन्तु मध्यजन्तुक युग के शेष दो कालों, जुरासिक और क्रिटेशस में बहुप्रसारित थे। प्रारम्भिक रूपों में "कैम्पटोसौरस" का नाम लिया जा सकता है जो जुरासिक काल में यथेष्ट पाया जाता था। इस रूप के दानवसरट विभिन्न जातियों में आठ फुट से बीस फुट तक लम्बे होते थे। प्रारम्भिक पक्षीवत् दानवसरट आदिम सरीसृपवत् दानवसरटों की ही भाँति द्विपद जन्तु थे और तीव्रगामी होते थे। किन्तु अगले पैर प्रायः अपेक्षाकृत अधिक छोटे नहीं होते थे। विशेष जल्दी न होने पर चारों पैरों से ही चल सकते थे।

पक्षीवत् दानवसरटों का अन्य दानवसरटों से मुख्य भेद यह था कि सबने मांसाहारी वृत्ति का परित्याग कर दिया था और प्रारम्भ से ही वनस्पतिभोजी थे। इस जीवन-क्रम के सम्बन्ध में सबके अगले दाँत लुप्त हो गये थे और उनका स्थान एक पक्षीनुमा लम्बे चंचु ने ले लिया था। मुँह के पिछले भाग के दाँत भी तीक्ष्ण नहीं रह गए थे। वे पत्तियाँ चबा सकने योग्य ही थे और उनमें चपटे खुरदरे किनारे होते थे। चबाने की शक्ति का प्रत्येक दाँत में जो अभाव पाया जाता था उसकी पूर्ति उनकी संख्या अधिक होने से हो जाती थी। कुछ बत्तखमुखी (हंसकचंचु) दानवसरटों में तो एक समय ही डेढ़ हजार से दो हजार तक दाँत पाये जाते थे।

हंसकचंचु दानवसरट द्विपदी पक्षीवत् दानवसरट थे जिनका बहुसंख्यक प्रसार क्रिटेशस काल में था। अन्य रूपों के भी पक्षीवत् दानवसरट इस काल में प्रसारित थे। परन्तु हंसकचंचु दानवसरट उनमें बड़े आकार के थे। इनके बहुसंख्यक प्रस्तरावशेष उत्तरी अमेरिका की उत्तर कालीन क्रिटेशस शिलाओं में प्राप्त होते हैं। इनके बत्तख समान चौड़ी चोंच होती थी। पैर स्थूल होते थे और इनका तीव्र गति से चलना कदाचित् कठिन होता होगा। कहीं-कहीं पर इनके प्रस्तरावशेष इतने भव्य रूप में सुरक्षित पाये जाते हैं कि शरीर के कोमल अंगों का भी प्रतिरूप प्रदर्शित होता है। त्वचा की झाँकी तक मिलती है। इनको देखकर ज्ञात होता है कि ये बत्तख की तरह जालांगुलीय पैरों के थे।

हंसकचंचु का एक विचित्र रूप कलंगी युक्त (शिखी) भी प्राप्त होता है। कुछ रूपों में नासिका-रंध्र के निकट हड्डियाँ फूलकर चील की चोंच-सी बनाती थीं। एक रूप में सिर के ऊपर हड्डी का मेहराब कलंगी समान बना होता था। एक रूप में सिर के पीछे पीठ तक एक तरह की सींग की रचना पाई जाती थी। यह विचित्र बात है कि यह सब रचनाएँ नाक के क्षेत्र में हड्डियों से ही बनी होती थीं। मालूम पड़ता था कि प्रकृति ने इनकी नाक के समीप की हड्डी को इधर-उधर खींचतान कर कई प्रकार का नाट्य किया हो। इन विचित्र शिखरों, शृङ्गों आदि का क्या उपयोग हो सकता था, यह बता सकना कठिन है। हो सकता है कि उनके भीतर कुछ हवा सुरक्षित रक्खी जा सकती हो जिससे यह पानी के अन्दर विलम्ब तक रहकर श्वास ले सकता हो।

सब पक्षीवत् दानवसरट वनस्पतिभोजी थे। इस कारण इनमें तीव्रगति की आवश्कता केवल अपने शत्रुओं के आक्रमण से बचने के लिए हो सकती थी। फलतः सरीसृपवत् दानवसरटों की भाँति पक्षीवत् सरटों के भी बहुत से रूप चतुष्पद वृत्ति को लौटे पाये जाते हैं किन्तु अपने पूर्वजों के अनुरूप उनमें अगले पैर छोटे ही होते थे। इन दानरवटों में मंदगामी रूपों को दीर्घकाय मांसाहारी दानवसरटों से रक्षा पाने के लिए किसी न किसी

रूप में कवच धारण किए पाया जाता है। आदिम सरटों में भी हम प्रायः पीठ की पूरी लम्बाई में छोटी अस्थि-पट्टिकाओं की दुहरी पंक्तियाँ मंडित पाते हैं। जुरासिक काल के उदग्र पृष्ठकवचीय सरट (स्टेगोसौरस) में इन कवचीय उपकरणों को विशेष पाया जाता है। इन्हें ऊपर की ओर बढ़कर अस्थि-पट्टिकाओं की दोहरी पंक्ति बना पाया जाता है जो पीठ को आवृत रखते थे और पूँछ के सिरे के निकट दो जोड़े तीक्ष्ण शल्यों को सज्जित पाया जाता है। इन उपकरणों का उपयोग ऊपर से आक्रमण की रक्षा करने के लिए था किन्तु पार्श्व भागों की रक्षा का कोई विधान नहीं दिखाई पड़ता।

ऐंकिलोसौरस तथा अन्य तद्‌रूप दानवसरटों में क्रिटेशस काल में एक दूसरे प्रकार का कवचीय रूप पाया जाता है। शरीर चौड़ा और चपटा होता था। उस पर हड्डी के मस्सों या गूड़ों की सघन पंक्तियाँ मढ़ी होती थीं जो महाकच्छप के ऊपरी खप्पर (कर्पर) समान प्रदर्शित होती थीं किन्तु ये जन्तु अपने सिर और पैरों को कच्छपों की भाँति खप्पर के कवच के अन्दर नहीं कर सकते थे। इसलिए इन भागों पर भी हड्डियों की पट्टिकाएँ मढ़ी होती थीं। फलतः सिर पर हड्डी के रक्षा की व्यवस्था पाई जाती है। पार्श्व भागों से बड़े शल्य निकले होते थे जो पैरों पर किए हुए आक्रमण की रक्षा कर सकते थे।

क्रिटेशस काल के अन्त में शृंगी दानवसरट भी उत्पन्न हुए। इनमें धड़ पर कवच नहीं होता था। ट्रिसेरोटाप्स (त्रिशृंगी) इस रूप का ही दानवसरट था। सींग ही रक्षा का एकमात्र साधन थी। सिर के पीछे की ओर हड्डी थी। हड्डी की एक चौड़ी झालर फैली थी जो गर्दन की रक्षा करती थी। तीन सींगों में दो माथे पर और एक नाक पर होती थी। बिना सींग के भी ऐसे दानवसरट का प्रस्तरावशेष मिला है जिसमें केवल गर्दन वाली हड्डी की झालर होती थी। यह मंगोलिया में प्राप्त रूप है, जिसे आदिशृङ्गी सरट (प्रोटोसेराटाप्स) कहते हैं।
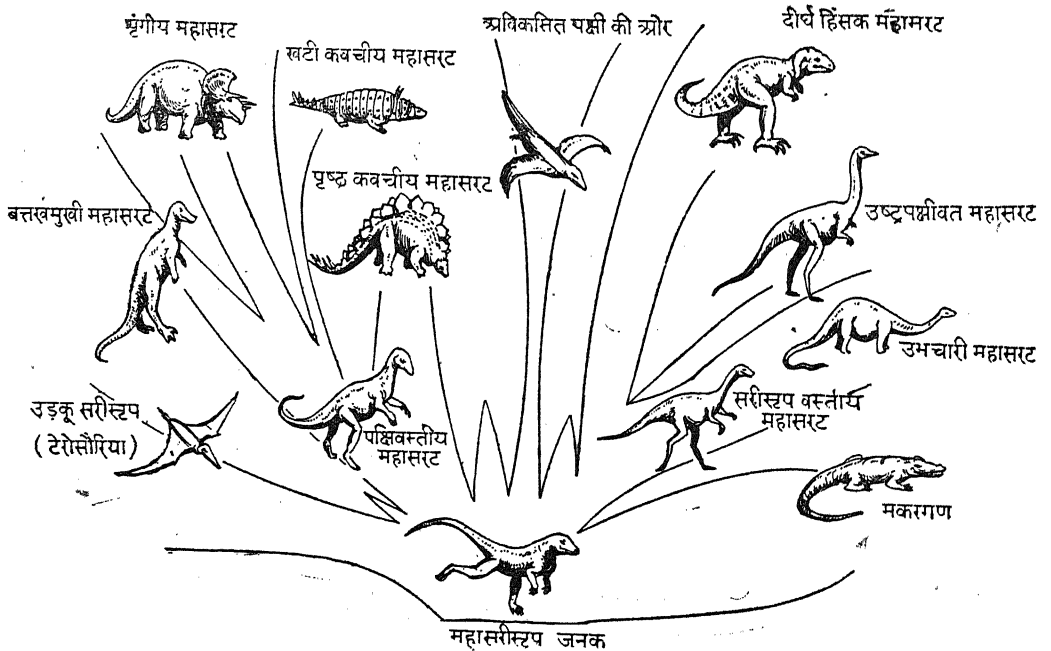
दानवसरट या महासरट का वंश वृक्ष
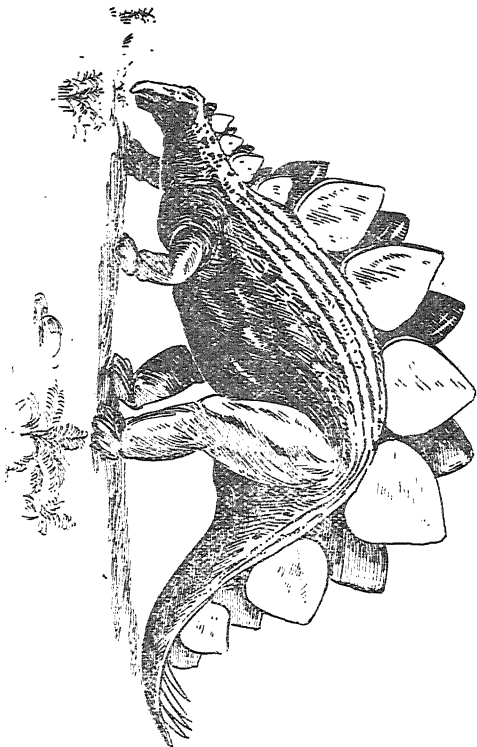
उदग्र कवचीय सरट (स्टेगोसौरस)

कच्छपकवचीय सरट (ऐंकिलोसौरस)

आदिम पक्षीवत् सरट (कैम्पटोसौरस)

त्रिशृंगी सरट (ट्रिसेराटाप्स्)

Reg. No. A 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१६७० वि० या १६१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री,दो मन्त्री, एक सम्दक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों की परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तक उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० देवेन्द्र शर्मा
सहायक संपादक— जगपति चतुर्वेदी

मुद्रक—श्री सरयू प्रसाद पांडेय, नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग तथा प्रकाशक—डा० रामदास तिवारी प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद।

भाग ८४

संख्या ६

मार्च १९५७ मीन २०१३

प्रति अङ्क छः आने

वार्षिक मूल्य चार रुपये

[पराजंतक यग के अपृष्ठवंशी जंतु]

विषय-सूची

१—आधुनिक शक्ति के साधन—जल	... डा० सत्य प्रकाश	.....	१६१
२—अम्बरीय समाधियाँ	... .	.....	१६५
३—जीवन का सीमादेश	... जगपति चतुर्वेदी	.....	१७१
४—भूत अपृष्ठवंशी	... .	.....	१७७
५—विज्ञान परिषद् प्रयाग की प्रस्तावित नियमावली		.....	१८५

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ।३।५।

भाग ८५	मीन २०१३; मार्च १९५७	संख्या ६

आधुनिक शक्ति के साधन--जल

डा० सत्यप्रकाश

[प्रयाग के ऑल इन्डिया रेडियो से प्रसारित]

मनुष्य को प्रकृति की ओर से शक्ति के जितने साधन मिले हुए हैं, उनमें से हवा और पानी मुख्य हैं। यों तो पानी को हमारी भाषा में जीवन कहा जाता है क्योंकि इसके बिना हमारा जीवन संभव ही नहीं, पर नदियों और झरनों में बहने वाले पानी से मनुष्य ने नौकर का काम लेना भी तो सीख लिया है। इस पानी के भीतर इतना बल है कि यदि उसका ठीक प्रकार से उपयोग किया जाय तो हम अपनी दैनिक आवश्यकताओं को आसानी से पूरा कर सकते हैं। मनुष्य क्या चाहता है?—उसे घोड़े के समान चलने वाली शीघ्र गति चाहिए क्योंकि वह स्वयं ४-५ मील प्रति घंटा से अधिक नहीं चल सकता है और दो-तीन घंटे चल कर ही थक जाता है। मनुष्य को कोई साधन चाहिए जिससे वह भारी से भारी बोझा ढो सके क्योंकि वह स्वयं २-२॥ मन बोझा ढोने पर ही थक जाता है। मनुष्य ने बड़ी-बड़ी मशीनें बनायी हैं और इन्हें चलाने के लिए उसे शक्ति चाहिए। मनुष्य में स्वयं इतनी शक्ति नहीं है कि वह इन मशीनों को चला सके। मनुष्य अकेले ही नहीं, बल्कि बड़े झुंड के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना चाहता है, और इसके लिए उसने यात्रा की सवारियाँ बनायी हैं। इन सवारियों के लिए उसे बल चाहिए—पशुओं के बल से वह मुक्त होना चाहता है। इस बल के लिए भी उसकी दृष्टि प्रकृति के साधनों की ओर जाती है। आज का मनुष्य घर में बिना तेल-बत्ती जलाये रोशनी करना चाहता है, बिना पंखाकुलीं को नौकर रक्खे अपने पंखे चलाना चाहता है, बिना ईंधन जलाये घर के भीतर खाना पकाना चाहता है। यह सब काम बिना शक्ति के कैसे हों, और यह शक्ति फिर कहाँ से आवे, इसकी साधना में मनुष्य नित्य नूतन प्रयोग करता रहता है। मनुष्य ने देखा कि पर्वत प्रदेशों से बह बह कर नदियों के रूप

में पानी मैदान में आ रहा है। इस पानी के बहाव में बड़ी शक्ति है। मनुष्य ने पर्वतों के शिखर पर उगे हुए पेड़ काटे और उनकी लकड़ियाँ नदियों में डाल दीं। ये बहकर मैदानों में आ गयीं। मनुष्य लकड़ियों के शहतीरों को कन्धों पर लाद कर मैदान तक उतार नहीं सकता था, उसके पशुओं से भी यह काम सम्पादित नहीं हो सकता था, पर पर्वत से नीचे उतरते हुए पानी में इतना बल था कि लाखों मन बोझ की लकड़ी को वह पर्वत के शिखर पर से नीचे उतार लाने में सफल हुआ।

मैदान में नदियाँ उतरीं, उनके बहाव में कुछ कमी आयी ; मनुष्य ने इस बहाव को अपने अनुकूल समझा, और उसने छोटी बड़ी अनेक प्रकार की नौकायें बना डालीं, जो पानी और हवा के साथ तेज़ी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में समर्थ हुईं। इन नौकाओं पर बैठकर मनुष्य ने दूर-दूर तक के नगरों की यात्रा की। यही नहीं, इसी सुविधा के आधार पर उसने अपने प्रमुख नगर नदियों के किनारे पर बसा डाले। नौकाओं की सहायता से हमने व्यापार प्रारम्भ किया और द्रव्य का संचय कर मनुष्य वैभव संपन्न हो गया। नदियों की इस उपयोगिता को देखकर मनुष्य में ईर्ष्या और द्वेष भी प्रारम्भ हुआ। नदियों के किनारे पर घाट बनाये गये, और इन घाटों पर किसका प्रभुत्व रहे, इस विषय पर विग्रह और युद्ध भी होने लगे। राजव्यवस्था भी वहीं से आरंभ हुई और नदियों द्वारा आने जाने वाले पदार्थों पर कर या टैक्स वसूल करने की प्रथा आरम्भ हुई। नदियों के उपयोग का नियंत्रण व्यक्ति रूप मनुष्य के हाथ से निकल कर समष्टि के हाथ में पहुँच गया। आज भी राष्ट्र के जल बल पर राज्य की व्यवस्था का नियंत्रण है।

जल के प्रवाह का उपयोग करके मनुष्य ने केवल नौकायें ही नहीं चलायीं, उसने अपनी मशीनों को चलाना भी सीखा। सबसे पुरानी मशीन, जिसमें पानी के बल का उपयोग किया गया है, पनचक्की है। आजकल किसी भी प्रकार से आटा पीसने वाली मशीन को हम पनचक्की कह डालते हैं, पर सबसे पुरानी पनचक्की पानी के बल से ही चलती थी, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है। अगर आप किसी गोल घेरे में बाटलियाँ बाँध दें और इस घेरे को बहते पानी के मार्ग में रख दें तो आप देखेंगे कि जो जो बालटी पानी से भरती जाती है, वह नीचे को डूबती जाती है और इस क्रम से समस्त घेरा घूमने या नाचने लगता है। आपने लड़कों के काग़ज़ के बने खिलौने देखे होंगे जो हवा के चलने पर चक्र के समान नाचते हैं। मनुष्य ने इस प्रकार के अनेक चक्र बनाये जो पानी के प्रवाह को पाकर तेज़ी से नाचने लगते हैं। इन चक्रों के साथ गड़ारी और रस्सियाँ लगा दी जायँ तो इन चक्रों के नाचने के साथ साथ दूर स्थान पर रक्खे हुए पहिये भी नाचने लगेंगे। इन पहियों के नाचते ही उनसे संयुक्त अन्य मशीनें भी चलने लगेंगी। आटा पीसने की ऐसी चक्कियाँ तो पहले बहुत थीं पर अब और भी अनेक प्रकार की मशीनें इन चक्रों से चलायी जाने लगी हैं।

पानी के तेज बहाव के आश्रय पर चक्र घूमते हैं और इन चक्रों के घूमने पर उनके साथ संयुक्त डायनेमों भी चलायें जा सकते हैं। पानी की शक्ति को गड़ारी और रस्सियों द्वारा थोड़ी ही दूर ले जाया जा सकता है और ले जाते समय आधी से अधिक शक्ति का ह्रास तो थोड़ी ही दूर में हो जाता है। पर पानी की शक्ति से यदि बिजली बनाने के डायनेमों चला दिए जायँ तो इनमें बनी बिजली तारों द्वारा सैकड़ों मील दूर ले जायी जा सकती है। यह बिजली हमारे तरह तरह के काम कर सकती है। पानी से इस प्रकार बिजली तैयार करने की योजना को हाइड्रो-इलेक्ट्रिक स्कीम कहते हैं। हमारे उत्तर प्रदेश के उत्तर पश्चिमी नगरों और ग्रामों को इस योजना द्वारा बहुत बिजली प्राप्त होती है। इस बिजली का उपयोग तरह तरह के कारखानों में होता है। जिस प्रदेश में पानी से जितनी अधिक बिजली तैयार की जा सकेगी, उतनी ही अधिक कारखाने उस प्रदेश में खोले जा सकेंगे। आज कल के युग में बिना कारखानों के कोई भी प्रदेश सम्पन्न नहीं हो सकता है। और ये कारखाने या तो कोयला जला कर अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं या बिजली से चलाये

जाते हैं। हमारे उत्तर प्रदेश में कोयला बाहर से आता है, पर हमारी शक्ति का सबसे बड़ा स्रोत तो हमारे प्रदेश की नदियाँ हैं। इन नदियों में लाखों टन पानी बड़े वेग से बह रहा है। इनसे निकाली गयी नहरों के पानी के वेग को अपने वश में किया जा सकता है और फिर नहरों के इस बेग से डायनेमों चलाये जा सकते हैं। ये डायनेमों हमें बिजली देंगे। हमें अपनी इस बिजली के लिए कोयले या अन्य किसी ईंधन पर निर्भर नहीं रहना होगा। यह बिजली हमें सस्ते दामों में प्राप्त होगी और इसकी सहायता से हम अपने प्रदेश को रमणीक और सम्पन्न बना सकेंगे, भला कौन सा ऐसा काम है जो बिजली से निकाला नहीं जा सकता है अतः हमें पानी के बल को ही अपने वश में करना है।

उत्तर भारत में पंजाब की पाँच नदियाँ, उसके बाद उत्तर प्रदेश की पाँच नदियाँ—गंगा, यमुना, गोमती, सरयू और गंडक, और इसी प्रकार बिहार और बंगाल की अनेक छोटी बड़ी नदियाँ—इनमें इतना पानी का बल है कि उसके आधार पर हम बहुत बड़ा काम कर सकते हैं। हमें केवल यह करना है कि इन नदियों के प्रवाह पर थोड़ा प्रभुत्व प्राप्त करलें। कनाडा और यूरोप के अनेक प्रदेशों में जल भरी नदियों को राष्ट्र की विशेष विभूति माना जाता है, इसलिए ही नहीं कि जल से खेतों की सिंचाई हो सकती है, बल्कि इसलिए विशेष कि इनके बहाव के बल का उपयोग करके तरह तरह के कारखाने चलाये जा सकते हैं।

जल के उपयोग का एक और उपाय है, जल पर डैम या बाँध बना कर। कई पर्वतों के बीच की उपत्यकाओं को इस काम के लिए चुन लिया जाता है और ऐसे मार्गों पर जिनमें से होकर पानी बह जाया करता है पत्थर और सीमेंट के मज़बूत बाँध बना दिए जाते हैं। बरसात में इन उपत्यकाओं के गर्त्तों में पानी भर जाता है, ये गर्त्त मैदान में काफी ऊँचे पर्वत प्रदेशों पर होते हैं! इन गर्त्तों से कुछ नीचाई पर बिजली आदि बनाने के डायनेमों लगे होते हैं। गर्त्तों में से नीचे चक्रयंत्रों पर नियंत्रित प्रवाह से पानी गिराया जाता है, जिसके फलस्वरूप ये चक्रयंत्र जोरों से चलने लगते हैं, और डायनेमों से बिजली तैयार होती है। इस बिजली के बल पर अनेक कारखाने चलाये जा सकते हैं। हमारे इस देश में सभी प्रदेशों में इस प्रकार के डैम या बाँध बनाये जाने की आयोजना ज़ोरों से चल रही हैं और कई डैम तैयार भी हो गये हैं। इन डैमों में मुख्यतया तो सिंचाई के लिए पानी इकट्ठा किया जा रहा है, जिससे देश की कृषि को प्रोत्साहन मिले और बंजर ज़मीन भी हरी भरी बनाई जा सके। डैमों से दोनों ही लाभ साथ साथ हो सकते हैं। ऊपर से नीचे पानी गिरा कर जो सहज शक्ति प्राप्त हो उसके बल पर कारखाने चलाए जाएँ और फिर नीचे आकर बहने वाले पानी को खेतों में पहुँचाया जाये जिससे ज़मीन उपजाऊ हो जाय, हमारे देश की पंचवर्षीय योजना में ४५० करोड़ रुपया सिंचाई और शक्ति उत्पादन पर खर्च किया जाने वाला था। इस आयोजना के सफल होने पर १ करोड़ ६५ लाख एकड़ ज़मीन और अधिक सींची जा सकेगी और साथ साथ १६ लाख ३५ हजार किलोवाट शक्ति अधिक बनायी जा सकेगी। उत्तर प्रदेशों में इस कार्य के लिए ललितपुर और सपरा डैम (झाँसी ज़िले में) और कबरा इडैम (हमीरपुर ज़िले में)—कल्याणी आयोजना और बेलन के नल आयोजना उल्लेखनीय हैं। अब ३ डैमों से १४३ हज़ार एकड़ भूमि अधिक सींची जा सकेगी। शक्ति की दृष्टि से जो जल-विद्युत् या हाइड्रो इलैक्ट्रिक आयोजनायें चल रही हैं उनके द्वारा ६४·६ हज़ार किलोवाट शक्ति तो इस समय भी प्राप्त हो रही है। गंगा हाइड्रो इलेक्ट्रिक ग्रिड से ३०·६ हजार किलोवाट मिल रही है। मुहम्मदपुर पावर हाउस, शारदा पावर हाउस, पथरी पावर हाउस, गोरखपुर पावर स्टेशन इन सबके ठीक हो जाने पर ४२ हजार किलोवाट की शक्ति शीघ्र प्राप्त होने की आशा है। रामगंगा रिजरवॉयर आयोजना, रिहंड पॉवर आयोजना, यमुना हाइड्रेल, और पहाड़ी देशों की अन्य आयोजनायें भी यदि सब चालू हो जायँ तो हमारे प्रदेश को ४६५ हजार किलोवाट शक्ति और मिल जायगी। इतनी शक्ति प्राप्त करके हम अपने प्रदेश को सुसम्पन्न बना सकेंगे।*

*यह भाषण पहले का होने से ये आंकड़े पुराने पड़ गये हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना अब पूरी हो चुकी है।—संपा०

जल शक्ति वाली इसी प्रकार की आयोजनायें इस देश के सभी प्रदेशों में आरम्भ की जा रही हैं। जल की शक्ति का संचय करके ही इस नये युग में हम आगे बढ़ सकते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि जल से बिजली तैयार करके जो शक्ति प्राप्त की जाती है वह सर्वश्रेष्ठ है, पर अन्य प्रकार की जलशक्ति का भी उपयोग यूरोप और अमरीका के देशों में हो रहा है। लंडन में ३०० मील के लगभग लम्बा हाइड्रोलिक मेनों का जाल बिछा हुआ है। यह एक प्रकार के पानी वाले बम्बे हैं जिनमें टेम्स नदी का २ करोड़ २० लाख गैलन पानी प्रति सप्ताह ७५० पौंड दाब पर नगर के विभिन्न स्थलों पर पहुँचता है; और पानी के इस प्रवाह बल के आधार पर ही बहुत से यंत्र चलाये जाते हैं। पानी की संकोचनीयता बहुत कम है, अतः पानी का दाब बिना कम पड़े ही बहुत दूर तक पहुँचाया जा सकता है। हाइड्रौलिक प्रेशर या दाब से बहुत काम निकाले जा सकते हैं। मान लीजिये कि शक्कर के कारखाने में हमें शक्कर के रवों में से चोटा अलग करना है। इसके लिये हमें दाब की आवश्यकता है, अथवा मान लीजिए कि वनस्पति घी के कारखानों में हमें घी से निकेल के सूक्ष्म कणों को कैनवस के थैलों में दबाकर या निचोड़ कर दूर करना है, तो हम पानी के हाइड्रौलिक प्रेशर का उपयोग कर सकते हैं, जहाँ कहीं भी दाब डालने या निचोड़ने के लिए शक्ति का उपयोग करना हो, वहाँ हम पानी के ऊपर निर्भर रह सकते हैं। पानी के दाब में क्रेनों की दानव भुजायें बहुत सा माल ऊपर उठाकर यथास्थान रख सकती हैं। जहाजों में कोयला भरने और खाली करने के जो क्रेन होते हैं वे भी बहुधा हाइड्रौलिक प्रेशर अर्थात् जल प्रवाह के दाब से काम करते हैं, सेना के काम के लिए तोपों के इस्पात के गोले या बम भी हाइड्रौलिक प्रेशर से दबा कर बनाए जाते हैं। अनेक कारखानों में आजकल के युग में अनेक कार्य पानी के दाब के प्रयोग से निकाले जाते हैं। पानी का दाब ७५० पौंड प्रतिवर्ग इंच से लेकर ४ टन प्रतिवर्ग इंच तक का रक्खा जाता है। जहाज़ के बन्दरगाहों में डाक के फाटक पानी के बल के आधार पर ही खोले और बन्द किए जाते हैं। पानी के बल के आश्रय पर ही संकुचित वायु (कम्प्रेस्ड एयर) तैयार की जाती है जिसके भी कारखानों में बहुत से उपयोग हैं। यह उपयोग भी शक्ति का उसी प्रकार का उल्लेखनीय उपयोग है जैसे पानी से बिजली का तैयार करना। ऊपर से बहुत नीचे को गिरने वाले प्रपात हवा के संकुचित करने में बड़े सहायक होते हैं और यह संकुचित हवा बहुत दूर तक पाइपों या नलों में होकर पहुँचायी जा सकती है आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि लंडन के समान बड़े बड़े नगरों में संकुचित हवा की सहायता से डाक भी एक केन्द्र दूसरे केन्द्र तक पहुँचायी जा सकती है, और बड़े बड़े पैकट और पार्सल भी हवा के झोंके से नलों में होते हुए दूर तक पहुँचाये जा सकते हैं, इस संकुचित हवा के तैयार करने में जल की शक्ति बड़ी सहायक हुई है।

इस प्रकार हमने देखा कि वही जल जो हमारे पीने के काम आता है और खेतों की सिंचाई करता है, हमारे लिए किस प्रकार शक्ति देता है। जल की शक्ति पर नियंत्रण करके हम अपने देश को संपन्न बना सकते हैं।

अम्बरीय समाधियाँ

अम्बरीय समाधियाँ पुराजंतु विज्ञानवेत्ताओं के लिए अत्यधिक महत्व रखती हैं। दीर्घकालीन संरक्षण के किसी भी अन्य प्राकृतिक विधान में ऐसे पूर्ण रूप के नमूने नहीं प्राप्त हो सकते। जलीय प्राणधारियों के प्रस्तरावशेष पहले तो अत्यन्त ही दुर्लभ मालूम होते थे परन्तु उनको भी अम्बर के अन्दर समाधिस्थ रूप बनाया पाने से अम्बरीय समाधियों का महत्व अधिक हो गया है। जिन वृक्षों से अम्बर स्रवित होता था, वे कोणीय वर्ग के वृक्ष थे किन्तु अब उन वृक्षों का लोप हो गया है। उन्होंने अपनी दृढ़ीकृत गोंद एक पीले पारदर्शी पदार्थ की भाँति संसार को अपने स्मारक रूप में प्रदान की है जिन्हें अम्बर कहते हैं। उनमें ही प्रायः पुरातन प्राणधारियों के अवशेष रक्षित पाये जाते हैं जिससे इन पदार्थों को सम्पूर्ण प्राकृतिक संरक्षक साधनों में उत्तम माना जाता है! पुराने प्राणधारियों के अवशेष काल्शाइट, पाइराइट और फ्लिट में भी रक्षित पावे जाते हैं; किन्तु उन माध्यमों में रक्षित प्रस्तरावशेष कुछ परिवर्तन की क्रियाओं से रूप पलट देते है जिससे मूल रूप से कुछ बदला रूप ही हमें देखने को मिलता है।

अम्बर के समाधिस्थ अवशेषों की एक विशेषता यह है कि उनके अन्दर प्राणधारी अधिक भव्य रूप में अपना आकार लगभग मूल रूप में बनाये रख कर रक्षित रहने का अवसर पा सकता है। उसका कारण यह है कि वह पदार्थ पहले द्रव और चिपचिपा रहा होगा। उसके ऊपर कोई प्राणी या उद्भिद्खंड पड़ने से गोंद या अम्बर के पदार्थ की अधिक मात्रा द्रव रूप में आ गिरती होगी। इस तरह चारों ओर से इस चिपचिपे पदार्थ में ज्योंही कोई जीव वा उद्भिद् खंड घिर जाता होगा, इस द्रव के जमने की क्रिया अविलम्ब ही हो जाने लगती होगी। अतएव जीव या उद्भिद् खंड के कोमल अंग, त्वचा, रोम पंख झिल्ली आदि तक के भीतर अपने मूल रूप में ही बने पड़े रह जाने का अवसर मिलता होगा। उधर आवरक पदार्थ जमकर ठोस दुर्ग बन जाता होगा। कालान्तर में बाहरी प्राकृतिक शक्तियाँ उसके अन्तर्गत समाधिस्थ तुच्छ प्राणी के कोमल कलेवर को भी ध्वस्त या परिवर्तित करने का अवसर न पाती होंगी। वह चिरस्थायी छोटा संग्रहीत पदार्थ बनकर प्राचीन काल के जीवों की झाँकी दिलाने वाला अत्यन्त विशद प्रमाण हो जाता होगा!

अम्बर के द्रव रूप में रहने के अल्पकाल में कीटों उद्भिजों के समाधिस्थ होने पर तनिक भी अवरोध न पाया जाता होगा। छोटे-छोटे जन्तु, वायु द्वारा उड़ा लाये हुए पंख, पत्ते या उद्भिजों के अन्य खण्ड समाधिस्थ हो ही सकते थे। किन्तु इनके अतिरिक्त पानी की बूँद तक को समाधिस्थ होने का अवसर हो सकता था। पौधों के अंग या कीटों के जलचारी रूप में रह कर समाधिस्थ होने के प्रमाण मिलते है।

पहले अम्बरीय समाधिस्थ पदार्थ उप-उष्णकटिबन्धीय भागों के उद्भिजों और जीवों के ही पाये जाते थे, यहाँ अम्बर-उत्पादक वृक्ष मिश्रित जंगलों में पाये जाते थे। ऐसे ही राल उत्पन्न करने वाले कितने ही कोणीय वृक्षों की कल्पना की जा सकती है। कितने ही पुरातन भौगर्भिकीय कालीन वृक्षों का विशद ज्ञान प्राप्त किया जा चुका है, परन्तु अम्बर उत्पन्न करने वाले कोणीय वृक्षों की उत्पत्ति के प्रमाण बहुत ही कम सुलभ हैं। उनके एक मात्र चिन्ह फूलों, छोटी थैलियों, सूतनुमा पत्तियों और टहनियों की समाधियाँ हैं जो वृक्षों का प्रकार निर्देशित भर कर देती हैं परन्तु वृक्षों की यथार्थ पहचान के विषय में अधिक संकेत नहीं प्रदान करतीं।
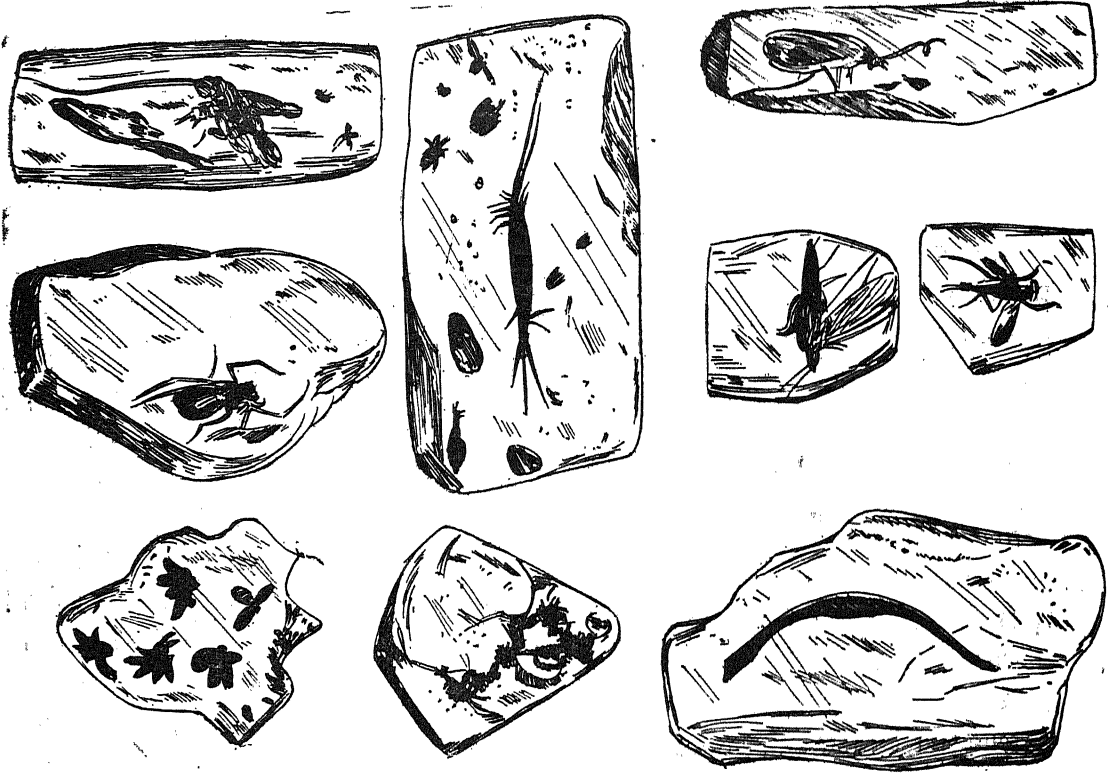
अम्बर में समाधिस्थ उद्भिज और जंतु

इन बातों की उधेड़बुन तो बहुत की गई है परन्तु समस्या अब भी उलझी हुई ही कही जा सकती है। यह सत्य है कि पुरोद्भिद् विज्ञान वेताओं ने इसे पूर्णतः स्वीकार नहीं किया है कि अम्बर-उत्पादक वृक्ष तृतीयक काल के अर्द्धजलमग्न भागों के साइप्रस वृक्षों की जातियों के निकटवर्ती रहे होंगे। यह बात सम्भव ज्ञात होती है कि वे वृक्ष साइप्रस जाति के समजातीय हों क्योंकि अम्बरीय समाधि में साइप्रस के समान टहनियाँ चीड़ और देवदार के सुईनुमा पत्तों की अपेक्षा अधिकतया पाई जाती है। दूसरा कारण यह भी है कि जलीय समाधियों के अनेक उदाहरण पाये गये हैं।

जर्मनी के कोनिग्सवर्ग विश्वविद्यालय के संग्रहालय में अम्बरीय समाधियों का बड़ा सुन्दर संग्रह था; परन्तु दुर्भाग्यवश १६३६-४५ के द्वितीय महायुद्ध में उसका संहार होने से अम्बरी समाधियों का संग्रह नष्ट हो गया जो विज्ञान-जगत की एक भारी क्षति है। उस विश्वविद्यालय के निकट के क्षेत्र में अम्बर के कच्चे माल को उपयोगी कार्यों के लिये तैयार करने का व्यवसाय प्रचलित था। अतएव उन भण्डारों से समाधिवाले अम्बर-खंड छाँट कर संचित किये गये थे। इन अम्बरीय समाधियों में बहुसंख्यक जन्तु-अवशेष प्राप्त हुए जिनमें कीट, शतपदी, मकड़े आदि संधिपादी जन्तुओं के समाधिस्थ रूप थे। जिन थोड़े उदाहरणों में जलीय जन्तुओं के समाधिस्थ रूप पाये गये उनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि संयोगवश घटनाओं से उनकी वैसी स्थिति हुई होगी। अनुमान होता है कि ऊपर से चिपचिपे द्रव रूप में राल

या अम्बर वृक्ष की शाखा से पानी में गिरा होगा और उनमें तुरन्त कोई प्राणधारी फँस कर समाधिस्थ हो सका होगा।

ऐसी धारणा बनाने के लिये कुछ कारण हैं। पामनिकेन नाम के स्थान पर अवस्थित अम्बर उद्योगालय में जलीय रूप के बहुसंख्यक अम्बरीय जन्तु अवशेष पाये जाते रहे। उनकी बहुसंख्यक सुलभता से यह निश्चय किया गया कि ऐसी रचनाएँ अकस्मात् घटनाओं से नहीं हो सकतीं। वे निश्चय ही समुद्रों और नदी-तालाबों के जंगल में बनने का अवसर पाती रहीं। आज हमें स्थलीय जन्तुओं के अम्बरीय अवशेषों की संख्या की बराबरी करने वाले जलीय जन्तुओं के अम्बरीय अवशेष भी सुलभ हैं।

राल के कड़े पड़ने के वानस्पतिक और भौतिक विधानों की कुछ भी जानकारी नहीं है और अम्बरों का
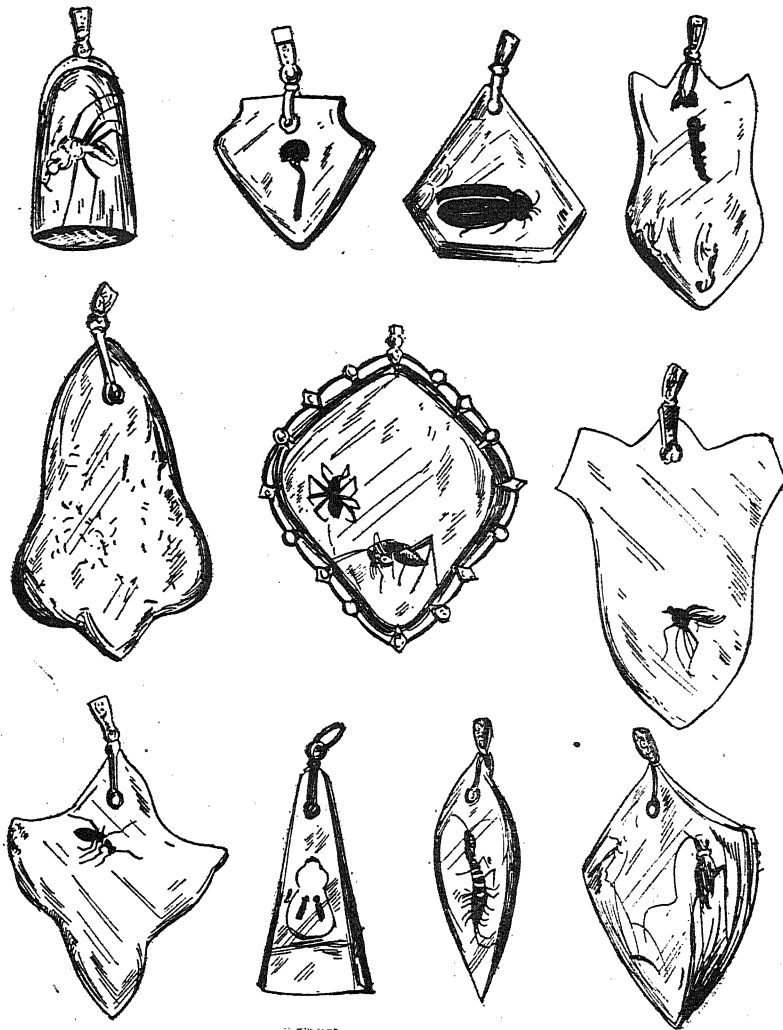
अम्बर में समाधिस्थ उद्भिज और जंतु

शतांश की गर्मी में पानी और फेनोल दोनों ही पूर्णतया घुलमिल जाते हैं। इसलिये ६६ अंश शतांश के तापमान पर वे पूर्णतया मिलनशील कहे जायेंगे और २५ अंश शतांश तापमान पर अधूरे मिलनशील कहे जायँगे। यह ज्ञात किया गया है कि अम्बर बनने के समय टर्टियरी या तृतीयक युग में समुद्र के पानी का तापमान प्रायः निश्चय ही २५ अंश शतांश से ऊपर नहीं था। इसलिये फेनोल और पानी की ही तरह अधूरी मिलनशीलता का उदाहरण लेकर फेनोल के नमूने पर ही अम्बर के द्रव रूप का गुण मान लेने पर उस युग के वातावरण में अम्बर द्रव और पानी अधूरे मिलनशील रहे होंगे। यह बात उल्लेखनीय है कि स्थानीय रूप में ठोस बना अम्बर जलीय रूप में ठोस बने रूप से अधिक दृढ़ होता है। जलीय रूप वाले ठोस अम्बर को तो तनिक व्याघात पहुँचते ही चूर-चूर हो जाते देखा जाता है। हवा में एक बार की निकली राल जम कर दुबारा-तिबारा तहें जमा दृढ़ बनती होगी।

अम्बरीय समाधि में मूंगा (प्रवाल)
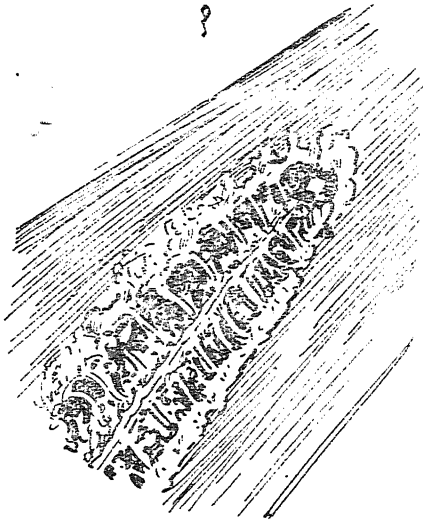
अम्बरीय समाधि में जलमंथर (जलीय घोंघा)

पामनिकेन के अम्बर उद्योगालय में अम्बर के बहुसंख्यक नमूनों के सामने आने से खोज का अधिक अवसर प्राप्त हो सका था। वहाँ प्रायः सब नमूनों की छानबीन होती रही। उन नमूनों में से किसी एक में तारक मत्स्य की भुजा का अंश पाया गया, तो किसी में एक शिशु मछली ही समाधिस्थ पाई गई। किसी में मछली की दुम की छाप ही मिली, किसी में जल-मंथर (जलीय घोंघे) पाये गये और अनेक नमूनों में मूँगे के अवशेष पाये गये।
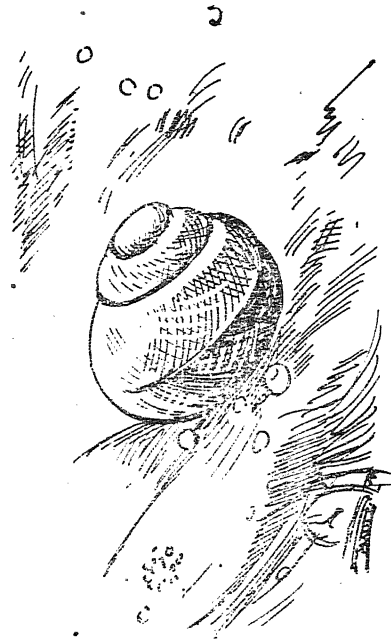
एक प्रकार की अम्बरीय अलगी डिस्कोफाइटन इलेक्ट्रोनियोम का विशेष अध्ययन किया जा सका है। इस अलगी (एक एककोषी समुद्री उद्भिज) के अम्बरीय समाधि रूप में पाये जाने से यह तथ्य ज्ञात हुआ है कि इन अम्ब-

रीय समाधियों के निर्माण काल में एक अर्द्ध-जलमग्न स्थानों में उत्पन्न होने वाला वृक्ष, राल-उत्पादक वृक्षों में अवश्य रहा होगा क्योंकि इसमें एक प्रकार का हरित द्रव फाइकोक्यनिन प्राप्त होता है, जो अर्द्ध-जलमग्न जंगलों के पेड़-पौधों में ही होता है। यह डिस्कोफाइटन अलगी अम्बरीय समाधियों में प्रमुख मानी जा सकती है क्योंकि जलीय अम्बर समाधियों में से ७० प्रतिशत यही होती है।

आकार की दृष्टि से प्रवालों और जलप्रवालों को जलीय समाधियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। जलप्रवाल शुद्ध समुद्री जन्तु हैं जो एक नली रूप के शरीर को घेर कर चारों ओर अपनी प्यालियाँ निर्मित करते थे। इनका रूप बड़ा होता था और समुद्र के उथले जल में ये अपनी रचना कर दीवालें खड़ी करते थे। हो सकता है कि किसी राल उत्पन्न करने वाले वृक्ष की डाल बह कर इनके उपनिवेश के निकट पहुँचती हो और उसमें से द्रव राल स्रवित होकर किसी प्रवालीय प्याली को समाधिस्थ कर लेती हो। उसके जम जाने पर शाखा वहीं बँधी रह जाती हो और राल की अधिक मात्रा स्रवित कर जलप्रवाल का अन्य भाग समाधिस्थ करने का अवसर पा सकी हो। प्रवाल की दीवाल के साथ उसके भी समुद्र के पेटे में धँस जाने पर रक्षित पड़े रहने का अवसर मिला हो। इनके अतिरिक्त शुद्ध प्रवालों के भी समाधिस्थ नमूने अम्बरों में मिलते हैं।

जीवन का सीमादेश—[पृष्ठ १७६ का शेष अंश]

घुल घुल कर बहुत दिन तक आते रहने के पश्चात् ही समुद्रों में विशेष मात्रा में लवणों और घुलनशील खनिजों की मात्रा बढ़ सकी होगी।

आदि समुद्रों की उत्पत्ति शीतल बनती हुई शिलाओं के ऊपर निम्न तलों में होगी। उस समय उसके जल में लवण का तो अभाव सा होगा। परन्तु धरातल के विद्यमान कार्बन मिश्रित यौगिकों पर वर्षा के जल का प्रभाव पड़ने से कार्बोहाइड्रेट की उत्पत्ति होती होगी जो समुद्र के जलों में घुला मिलता होगा। वायु मंडल में अल्प उष्ण वाष्पों से आच्छादित रहने से कार्बन डायक्साइड क्लोरीन और नाइट्रोजन आदि वायव्य विद्यमान रहते होंगे। इस स्थिति में कार्बोहाइड्रेड की और भी मात्रा निर्मित होती होगी जो नाइट्रोजन से संयुक्त होकर उन विशेष यौगिकों का निर्माण करती होंगी जो एमिनों ऐसिडों और प्रोटीन में पाये जाते हैं। इन संग्रहीत वस्तुओं के अंतिम परिवर्तन क्रम में फास्फोरस समान कोई रासायनिक उत्तेजक पदार्थ आ जुटता होगा जिससे वह प्रक्रिया संचालित हो जाती होगी जिसको जीवन कहा जाता है।

ये धारणायें बहुत अधिक अनुमानित ही हैं। अंतिम निर्णय तो उसी समय किया जा सकता है जब हमारी प्रयोगशालाओं में कृत्रिम रूप से साधारण जीवन रस (प्रोटोप्लाज्म) की रचना हो सके जो जीवन की क्रियाशीलता के गुणों युक्त पदार्थ हैं। एक पग तो हम आगे बढ़े हैं और कृत्रिम रूप में एमिनो ऐसिडों का निर्माण करने लगे हैं। जर्मनी में तो इस बात की भी घोषणा हुई है कि ऐमिनों ऐसिडों को कृत्रिम रूप से संयुक्त कर अल्ब्यूमिन बनाया जा सकता है जो एक मान्य प्रोटीन हैं। प्रोटीनों का ही बनाना एक कठिन समस्या अब भी बनी हुई है उसकी कुछ भूमिका ही बँध रही है परन्तु वैज्ञानिकों का दृढ़ विश्वास है कि शोध के मार्ग के सम्पूर्ण व्याघातों को पराभूत कर दिया जा सकेगा। यदि उनका यह विश्वास फलीभूत हो सका और प्रोटीनों का निर्माण हमारी प्रयोग-शाला का नित्य का काम हो गया तो हम अवश्य ही जीवन को एक भौतिक विकास-क्रम की ही कड़ी सिद्ध करने में सफल हो सकेंगे। उस समय कौन न कह उठेगा कि हम जीवन के सीमादेश की प्रत्यक्ष झाँकी ही ले रहे हैं।

जीवन का सीमादेश

जगपति चतुर्वेदी

जीवन का विविध क्षेत्रों में विविध विधियों से कौशल-प्रदर्शन हमें दिखाई पड़ता है। साथ ही चेतनाहीन पदार्थ जड़ता का कलक लगा कर ससार के कलेवर को अभिभूत किए दिखाई पड़ते हैं। इनके मध्य कहीं कोई सम्बन्ध भी है, एक दूसरे के संयोग का कोई विधान ही प्राणवान जगत की सृष्टि करता है या किसी एक ही उपादान के ये दोनों विभिन्न विधियों के अभिव्यक्त रूप हैं? इन धारणाओं की ऊहापोह, छानबीन, खंडन मंडन के वाक् युद्धों से विभिन्न देशों के विभिन्न कालों के दार्शनिक ग्रंथों या विचारधाराओं को ओतप्रोत पाया जा सकता है। कोई तो घोर, निपट जड़वादी मत कहलाता है। कोई उसके सर्वथा विपरीत आत्मवादी कहा जाता है। संसार के अंतर्गत जड़ या पार्थिव पदार्थों की सब जगह विद्यमानता है, उसका ही कुछ रूप शक्ति स्फोट कर विशद रूप में किसी प्रकार अभिव्यक्त हो जाता है। आत्मा पृथक से कोई वस्तु नहीं है। ये ही धारणायें जड़वाद या पार्थिववाद कहलाती हैं।

आत्मवाद भी एक मत है। जड़ या पार्थिव पदार्थ तो संसार का निर्माण प्रत्यक्ष करते ही हैं परन्तु आत्मा एक पृथक ही अस्तित्व रखने वाली अमर वस्तु है। वह स्वर्गीय पदार्थ है। किसी प्रकार जड़ कलेवर के घटाटोप में कुछ जन्म जन्मांतर के कर्मों, अज्ञानों या दैवी प्रकोपों से ही बँधा पड़ा रहता है। उसे भूलोक का निवास एक अल्पकाली प्रवास ही ज्ञात होता है। सदा अपने पितृलोक स्वर्ग की ओर बढ़ने की ही उसे आजीवन लालसा रहती है। इतनी विजातीय, विधर्मी वस्तु पार्थिवधर्मी जगत के गोत्र की कभी भी नहीं हो सकती। अमरता के गुणवाली वस्तु पार्थिव जगत की नश्वरता का स्थानापन्न या पार्थिव पदार्थों से उत्पन्न कभी नहीं हो सकती। आत्मवादी दर्शन की ये प्रमुख धारणायें हैं।

जड़वादी और आत्मवादी विचार-धाराओं में भारी खाई बनी देख कर शून्यवादी अपने मत का प्रचार करते हैं। जड़ या पार्थिव पृथक होते ही हैं। आत्मा भी पृथक वस्तु है। परन्तु इन सबका अन्त हो जाता है। अन्त में शून्य ही रह जाता है। इस तरह शून्यवादी बहुत कुछ बातों में आत्मवादी विचारों के निकट हैं परन्तु सब कुछ अन्त हो जाने की उनकी धारणा ही स्वतंत्र विचारधारा का आधार होती है।

विज्ञान को साधारणतया लोग जड़वाद के लिए बदनाम करते हैं बल्कि आत्मा की गूढ़ समस्या से अछूता बताकर विज्ञान को ही पार्थिववाद कहा जाता है। यह बात अवश्य है कि कुछ विज्ञानवेत्ता भी व्यक्तिगत विचारों में आत्मवादी होते हैं परन्तु विज्ञान को उसका श्रेय नहीं दिया जाता। विज्ञान का कार्यक्षेत्र पार्थिव पदार्थों के प्रयोगों पर ही आधारित होता है, अतएव उन प्रयोगों का परिणाम कुछ आत्मा या शक्ति के क्षेत्र का भले ही हो जाय, परन्तु दार्शनिकों की दृष्टि में विज्ञान पार्थिव आधार के ही प्रयोगों में कार्यक्षेत्र की सीमा होने के कारण अपार्थिव वस्तु की समस्या सुलझा सकने में असमर्थ माना जाता है। यह तो वैज्ञानिक कार्यों के सम्बन्ध में कुछ वाक् या विचार युद्धों के शूरवीर दार्शनिकों की धारणा ही है। परन्तु पृथक प्रमुख दार्शनिक विचार-धाराओं के पोषकों में भी परस्पर घोर मतवैभिन्य का तनिक भी अभाव नहीं पाया जाता। अस्तु विचारधाराओं, विचार-विभिन्नताओं आदि के जमघटों को हम यहीं छोड़ कर, कुछ तथ्यों पर दृष्टि डालना उचित समझते हैं।

हम पहले जीवन के उषाकाल पर दृष्टिपात करते हैं। हमारे प्राचीनतम पूर्वज प्राणियों के उदय के पूर्व समुद्र का रूप उत्तप्त जल का रौद्रपूर्ण मंथित भंडार होगा। धरा के यथेष्ट शीतल हो सकने के पूर्व ऐसी ही अवस्था

रही होगी। क्षितिज में धरातल के ऊपर मँडराते हुए सघन बादलों का पुंज ही विराजमान् रहता होगा। वर्षा तो कोटिशः वर्ष तक अबाध गति से धरातल पर निर्भरित रहती होगी। धरागर्भ से भी निर्बाध लावाराशि विगलित होकर नवनिर्मित भूतल पर रक्तवर्णीय द्रव खनिजों का नद प्रवाहित करती रहती होगी। जीव किस कोने में रह सकता था ?

सतत वर्षा-निर्भरण ने आज के समुद्रों को लवणीय जलपूर्ण बनाने का अधिकाँश कार्य किया होगा। धरातल पर मिट्टी का तो कहीं नाम ही न रहा होगा और पृथ्वी के अधिकाँश पाषाण-तल पर प्रकृति की विकट कूर्चिका कूड़ा करकटों के बहारने या मल प्रक्षालन के प्रयत्न स्वरूप अधिकाँश घुलनशील खनिज द्रव्यों को निम्नतर तलों में ढकेलती रहती होगी। जल के वाष्पीभवन से द्रव का अभाव होते रहने से लवण तथा अन्य वाष्पीकृत पदार्थ उन संचय स्थलों में अधिक संकेन्द्रित होते रहते होंगे। उस सुदीर्घकाल की लवण-प्रधान परिस्थिति का ही परिणाम युगों की थाती सँभाल कर रक्खे होने की भाँति हमारे शरीर के लवणीय रक्तरस रूप में विद्यमान पाया जाता है।

यह विश्वास करने का प्रचुर कारण है कि पहले पहल कोषों का रूप आत्मनिर्भर थैली की भाँति वातावरण से पृथक स्वतंत्र इकाई बनाने के लिए गोलाकार बना होगा। और उसके निर्माण का स्थान सूर्य की किरणों से प्रक्षालित अल्पउष्ण और साधारण हल्का लवणीय जल होगा जिसके अधिक उष्ण न रहने पर जल निमज्जन का आनंद-लाभ लिया जा सकता हो। कोषों के गोलाकार बनने की क्रिया कहीं जल तल पर ही तटवर्ती भाग को समुद्री जलराशि या तट से दूरवर्ती गहरे समुद्र के जलतल पर हुई होगी जहाँ सूर्य की किरणें सहज पहुँच कर आहार ग्रहण करने की क्रिया में कोषों की सहायता कर सकती हों। वायु के मिश्रित अवयव भी सहज घुलित मिल सकते हैं। यह भी माना जा सकता है कि हिरण्यकश्यप की तरह कोषों के उत्पन्न होने का स्थल वातावरणों की विभिन्नता का संधि स्थल होने के लिए वायु और जल का संगमतल ही होगा। समुद्री जलखंड का व्याघातों से न्यून स्थल इनके कलेवर को तुरन्त ध्वस्त न होने देने के लिए अधिक उपयुक्त हो सकता है। अतएव कहीं समुद्रों के शान्त वेला संगम (नदियों के समुद्री मुहाने) ही इसके लिए उपयुक्त स्थान होंगे जहाँ तटवर्ती लहरों की भीषणता मंदतम हो सकती है या समुद्र के तट से दूर के वे भाग उपयुक्त हो सकते हैं जहाँ ज्वार भाटा के प्रकोप न्यून प्रभाव दिखलाते हैं।

किसी भी प्रकार स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाले उद्भिजों और प्राणियों के उभयवर्ती पूर्वज कोषों को कदाचित जीवित रहने का उपयुक्ततम अवसर प्राप्त हुआ होगा और बाह्य उपद्रवों से रक्षा की आवश्यकता न अनुभव हुई होगी। किन्तु एक बार स्वतंत्र इकाई के रूपों का निर्माण हो जाने पर फैले पड़े हुए पदार्थ का स्थानापन्न होने के पश्चात् भीतरी भाग की स्थितिरक्षा का प्रश्न खड़ा हो ही गया। जीवन रस या प्ररस के किसी कण में स्वतंत्र अस्तित्व की वृत्ति धारण करने की आकस्मिक घटना हुई होगी। उससे उनकी रक्षा का भी निश्चय सा हो गया। जब धरती और समुद्र अपेक्षाकृत अधिक शीतल बने, जब वायुविप्लवों ने जन्म लेकर समुद्र को हृद्विद्ध करना आरंभ किया, जब सूर्य की रश्मियाँ अवरुद्ध होकर वसुधरा को प्रकाशशून्य करने लगी जब ताप के सीमोत्थान और पतन की कोई मर्यादा न रह गई, जब नदी नदों द्वारा असीम खनिज राशि वहन होकर संचयित होने लग गई, तब कोष के निहित द्रव्य कोष की अभेद्य भित्ति के पीछे छिपना सीखने लगे। परिस्थिति की प्रतिकूलता का शमन होने पर वे अपने रक्षक परकोटे की रक्षा-पंक्ति शिथिल कर घुलित खनिजों और वायव्यों को खाद्य रूप पाकर अंतर्भूत कर लेते। संभव होते ही सूर्य रश्मियों की भी सहायता प्राप्त की जाती।

कोषों की भित्ति के अभेद्य और आवश्यक पदार्थों के के ग्रहणशील व्यक्त करने में कुछ अधिक दुस्साहस पूर्ण कथन का अवलंब लेना पड़ता है और तार्किकता या ज्ञात वैज्ञानिकता की कुछ देर के लिए विस्मृति करनी पड़ती है। यथार्थतः विज्ञान जगत को यह घटना घटित होने का युक्तिसंगत कारण बोधगम्य नहीं हो सकता। कोषों की यह

क्रिया रसायन विज्ञान के सिद्धान्तों की प्रत्यक्ष अवहेलना करती प्रतीत होती है।

निर्जीव जगत, पार्थिव पदार्थों की व्यवस्था में परिस्थितियों का एक संतुलन काल आता है और परिवर्तन क्रिया इसी प्रकार समाप्त हो जाती है जैसे कोई गेंद लुढ़कते हुए अंतिम ढाल की जगह पहुँचने पर रुक जाती है। एक सीधा उदाहरण लिया जा सकता है। दो विभिन्न गाढ़ेपन (सान्द्रण) का चीनी का घोल लिया जाय और उनके मध्य ऐसी विभाजक झिल्ली रख दी जाय कि उसके मध्य से पानी के छोटे अणु तो पार हो सकते हों, परन्तु चीनी के घोल के दीर्घतर अणु पार न कर सकते हों। उस स्थिति में न्यून सान्द्रण (गाढ़ेपन) का घोल अधिक गाढ़ेपन के घोल की ओर रिसकर पहुँचता रहेगा और यह क्रिया उस समय तक परिचालित रहेगी जब तक कि दोनों भागों में एक सान्द्रण (गाढ़ेपन) के घोल न हो जायें। इसमें प्राकृतिक शक्ति ही काम करती रहती है परन्तु जीवित कोषों में उल्टी गंगा बहती दिखाई पड़ती है। उनके अंतर्गत गाढ़ेपन के द्रव और बाहर के वातावरण के गाढ़े घोल का उर्पयुक्त रूप से संतुलन हो जाना चाहिए। बहर की वस्तु से उसे कुछ अंश खींच कर अपने द्रव को अधिक प्रगाढ़ करने के लिए आहार की भाँति मिलाना होता है। यथार्थतः दोनों में तो संतुलन ही होना चाहिए परन्तु वे बाहर की वस्तुओं से आहार की मात्रा खींचकर अपनी कोषीय भित्ति के अन्दर अधिक गाढ़ा रूप प्रस्तुत कर लेते हैं। यह अनहोनी बात ही व्यावहारिक बनी मिलती है।

यह तो कोषों के प्रारंभिक रूपों के निर्माण और पार्थिव स्थिति रक्षित तथा परिवर्धित करने का निरूपण हुआ, परन्तु मूल प्रश्न यह आता है कि इन क्रियाओं के सम्पन्न करने की शक्ति या वृत्ति प्रदान करने वाली कौन सी वस्तु है या दूसरे शब्दों में यह प्रश्न उठता है कि इनमें प्राणवान स्वरूप कहाँ से उत्पन्न होता है। इस जटिलता के मर्म का भेदन आवश्यक है। यह तो स्वीकार करने में किसी को आपत्ति ही न होनी चाहिए कि निर्जीव और सजीव में स्पष्ट भेद होता है। सजीवता के जो लक्षण होते हैं, वे निर्जीवता के लक्षणों के विपक्ष ही होंगे। यही बात ज्वलन क्रिया के संबंध में भी कही जा सकती है। किसी भी वस्तु के जलते रहने और शान्त पड़े रहने में अवश्य अन्तर दिखाई पड़ता है। जो वस्तु जलती हुई क्रिया से युक्त नहीं है, वह अज्वलित ही है। इस तरह ज्वलित रहने वाले और अज्वलित रहने वाले पदार्थों की स्थिति में भारी भेद होता है। आज से कुछ दिनों पूर्व तक लोग विश्वास करते थे कि आग या ज्वलन एक विशेष शक्ति है। पदार्थ में उसके योग से ज्वलन क्रिया होती है। इसके उल्टे वे सब पदार्थ अज्वलित ही होते हैं, जिनमें वह विशेष वस्तु आ मिली नहीं होती। लोग आग की क्रिया का प्रादुर्भाव करने वाली इस शक्ति को पृथक स्थिति का मानकर फ्लोजिस्टन नाम देते थे। बहुत अधिक प्रयोगों से सिद्ध हुआ कि यह फ्लोजिस्टन कोई पृथक वस्तु नहीं हो सकता। ज्वलन क्रिया तो रासायनिक घटना ही है। आज आग को पृथक वस्तु मानने वाला सिद्धान्त, फ्लोजिस्टनवाद, एक प्रयोग-सिद्ध तथ्य नहीं है। फ्लोजिस्टनवाद की भ्रांत धारणा कब की समाधिस्थ हो चुकी है। उसी तरह क्या संभव नहीं है कि जीवन या प्राण जान पड़ने वाली वतु कोई पृथक अस्तित्व रखने वाली वस्तु नहीं है, बल्कि फ्लोजिस्टन की तरह मिथ्या विचारों का भ्रम जाल स्वरूप ही पृथक पदार्थ प्रतीत होता है किन्तु यथार्थ में यह पदार्थ की ही किसी विशेष प्रकार की क्रिया का प्रतिभासित रूप होगा।

आज के विज्ञान की पहुँच में यह तथ्य आने लगा है कि पदार्थ और शक्ति दो पृथक पृथक वस्तुए नहीं हैं, प्रत्युत पदार्थ ही परिस्थितियों की प्रबलता से शक्ति बनता है और शति ही दूसरे रूप की परिस्थिति में कदाचित् पदार्थ बन सकता होगा। इस तथ्य का पूर्वार्द्ध ही अभी तक ग्राह्य हो सका है किन्तु एक सत्य का अर्द्धभाग ज्ञात होने से दूसरे का प्रतिवादन करना अनुचित नहीं। विज्ञान के अधिक साधन-सम्पन्न होने पर कदाचित दूसरे भाग के सत्य को भी प्रत्यक्ष दिखा सकना संभव हो। इसी प्रकार जड़ और चेतन या पार्थिव और प्राणवान के विभेद की बात कल्पना

में आने लगी है। इसके लिए कुछ प्रमाणों का आभास भी मिलता है।

पहले हम साधारण रूप में कहे जाने वाले निर्जीव तथा सजीव रूपों के भेद की चर्चा करते हैं। वे भेद आज उतने अधिक नहीं माने जाते। पहले सजीव के लक्षण को लीजिए। प्रथम तो उनमें सतत परिवर्तन होता रहता है। जीवन क्रम कभी क्रियाशून्य नहीं हो सकता। दूसरे पदार्थ रूप में सुप्त शक्ति को कार्य रूप की प्रत्यक्ष शक्ति में परिणत करते रहने की क्रिया होती रहती है। तीसरे ध्वस्त हुए तंतुओं की पूर्ति होती रहती है। चौथे वातावरण के प्रतिकूल प्रभाव या परिवर्तनों के प्रति प्रतिक्रिया करने की क्षमता होती है। पाँचवें संख्या-वृद्धि और शरीर-वृद्धि की शक्ति होती है। अंततः अधिक उन्नत जीवधारियों में स्मृति और बुद्धि होती है।

यह एक अर्थपूर्ण तथ्य है कि लगभग ये सब गुण निर्जीव पदार्थों में भी पाये जाते हैं। आज के भौतिक विज्ञान की आधारभूत धारणा यह है कि पदार्थ के सब रूपों में सतत परिवर्तन होता रहता है। और केवल स्मृति तथा बुद्धि को छोड़ कर उपर्युक्त अन्य सब गुण रवों (मणियों) में देखे जा सकते हैं। किन्तु स्मृति और बुद्धि तो निम्न वर्ग के जीवो का आवश्यक लक्षण ही नहीं है इसलिये उसे जीवन का अनिवार्य लक्षण नहीं माना जा सकता। वे गुण तो दीर्घकालीन जीवन विकास के ही फल हैं। वे जीवन-व्यवस्था का एक जटिल परिमाण ही प्रदर्शित करते हैं, गुणों में एक आधारभूत अंतर नहीं प्रकट करते। अतएव जीवन और अजीवन के भेद की समस्या पेचीदी ही रह जाती है।

मानव की चक्षुशक्ति कोवैज्ञानिक तालयुक्त प्रबल उपकरणों ने बहुत कुछ समृद्ध किया था। उससे हमें कितने ही सूक्ष्मतम क्षेत्रों के रहस्योद्घाटन का अवसर मिलता रहा परन्तु जीवन का क्षेत्र हमारी अब तक पहुँच हो सकने वाली सूक्ष्मदर्शक यंत्र-साध्य सूक्ष्मताओं से भी परे था इसलिए उसकी कुछ भी झाँकी मिलनी कठिन होती थी किन्तु विज्ञान साधनों ने उन भारी असफलताओं से भी हार नहीं मानी और अब नेत्र से देख सकने वाले तालों के आगे भी जाकर विद्युताणु की सहायता से सूक्ष्मतम वस्तुओं का दिग्दर्शन कर सकने वाले सूक्ष्मदर्शकों का वर्तमान काल में आविष्कार हो सका है जिसे विद्युताणु सूक्ष्म दर्शक यंत्र कहते हैं। विद्युताणु-सूक्ष्मदर्शक प्रकाश की किरणों के बिना ही सूक्ष्म वस्तुओं का रूप बड़ा बनाता है। इसमें कैथोड किरणें ही प्रयुक्त होती हैं जो विद्युताणुकी धारा होती है। इस साधन के कारण उनकी दृष्टि शक्ति बहुत प्रबल हो जाती है। जीवन और अजीवन के मध्य के अज्ञात क्षेत्र या जीवन के सीमा देश की झाँकी करा सकने में यह यंत्र सफल हो रहा हैं। इस यन्त्र में केवल यही असुविधा है कि इससे प्रकाश किरणों का उपयोग न हो सकने से सूक्ष्म वस्तुओं का वृहत् रूप हमें अपने नेत्रों से देखना सम्भव नहीं हो सकता। उसका चित्र ही खिंच जाता है जिससे हमें सूक्ष्म-पदार्थ के रूप का ज्ञान होता है।

विद्युताणु-सूक्ष्मदर्शक की एक महान सफलता उन परमकीटाणुओं का भी चित्र उतार लेने में है जो वैज्ञानिक सूक्ष्म स्यंदकों (फिल्टर) में भी छन कर निकल सकते हैं। ये स्यंदकभेदी परमकीटाणु ही जीवन के सीमा देश के पदार्थ कहे जा सकते हैं। परमकीटाणुओं (वाइरूजेज) को हम अनेक भयंकर रोगों का जनक जानते हैं। जीवों तथा उद्भिजों की भयंकर बीमारियों का पहले कुछ मर्म ही ज्ञात नहीं हो पाता था। इस कारण उसके उपचार की बात ही समझ में नहीं आ सकती थी। अब कुछ अटकलपच्ची या अनुभवसिद्ध औषधियाँ ही प्रयोग में लाई जाती हैं। ऐसे रोगों में ही चेचक की प्रसिद्ध बीमारी है। तम्बाकू या अन्य पौधों के कुछ रोग भी एक प्रकार के परमकीटाणु द्वारा ही उत्पन्न होते हैं।

तम्बाकू की पत्ती में चित्ती या कुष्ट रोग को पहले पहल १८८५ ई० में मेयर नाम के वैज्ञनिक ने उल्लिखित किया था। बाजरे की बाली में नन्हें नन्हें दानों और छिल्कों का रंग बिरंगा मेल सा होता है। उसे बाजरे समान रूप या बजरहा कह सकते हैं। रंगीन संगमरमर की गिट्टियों को पचमेल रूप में जमाने और रगड़कर चिकना करने से अजीब बहुरंगी चित्तियों का दृश्य पैदा होता है। उसे

मोजेक कहते हैं। बहुरंगी चित्ती या बजरहा (बजरानुमा) भी उसी का नाम पड़ सकता है। तम्बाकू की पत्ती में एक परम कीटाणु इस तरह का रूप पैदा करता है। डिमिट्री इवानोवस्की नाम के एक रूसी वनस्पतिशास्त्री ने तम्बाकू के चित्ती रोग की परीक्षा करते हुए एक विचित्र बात देखी उसने एक चित्ती रोग वाले तम्बाकू की पत्ती का रस ऐसे छनने में छाना जो कीटाणुओं का अवरोध कर सकता है। फिर उस छने हुए रस को प्रत्यक्ष कीटाणुओं से रहित देख कर एक दूसरे नीरोग तम्बाकू के पौधे के भीतर डाला। उसमें शीघ्र ही चित्ती रोग उत्पन्न होता पाया गया। यह परमकीटाणु का प्रभाव पड़ा।

चित्ती रोग की तरह सैकड़ों अन्य रोग अकेले वनस्पतियों में ही पाये जाते हैं। चित्ती रोग की ही कितनी किस्में पाई जाती हैं। अंगूठी की तरह गोल रेखाओं का भी रोग होता है जिसमें तम्बाकू की पत्ती में इकहरी गोल रेखाओं के धब्बे बनते हैं। कुछ में एक केन्द्र पर ही लगातार कई गोल रेखायें बनी होती हैं। विभिन्न रूपों में से कुछ रोगों को इस प्रकार पाया जाता है। इन रोगों में कभी कभी पत्ती और तने में बड़े फफोले पड़ जाते हैं जिससे पत्तियों और तने को पानी तथा आहार नहीं प्राप्त होता जिससे पौधे मुरझा कर सूख सकते हैं।

परमकीटाणु वनस्पति और प्राणी दोनों के ऊपर रोग का प्रभाव उत्पन्न करने वाले होते हैं। वनस्पतियों और प्राणियों के प्रायः सब रोगोत्पादक परमकीटाणु प्रकाश के साधनों से अदृश्य ही होते हैं। इनका आकार चक्षुतालीय सूक्ष्मदर्शकों की शक्ति से परे की सूक्ष्मता से लेकर एकाकी अणु के समान तक सूक्ष्म होता है।

इधर पिछले दस बीस वर्षों से परमकीटाणुओं के मर्म-भेदन का सफल प्रयास हो रहा है। १९३५ में अमेरिका के प्राणिविज्ञानवेत्ता स्टैनली ने एक चित्ती रोग से ग्रसित तम्बाकू के पौधे के रस से तम्बाकू के चित्ती रोग का परम-कीटाणु पृथक कर लेने में सफलता प्राप्त की थी। उसे यह देख कर विस्मय हुआ कि यह परमकीटाणु जीवन के साधारण लक्षणों से युक्त नहीं प्रतीत होता था। बल्कि उसमें रवेदार ठोस पदार्थ के सब गुण विद्यमान थे।

तम्बाकू के चित्ती रोग के परमकीटाणु की रवेदार ठोस रूप में स्थिति होना एक अद्भुत बात थी। उसकी रासायनिक रचना ज्ञात की जा सकती थी और वह नमक या चीनी समान अन्य रासायनिक पदार्थों के रवों की तरह एक निश्चित आकृति बना सकता था। पृथक बनाए रूप में निस्सन्देह इसमें एक सजीव वस्तु की भाँति अपनी संख्यावृद्धि (संतानोत्पादन) की क्रिया की शक्ति का अभाव पाया जाता था किन्तु यह तथ्य अत्यंत ही महत्वपूर्ण है कि एक दीर्घकाल तक निर्जीव रवे की भाँति रक्षित रखने के बाद जब इसे एक स्वस्थ तम्बाकू के पौधे में पहुँचाया जाता तो यह यथार्थतः सजीव हो उठता था जिससे तम्बाकू में चित्ती रोग का प्रसार हो उठता और साधारण आदिम क्षुद्रप्राणियों की तरह इसकी शीघ्र संख्यावृद्धि होने लगती।

ऊपर के प्रयोगों में चित्ती रोग के परमकीटाणु के विभिन्न ढंग के व्यवहारों को देखकर यह कहा जा सकता है कि हमें जीवन के अस्तित्व का कुछ भेद परम-कीटाणुओं के विश्लेषण से आभासित हो सकने की आशा हो सकती है। यथार्थतः इस दिशा में अन्य प्रयोग निरंतर होते ही जा रहे हैं जो इस प्रश्न को उत्तरोत्तर सुगम बनाने का विश्वास दिला रहे हैं। उदाहरणार्थ यह ज्ञात हो सका है कि परमकीटाणुओं की रचना प्रोटीन से होती है जो समस्त जीवित कोषों के आधारभूत अवयव हैं। कोषीय पदार्थ जीवतत्व या जीवन रस नाम से अभिव्यक्त होता है। यह जीवन की कच्ची सामग्री है और सजीव वस्तुओं के विभिन्न रूपों में विभिन्न अंश की जटिलता में निर्मित होती है। यद्यपि प्रोटीन जीवन के लिए आवश्यक हैं और एक प्रकार से यथार्थतः वे ही जीवन, हैं तथापि वे स्वयं निश्चिततया रासायनिक पदार्थ ही हैं। उनका संगठन संश्लिष्ट है। किन्तु जिन वस्तुओं से वे निर्मित होते हैं वे एमिनो ऐसिड नाम से ज्ञात हैं और अपेक्षाकृत सरल रूप की होती है। इन एमिनो ऐसिडों में से अनेकों का कृत्रिम रूप से प्रयोगशालाओं में निर्माण हो सका है।

इन तथ्यों का यह ही अर्थ है कि पदार्थ की वह स्थिति जिसे हम "सजीव" कहते हैं, एक पूर्णतः पृथक वर्ग के व्यवहार-जगत की वस्तु नहीं कहीं जा सकती।

प्रत्युत सरलतर अग्रजों, अधिक जटिल पदार्थों के सृजन क्रम का उसे एक सोपान माना जा सकता है। हम इस बात को निर्विवाद स्वीकार करने लगे हैं कि उच्चतर रूपों के जीवों का विकास निम्नतर रूपों से ही हुआ किन्तु हम इसे तर्कसंगत धारणा मात्र स्वीकार करने में बगलें झांकने लगते हैं कि स्वयं "जीवन" का विकास इसी भाँति की क्रमागत निम्न सोपानों की भाँति पूर्ववर्ती स्थिति से ही हुआ होगा। एक प्ररस या जीवन रस के क्षुद्र विन्दु से लेकर कालिदास, वाल्मीकि, व्यास, कपिल, कणाद, फैरेडे, एडिसन रदरफोर्ड और आइंस्टीन सरीखी बौद्धिक महानताओं की स्थिति में हमें जितने भीषण कायाकल्प की कठोर कल्पना करनी पड़ सकती है, उसकी अपेक्षा एक शुद्ध रासायनिक स्थिति से ही जीवन-उत्पत्ति की धारणा विशेष क्लिष्ट कल्पना नहीं हो सकती। आज का विज्ञान तो प्रबल वेग से इस निष्कर्ष की ओर अग्रसर होता दिखाई पड़ रहा है कि 'जीवन' को एक विलक्षण और पृथक उद्भूत घटना न मान कर विश्व के आधारभूत पदार्थों में ही व्यवस्था का एक विशेष सोपान माना जाय।

एक बार इस तार्किक व्यवस्थाक्रम को मान लेने पर हमें जीवन की उत्पत्ति का इतिहास सरलतया दिखाई पड़ने लग सकता है। जीवन के उपादान आदिसमुद्र के उथले जल में रासायनिक विधि से उसी प्रकार उत्पन्न हुए होंगे जैसे साधारण भौतिक परिवर्तन-क्रम से तारा मध्यान्तर वायव्य-राशि के किसी खंड से पहले पृथ्वी का अस्तित्व हुआ होगा। भौगर्भिकीय कालचक्र के लंबे युगों में यह महान विकासक्रम परिचालित रहने की कल्पना की जा सकती है जो अंश-अंश में कुछ प्रगति कर रासायनिकता को जीव-वैज्ञानिकता में उद्भासित करने वाली स्थिति अपने मंद किन्तु सतत परिचालित पार्थिव नियमों से आबद्ध अटल परिवर्तन-क्रमों से ही उत्पन्न कर सकी होगी। इस शाश्वत जागरूक, गतिशील, परिवर्तनशील विश्व-सृजक पार्थिव नियमारूढ़ व्यवस्थाक्रम ने ही वायव्य को ठोसपन, रासायनिक ठोसपन को वृद्धिशील जीवन स्पंदन, निर्बल, निर्बुद्धि क्षुद्र जीव-जगत को कंकालीय कायिक दृढ़ता, बुद्धि-प्रवरता आदि प्रदान करते रहकर एक सूत्रबद्ध नियमितता का ही उदाहरण हमारे सामने रक्खा। उसकी ही आज चरम सीमा की कृति रूप मानव मूर्ति को देखकर हमें सुदीर्घ काल की मंदमंद परिवर्तन शृंखलाओं का कुछ भी बोध नहीं हो पाता। भविष्य में भी आज से अकल्पनीय कालों के विगत हो चुके रहने पर जड़ और चेतन रूप की प्रारंभिक और अंतिम कृतियों में कितना महान अंतर हो चुका रहेगा, इसकी भी कुछ कल्पना हम आज नहीं कर सकते किन्तु इस परिवर्तन धारा की ही कुछ झलक पा सकने में समर्थ होकर एक स्थूल सत्य का कुछ अंश ग्रहण करने में भी हम सफल हो सकते हैं।

यह कहा जा सकता है कि यह कल्पना तो बड़ी ही मधुर और आकर्षक है किन्तु इसकी रोमांचकता का कुछ वैज्ञानिक आधार भी है? इसका उत्तर विकासक्रम की स्थितियों का गहरा अध्ययन दे सकता है। इतना तो विश्वास करने का यथेष्ट कारण ज्ञात होता है कि जीवन की उत्पत्ति समुद्र में कुछ प्रकार की रासायनिक प्रतिक्रिया से हुई।

पुराणों की धारणा सृष्टि का उत्पत्ति-स्थल क्षीर सागर बतलाती है। उसमें वैज्ञानिकता ढूंढ़ने का प्रयास अत्यंत हास्यास्पद ही है। परन्तु आज का वैज्ञानिक भी अपने भौगर्भिकीय प्रमाण तथा तर्कक्रमों से एक स्थिति में पहुँचता है जब उसे यह कहना पड़ता है कि सृष्टि का जननक्रोड़ क्षीरवत् नीर सागर था। एक बड़े शब्द का कुछ दुर्बोध अर्थ नहीं। दूध की उत्पत्ति तो पशु या प्रगाढ़ रस के वनस्पतियों से होती है। प्राण के पूर्व इस की विद्यमानता, वह भी सार्वभौम रूप में, कोई विचारणीय स्थिति नहीं है। परन्तु शब्दों को उधार लेने के लिए हम दूध के समान पानी (क्षीरवत् नीर) के समुद्र का नाम लेते हैं जिसका अर्थ यही हुआ कि ऐसा समुद्र जिसमें लवण का मिश्रण नहीं था। प्रारंभ में आदि सृष्टि काल की वर्षा के संचित जल में कहीं से खारापन ही आकर मिल सकता था। मेघों से नहीं आ सकता था। इसलिए आदि काल के समुद्रों में मीठे जल का संचय रहता होगा। ऊँचे भूखंडों से आगत खनिजों के पानी में

[शेष अंश पृष्ठ १७० पर]

भूत अपृष्ठवंशी

कीटों के पूर्वज वंशों का कुछ परिचय पाने के लिए भूतकालीन बिना रीढ़ के जन्तुओं (अपृष्ठवंशी) की चर्चा आवश्यक है। उनमें हमें हजार और लाख वर्षों पुराने रूप ही नहीं मिलते, बल्कि करोड़ों वर्ष पुराने रूप प्राप्त होते हैं। इतिहास के लिए पुराने समयों के लेख या अन्य प्रमाण संग्रहीत होते हैं, परन्तु प्रकृति में इन जीवों के प्राचीन अवशेष ही धरती की पपड़ी की शिलाओं या अन्य पदार्थों में कंकाल या छापों रूप में प्राप्त होते हैं। उन्हें ५० करोड़ वर्ष पूर्व तक के बिना रीढ़ वाले जन्तुओं के नमूने प्रकट करते पाया जाता है। इन रूपों को प्रस्तरावशेष नाम दिया जाता है।

प्रस्तरावशेष किन अवस्थाओं में किन रूपों के जन्तुओं के बनते हैं, उनमें भी किन रूपों के अङ्गों को किसी प्रकार सुरक्षित पाया जाता है, ये विषय ही स्वतन्त्र अध्ययन के क्षेत्र हैं। कंकालों के अतिरिक्त किसी प्रकार अंगों की छाप या पैरों के चिह्न या मल के प्रस्तरीभूत रूप आदि की विलक्षणताएँ भी हमें इन अध्ययनों के फलस्वरूप देखने को मिलती हैं।

संसार के आज के विद्यमान जन्तु-जगत में ६५ प्रतिशत अपृष्ठवंशी जन्तु ही हैं। उनमें ही कीटों की भी गिनती है। अतएव अपृष्ठवंशी जन्तुओं के सम्बन्ध में पूर्व इतिहास बड़े महत्व का माना जा सकता है। ये जन्तु ही पहले सृष्टि के अङ्ग दिखाई पड़ते थे। इनके विविध प्रकारों की रचना कर प्रकृति ने एक प्रकार से जीव-निर्माण में अपनी कुशलता की परीक्षा की होगी या इन जन्तुओं को ही अपने अनुग्रह से प्रदान किये हुए साधनों की उपयोगिता परखने का अवसर दिया होगा। अतएव इनकी कथा अवश्य ही मनन योग्य है। उसके लिए हमें धरती की प्राचीन कथा की ओर ध्यान ले जाना उचित है। धरती की प्राचीन कथा में प्रस्तरावशेषों का अध्ययन कर जीव या उद्भिजों के पूर्वइतिहास की खोज प्रस्तरावशेष विज्ञान कहला सकता है। उसी को पुराजन्तु-विज्ञान अथवा पुरोद्भिद् विज्ञान नामों से भी विषय की दृष्टि से पुकार सकते हैं।

इन अध्ययनों की सुविधा के लिए धरती के प्राचीन इतिहास को कई युगों में विभाजित किया गया है। उनमें प्रत्येक की समाप्ति पर कुछ महत्वपूर्ण भौगर्भिकीय परिवर्तन घटित हुए दिखाई पड़ते हैं। अतएव वे युगों के विभाजन बिल्कुल कृत्रिम नहीं। उनकी थोड़ी जानकारी हमें पुराजन्तुविज्ञान की कुछ झाँकी लेने में सहायक हो सकती है।

पृथ्वी के इतिहास में सबसे पुराना युग अजंतुक (एजोइक) माना गया गया है। पृथ्वी की उत्पत्ति का वह आरम्भिक युग रहा होगा। उस समय सूर्य या किसी अन्य तारा के संघर्ष या सहयोग से कुछ विशेष परिवर्तन होकर पृथ्वी के पिंड की किसी प्रकार रचना हुई होगी और शिलाएँ बनी होंगी, उस समय अवश्य ही सब सृष्टि निर्जीव पड़ी होगी। अनेक प्रमाणों से यह अनुमानित करने का प्रयास किया गया है कि यह अवधि कदाचित् एक अरब वर्ष की होगी। इस अवधि के समय-निर्धारण में रश्मिशक्तित्व वाले तत्वों की विघटन-क्रिया से सहायता प्राप्त होती है।

दूसरा युग आदिजन्तुक (आर्चियोजोइक) था जो एक अरब वर्ष की अवधि वाले अजंतुक युग की समाप्ति

पर प्रारम्भ हुआ। प्रत्येक युगारम्भ के पहले पूर्व युग के अन्त की सूचना देने के समान कुछ भारी घटनाएँ हुई पाई जाती हैं जैसे महादेशों का समुद्र-गर्भ से ऊपर उठकर उत्पन्न होना और पर्वतमालाओं का बन उठना। नये युग के आरम्भ में भी कुछ विशेष उपद्रव हुए पाये जाते हैं। आदि-जन्तुक युग में भी विकट ज्वालामुखी उद्‌गारों और पर्वतमालाओं के निर्माण की घटनाएँ घटित हुई। यदि उस युग में जीव का उद्‌भव हुआ भी तो उसका प्रमाण शिलाओं में प्रतरावशेष रूप में दुर्लभ ही है। उनमें कार्बन-जनित पदार्थ तो अवश्य पाये जाते हैं जो कदाचित आदिम एककोषी समुद्री उद्‌भिजों की विद्यमानता इंगित करते हैं। कदाचित् एककोषी जन्तु भी इसी समय उद्‌भूत हो सके हैं।

आदिजन्तुक युग और पुराजंतुक युग के मध्य में एक प्राथमिक जन्तुक युग (प्रोटेरोजोइक) भी कुछ विद्वान मानते हैं। इस युग में भी स्पष्ट प्रस्तरावशेषों का अभाव-सा है। किन्तु यह युग अवश्य ही एक महान् क्रान्तिकारी परिवर्तनों का समय रहा होगा, क्योंकि इस युग के बाद प्रारम्भ होने वाले पुराजन्तुक युग के प्रथम काल (कैम्ब्रियन) में ही जन्तु-जगत का यथेष्ट विभिन्नित रूप दिखाई पड़ता है। लगभग सब प्रसृष्टियों के जन्तुओं का नमूना विद्यमान पाया जाता है। जिन प्रसृष्टियों के जीवों के प्रस्तराशेष बनने सम्भव थे, वे सब कैम्ब्रियन काल की शिलाओं में दिखाई पड़ते हैं। कई प्रसृष्टियों में विविध श्रेणियाँ भी बनी मिलती हैं।

प्राक्‌कैम्ब्रियन कालों की शिलाएँ क्यों प्रस्तरावशेषों के अत्यल्प नमूने भी कठिनाई से प्रस्तुत करती हैं? इसका कोई उत्तर ठीक नहीं मिल सका है। उन कालों में प्रस्तरा-वशेषों के अभाव के दो कारण बताये जाते हैं। एक तो यह कि जन्तुओं के प्राथमिक रूपों के कारण अङ्गों की रचना बहुत कोमल होती होगी। उनके शरीर के कठोर भागों का निर्माण कैम्ब्रियन काल में ही प्रारम्भ हुआ होगा। दूसरा कारण यह कहा जाता है कि प्राक्‌कैम्ब्रियन शिलाएँ अत्यन्त ही प्राचीन होने के कारण नाना प्रकार के प्राकृतिक रोषों से व्यथित हो चुकी हैं जिसके कारण उनमें प्रस्तरावशेष विद्यमान रहने पर भी विनष्ट हो गये होंगे। किसी भी प्रकार स्पष्ट रूप से व्यक्त होने वाले प्राचीनतम प्रस्तरावशेष कैम्ब्रियन काल की ही देन हैं। उस काल के पश्चात् उनकी विविधता तथा सुलभता अधिक ही होती जाती मिलती है।

पुराजन्तुक युग के दूसरे काल आर्डोवीसियन में अनेक अपृष्ठ-वंशी जन्तुश्रेणियों को अपनी उन्नति और संख्या-वृद्धि चरम शृङ्ग पर पहुँचाए देखा जाता है। उस काल में जहाँ-तहाँ रीढ़वाले जन्तु (पृष्ठवंशी) भी दिखाई पड़ने लगते हैं। पुराजन्तुक युग की समाप्ति पर अनेक अपृष्ठवंशी जन्तु-श्रेणियों का लोप हुआ देखा जाता है। मध्यजन्तुक युग अनेक समुद्री अपृष्ठवंशी जन्तुओं के अवसान का युग है किन्तु खप्परधारी कलेवर के (कर्परीय) शीर्षपादी जन्तु इस युग में चरम उन्नति-शिखर पर भी पहुँचे दिखाई पड़ते हैं। नवजन्तुक युग के प्रारम्भ होने पर अनेक रूपों के अपृष्ठवंशी जन्तुओं की विशेष आधुनिक श्रेणियाँ उत्पन्न मिलती हैं।

पृथ्वी के भौगर्भिकीय कालचक्र में प्रमुख युगों, कालों आदि के नाम, प्रसार की अवधि तथा अपृष्ठवंशी जन्तुओं के सम्बन्ध की प्रमुख विकासात्मक घटनाओं का उल्लेख आगे सारिणी रूप में दिया गया है। अन्य संक्षिप्त विवरणों को देकर प्रसिद्ध अपृष्ठवंशी जन्तु-श्रेणियाँ वर्णित की गई हैं। इनका अध्ययन करने से अपृष्ठवंशी जन्तु-जगत में कीटों के स्थान, उत्पत्ति आदि का कुछ आभास मिल सकता है।

युग तथा प्रारम्भ होने का समय	काल तथा उसकी अवधि	अपृष्ठवंशी जन्तुओं में प्रमुख विकासात्मक घटनाएँ
नव-जन्तुक युग (सिनो-जोइक) (७ करोड़ वर्षों पूर्व)	चतुर्थी (क्वार्टनरी) (२० लाख वर्ष)	संधिपादी तथा चूर्णप्रावार जन्तुओं का अत्यधिक प्रसार। अन्य सब प्रसृष्टियों का भी सम्यक प्रसार।
	तृतीयक (टर्टियरी) (पौने छः करोड़ वर्ष)	आधुनिक अपृष्ठवंशी जन्तुओं का उदय
मध्यजन्तुक (मिसो-जोइक) (बीस करोड़ वर्षों पूर्व)	क्रिटेशस (सात करोड़ वर्ष)	अम्मोनायड श्रेणी के अपृष्ठवंशियों का लोप
	जुरासिक (पौने चार करोड़ वर्ष)	अम्मोनायड बहुसंख्यक। कठिनी (केकड़ेनुमा) जन्तुओं के वर्तमान रूप का उदय।
	ट्रयासिक (सवा तीन करोड़ वर्ष)	समुद्री अपृष्ठवंशियों की संख्या और महत्व में अवनति। सिम्यूलस प्रजाति वर्तमास थी।
पुराजन्तुक (पैलियोजोइक) ५० या ५५ करोड़ वर्षों पूर्व	परमियन (साढ़े तीन करोड़ वर्ष)	त्रिफंकी जन्तु का अंतिम समय। अधिकांश पुराजन्तुक अपृष्ठवंशियों का लोप।
	कारबोनिफेरस (आठ करोड़ वर्ष	प्रथम कीट प्रन्तरावशेष प्राप्त। किन्तु उनकी उत्पत्ति कदाचित् डेवोनियन काल में ही हो गई थी।
	डेवोनियन (साढ़े तीन करोड़ वर्ष)	पृथुपादी जन्तु अब भी थे। पाषाणचित्रक और त्रिफंकी जन्तुओं का उल्लेखनीय ह्रास।
	सिलूरियन (ढाई करोड़ वर्ष)	अनेक पाषाणचित्रक विद्यमान। प्रथम विस्तृत प्रवाल भित्तियाँ पृथुपादियों का चरम उत्कर्ष ।
		भीम संधिपादी (युरिप्टेरिड) बहुसंख्यक । त्रिफंकियों के ह्रास का आरम्भ। प्रथम स्थलीय अपृष्ठवंशी जन्तु का उदय।
	आर्डोवीसियन (सात करोड़ वर्ष)	अपृष्ठवंशियों की प्रधानता की चरम सीमा। त्रिफंकी जन्तु का उत्कर्ष। पृथुपादी बहुसंख्यक। (प्रथम पृष्ठवंशी प्रस्तरावशेष)
	कैम्ब्रियन (साढ़े सात करोड़ वर्ष)	प्रथम बहुसंख्यक प्रस्तरावशेष। लगभग सब अपृष्ठवंशी प्रसृष्टियाँ विद्यमान। त्रिफंकी और पृथुपादी अत्यधिक बहुसंख्यक।

प्रथमजन्तुक (प्रोटेरोजोइक)—एक अरब २० करोड़ वर्ष पूर्व। प्रस्तारावशेष दुर्लभ और अलरक्षित।
आदिजन्तुक (आर्चियोजोइक)—दो अरब वर्ष पूर्व—प्रस्तरावशेष का सर्वथा अभाव। कदाचित् एककोषी उद्भिज।
अजन्तुक—(एजोइक)—तीन अरब वर्ष पूर्व—जीवनधारियों के प्रमाण का अभाव।

अपृष्ठवंशी जन्तुओं में सबसे हीन अवस्था के जन्तु एककोषी होते हैं। इनमें कशांग (कोड़ाधारी), अमीबा, झालरधारी जन्तु तो कोमल अङ्गों के कारण प्रस्तरावशेष प्रस्तुत कर सकने के सर्वथा अयोग्य ही हैं। अमीबावत् एककोषी जन्तुओं में कुछ में कठोर अङ्ग होने पर प्रस्तरावशेष संरक्षित होने की संभावना हो सकती है। बालुका या सिलिका निर्मित कंकाल के क्षुद्र एककोषी जन्तु रेडियोलारिया या अरसूत्रपाद गण (चक्रादंडीय पाद गण) अपना प्रस्तरावशेष पुराजन्तुक युग से आधुनिक काल तक प्रस्तुत करते आ रहे हैं। चूनम् या काल्सियमयुक्त पदार्थों से निर्मित कंकाल फोरामिनिफेरा या पादछिद्रिगण नाम के एककोषी क्षुद्र जन्तुओं में होता है जो पुरातन काल के, एककोषी जन्तुओं का सर्वोत्कृष्ट प्रस्तरावशेष प्रस्तुत करते हैं। कैम्ब्रियन काल में उत्तम रूप के पादछिद्रियों के प्रस्तरावशेष प्राप्त होते हैं और संख्या तथा प्रकार में वृद्धि ही करते हैं। अंततः क्रिटेशस काल में वे अत्यधिक बहुसंख्यक हो जाते हैं। उसके बाद अनेक वंशों की उत्पत्ति होती है जो आज भी पाई जाती हैं। टर्ट्रियरी या तृतीयक काल से आधुनिक काल तक क्रमशः प्राचीन रूपों का ह्रास होता रहा है और उनका स्थान आधुनिक रूप के पादछिद्री लेते गये हैं। प्रकारों में क्रमशः परिवर्तन होने और चूनम् या खटी निर्मित खप्परों (कर्परों) की बहुलता तथा व्यापकता होने के साथ ही इन प्रस्तरावशेषों के सहज संरक्षित हो सकने के साथ ही उनमें स्पष्ट पृथक हो सकने वाली आकृतियाँ तथा चिह्न होने से यह लाभ हुआ है कि उनको भिन्न समयों की शिलाएँ पहचानने के लिए सहायक बनाया जा सका है। शिलाकाल-निर्देशन के लिए इनको भौगर्भिकीय अध्ययन तथा शोधों के लिए एक उत्तम उपादान बनाया जा सका है।

पादछिद्रियों की तरह अन्य बहुत से प्रस्तराशेष भी शिलाकाल या शिलाक्रम-निर्धारण विधि में उपयुक्त होते हैं। उनमें अधिकांश बड़े आकार के होते हैं जैसे त्रिफंकी (ट्रिलोबायट्स) तथा पृथुपादी (ब्रेचिपाड्स) और वे ऐसी शिलाओं से प्राप्त हो सकते हैं जो खुली हों। किन्तु पादछिद्री जन्तुओं को क्षुद्र आकार का होने से धरातल की बहुत अधिक गहरी खुदाई कर भी अखंड रूप में प्राप्त कर अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है और शिलाओं का क्रमनिर्धारण सम्भव हो सकता है। इसके लिए नलकूपों की खुदाई ही यथेष्ट होती है। इसी कारण तेल कम्पनियाँ प्रस्तरावशेषविज्ञान-वेत्ताओं की सहायता लेकर तेल प्राप्त हो सकने वाले स्तरों के ठीक स्थान का पता लगाने का प्रयत्न करती हैं। ये विशेषज्ञ भिन्न-भिन्न शिलास्तरों में प्राप्त पादछिद्री जन्तुओं के प्रस्तरावशेषों की तुलना कर शिलाक्रम निर्धारित कर लेते हैं।

स्पंज या छिद्रिष्ट जन्तुओं के प्रस्तरावशेष कम ही मिलते हैं। किन्तु इनको बहुत ही दीर्घकाल की अवधियों में प्रसारित पाया जाता है। इनकी रचना करने वाले पदार्थ को क्षुद्र कटोरियाँ तो प्राक्कैम्ब्रियन काल में भी पाई जाती हैं। पूर्ण रूप के कंकाल कैम्ब्रियन काल से प्राप्त होते हैं।

आंतरगुही या मूँगानुमा जन्तुओं के प्रस्तरावशेष प्राक्कैम्ब्रियन काल से अब तक मिलते हैं। प्राक्कैम्ब्रियन काल के नमूने अवश्य ही दुर्लभ हैं। अमेरिका के मील भर तक गहरे महागर्त्तीय नाले में (ग्रैंड केनियन) पहले एक बार कोई नमूना प्राप्त होने के बाद कोई भी दूसरा नमूना नहीं प्राप्त किया जा सका, परन्तु एक अत्यन्त कोमल अङ्ग के जेली मत्स्य की छाप विलक्षण रूप में रक्षित मिल सकी है। यह आंतरगुही जन्तुओं की प्राचीनता सिद्ध करने का अद्भुत उदाहरण है। पाषाणचित्रक जन्तु का प्रस्तरावशेष भी विचित्र रूप में ही मिलता है। यह भी आंतरगुही श्रेणी का जन्तु था। इसकी झलक देने के लिए कार्बन की रेखाकृति-सी ही बनी मिलती है जो शिलास्तर में इसका आकार मसल जाने से कोयले की चित्रकारी सी ही जान पड़ती है। ये दलबद्ध क्षुद्र जन्तु थे। एक दंड के एक या दोनों ओर आरी के दाँतों के समान इनके एक-एक जन्तु का रूप चिन्हित पाया जाता है। एक-एक दाँता उस प्राचीन युग के एक-एक श्रृंगीय कंकाल का अवशेष ही है जो पंक्ति बनाकर एक दण्ड से बँधे हुए उपनिवेश की रचना-सी करते थे। ये जन्तु कालांतर में लुप्त हो गये।

केचुए या गंडूपाद सरीखे जन्तुओं के पूर्वजों में वलयित कृमि अपना महत्वपूर्ण प्रस्तरावशेष छोड़ गये हैं। परन्तु उनमें हमें जन्तु के कंकाल के स्थान पर केवल धरातल पर रेंगने से बने चिह्न तथा नन्हें बिल का ही नमूना मिलता है। उस क्षुद्र आधार पर ही इन जन्तुओं के रूप तथा विद्यमानता का अनुमान लगाना पड़ता है। इनके ये चिह्न प्राक्कैम्ब्रियन काल में प्राप्त हो सके हैं। मध्य कैम्ब्रियन काल से इन जन्तुओं के भव्य सुरक्षित प्रस्तरावशेष प्राप्त होते हैं जिनमें इनके पृथक-पृथक फाँकों के दृढ़ रोमों के झुंड संरक्षित मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि इनका यथेष्ट विकास प्राक्कैम्ब्रियन काल में ही हो चुका होगा।
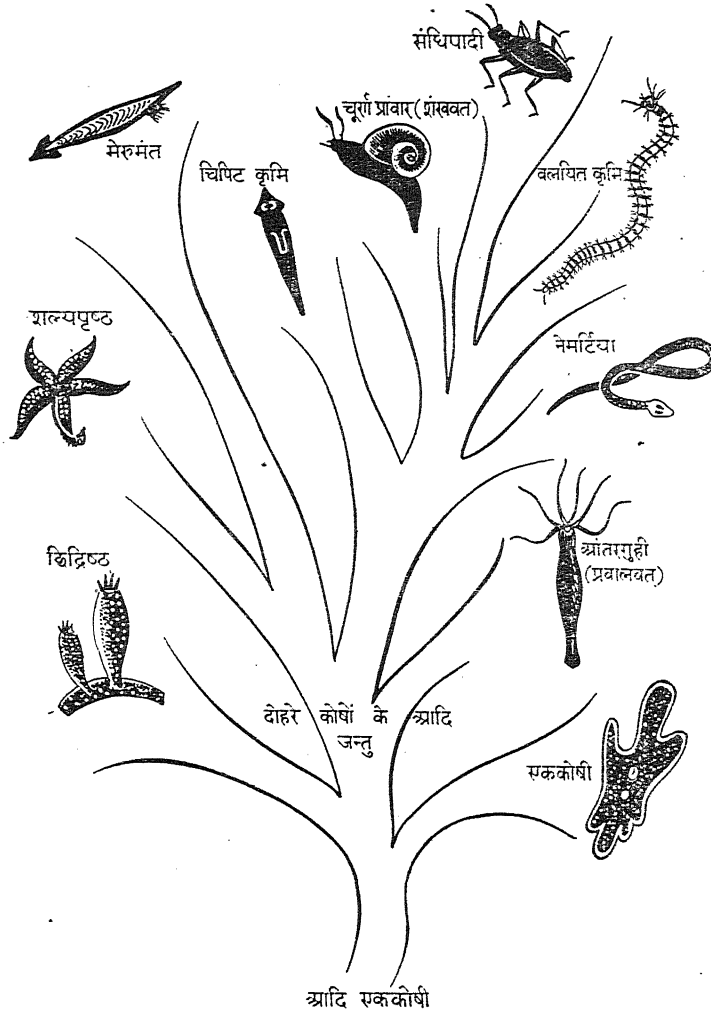
अपृष्ठवंशी जंतुओं की प्रसृष्टियाँ १—एककोषी, २—रन्ध्रिण, ३—आंतरगुही, ४ —पाषाण-चित्रक, ५—वलयित कृमि, ६—हरित जीव, ७—पृथुपादी, ८—शल्यपृष्ठ, ९ —चूर्णप्रावार. १०—संधिपादी,

हरित जीव (ब्रियोजोआ) पहले-पहल आर्डोवीसियन काल में दिखाई पड़ते हैं। उन समय से अब तक ये बहुसंख्यक मिलते हैं। पुराजन्तुक युग में ही इस प्रसृष्टि की डेढ़ हजार जातियाँ ज्ञात होती हैं। मध्यजन्तुक युग में हजार जातियाँ पाई जाती हैं। नवजन्तुक युग तथा वर्तमान काल में उनमें हजारों जातियों की वृद्धि पाई जाती है। इनका उपनिवेश वृहद आकार बनाये दिखाई पड़ सकता है जो चित्र रूप में देखने पर टूटी टहनियों का खंड ही प्रतीत होता है। किन्तु एक-एक पृथक जन्तु का रूप सूक्ष्मदर्शकीय होता है। अतएव पादछिद्री जन्तुओं की भाँति इन क्षुद्रकाय व्यक्तिगत आकारों से भी शिला-क्रम निर्धारण में सहायता मिल सकती है। पुराजन्तुक युग के दो हरित जीवी वर्ग पूर्णतः लुप्त हो गये। एक वर्ग जो आर्डोवीसियन काल में भी विद्यमान था और जो कभी भी बहुसंख्यक न बना, उनके जीवित प्रतिनिधि आज भी पाये जाते हैं। किन्तु जिस वर्ग के हरितजीवी जन्तु आज के सर्वाधिक वर्तमान रूप हैं, उसकी उत्पत्ति जुरासिक काल में हुई थी।
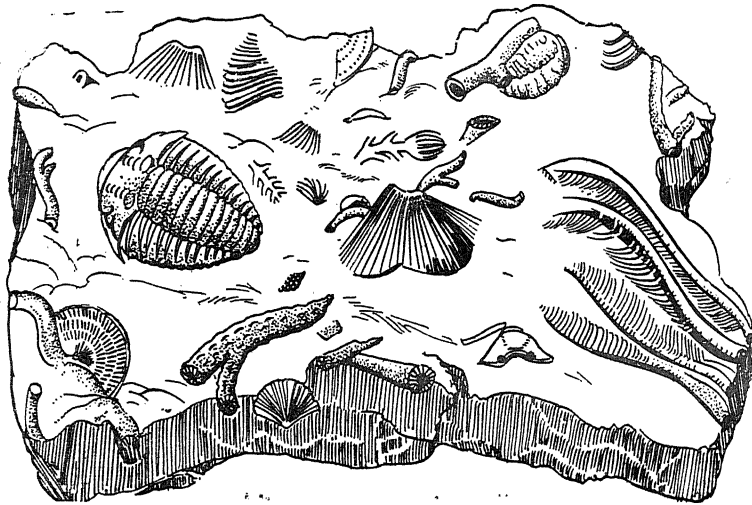
पुराजंतुक युग के अपृष्ठवंशी जंतु

पृथुपादी जन्तु आज अत्यन्त नगण्य समझे जाते हैं किन्तु भूत-काल की भी बात की जाय तो इस प्रसृष्टि के जन्तुओं को सबसे अधिक बहुसंख्यक, सबसे अधिक पूर्ण और सबसे अधिक भव्य रूप में संरक्षित प्रस्तरावशेष रखने का उदाहरण रखते पाया जाता है। इन जन्तुओं में कठोर खप्पर (कर्पर) ही नहीं होता था, प्रत्युत ये उथले समुद्र में रहते थे इस कारण प्रस्तरावशेष संरक्षित हो सकने का अधिक उपयुक्त अवसर होता था। फलतः इनके प्रस्त-रावशेष इतने बहुसंख्यक पाये जाते हैं कि जिन शिलाओं में उन्हें विद्यमान पाया जाता है, उन शिलाओं की अधि-कांश रचना इनके ही अवशेषों से हुई पाई जाती है। इन जन्तुओं का प्राचीनतम रूप कैम्ब्रियन काल में रक्षित पाया जाता है। इस काल का अन्त होने तक इस प्रसृष्टि के पाँच गणों (संविभागों) में से चार की उत्पत्ति हो चुकी थी। इनमें लिंगुला प्रजाति के जन्तु आज भी विद्य-मान पाये जाते हैं। इनकी श्रेणी आपेक्षिक रूप में अविक-सित होने पर भी प्राधान्य स्थापित कर सकी थी। इस प्रसृष्टि की ४५० प्रजातियाँ पुराजन्तुक युग में, १८० प्रजातियाँ मध्यजन्तुक युग में तथा केवल ७५ प्रजातियाँ नवजन्तुक युग से अब तक फैली पाई जाती हैं।

इन संख्याओं से हम इनके प्रसार-क्रम को समझ सकते हैं। इनकी ३००० जातियाँ आर्डोवीसियन तथा सिलूरियन कालों में पाई जाती थीं, परन्तु पुराजन्तुक युग में इतनी अधिक संख्या की जातियों के प्रसार रहने पर भी आज केवल २०० जातियाँ ही जीवित पाई जाती हैं।

चूर्णप्राधार या शंखनुमा जन्तु कठोर खप्पर (कर्पर) युक्त होते हैं और केवल संधिपादी जन्तुओं की ही जातियों की संख्या में इससे बढ़ा हुआ पाया जाता है। शंखनुमा जन्तुओं को अविच्छिन्न रूप में बहुसंख्यक और स्पष्ट प्रस्तरावशेषों की शृङ्खला कैम्ब्रियन काल से लेकर अब तक रखते पाया जाता है। इस प्रसृष्टि के आधुनिक रूप में सबसे अधिक अविकसित ऐम्फिन्यूरेंस है किन्तु प्रस्तरावशेष आर्डोवीसियन काल से पहले प्राप्त नहीं होते। इनको उस समय से अब तक लगभग १०० जातियों के प्रस्तरावशेष प्रस्तुत करते पाया जाता है इसलिए इनको संख्या की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करते नहीं पाया जा सकता। इनके अतिरिक्त अन्य श्रेणियों के भी शंखनुमा जन्तु हैं जिनकी हजारों जातियाँ भूत तथा वर्तमान कालों में पाई जाती हैं। आर्डोवीसियन काल में १५ फुट लम्बे कर्पर के प्रस्तरावशेष मिलते हैं जिसके बराबर किसी भी अन्य अपृष्ठवंशी का खप्पर किसी युग में नहीं पाया जा सकता।

संधिपादी जन्तु अपृष्ठवंशी जन्तुओं में सबसे उन्नत पाये जाते हैं। इनकी उत्पत्ति प्रागकैम्ब्रियन काल में हुई होगी क्योंकि कैम्ब्रियन काल के प्रारम्भ में संधिपादी जन्तुओं के तीन वर्ग उन्नत रूप में विद्यमान पाये जाते हैं।

संधिपादी जन्तुओं में सबसे अधिक बहुसंख्यक जन्तु तीन फाकों वाले जन्तु त्रिफंकी या ट्रिलोबायटस थे। कैम्ब्रियन काल के कुल प्रस्तरावशेषों में से आधे से भी अधिक इनके ही प्रस्तरावशेष हैं। इन आरंभिक संधिपादी जन्तुओं ने अभूतपूर्व सफलता तो प्राप्त की ही, किन्तु इनके बहुसंख्यक प्रस्तरावशेष मिलने का यह भी आर्थिक कारण प्रतीत होता है कि ये बराबर अपनी कड़ी खोल उतार देने (त्वचामोचन) की क्रिया करते थे इस कारण इनकी बहुसंख्यक कड़ी खोलें (कर्पर) प्रस्तरावशेष बनकर संख्या बढ़ा सकती थी। इनके त्रिफंकी नाम का यह कारण है कि दो लम्बोतरी नलियों द्वारा तीन फाँकों में पृष्ठतल विभाजित हो जाता था। आड़े रूप में बदन के तीन टुकड़े थे; एक सिर, दूसरा मध्य का चमकीला भाग या वक्ष, तीसरा उदर या पिछला भाग।

त्रिफंकी जन्तुओं का वर्णन प्राचीन विलुप्त जीवों के वर्णन में पढ़ने को मिल सकता है। ये एक से तीन इंच तक लम्बे होते थे परन्तु कुछ का आकार दो फुट तक लम्बा पाया जाता है। ये कदाचित् समुद्रजीवी जन्तु ही थे। ये उथले पानी में पेंदे पर रेंगते जीवन व्यतीत करते होंगे। ये कैम्ब्रियन काल के प्रमुख अपृष्ठवंशी जन्तु थे। उनका प्रसार आर्डोवीसियन काल तक था किन्तु बाद में इनका ह्रास होने लगा। डेवोनियन काल के पश्चात् ये अलभ्य हो गये। परमियन काल में तो रहे-सहे जन्तुओं का भी सर्वथा लोप हो गया। आर्डोवीसियन काल में शंखनुमा (चूर्ण प्रावार) जन्तुओं में दीर्घकाय शीर्षपादी के विपक्ष त्रिफंकियों का ह्रास होते जाने की घटना अप्रासंगिक नहीं होगी। दीर्घकाय शीर्षपादी जन्तु और मछलियों द्वारा त्रिफंकी आहार बनने लगे होंगे अतएव जीवन संघर्ष में वे टिक न सके होंगे।

त्रिफंकियों के स्थान पर कदाचित् संधिपादी जंतुओं की अन्य श्रेणियाँ उत्पन्न हुईं किन्तु वे कठिनी (केकड़ानुमा) जंतुओं से अधिक मिलती जान पड़ती हैं। निम्न कैम्ब्रियन शिलाओं में केकड़ानुमा जंतुओं के अधिक अविकसित रूपों के पूर्वज अपना प्रस्तरावशेष प्रकट करते हैं। परन्तु बड़े आकार के केकड़ेनुमा जंतु जैसे केकड़े, झींगे आदि मध्यजंतुक युग के मध्यकाल के पहले नहीं दिखाई पड़ते।

जलीय अष्टपादी सम संधिपाद जंतु कैम्ब्रियन में हुए किन्तु उनका एक मात्र जीवित प्रतिनिधि लिमुलस प्रजाति अर्थात् राज कर्कट है। आज से बीस करोड़ वर्षों पूर्व के ट्रयासिक काल से आज तक उसमें परिवर्तन नहीं हुआ है। इन अष्टपादी तुल्य विलुप्त जंतुओं में सबसे विलक्षण जंतु यूरीप्टेरिड्स या भीम संधिपादी था जिसके किसी जंतु का आकार दस फुट लम्बा पाया जाता था। यह किसी भी युग में पाये जाने वाले संधिपादी जंतु का सबसे

बड़ा रूप है। यह कहना कठिन है कि ये जंतु समुद्रजीवी या नदी-तालाबों में ही रहते थे जहाँ से प्रवाहित होकर समुद्रों में पहुँचे हों और अपने प्रस्तरावशेष संरक्षित करने का अवसर दे सके हों। वे कदाचित् अधिकांशतः पेंदे में ही रहते थे किन्तु दो डाँड़नुमा बड़े अङ्ग बने दिखाई पड़ने से ज्ञात होता है कि ये तैर भी सकते होंगे। यूरीप्टेरिड्स नाम के ये संधिपादी जंतु कैम्ब्रियन काल से लेकर सिलूरियन और डेवोनियन काल तक प्रसारित थे। परन्तु त्रिफंकियों की भाँति पुराजंतुक युग के अन्त में विलुप्त हो गये।

प्रथम स्थलचारी जन्तु यथासम्भव खुली हवा में साँस ले सकने वाले अष्टपादी जन्तु होंगे जो कुछ अंशों में भीम संधिपादी (यूरीप्टेरिड्) समान ज्ञात होते हैं। लिमुलस या राज केकड़े की भाँति गलफड़े या कंठचीर से श्वास लेने की व्यवस्था से बिच्छू की भाँति फेफड़े द्वारा श्वास लेने की व्यवस्था में परिवर्तन होने के लिये थोड़े हेर-फेर की ही आवश्यकता हो सकती है।

अन्य स्थलचारी जन्तुओं की ही भाँति स्थलचारी संधिपादी जन्तुओं के प्रस्तरावशेष भी अत्यल्प हैं। उससे उन समयों में वर्तमान रहने वाले जन्तुओं के जाति की संख्या तथा विभिन्न श्रेणियों के उत्पन्न होने के प्राचीनतम समय का आभास नहीं मिल पाता। लगभग पाँच लाख जीविति जातियाँ संधिपादी प्रसृष्टि में आज पाई जाती हैं, किन्तु प्रस्तरावशेषों में केवल कुछ हजार जातियाँ ही मिल सकी हैं। इनमें से अधिकांश ऐसे विशेष क्षेत्रों से ही प्राप्त हुई हैं जहाँ प्रस्तरावशेष निर्माण बहुत ही असाधारण स्थिति में हो सका। योरप के बाल्टिक क्षेत्रों में अम्बर में इनके प्रस्तरावशेष सुलभ हो सके हैं। अमेरिका में कोलारेडो में फ्लोरिसेंट नाम की जगह कीटों के प्रस्तरावशेष प्राप्त करने के लिये सर्वोत्तम है जहाँ ज्वालामुखी के उद्‌गार से निर्गत भस्म प्राचीन काल में स्थलचारी कीटों को एक झील में पहुँचा कर पेंदे के कीच में समाधिस्थ कर सका। प्रस्तरावशेष निर्मित होने की भारी कठिनाई होने पर भी सहस्रपदी संधिपादी डेवोनियन काल की शिलाओं में और शतपदी तथा कीट पूर्वार्द्ध कार्बोनिफेरस काल की शिलाओं में प्राप्त हो सके हैं। समस्त आदिम कीट अब विलुप्त हो चुके हैं और कुछ थोड़ी संख्या के ही आधुनिक कीट पुराजन्तुक युग में भी पाये जाने वाली किसी श्रेणी या गण से सम्बन्ध रखने वाले मिल सकते हैं।

अपृष्ठवंशियों की चर्चा में शल्यपृष्ठ जन्तुओं का भी कुछ उल्लेख आवश्यक है। इनमें अधिकांश चूना के तत्व की कड़ी पट्टी का कंकाल रखते हैं और उथले जल के निवासी हैं अतएव इनके प्रस्तरावशेष यथेष्ट प्राप्त हैं। प्राचीनतम शल्यपृष्ठ स्थावर रूप के थे और पेंदे में जमे से पड़े रहते थे। वे सीधे ही या किसी तने या दंड द्वारा पेंदे से चिपके रहते थे। तारक मत्स्य, सर्पतारक, शल्यगोल और समुद्र ककंटी आदि पुराजन्तुक काल के स्वतन्त्र प्लवक शल्यपृष्ठ जन्तु उस समय के स्थावर शल्यपृष्ठों की अपेक्षा संख्या और जातियों के भेद की दृष्टि से गौण रूप के थे किन्तु प्रारम्भिक मध्यजन्तुक युग में उनकी तीव्रता से प्रगति हुई और तब से इन्हें प्रधानता का पद अब तक मिला है।*

---

*"कीट-पतंगों का संसार" मूल्य ४) ● किताब महल, इलाहाबाद

विज्ञान परिषद् की प्रगति के साथ परिषद् की नियमावली में यत्रतत्र परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। परिषद् की कार्यकारिणी समिति ने अपनी १४ दिसम्बर १९५६ की बैठक में नियमावली में आवश्यक संशोधनों पर विचार करके एक नवीन नियमावली प्रस्तावित की है। यह प्रस्तावित नियमावली परिषद् के आजीवन सभ्यों और सभ्यों की सेवा में विचारार्थ भेजी जा रही है। परिषद् के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर इस प्रस्तावित नियमावली पर विचार-विमर्श होने के पश्चात् संशोधित नियमावली आवश्यक परिवर्तनों के साथ स्वीकृत कर ली जावेगी।

भवदीय

डा० रामदास तिवारी

प्रधान मंत्री

विज्ञान परिषद्

विज्ञान परिषद् प्रयाग

की

प्रस्तावित

नियमावली

(सन् १८६० के ऐक्ट २१ द्वारा मान्य)

सन् १९१३ में संस्थापित

संस्था का नाम और उद्देश्य

१—इस संस्था का नाम "विज्ञान परिषद् प्रयाग" है और इसी नाम का उपयोग समस्त व्यवहारों और प्रतिज्ञा-पत्रों में होगा। इस नियमावली में जहाँ कहीं भी "परिषद्" शब्द का प्रयोग है, उसका अभिप्राय "विज्ञान परिषद् प्रयाग" से है।

२—परिषद् के निम्न उद्देश्य हैं :—

(क) भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य की रचना,

(ख) वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार,

(ग) वैज्ञानिक अध्ययन और वैज्ञानिक अनुसन्धान के कार्य को प्रोत्साहन, और

(घ) देश की वैज्ञानिक समस्याओं के संबंध में विचार-विमर्श और परामर्श।

संस्था का सहयोग और सम्पर्क

३—धारा (२) में दिए गए उद्देश्यों की पूर्ति के हित परिषद् भारत की और अन्य देशों की इसी प्रकार की संस्थाओं के साथ सहयोग और सम्पर्क रक्खेगी, और उन संस्थाओं के साथ प्रतिनिधिओं का विनिमय करेगी, और आवश्यकतानुसार इस सम्बन्ध में उपनियम बनावेगी।

सदस्यता

४—परिषद् के सदस्यों को "सभ्य" कहा जायगा।

५—ये सभ्य पाँच कोटि के होंगे :—

(क) नियमित ६) रुपया वार्षिक शुल्क देने वाले साधारण सभ्य,

(ख) एक साथ १००) शुल्क देने वाले आजीवन सभ्य,

(ग) एक सहस्र रुपया या इससे अधिक राशि दान देने वाले संरक्षक सभ्य,

(घ) विज्ञान-सेवा के उपलक्ष में बनाए गए आजीवन प्रतिष्ठित सभ्य, जिनसे कोई चन्दा नहीं लिया जायगा और ऐसे सभ्यों की संख्या २५ से अधिक न होगी।

(ङ) संस्था-सदस्य अर्थात् २००) एक साथ शुल्क देकर शिक्षणालय और विज्ञान-प्रेमी संस्थायें भी २० वर्ष के लिये सदस्यता प्राप्त कर सकती हैं, अथवा ये संस्थायें २०) देकर एक वर्ष के लिये सदस्यता प्राप्त कर सकती हैं।

६—परिषद् की साधारण सभा को यह अधिकार होगा, कि वह धारा (५) में दिए गए शुल्कों और धन-राशियों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सके।

७—प्रत्येक सभ्य का वार्षिक शुल्क वर्ष के प्रारम्भ में लिया जायगा, वर्ष का प्रारम्भ इस कार्य के लिये १ ली अप्रैल से माना जायगा।

८—सभ्य बनते समय प्रत्येक आजीवन और साधारण सभ्य को ३) प्रवेश शुल्क देना होगा। यदि किसी

सभ्य पर २ वर्ष का शुल्क बकाया रह जाय, तो अंतरंग सभा की स्वीकृति पर उसका नाम सदस्यता की सूची से पृथक् कर दिया जायगा। दोबारा प्रवेश शुल्क लेकर ही उसको फिर सभ्य बनाया जा सकेगा।

९—जिन सभ्यों ने वर्ष का शुल्क पूरा दे दिया है, वे ही साधारण सभा में मत देने के अधिकारी होंगे, और उन्हें ही उस वर्ष के प्रकाशन प्राप्त करने का अधिकार होगा। शुल्क का बकाया चुकता करने पर ही वे सभ्य तत्संबंधी पूर्व वर्षों के प्रकाशन प्राप्त कर सकेंगे।

१०—धारा (५) में दिए गए सभी कोटि के सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशनों में उपस्थित रहने का, तथा अपना मत देने का, निर्वाच्य सज्जनों के लिये प्रस्ताव करने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित सब पुस्तकों, पत्रों, विवरणों आदि का रियायती अथवा बिना मूल्य पाने का अधिकार होगा। सभ्यों को केवल "विज्ञान" मासिक पत्रिका बिना मूल्य मिलेगी, पर यदि परिषद् ने शोधादि संबंधी कुछ विशेष पत्रिकायें निकालीं, तो उनके प्राप्त करने और ग्रहक बनने के विशेष उपनियम होंगे। किसी विशेष प्रकाशन के संबंध में भी परिषद् की अंतरंग सभा ऐसे विशेष उपनियम बना सकती है, जिनके अनुसार सभ्यों को उन प्रकाशनों के प्राप्त करने का अधिकार हो। परिषद् के सभ्यों को अपने सदस्यता-काल से पूर्व की प्रकाशित पुस्तकें, अथवा अपने समय की प्रकाशित पुस्तकों की एक से अधिक प्रतियाँ तीन-चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

११—परिषद् के सभ्यों को परिषद् के पुस्तकालय की पुस्तकों के व्यवहार का भी अधिकार होगा, और इस संबंध में परिषद् विशेष नियम भी बना सकेगी।

१२—परिषद् के साधारण अधिवेशनों में कोई सभ्य अपने साथ दो व्यक्तियों को आमंत्रित करके भी ला सकता है। ऐसे आमंत्रित सज्जनों के नाम उनके लाने वाले सभ्यों के नाम के साथ एक रजिस्टर में अंकित किए जायेंगे।

१३—परिषद् के सभ्यों को ही अधिकार होगा, कि वे नए सभ्यों के नाम सदस्यता के लिये प्रस्तावित करें, और इन नामों का समर्थन प्रस्तावक के अतिरिक्त किसी एक अन्य सभ्य द्वारा किया जाना आवश्यक होगा।

१४—परिषद् की अंतरंग सभा इन प्रस्तावित नामों को बहुमत से स्वीकार करेगी, और परिषद् के वार्षिक साधारण अधिवेशन में इन नामों की सूची प्रस्तुत की जायगी।

१५—शुल्क बकाया रहने के अतिरिक्त अन्य कारणों द्वारा कोई सभ्य परिषद् की सदस्यता से तभी अलग किया जा सकेगा, जब इसी कार्य के लिये आयोजित साधारण सभा के उपस्थित सदस्यों में से तीन-चौथाई उसके अलग किए जाने के पक्ष में हों।

१६—यदि कोई साधारण सभ्य किसी समय आजीवन सदस्य बनना चाहे, तो उसके आजीवन शुल्क की राशि में से उतने वर्षों का आधा शुल्क क्षमा कर दिया जायगा, जितने वर्ष वह लगातार साधारण सभ्य रह चुका है, और साधारण सदस्यता का शुल्क अदा कर चुका है।

१७—परिषद् के किसी भी सभ्य को यह अधिकार होगा, कि वह जब चाहे त्यागपत्र दे दे। उसे अपने त्यागपत्र की स्वीकृति से पूर्व का पूरा शुल्क अदा करना होगा।

१८—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी ये सभ्य माने जायेंगे—

परिषद् के अधिकारी और उनके कर्तव्य

१९—परिषद् के निम्न अधिकारी सभ्यों में से निर्वाचित होंगे—

(क) सभापति

(ख) उपसभापति—पूर्व वर्षों के सभी सभापति पद से हटने के बाद परिषद् के आजीवन उपसभापति (पदेन) रहेंगे। इन उपसभापतियों के अतिरिक्त दो उपसभापति निर्वाचन द्वारा।

(ग) कोषाध्यक्ष

(घ) प्रधान मंत्री

(ङ) दो संयुक्त मंत्री

(च) पुस्तकालयाध्यक्ष

(छ) पत्रिकाओं और विशेष कार्यों के प्रधान सम्पादक

२०—अधिकारियों के अतिरिक्त परिषद् के कार्य्य संचालन के लिए एक अंतरंग सभा रहेगी, जिसके चार अंतरंगी प्रयाग के होंगे, और चार प्रयाग से बाहर के। इन बाहरी अंतरंगियों के अतिरिक्त परिषद् की ऐसी प्रत्येक शाखा का एक प्रतिनिधि भी अंतरंगी माना जायगा, जिस शाखा में ५० या इससे अधिक सदस्य होंगे। जिन साहित्यिक और वैज्ञानिक संस्थाओं में परिषद् का प्रतिनिधित्व है, उनके प्रतिनिधि भी अंतरंग सभा के सदस्य बनाए जा सकेंगे।

२१—पदाधिकारियों और अंतरंग सभा के सदस्यों का निर्वाचन परिषद् के साधारण वार्षिक अधिवेशन में होगा, और निर्वाच्य नामों की प्रस्तावना परिषद् की अंतरंग सभा अपने इसी काम के लिये आयोजित एक अधिवेशन में करेगी। प्रस्तावित नामों की यह सूची मत देने के लिए परिषद् के सभी कोटि के सभ्यों के पास निर्वाचन तिथि से कम से कम दो सप्ताह पूर्व कार्य्यालय से भेजी जायेगी। ये मत पत्र साधारण वार्षिक सभा में सभापति की आज्ञा से गणना के लिये प्रस्तुत किए जायेंगे। सभापति गणना का यह कार्य्य अधिवेशन में उपस्थित दो सभ्यों द्वारा करावेगा और मत से निर्वाचित नामों की घोषणा करेगा।

२२—मतगणना की पद्धति और उस संबंधी उपनियम परिषद् की साधारण सभा समय समय पर बना सकती है, पर इस संबंध में सभी संशोधनों की घोषणा मतपत्रों के पहुँचने से पूर्व परिषद् को विज्ञप्ति द्वारा देनी होगी।

२३—परिषद् के किसी भी सभ्य को यह अधिकार होगा कि पदाधिकारियों और अंतरंगियों के लिए कोई भी नाम प्रस्तावित करके अंतरंग सभा के पास विचारार्थ भेजे। ये नाम ३१ दिसम्बर तक प्रधान मंत्री के पास पहुँच जाने चाहिये।

२४—निर्वाचन संबंधी साधारण वार्षिक अधिवेशन सुविधानुसार जनवरी या फरवरी मास में हुआ करेगा; और नए निर्वाचित पदाधिकारी १ अप्रैल से कार्यभार सँभालेंगे।

सभापति—

२५—परिषद् के संचालन का समस्त उत्तरदायित्व सभापति पर होगा, और अनिवार्य परिस्थितियों में सभापति अंतरंग सभा को स्थगित कर सकता है अथवा किसी पदाधिकारी का कार्यभार अपने ऊपर ले सकता है, पर ऐसा करने के २ मास के भीतर ही उसे साधारण सभा द्वारा उचित व्यवस्था करा लेनी पड़ेगी।

२६—सभापति का कर्तव्य होगा कि परिषद् के तथा अंतरंग सभा के अधिवेशनों में अध्यक्षता करे और व्यवस्थापूर्वक इन अधिवेशनों का संचालन करें।

२७—कोई सभ्य लगातार तीन बरस से अधिक बराबर परिषद् का सभापति चुना नहीं जा सकेगा।

२८—सभापति का पद अकस्मात् खाली हो जाने पर परिषद् की अंतरंग सभा किसी उपसभापति को शेषकाल के लिए चुन लेगी जो सभापति के पूरे अधिकार रक्खेगा और उसके कर्त्तव्यों का पालन करेगा।

उपसभापति—

२९—जो व्यक्ति एकबार सभापति रह चुका है, वह अपने पद से हटने के बाद परिषद् का आजीवन उपसभापति (पदेन) रहेगा। सदस्यता का शुल्क न देने पर ही उसका नाम इस पद से हटाया जा सकेगा।

३०—पदेन उपसभापतियों के अतिरिक्त दो उपसभापतियों का निर्वाचन परिषद् की साधारण सभा अपने वार्षिक अधिवेशन में करेगी।

३१—सभापति की अनुपस्थिति में उपसभापतियों में से कोई अधिवेशनों की अध्यक्षता करेगा। सभी उपसभापतियों की अनुपस्थिति में कोई भी सदस्य अध्यक्षता के लिए अधिवेशन में प्रस्तावित किया जा सकता है।

३२—आवश्यकता पड़ने पर सभापति की स्वीकृति से अंतरंग सभा अपने उपसभापतियों में से किसी को पूरे वर्ष के लिए अथवा थोड़े समय के लिए कार्यवाहक सभापति बना सकती है। कार्यवाहक सभापति को सभापति के पूर्ण अधिकार होंगे।

कोषाध्यक्ष

३३—(क) परिषद् को जो पाना है वह रुपया कोषाध्यक्ष लेगा और अंतरंग सभा की स्वीकृति के अनुसार प्रधान मंत्री को जितने रुपये की आवश्यकता होगी कोषाध्यक्ष देगा।

(ख) रुपयों के लेन-देन और जमा खर्च का लेखा कोषाध्यक्ष रक्खेगा। लेखा के लिए वर्ष का प्रारम्भ १ ली अप्रैल से प्रारम्भ होगा और ३१ मार्च को वर्ष पूरा माना जायगा।

(ग) कोषाध्यक्ष अलग बही में परिषद् को विशेष कार्य के लिए प्रदान किये हुए द्रव्य का और स्थायी सभ्य होने वालों के चन्दे का हिसाब, परिषद् की साधारण आय से भिन्न रक्खेगा।

(घ) वर्ष के प्रारम्भ में कोषाध्यक्ष अन्तरंग सभा के अधिवेशन में उस वर्ष में होने वाले अनुमानिक आय-व्यय के विवरण को स्वीकृति के लिए उपस्थित करेगा।

(ङ) साधारण खर्च के लिए पचास रुपये तक अपने पास रखकर परिषद् का शेष रुपया कोषाध्यक्ष परिषद् की बंक में रक्खेगा।

(च) किसी विशेष उद्देश्य के लिए दान मिले हुए रुपये का मूलधन तथा स्थायी सदस्यों के एकमुष्टि चन्दे का रुपया व्याज पर जमा करेगा।

३४—परिषद् की सम्पत्ति, और बैंकादि की निधियों, कैशसर्टिफिकेटों, सिक्यूरिटियों और इस सम्बन्ध के प्रतिज्ञापत्रों पर कोषाध्यक्ष परिषद् की ओर से हस्ताक्षर करेगा।

मंत्री

३५—मंत्रिगण परिषद् के एवं अन्तरङ्ग सभा के सब अधिवेशनों में उपस्थित रहेंगे, कार्यवाही का संक्षित विवरण रक्खेंगे, और उसे आगामी अधिवेशन में उपस्थित करेंगे और पढ़ेंगे। लेखक की प्रार्थना पर अन्तरंग सभा में आए हुए वैज्ञानिक लेखों को सुनायेंगे और परिषद् सम्बन्धी पत्र-व्यवहार का प्रबन्ध करेंगे।

३६—कार्यालय का समस्त भार मंत्रियों पर रहेगा और उनकी अधीनता में कार्यालय के कर्मचारी कार्य करेंगे।

३७—(क) प्रधान मंत्री के परामर्श से परिषद् के कार्यों का विभाजन सब मंत्रियों में किया जायगा। इस कार्य-विभाजन की स्वीकृति प्रधान मंत्री अंतरंग सभा से लेगा।

(ख) विशेष विवादास्पद परिस्थितियों में परिषद् का सभापति कार्य-विभाजन के सम्बन्ध में अपना निर्णय देगा, और यह निर्णय मान्य समझा जायगा।

(ग) कार्यालय के वैतनिक कर्मचारियों की नियुक्ति मंत्रियों के परामर्श से परिषद् की अंतरंग सभा करेगी।

३८—प्रतिवर्ष परिषद् के वार्षिक अधिवेशन में एक लेखापरीक्षक नियुक्त किया जायगा। वह कोषाध्यक्ष के लेखों की जांच करेगा और अपना विवरण देगा। कोषाध्यक्ष यह विवरण अपने समाधानों सहित परिषद् की अंतरंग सभा में और परिषद् के आगामी वार्षिक अधिवेशन में उपस्थित करेगा। लेखा-परीक्षक को सभी आवश्यक बहियों और काग़जों के मांगने और देखने का अधिकार होगा। अंतरंग-सभा का कोई भी सभासद् लेखा-परीक्षक नहीं हो सकता।

३९—किसी विशेष निधि के आय-व्यय के लेखा का परीक्षण परिषद् सरकारी परीक्षकों से उचित शुल्क देकर या निःशुल्क भी करा सकती है।

सम्पादक—

४०—परिषद् की पत्रिकाओं, शोधपत्रों और मुखपत्रों एवं अन्य साहित्यिक कार्यों के सम्पादन का भार उस काय के लिये अंतरंग सभा द्वारा नियुक्त प्रधान संपादकों और सम्पादक मंडल पर रहेगा। अंतरंग सभा आवश्यकतानुसार इस कार्य के लिए वैतनिक सहायकों की भी नियुक्ति कर सकेगी।

४१—सम्पादकों के परामर्श से अंतरंग सभा लेखकों के पारिश्रमिक और प्रकाशन की व्यवस्था के संबंध में उपनियम बनावेगी, और प्रकाशनों की नीति निर्धारित करेगी।

अंतरंग-सभा—

४२—परिषद् का कुल कार्य अंतरंग सभा द्वारा होगा जिसके सदस्य धारा १६ और २० में दिए गए अधिकारी और अंतरंगी होंगे। अंतरंग सभा के किसी भी अधिवेशन के लिए कम से कम ३ सभासदों की उपस्थिति आवश्यक होगी।

४३—परिषद् के साधारण अधिवेशन के ठीक पहिले, उसी दिन, अंतरंग सभा का सामान्य अधिवेशन हुआ करेगा। दो सभ्यों के हस्ताक्षरयुक्त प्रार्थनापत्र पाने पर अथवा अपनी ही समझ के अनुसार सभापति अंतरंग सभा के असाधारण अधिवेशन को बुलाने का अधिकार होगा। ऐसे अधिवेशन की सूचना देने के लिए सभापति मंत्रियों को आदेश करेगा। अधिवेशन के लिए एक सप्ताह की सूचना आवश्यक होगी। सामान्यतः अन्तरंग सभा के सन्मुख समुपस्थित विषयों का निर्धारण हाथ उठाने की रीति से किया जायगा, यदि कोई विशेषतः गोली द्वारा विषय-निर्धारण का आग्रह न करे। अंतरंग सभा में उपस्थित विषय में जिस किसी सभासद का व्यक्तिगत स्वार्थ होगा, उसके विचारकाल में उसे अंतरंग सभा से उठ जाना होगा।

४४—परिषद् विषयक साधारणतः सभी कार्यों का पूर्व वर्ष का विवरण तैयार कराकर अंतरंग सभा परिषद् के वार्षिक अधिवेशन में उपस्थित करावेगी और पढ़वावेगी, तथा यह विवरण या उसका सारांश अंतरंग सभा के आदेश से सभ्यों में वितरणार्थ छपेगा।

४५—नियमों में परिवर्तन का प्रस्ताव अंतरंग सभा करेगी, परन्तु जब तक परिषद् के अगले वार्षिक अधिवेशन में अथवा इसी निमित्त बुलाए गए सभ्यों के विशेष अधिवेशन में उसका समर्थन न हो लेगा, ये परिवर्तन व्यवहार में न आयेंगे।

वार्षिक अधिवेशन और असाधारण अधिवेशनः—

४६—(क) परिषद् का वार्षिक साधारण अधिवेशन जनवरी मास के लगभग हुआ करेगा और उसमें अग्रिम वर्ष के कार्यकर्त्ताओं का निवार्चन होगा तथा परिषद् की स्थिति पर अंतरंग सभा का विवरण उपस्थित होगा।

(ख) इन साधारण अधिवेशनों के कार्य्य का आरम्भ कम से कम ७ सभ्यों की उपस्थिति पर हो सकेगा। इस संख्या से कम की उपस्थिति होने पर अधिवेशन स्थगित कर दिया जायगा।

४७—वार्षिक अधिवेशन की सूचना समाचार पत्रों में छपने को भेजी जायगी और सभ्यों को विशेष रूप से पत्र द्वारा दी जायगी।

४८—परिषद् के वार्षिक अधिवेशन साधारणतया परिषद् के प्रधान कार्यालय प्रयाग में हुआ करेंगे, परन्तु आमंत्रित किए जाने पर ये अधिवेशन प्रयाग से बाहर अन्यत्र भी किए जा सकेंगे।

४९—परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों का कार्यक्रम साधारणतः निम्न होगा, और इसकी व्यवस्था परिषद् की अंतरंग सभा करेगी—

(क) सभापति द्वारा कोई सूचना या विज्ञप्ति

(ख) गत अधिवेशन के संक्षिप्त कार्यविवरण का पढ़ा जाना और स्वीकृत होना।

(ग) वैज्ञानिक लेखों का पढ़ा जाना और उन पर विचार

(च) सभापति की स्वीकृति पर कोई और कार्य।

(छ) निर्वाचन संबंधी मतगणना।

(ज) कोई सुबोध व्याख्यान।

५०—अंतरंग सभा की प्रार्थना पर या आधे सभ्यों की प्रार्थना पर सभापति परिषद् के असाधारण अधिवेशन का आवाहन कर सकेगा। किन्तु ऐसे अधिवेशन की कम से कम १५ दिन की सूचना या तो पूर्व अधिवेशन में अथवा सब स्थानीय सदस्यों को पत्र द्वारा दी जायगी। यदि अंतरंग सभा ने चाहा तो बाहरी सदस्यों को भी इन अधिवेशनों की सूचना देनी होगी।

पुस्तकालय—

५१—परिषद् अपने भवन में भारतीय वैज्ञानिक साहित्य संबंधी एक पुस्तकालय सभ्यों और अपने लेखकों के उपयोग के लिए स्थापित करेगी। अपने प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं के बदले में आयी हुई पत्रिकायें और समालोचनार्थ आयी हुई पुस्तकें इस पुस्तकालय में

रक्खी जायेंगी । पुस्तकालय की समृद्धि और उपयोग के लिए अंतरंग सभा आवश्यकतानुसार उपनियम बनावेगी ।

भवन—

५२—परिषद् का मुख्यभवन प्रयाग विश्वविद्यालय के विज्ञान-विभाग की भूमि पर है । इस सम्पत्ति पर परिषद् का पूर्ण अधिकार है । इस भवन की सुव्यवस्था का पूर्ण अधिकार परिषद् का है । जिस भूमि पर यह भवन है, वह प्रयाग विश्वविद्यालय की है, और जब तक परिषद् अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जीवित है, तब तक उसका इस सम्पत्ति पर अधिकार होगा । परिषद् के जीवन के अनन्तर इस सम्पत्ति के उपयोग की व्यवस्था प्रयाग विश्वविद्यालय के हाथ होगी ।

५३—इस मुख्य भवन के अतिरिक्त परिषद् और उसकी शाखायें अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयाग में अथवा अन्य स्थलों पर भी भवन बनवा सकती हैं, और उस सम्पत्ति पर भी परिषद् का पूर्ण स्वत्व रहेगा ।

५४—भवनों के संबंध के समस्त प्रतिज्ञा पत्रों पर परिषद् की ओर से कोषाध्यक्ष के हस्ताक्षर होंगे ।

प्रकाशन—

५५—परिषद् स्वयं वैज्ञानिक साहित्य का प्रकाशन करेगी, और दूसरे व्यक्तियों और संस्थाओं को भी ऐसे साहित्य के प्रकाशन के प्रति प्रोत्साहित करेगी । परिषद् की अंतरंग सभा को अधिकार होगा कि सभी प्रकार के प्रकाशनों के सम्बन्ध में उपनियम बनावे, और दूसरे व्यक्तियों एवं संस्थाओं का सहयोग प्राप्त करने का उचित प्रबन्ध करे ।

५६—लेखकों, प्रकाशकों, विक्रेताओं और समकक्ष संस्थाओं के साथ जो प्रतिज्ञा पत्र होंगे, उन पर परिषद् की ओर से प्रधान मन्त्री के हस्ताक्षर होंगे ।

व्याख्यानों का प्रबन्ध

५७—परिषद् के तत्वावधान में वैज्ञानिक विषयों पर व्याख्यानों का प्रबन्ध अपने भवन में, प्रयाग में और प्रयाग से बाहर अन्य नगरों में, विशेषतया शिक्षा-संस्थाओं में, समय समय पर किया जायगा, और इस कार्य्य के लिए विद्वानों को आमंत्रित किया जा सकेगा ।

शाखायें

५८—जिन केन्द्रों (नगर, ग्राम आदि) में १५ से अधिक परिषद् के सदस्य होंगे, वे यदि चाहें तो परिषद् की स्वीकृति से अपने केन्द्र में परिषद् की एक शाखा खोल सकते हैं । यह शाखा परिषद् से सम्बद्ध रहेगी और इस शाखा द्वारा वे समस्त कार्य्य किए जा सकेंगे जिनसे परिषद् के उद्देश्यों की पुष्टि हो ।

५९—परिषद् के शाखा-सभ्यों से भी वार्षिक शुल्क अथवा आजीवन शुल्क उतना ही लिया जायगा जितना कि परिषद् के अपने सभ्यों से, परन्तु इनका वार्षिक अथवा आजीवन शुल्क का २५ प्रतिशत अंश संचालन कार्य के लिए शाखा को दिया जायगा ।

६०—शाखा की सदस्यता भी परिषद् के कार्य्यालय में अंकित रहेगी, और नए प्रस्तावित सभ्यों की सूची शाखाओं के मन्त्रियों द्वारा प्रधान कार्यालय में स्वीकृति के लिए आवेगी । इनका शुल्क भी परिषद् के प्रधान कार्य्यालय में जमा रहेगा ।

६१—शाखा-सभ्यों का शुल्क प्राप्त होने पर अन्य सभ्यों की भाँति इन सभ्यों को भी परिषद् द्वारा प्रकाशित साहित्य प्राप्त करने का अधिकार रहेगा ।

६२—प्रत्येक शाखा के अधिकारी निम्न होंगे—सभापति, अधिक से अधिक दो उपसभापति, प्रधान मन्त्री, एक संयुक्त मन्त्री, कोषाध्यक्ष और परामर्श समिति के ७ तक सदस्य ।

६३—(क शाखा के कार्य्य का वर्षारम्भ भी १ ली अप्रैल से हुआ करेगा, और नए वर्ष का निर्वाचन सुविधानुसार फरवरी या मार्च मास में हुआ करेगा, और निर्वाचित अधिकारी गण १ ली अप्रैल से अपना कार्य्य-भार संभालेंगे ।

(ख) निर्वाचित अधिकारियों की सूचना परिषद् के प्रधान कार्यालय में निर्वाचन के बाद निर्वाचन तिथि से १५ दिन के भीतर भेज देनी आवश्यक होगी ।

(ग) प्रधान परिषद् के सभापति को अधिकार होगा कि यदि शाखा के निर्वाचन में कोई बात विवादास्पद हो, तो उसके संबंध में अपना निर्णय दे। यदि शाखा के दो-तिहाई सदस्यों को यह निर्णय मान्य न हुआ, तो परिषद् की अंतरंग सभा इस विषय पर निर्णय देगी और वह मान्य समझा जायगा।

६४—शाखा से आशा की जाती है कि परिषद् के साहित्यिक कार्य्यों में प्रधान परिषद् को सहयोग दे, लेखकों से लेख और ग्रन्थ लिखावे, और परिषद् से प्रकाशित साहित्य का प्रचार करे। शाखायें परिषद् की आज्ञा के बिना विक्रयार्थ प्रकाशन-कार्य्य प्रारम्भ नहीं कर सकती हैं।

६५—शाखा के आमंत्रण पर प्रधान-परिषद् के वार्षिक अधिवेशन और अन्य समारोह उनके केन्द्रों पर हो सकते हैं। इन समारोहों के करने का आर्थिक उत्तरदायित्व उन्हीं केन्द्रों पर है। यदि समारोहों और अधिवेशनों के व्यय चुकता करने के अनन्तर कुछ धनराशि बचे, तो उसका उपयोग ये शाखायें अपनी समृद्धि के लिए कर सकती हैं।

६६—शाखाओं को अधिकार होगा कि अपने विशेष कार्य्यों के लिए अपने केन्द्रों में धन दान या अनुदान के रूप में एकत्रित कर सके।

६७— शाखा के लिए आवश्यक होगा कि अपने वर्ष भर के कार्य्य और आय-व्यय का विवरण परिषद् के मुख्य विवरण में सम्मिलित होने के लिए समय पर भेजें।

६८—जिन शाखाओं के ५० या इससे अधिक सदस्य होंगे, उन्हें यह अधिकार होगा कि अपना एक प्रतिनिधि परिषद् की अंतरंग सभा में बाह्य अंतरंगी के रूप में भेज सकें।

६९—शाखाओं के समस्त विवादास्पद प्रश्नों पर प्रधान परिषद् का निर्णय मान्य रहेगा। परिषद् के सभापति को अधिकार होगा कि विशेष अनिवार्य्य अवसरों पर किसी शाखा के संचालन का भार अपने ऊपर ले ले और उसकी उचित व्यवस्था करे।

७०—शाखाओं की समस्त चल और स्थावर सम्पत्ति पर प्रधान परिषद् का अधिकार रहेगा। किसी शाखा के विच्छिन्न हो जाने पर उसकी समस्त सम्पत्ति प्रधान परिषद् की सम्पत्ति हो जायगी।

७१—धारा ५८ से धारा ७० तक दिए गए नियमों के अतिरिक्त प्रत्येक शाखा अपने कार्य्य-संचालन के लिए अपनी साधारण सभा में अन्य उपनियम बना सकती है, किन्तु शाखाओं के लिए यह आवश्यक होगा कि वे अपने उपनियमों की पुष्टि परिषद् की अंतरंग सभा से करा लें। इन उपनियमों में संशोधन भी शाखा के वार्षिक या इसी निमित्त से बुलाए गए अधिवेशनों में उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई मत से हो सकेंगे।

Reg. No. A 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री,दो मन्त्री, एक सम्पदक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तक उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० देवेन्द्र शर्मा
सहायक संपादक— जगपति चतुर्वेदी

मुद्रक—श्री सरयू प्रसाद पांडेय, नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग तथा प्रकाशक—डा० रामदास तिवारी प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद।

नए पैसे

चार आने तक पुराने पैसों के परिवर्तन के लिए :—

(१) पुराने पैसों की विषम संख्या (जैसे १, ३, ५, ७, आदि) को ड्योढ़ा कर उसमें एक अद्धा जोड़ दें। वही नए पैसों की संख्या होगी।

(२) आठ पुराने पैसों तक सम अंकों (अर्थात् २, ४, ६ और ८) का ड्योढ़ा ही नए पैसों की संख्या होगी।

(३) आठ से ऊपर पुराने पैसों की सम संख्या (अर्थात् १०, १२ और १४ या १६ भी) के ड्योढ़े में एक बढ़ा दें। वह नए पैसों की संख्या होगी।

भाग ८५

संख्या १

अप्रैल १९५७ मेष २०१४ (चैत्र)

प्रति अङ्क छः आने

वार्षिक मूल्य चार रुपये

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
१—अंक और रेखायें—यूक्लिड का अप्रमाणीकरण	.....	डा० सत्य प्रकाश	१
२—कीटों के बंधुबांधव	.....	.....	५
३—कीटों का कायापलट और हारमोन	.....	.....	१०
४—काँच की कहानी	.....	रेमंड शूसलर	२०
५—पक्षियों का इतिहास	.....	जगपति चतुर्वेदी	२२
६—विज्ञान के चमत्कार	.....	.....	३०
७—समालोचना—खेती (कृषि यंत्र विशेषांक)	.....	...	३१

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानं जानेतानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तति । तै०उ० ।३।५।

भाग ८५	मेष २०१४; अप्रैल १९५७	संख्या १

अंक और रेखायें-यूक्लिड का अप्रमाणीकरण

डा० सत्य प्रकाश

[ऑल इंडिया रेडियो से प्रसारित वार्त्ता]

यूक्लिड या युकलेदस—ये शब्द रेखागणित के लिए समस्त संसार में रुढ़ि से हो गए हैं। आज से २२५० वर्ष पूर्व यह व्यक्ति यूनान में हुआ—ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व। इसके जन्मस्थान आदि का तो पता नहीं, पर यह निश्चय है कि इसने एथेन्स में अध्ययन किया और अफलातून के गुरुकुल का यह सदस्य था। यूनान का अधिपति टोलेमी लेगस (Ptolemy lagus) था और यह प्रसिद्ध है कि यूक्लिड ने उससे किसी प्रश्न के उत्तर में यह कहा कि "रेखागणित के लिए कोई राजकीय मार्ग नहीं है"—No royal roap to Geometry एलक्जेण्ड्रिया में जब फिलसफे का स्कूल खुला तो यूक्लिड उसमें रेखागणित और गणितीय विज्ञानों का अध्यापक हो गया। इस स्कूल ने यूक्लिड के जीवन काल में ही नहीं, उसके बाद भी विश्वविख्यात अध्यापक उत्पन्न किये। यूक्लिड ने एलिमेण्ट्स आव् ज्योमेट्री (Elements of Geometry) नामक एक ग्रन्थ १३ भागों में लिखा। रेखागणित का यह ग्रन्थ इतना विख्यात हो गया कि इसके रचयिता का नाम ही रेखागणित के लिए पर्याय हो गया। इस ग्रन्थ के ९ भाग रेखागणित से संबन्ध रखते हैं, और ४ भाग संख्याओं के गुणों से जिनका प्रयोग भी रेखागणित में होता है। १३ भागों के अतिरिक्त २ भाग और परिशिष्ट के रूप में हैं, जिनका सम्बन्ध ५ सम ठोस पिंडों से है। यूक्लिड ने रेखागणित का एक और ग्रन्थ लिखा जिसका नाम डेटा "Deta" है जिसमें रेखागणित के १०० प्रतिपाद्य दिए हुए हैं। यूक्लिड ने एक पुस्तक रेखागणित के हेत्वाभासों पर भी लिखी है, जिसमें रेखागणित संबंधी तार्किकता का उल्लेख है। पेपस के कथनानुसार यूक्लिड की कुछ रचनायें प्रकाश विज्ञान और ज्योतिष् पर भी थीं। यूक्लिड ने चाहे जो कुछ भी लिखा हो, वह रेखागणित के लिए अमर हो गया है। यह तो हम नहीं कहते कि उसके पूर्व यूनान या अन्य देशों में रेखागणित का ज्ञान नहीं था,

और न हम यह कहते हैं कि यूक्लिड ने जो कुछ लिखा, वह सब उसका अपना आविष्कार था। हो सकता है कि उसकी रेखागणित में बहुत से प्रमेय उसके अपने हों, कुछ को सिद्ध करने के तर्क भी उसके अपने नये हों, फिर भी बहुत कुछ तो उसने अपने पूर्ववर्ती गणितज्ञों से पाया होगा। यूक्लिड के बाद भी ग्रीक रेखागणित में बड़ा विकास हुआ। सन् ६४० में मुसलमानों ने मिश्र को परास्त किया और एलेक्ज़ेंड्रिया का पुस्तकालय, जिसमें ज्ञान-विज्ञान की सहस्रों पुस्तकें थीं, जला दिया गया। भारतवर्ष में फिर भी गणित और ज्योतिष का अच्छा विकास हो चुका था, और ८ वीं शताब्दी में फिर यूनान से लेकर फ़ारस तक के प्रदेशों में रेखागणित का आदान प्रदान होने लगा। १२ वीं शताब्दी में नसीरुद्दीन ने यूक्लिड की रेखागणित को अरबी में अनूदित किया। बाद के एक सन्यासी एडेलर्ड (Adelard) ने इंगलैंड वालों को यूक्लिड की रेखागणित से परिचित कराया और इसके बाद तो प्रत्येक युग में प्रत्येक देश में यूक्लिड की रेखागणित के अनुवाद हुए। जगन्नाथ सम्राट ने संस्कृत में भी यूक्लिड का अनुवाद किया।

रेखागणित का अपना एक तर्क है। यह तर्क जितना ही निर्भ्रान्त होगा, रेखागणित की प्रामाणिकता भी उतनी ही अधिक होगी और यही कारण है कि दार्शनिक विचार-शील व्यक्तियों ने यूक्लिड की शैली को कसौटी पर परखने का सदा ही प्रयत्न किया है। यूक्लिड की रेखा-गणित में कुछ परिभाषायें हैं और कुछ स्वयंसिद्धियाँ हैं। तर्क से सिद्ध करने के लिए न्यूनतम मान्यतायें स्थापित की जाती हैं, जिनमें सबको विश्वास हो और जो सबके अनुभव में समान हो। परिभाषायें ऐसी हों जिनमें न तो अतिव्याप्ति दोष हो और न अव्याप्ति दोष। स्वयंसिद्धियों में कोई ऐसी चीज न मान ली जाय, जो दूसरे शब्दों में सिद्ध किए जाने का विषय हो, स्वयंसिद्धियों और परि-भाषाओं की भाषा में उतने ही शब्दों का प्रयोग किया जाय जितने नितान्त आवश्यक हों, ये बातें ऐसी हैं, जिनके आधार पर विचारशील व्यक्तियों ने यूक्लिड की अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में तरह तरह की आपत्तियाँ उठायी हैं।

यूक्लिड की रेखागणित के पहले भाग में ३५ परिभाषायें, ३ पोस्टुलेट या मान्यतायें और १२ स्वयं-सिद्धियाँ हैं। पहली चार परिभाषायें बिन्दु और रेखा से सम्बन्ध रखती हैं—

१—बिन्दु वह है जिसके अवयव न हों अर्थात् जिसकी माप न हो।

२—रेखा वह है जो लम्बी तो हो, पर उसमें चौड़ाई न हो।

३—रेखा के सिरे बिन्दु होते हैं।

४—सीधी रेखा वह है जो सिरे वाले बिन्दुओं के बीच में सम रूप से स्थित हो।

इस प्रकार बिन्दु की दो परिभाषायें हुई, पहले तो यह कहा कि बिन्दु वह है जिसमें अवयव न हों, दूसरी यह कि रेखा के सिरे बिन्दु हैं, पर रेखा की परिभाषा बिन्दु की परिभाषा के बिना नहीं हो सकती है। बिन्दु की गति से रेखा बनती है। अवयवहीन बिन्दुओं को जोड़ कर लम्बान युक्त रेखा कैसे बनेगी? बिन्दु तो शून्य है और कितने भी शून्य क्यों न जोड़िए योग शून्य ही रहेगा। लाखों शून्यों को पास पास रखने पर भी तो एक इंच लम्बी रेखा भी नहीं बन पावेगी। इसी प्रकार की कठिनाई सीधी रेखा या सरल रेखा की परिभाषा में भी है। यदि सीधी रेखा क्या है, यही पता नहीं, तो दो बिन्दुओं के बीच में "सम रूप" से स्थित या अंग्रेज में "lies evenly" का क्या अर्थ होगा? सीधी रेखा की परिभाषा करना जितना कठिन है उससे भी अधिक कठिन "समरूप" से स्थित होने की व्याख्या करना है।

रेखा में चौड़ाई नहीं मानी गयी। इस प्रकार की रेखा केवल काल्पनिक होगी। शुद्ध रेखा खींचा जाना असंभव है। किसी पृष्ठतल से अलग रेखा की कल्पना करना उतना ही कठिन है, जितना कि रेखा से अलग विन्दु की कल्पना करना पृष्ठतल की परिभाषा यूक्लिड की ५ वीं परिभाषा है। पृष्ठ तल वह है जिसमें केवल लम्बाई

और चौड़ाई न हो। अर्थात् इसमें मोटाई न हो। जिस प्रकार रेखा के सिरों को बिन्दु कहा उसी प्रकार यूक्लिड ने पृष्ठों के किनारों को रेखा बताया है (परिभाषा ६)। पृष्ठ तल से रेखा अलग नहीं काटी जा सकती है। इस प्रकार बिन्दु भी काल्पनिक है और रेखा भी काल्पनिक है। पृष्ठतल भी तो इसी प्रकार काल्पनिक पदार्थ ही रहेगा। पृष्ठतल में मोटाई नहीं है। किसी पिंड में से पृष्ठतल काटा ही नहीं जा सकता। मनुष्य के पास कोई ऐसा यंत्र ही नहीं है जिससे वह इतना पतला पृष्ठतल किसी पिंड से अलग कर सके, जिसकी मोटाई शून्य हो। शून्य मोटाइयों के लाखों करोड़ों पृष्ठतल जोड़कर भी तो हम एक इन्च मोटाई वाला पिंड नहीं बना सकते।

शून्य बिन्दु से ही रेखा का आभास होता है। समस्त रेखा की गति से पृष्ठतल का आभास और किसी पृष्ठतल की जाति से जितना आकाश घिरता है वही तो पिंड है। तो फिर शून्य ही सत्य है और शेष सब शून्य ही के विकार हैं। पर शून्य का अस्तित्व केवल कल्पना है, तो क्या समस्त पिंड जो हमें दिखाई पड़ते हैं केवल काल्पनिक हैं? क्या यूक्लिड की रेखा गणित केवल शून्यवाद की पुष्टि करता है? उसकी परिभाषाएँ परिभाषा न होकर केवल आभास मात्र है?

यूक्लिड अपनी पहली प्रतिज्ञा या कल्पना इस प्रकार देता है—मान लो कि एक बिन्दु से दूसरी बिन्दु तक एक सीधी रेखा खींची जा सकती है। क्या दो बिन्दुओं के बीच में एक ही सीधी-रेखा हो सकती है? साधारणतया तो यह बात सच्ची मालूम होती है, पर आलोचकों की दृष्टि में यह बात भी ग़लत है। आप काग़ज़ पर दो बिन्दु बनायें। काग़ज़ मेज पर बिछा है। अपने दो बिन्दुओं के बीच में आप काग़ज़ पर एक सीधी रेखा खींच दें। अब उन्हीं दो बिन्दुओं के बीच में पहले की खिंची हुई रेखा को देखें। क्या आप इसको सीधी रेखा कहेंगे? आप शायद कोई दूसरी रेखा उन्हीं दो बिन्दुओं के बीच खींचना चाहेंगे? अगर फुटबाल की जगह, वही कागज आपने लौकी के रूप में बिछा दिया है, तो आपकी सीधी रेखा क्या होगी, सोचिये तो। आपको सीधी रेखा रखने के लिये काग़ज़ को समतल पर रखना पड़ेगा, पर यह तो बताइये कि यह समतल कहाँ से आयेगा? इस पृथ्वी पर आपकी समतल की परिभाषा तो पृथ्वी के तल के समानान्तर होने की है, पर पृथ्वी कितनी गोलमटोल है यह तो आप जानते ही हैं। आप अपनी मेज को, अपने काग़ज़ को, चित्र और आकृतियाँ खींचने वाली कापी को पृथ्वी के समानान्तर रखकर समतल समझे बैठे हैं, पर पृथ्वी की आकृति का ध्यान कीजिये। अब आप समझ जायेंगे कि यूक्लिड की कल्पना के आधार पर, सच्ची सीधी रेखा का खींचना असम्भव ही है। आकाश में स्थित दो बिन्दुओं के बीच एक नहीं, अनन्त सीधी रेखायें खींची जा सकती हैं। यदि आप अपने को पृथ्वी के प्रभाव से मुक्त कर लें और दिव्य दृष्टि से देखें, तो आपको यूक्लिड की परिभाषाओं और कल्पनाओं की अप्रमाणिकता स्पष्ट हो जायगी।

यूक्लिड की दूसरी प्रतिज्ञा या कल्पना इस प्रकार की है सीमित सरल रेखा सीधी रेखा में ही किसी लम्बाई तक बढ़ाई जा सकती है। क्या यह बात ठीक है? पहले तो जैसे मैंने अभी कहा है कि पृथ्वी पर एक सरल रेखा खींची ही नहीं जा सकती, मान लीजिये कि एक सरल रेखा आपने अपनी किसी सड़क पर खींच दी। क्या आप इसे एक करोड़ मील लम्बी-दोनों ओर बढ़ा सकते हैं। पृथ्वी पर खींची गई यह सरल रेखा क्या फिर अपने में मिलकर वृत्त के समान एक आकृति नहीं बना देगी। आपकी भूमध्य रेखा भी तो इसी प्रकार की एक काल्पनिक रेखा है। हाँ, ग्लोब पर खींची गई इस भूमध्य रेखा को आप सीधी रेखा नहीं कहना चाहते हैं, पर ग्लोब पर चलने वाली चींटी से तो पूछिये। आप कहेंगे कि हम सीधी रेखा पृथ्वी के पृष्ठ पर क्यों खींचे? आकाश में हम खींचेंगे। पर आप विश्वास रखिये कि पृथ्वी के साथ सम्बद्ध इस आकाश में या तो आप सीधी रेखा खींच ही नहीं सकेंगे, और जो भी सीधी रेखा आप खींचेंगे वह फिर एक वृत्त बनाकर अपने में ही मिल जायगी।

यूक्लिड ने अपनी पैंतीसवीं परिभाषा में समानान्तर सीधी रेखाओं की परिभाषा दी है। यूक्लिड कहता है कि

समानान्तर रेखाएँ वे हैं जो एक पृष्ठतल में हों और जिन्हे दोनों ओर कितना भी क्यों न बढ़ाया जाय आपस में वे नहीं मिलेंगी। यूक्लिड की यह परिभाषा भी काल्पनिक अनुमानों का आधार लेती है। पृष्ठतल की आपको पहले कल्पना करनी पड़ेगी, सीधी रेखाओं की परिभाषा करनी पड़ेगी और फिर इन रेखाओं को सीधे ही बढ़ाने की कल्पना और अन्त में यह कल्पना कि आपके पास सीमित ही पृष्ठतल है। हम और आप सब जानते हैं कि दो समानान्तर रेखायें भी अनन्त की दूरी पर जाकर मिल जाती हैं। सूर्य और चन्द्र के पृष्ठ पर के किसी बिन्दु से आने वाली रश्मियाँ हम तक आती आती समानान्तर हो जाती हैं।

पृष्ठतल या समतल क्या है, इसके सम्बन्ध में हमें यूक्लिड की सातवीं परिभाषा लेनी चाहिये। यूक्लिड कहता है कि समतल वह है, जिस पर यदि हम कोई दो विन्दु लें और उन दो बिन्दुओं के बीच में एक सीधी रेखा खींचें तो वह सीधी रेखा उस तल पर पूरी तरह से स्थित हो। यह समतल की परिभाषा हुई। जरा आप विचार कीजिये। यदि यूक्लिड की बातों को हम माने तो कितनी कठिनाई होगी। समतल की परिभाषा आप तब तक नहीं दे सकते जब तक सीधी रेखा आप न समझ लें और सीधी रेखा आप तब तक नहीं समझ सकते जब तक समतल न समझ लें। वह तो परिभाषा लगभग इसी प्रकार हुई जैसे कोई कहे कि विन्दु का अर्थ "पाइण्ट" और "पाइण्ट" का अर्थ विन्दु।

यूक्लिड ने अपनी दसवीं परिभाषा में समकोण की परिभाषा दी है। यदि एक सीधी रेखा दूसरी सीधी रेखा पर इस प्रकार खड़ी हो कि दोनों ओर बने दोनों आसन्न कोण आपस में बराबर हों, तो दोनों रेखाओं से बने कोण को समकोण कहेंगे। पर यूक्लिड ने आगे चल कर अपनी पुस्तक में १३वाँ प्रमेय इस प्रकार दिया है कि एक सरल रेखा जब दूसरी सरल रेखा पर खड़ी होती है, तो या तो दो समकोण बनाती है, या ऐसे दो कोण बनाती है जिनका योग दो समकोण होता है। इस प्रकार समकोण की परिभाषा और रेखाओं द्वारा उक्तरूप से बने कोणों का योग, यह सब अन्योन्याश्रय है।

यूक्लिड ने सब स्वयंसिद्ध (८ वीं) इस प्रकार की दी है कि वे मापें जो एक दूसरे को आच्छादित कर सकती हैं, अर्थात् जो बिलकुल एक सा स्थान घेरती हैं, वे आपस में बराबर होती हैं। इस स्वयंसिद्धि के आश्रय पर त्रिकोणों की एकात्मकता और पूर्ण समानता सिद्ध करने के कई प्रमेय यूक्लिड ने दिए, जैसे वे दो त्रिभुज आपस में पूर्णतः बराबर हैं, जिनकी दो भुजायें बराबर हों और इन्हीं दो भुजाओं के बीच के कोण भी बराबर हों। इस प्रकार के प्रमेयों की सिद्धि का यूक्लिड ने यह उपाय बताया कि एक त्रिभुज काट कर या उठा कर दूसरे त्रिभुज पर विशेष विधि से रक्खा। अनुमान यह लगाया गया कि काट कर या उठाने पर उस आकृति में वही गुण रहते हैं, जो पहले थे। अथवा यों कहिए कि विस्थापन क्रिया में गुणों में परिवर्त्तन नहीं होता। कई आलोचकों ने इस स्वयंसिद्धि पर भी कटाक्ष किए हैं।

यूक्लिड ने रेखागणित की वह सेवा की जिसके लिए हम सब को कृतज्ञ होना ही चाहिए। पर निर्भ्रम तर्कशास्त्र की आस्था रखने वाले दार्शनिकों ने यूक्लिड की शैली पर आपत्तियाँ उठायी हैं, उसकी परिभाषाओं और स्वयंसिद्धियों की प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट किया है।

———

कीटों के बंधुबांधव

बिना रीढ़ वाले जंतुओं में कीटों का क्या स्थान है, उनके बंधुबांधव कौन से जंतु हो सकते हैं, इन बातों की चर्चा हमें अपृष्ठवंशी जंतुओं का वंश-वृक्ष समझने के लिए प्रवृत्त करती है। हम बाह्यरूप में इनके आकार-प्रकार विभेदों से ही इस मर्म को ठीक नहीं समझ सकते। वैज्ञानिकों ने बहुत छानबीन कर इनके पृथक-पृथक विभाग निर्धारित किए हैं जिनको प्रसृष्टियाँ कहते हैं। प्रसृष्टि का अर्थ ऐसे जंतुओं के दल से है जिनकी शरीर-रचना अन्य प्रकार के जंतुओं से मौलिक भेद रखती हो। इन सब विभेदों का भलीभाँति अध्ययनकर वैज्ञानिकों ने ५० करोड़ वर्ष तक पुराने जंतु-जगत के जन्म, विकास तथा विभागों, उप-विभागों की उत्पत्ति आदि की खोजकर उनका विस्तृत वंश वृक्ष बनाने का प्रयास किया है जिससे ज्ञात हो सके कि किस प्रकार पूर्वकाल में कुछ सरल रूपों के जीवों से अपेक्षाकृत जटिल और विभिन्न रूपों का जन्म होता गया। उसी वंश वृक्ष में अपृष्ठवंशियों के विभागों उपविभागों की स्थित भी निर्धारित की जा सकी है। इस तरह हम कीटों का यथार्थ स्थान भी समझ सकते हैं।

जंतुओं के विभिन्न दलों की समानता तथा विभिन्नताओं का निश्चय करने में उन जंतुओं के शरीर की रचना तथा विकास का तुलनात्मक अध्ययन मूल मंत्र बनाया गया है। एक बात यह सोची गई है कि दो प्रसृष्टियों या विभागों के जंतुओं में शरीर-रचना से विशेष साम्य पाया जाय तो उनका कुछ समय पूर्व ही कोई एक पूर्वज होने का अनुमान किया जा सकता है। उनकी शरीर-रचना में जितना ही अधिक साम्य होगा उतने ही कम समय पूर्व वे एक पूर्वज से उत्पन्न होंगे। किन्तु कभी कभी दो दलों के प्रौढ़ जंतुओं में विभिन्न जीवन-क्रमों के कारण शरीर का इतना अधिक परिवर्तन उपस्थित हुआ पाया जाता है कि उनमें बहुत ही अल्प मात्रा में साम्य दिखाई पड़ सकता है। फिर भी प्रारंभिक भ्रूणीय अवस्थाएँ उनमें बिल्कुल एक सदृश पाई जाती है। उस अवस्था में निश्चित होता है कि वे दोनों दल या विभाग एक पूर्वज से अधिक दिनों पूर्व उत्पन्न हुए होंगे! इनके प्रौढ़ रूपों में विषमता होने के कारण जीवनयापन की विभिन्न बाह्यस्थितियाँ होंगी, परन्तु प्रारंभिक भ्रूणीय अवस्था इतनी शीघ्र परिवर्तित नहीं हो सकती। इसी कारण इन दो विषम प्रदर्शित दलों में भी सुदूर पूर्वकाल में समान पूर्वज की स्थिति होने से भ्रूणीय समानता बनी रहती है जो इस गुप्त भेद को प्रकट कर देती है। इस कारण जन्तुओं के संबंध निर्धारण में भ्रूणीय समानता का भी अध्ययन बहुत सहायक होता है।

शरीर रचना में सादृश्य उपस्थित होने से आसन्न भूतकाल में ही पूर्वजों की एकरूपता प्रकट होने की स्थिति को समजातिता की समानता कहा जाता है। इस दृष्टि से जंतुओं की श्रेणियों के ही मेल परखने को समजातिता का सिद्धान्त कहते हैं। इससे विभिन्न रूप में वर्तमान जंतु-श्रेणियों में समानता का अभाव भासित होने पर भी सुदूर पूर्व काल में एक पूर्वज होने का ज्ञान भ्रूणों के सादृश्य द्वारा प्राप्त करने को भ्रूणीय एकरूपता कह सकते हैं। इस स्थिति का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि प्रत्येक जंतु अंड रूप से प्रौढ़ रूप में अपना व्यक्तिगत शरीर विकसित करने में उन सम्पूर्ण क्रमागत अवस्थाओं को पार करता है जिनमें उनकी श्रेणी के जंतु विकास की दीर्घकालीन अवधि में रह चुके होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी छोटे सरल रूप से धीरे-धीरे जीव विकसित होता रह कर जिस जटिल रूप को धारण कर चुका रहता है उस रूप में पहुँच जाने पर भी प्रत्येक जीव जनन-कण से भ्रूण बनने के पश्चात् क्रम से उन सब अवस्थाओं को अपने आकार परिवर्तन कर पुनः प्रदर्शित कर प्रौढ़ बनता

है अर्थात् अपनी श्रेणी के दीर्घकालीन विकास की कथा वह अपनी शरीर-रचना रूप की अल्पकालीन अवधि में ही संक्षिप्त रूप में पुनरावृत्त कर दिखाता है। इसलिए भ्रूणीय एकरूपता द्वारा विभिन्न रूप के जंतुओं को अपनी प्राचीन कालीन समरूपता प्रकट करने को संक्षेपावृत्ति की पद्धति भी कह सकते हैं और यह सिद्धान्त संक्षेपावृत्तिवाद कहला सकता है।

संक्षेपावृत्तिवाद का यह अर्थ नहीं लिया जा सकता है कि यदि मनुष्य और मछली या सरीसृपों के अग्रज एक रहे हैं तो मनुष्य का भ्रूण पहले मछली और सरीसृप का सचमुच रूप बन कर तब कहीं मानव रूप धारण करता है बल्कि यह अर्थ लेना चाहिए कि मनुष्य और मछलियों या सरीसृपों के भ्रूण अपने प्रारंभिक विकास में एकरूपता प्रदर्शित कर दिखाते हैं। इसका कारण यह है कि प्रौढ़ रूप बनने में विशेष भिन्न रूप के तो परिवर्तन अवश्य होते हैं जिनके कारण जीवों के रूप पृथक पृथक प्रकार के बनते हैं। परन्तु भ्रूण के पिछले विकासों में ये परिवर्तन उपस्थित होते हैं। प्रारंभ के रूपों में भ्रूणों में उतना शीघ्र परिवर्तन नहीं हुआ रहता। इसी कारण विभिन्न जंतुओं के पूर्वजों की एकरूपता होने पर प्रारंभिक भ्रूणीय विकास समान ही दिखाई पड़ सकते हैं।

किसी प्रसृष्टि में बहुत सी जातियाँ विभिन्न रूपों की पाई जाती हैं परन्तु उन सब जातियों के भ्रूण प्रारंभ में एक प्रकार के रूपों में ही विकसित होते दिखाई पड़ सकते हैं। प्रौढ़ता के निकट ज्यों-ज्यों वे बढ़ने लगते हैं उनके रूपों में विभिन्नता के लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं जिससे उनके विभिन्न आकार-प्रकार उत्पन्न होते हैं। इसी तरह विभिन्न प्रसृष्टियों के जंतुओं का भी अधिक प्रारंभिक विकास में भ्रूणों का रूप समान प्रतीत हो सकता है जिससे ज्ञात हो सकता है कि वे विभिन्न प्रसृष्टियाँ भी पहले किसी समान पूर्वज से शाखा रूप में फूट कर पृथक् हुई होंगी। यह आश्चर्य की बात है कि प्रकृति अपनी प्राचीन कालीन सृष्टि-कथा को आंशिक रूप में भ्रूणों की समानताएँ दिखा कर आज भी व्यक्त करती रहती हैं। यही कारण है कि विभिन्न प्रसृष्टियों के प्रौढ़ रूप बिलकुल ही पृथक पृथक दिखाई पड़ने पर भी उनके प्रारंभिक भ्रूणों में एक सा रूप होने से पृथक पृथक पहचान करना कठिन हो सकता है।

आप उदाहरण के लिए कुछ जंतुओं को ले सकते हैं। एक झींगे को ही ले लीजिए। उसके निषेचित अंडे का किसी भी अन्य अपृष्ठवंशी के अंडे से विभेद कर सकना कठिन है, वह एक कोष की रचना होती है, बिल्कुल गोल बनी होती है। सरलतम एककोषी जंतु से उसमें कोई भेद नहीं होता। उसके बार बार विभाजित होते रहने से एक खोखली गेंद सी बन जाती है जिसकी दीवाल एक कोषों की तह से बनी है। इस तरह की रचना अन्य प्रौढ़ अपृष्ठवंशी जंतुओं में भी पाई जा सकती है। वह गेंद पुनः अन्य कोषों की अंतर्वर्ती तह बना कर दीवाल को दोहरे कोषों की बना लेती है। इस गेंदे के एक सिरे पर गड्ढा होता है जिससे यह चारों ओर गोलाई में एक तरह का आकार रखने से तारक मत्स्यों या अन्य आंतरगुही जंतुओं-सा रूप होता है। इसमें पुनः अंग-रचनाएँ होकर चक्रीय सुडौलता का रूप बदल कर दोनों बगल एक सा रूप बनाने का ढाँचा बनता है जिसे द्विपार्श्वीय सुडौलता का रूप कहते हैं। अंत में यह झींगे का प्रौढ़ रूप बन जाता है। इस प्रौढ़ रूप के उत्पन्न होने तक यह अन्य रूपों में विकसित होता रहता है जो इसके पूर्वजों की विकास-कथा ही होती है। इस एक ही व्यक्तिगत जंतु के जीवन में भ्रूण के पहले विकसित रूप प्रारंभ स्थिति से उसकी वर्तमान श्रेणी उत्पन्न होने तक की विकसित अवस्थाओं की प्रतिमूर्ति निर्मित कर दिखाते हैं।

भ्रूणों द्वारा संक्षेप रूप में श्रेणी या प्रसृष्टि आदि के विकास की अवस्थाएँ पुनरावृत करने में कुछ व्यक्तिक्रम भी हैं। लाखों, करोड़ों वर्ष के विकास-क्रमों को कुछ दिनों या सप्ताहों के अन्दर ही पुनरावृत कर दिखाने में अवश्य ही पूर्णता नहीं हो सकती। दूसरे केवल प्रौढ़ रूप ही विकसित नहीं होते, बल्कि भ्रूण भी दीर्घकालीन में विकास के प्रभाव में रहकर वातावरणों के अनुकूल परिवर्तित होते हैं। उदाहरणार्थ मच्छड़ की इल्ली (शिशु) पानी में पलती है और वह एक ऐसे विशेष रूप के जीवन के लिए रूप

परिवर्तित किए रहती है जिसमें उसके पूर्वजों को कभी रहना नहीं पड़ा। मच्छड़ स्थलचारी कीटों के वंशज हैं और प्रौढ़ मच्छड़ों को जलीय जीवन से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। जब से आदिम संधिपादी रूप के पूर्वज कीटों ने जलजीवन का परित्याग किया होगा तब से मच्छड़ों को कभी जलजीवन व्यतीत न करना पड़ा। इसके अतिरिक्त अनेक जन्तुओं के शिशु विशेष रूप की झिल्लियाँ या रचनायें अपने शिशु जीवन की रक्षा या पोषण के लिए बना लेते हैं जो उनके प्रौढ़ रूपों में नहीं पाई जातीं।

इस तरह की कुछ कठिनाइयाँ अवश्य हैं फिर भी भ्रूणों द्वारा संक्षेपावृत्ति सिद्धान्त रूप में जीवों की पूर्व आनुवंशिकता का ज्ञान प्राप्त होने में यथेष्ट सहायता प्राप्त की जा सकी है। वर्तमान रूप में जीवों के आकार-प्रकार की समान रचना द्वारा समजातिता प्रकट होने और भ्रूणों द्वारा पूर्व विकासक्रमों की संक्षेपावृत्ति के साधनों से विद्वानों ने जीवों की उत्पत्ति और विकास का जो वंश वृक्ष तैयार करने का प्रयास किया है, उसकी झाँकी हमें सृष्टि के पचास करोड़ से भी पुराने इतिहास को प्रकट करती है। परन्तु एक भारी बाधा यह होती है कि जिन प्राचीनतम रूपों से अन्य विभिन्न रूपों के विकास हुए होंगे उनकी स्थिति प्रकट करने वाली शिलाएँ प्रस्तराव-शेषों के नमूने प्रत्यक्ष ज्ञात हो सकने योग्य रक्षित नहीं रख सकी हैं। अतएव उस वंश वृक्ष के आदिम रूपों या बाद की अनेक शाखाओं की स्थिति भी अनुमान से ही बैठानी पड़ती है। संसार के वैज्ञानिक रातदिन शोधकार्य में रहते हैं और नित्य नए प्रमाणों को ढूँढ़ कर संदिग्धात्मक गुत्थियों को सुलझाते रहने का प्रयास करते रहते हैं। अतएव आज जो बात बहुत अस्पष्ट और संदेहपूर्ण ही ज्ञात हो रही है, उसे भविष्य में एक निश्चितता का रूप धारणकर निर्भ्रान्त बनते पाया जा सकता है।

अपृष्ठवंशी जंतुओं का वंशवृक्ष जीवों का वंशवृक्ष ही है जिसकी पीछे विकसित हुई शाखाएँ में मेरुमंत या पृष्ठ-वंशी जंतुओं को जन्म दे सकीं। अतएव अपृष्ठवंशी जीवों के वंशवृक्ष का निम्न या प्रारंभिक रूप ही जीवों के वंशवृक्ष का प्रारम्भिक रूप है। इसमें पहले के सब जीवों को उद्भिजों के नमूने का मानना अधिक युक्ति संगतजान पड़ता है। उद्भिजों में पर्णहरिम या क्लोरोफिल नाम का पदार्थ होता है जो उन्हें हरा बनाता है परन्तु यह एक प्रबल उपादान होता है जिसके द्वारा वे प्रकृति में विद्यमान कुछ तत्वों को आहार रूप में परिणत कर सकते हैं। अतएव आदिम प्राणधारियों के पूर्वजों में यह गुण रहना स्वाभाविक ज्ञात होता है। इस तरह का कोई उद्भूत-जीव संयुक्त रूप ही पहले विद्यमान रहकर कालान्तर में उद्भिज और जीव का पृथक प्रमुख शाखाएँ बना सका होगा। कीटाणु या कुछ इसके ही प्रकार के अन्य शुद्ध संदिग्ध वनस्पतियों की बात हम छोड़ ही देते हैं। वे भी अपना कहीं स्थान कदाचित रखते होंगे।

पर्णहरिम (क्लोरोफिल) का ह्रास होने और गति कर सकने तथा आहार ग्रहण कर सकने के विभिन्न उपा-दान उत्पन्न तथा विकसित करते रहने से जंतु जगत विद्यमान हुआ। प्राचीनतम जंतु एककोष्ठीय ही थे किन्तु आज के वर्तमान एककोषी जंतु अवश्य ही इतने दीर्घकालों में अपना रूप विकसित बना सके होंगे। इनका पूर्व रूप बहुत सरल तथा वर्तमान रूप से विभिन्न रहा होगा।

एककोषी शरीर रचनाओं के बाद बहुकोषी रचनाओं के शरीर धारण करने वाले जंतुओं की कथा बहुत ही विस्तृत और जटिल है। पहले पहल किस प्रकार कोई बहुकोषी रूप उत्पन्न हुआ होगा, इसका आभास देने वाले कुछ भी साधन उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि एककोषी जन्तु अपनी संख्या-वृद्धि कोषविभाजन कर नए एककोषी जन्तु उत्पन्न कर करते हैं। इनमें ही कुछ अधूरी क्रिया रह जाने पर पृथक होने वाले दोनों भागों के संयुक्त पड़े रह जाने से एक दोहरे कोष का रूप बन सका होगा। इस तरह कोषों के विभक्त होते हुए भागों की पृथक रचनाएँ खड़े कर भी मूल कोष से जुटे पड़े रह जाने से एक विचित्र उपनिवेश-सा बनता जाता होगा। यही बहुकोषी जन्तु का प्रारम्भ

होगा। इस तरह के अपेक्षाकृत स्वतन्त्र कोषों के एक साथ जुटे रूपों के उदाहरण प्रस्तरावशेषों के रूप में प्राप्त होते हैं। इनमें गति कर सकने तथा संतानोत्पादन के लिए सहयोग स्थापित पाया जाता है किन्तु ये बहुकोषी जन्तु का स्थान नहीं पा सकते। यह प्रारम्भिक रूप का संगठन शिथिल ही रहा होगा।

स्पंज या छिद्रिष्ट जंतु में शिथिल रूप से ही जुटे बहुकोषी का आकार पाया जाता है। इसके कोषों में श्रम-विभाजन भी दिखाई पड़ता है किन्तु तन्तुओं का यथेष्ट विकास नहीं पाया जाता। बहुत से स्वतंत्र कोषों के एकत्र रहने पर भी यह एककोषीय व्यवस्था से बहुत उन्नत रूप नहीं कहा जा सकता। इसमें न तो मुख होता है और न उदर ही होता है। त्वचा के क्षुद्र छिद्रों युक्त होने से जल के साथ आहार का अंश भी कोषों द्वारा चूस लिया जाता है। इस कारण इसे बहुकोषी जंतुओं के विकास के मुख्य मार्ग का अनुगामी या पूर्वज नहीं कहा जा सकता। ये आदिम कोड़ाधारी एककोषी जंतुओं से ही उत्पन्न हुए होंगे। वर्तमान एककोषी जंतुओं में ग्रीवाधारी रूप केवल स्पंजों तथा इन जंतुओं का ही पाया जाता है।

बहुकोषी जंतुओं की प्रथम यथार्थ अवस्था उत्पन्न होने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। हम कल्पना कर सकते हैं कि कोषीय भित्ति के अन्दर एक कोष के प्रविष्ट हो जाने से दोहरे कोष की रचना हो सकी होती। ऐसे जंतु स्पंज उत्पन्न करने वाले कोषों से भिन्न रहे होंगे। इनमें तंतुओं की रचना होने लगी होगी जिसमें बाहरी झिल्लीदार त्वचा गति करने का विशेष गुण उत्पन्न कर सकी और उसमें रक्षा तथा संवेदन का गुण भी विकसित हुआ। उधर भीतरी त्वचा पाचन कार्य में अग्रसर हुई। ऐसे दोहरे कोष का विशेष तंतुओं से सज्जित प्राणी एककोषी प्राणधारियों में सिंह समान भयानक प्रतीत होने लगा होगा। यह अन्य एककोषी जंतुओं तथा एककोषी वनस्पतियों को उदरस्थ कर लेता होगा। यह कोषराज या कोष सिंह नाम पा सकने के लिए सर्वथा समर्थ रहा होगा। आंतरगुही या मूंगेनुमा एक-कोषी जंतुओं के शिशुओं की तरह इसका रूप चक्रीय सुडौल झालरदार और दोहरे कोषों की दीवाल युक्त होता होगा जो स्वच्छंद तैर सकता होगा। आज के मूंगे-नुमा (आंतरगुही) जंतुओं के भ्रूणों का रूप अधिकांशतः इसी प्रकार का पाया जाता है। इसलिए अनुमान किया जाता है कि पहले इस रूप के स्वतंत्र जीव प्रौढ़ रूप के होंगे। उनसे आगे बढ़ने पर विकास की दूसरी सीढ़ी पर आंतरगुही जंतुओं की उत्पत्ति हुई होगी जिनके भ्रूण पहली स्थिति का द्योतन करते हैं। इनके प्रौढ़ रूपों में मुख पर मूंछ या रोमीय उभाड़ की भाँति स्पर्शक सूत्र उत्पन्न होकर आंतरगुही या प्रवालवत् जीवों के उत्पादक हुए।

विकासात्मक प्रगति का दूसरा सोपान मध्य त्वचा का निर्माण कहा जा सकता है जो वाह्य त्वचा के मध्यवर्ती स्थित होने से मध्य त्वचा (मेसोडर्म) कहलाता है। इस तंतु से अधिक निश्चित अंगों और संस्थानों का निर्माण हो सकता था। और शरीर का आकार बड़ा तथा जटिल रूप का हो सकता था। मध्यवर्ती त्वचा की उत्पत्ति जंतुओं में दो प्रमुख विधियों से होती है। चपटाँगी कृमि, नेमटीन कृमि, चूर्णप्रावार (शंखनुमा जंतु), वलयित कृमि तथा सन्धिपादा अपृष्ठवंशियों में यह प्रायः दो विशिष्ट कोषों से उत्पन्न होती है जिन्हें 'आदिम मध्य त्वचा कोष' कहते हैं। किन्तु शल्यगाल तारकमत्स्यनुमा जंतुओं और मेरूमंत या पृष्ठवंशी जंतुओं में मध्य त्वचा की उत्पत्ति आदिम अंतः त्वचा को थैली रूप में उद्वर्धित करने से होती है। मध्यत्वचा की रचना में ऐसा अन्तर होने से ही, अन्य बातों का भी ध्यान रख विकास की दो महान शाखायें मानी जाती हैं जिन्हें संधिपादा महाशाखा और मेरुमंती महाशाखा नाम दिया जाता है।

विकास की संधिपादो महाशाखा का अनुसरण कर हम चिपिट कृमि या चपटांगी कृमि में मध्य त्वचा के महत्व का प्रारंभ देख सकते हैं। यहाँ प्रथम अंगों का विभिन्नीकरण दिखाई पड़ता है। इसके साथ ही शरीर के चारों ओर एक सी रूपरेखा या सुडौलता के स्थान पर एक पार्श्व की आकृति को ही प्रतिकृति दूसरे पार्श्व में दिखाई पड़ती है जिसे द्विपार्श्व समरूपता कहते हैं। इस विलक्षणता से ही पृष्ठवंशी जंतुओं का रूप रचित पाया जाता है। यह कहना

कठिन है कि शरीर के चारों ओर एक समान सुडौलता (चक्रीय समरूपता या सुडौलता) किस प्रकार द्विपार्श्वीय समरूपता बन सकी किन्तु कदाचित् पेंदे में रेंगने और एक तल का विशिष्ट रूप बनने से ही ऐसे रूप की उत्पत्ति प्रारंभ हो सकी होगी।

नेमर्टीन कृमि चिपिट कृमिवत ही होते हैं। प्रौढ़ रचना और आरंभिक विकास में इनको चिपिट कृमि का निकटवर्ती पाया जाता है. किन्तु उनमें अन्य विशेषतायें भी होती हैं। एक तो दो द्वारों के साथ भोजन नलिका का विकास हुआ रहता है, दूसरे रक्त परिभ्रमण व्यवस्था का प्रारंभ भी पाया जाता है। नेमर्टीनों से भी अग्रगामी शंखवत या चूर्ण प्रावार जंतु है जिनमें घोंघे, सीप, स्क्विड, आक्टोपस आदि की गिनती है। इनमे नेमर्टीनों की प्रारंभ की हुई व्यवस्थाएँ अधिक परिष्कृत हुई पाई जाती हैं। शंखवत कीट फंकयुक्त शरीर के नहीं होते। अतएव फंकोंयुक्त शरीर निर्माण होने के पूर्व ही वे मुख्य विकास शाखा से पृथक हो गए। अतएव वलयित कृमियों के पूर्व ही वे वंशवृक्ष में प्रशाखा बनाते दिखाई पड़ सकते हैं।

शरीर-रचना में समानता का अत्यधिक अभाव होने पर भी शंखवत् जन्तु वलयित कृमियों के बन्धु ही हैं। किसी भी दो अपृष्ठवंशी प्रसृष्टियों में जितनी समानता हो सकती है, उससे अधिक समानता इन दो प्रसृष्टियों में होने के प्रमाण विद्यमान हैं। वलयित कृमि और शंखवत् अपृष्ठवंशी जन्तुओं के प्रारंम्भिक भ्रूण कोष-प्रतिकोष पूर्ण समानता प्रदर्शित करते हैं। इन दोनों में एक प्रकार के कोषों से ही मध्य त्वचा उत्पन्न होती पाई जाती है। उनके स्वच्छन्द प्लवक शिशु जिन्हें ट्रोचोफ़ोर्स कहते हैं, बहुत कुछ मिलते-जुलते होते हैं। ट्रोचोफोरवत् शिशु जिनमें मध्य भाग में कालरदार पट्टी होती है, वलयित कृम और शंखवत् जन्तुओं के अतिरिक्त कुछ अन्य अपृष्ठवंशी गौण प्रसृष्टियों के शिशु के भी लक्षण हैं किन्तु उन प्रसृष्टियों को उल्लेखनीय नहीं पाया जाता है। चिपिट कृमि और निमर्टीन कृमि के शिशु तो निश्चित ही बहुत कुछ ट्रोचोफोरवत् होते हैं। अतएव प्रसृष्टि की पूर्ण शृंखलाओं को ट्रोचोफोरवत् शिशु एक सूत्र में आबद्ध करते हैं।

संधिपादी अपृष्ठवंशियों में ट्रोचोफ़ोर नहीं होते। उनमें आरंभिक विकास में वलयित कृमि के सादृश्य का अभाव ही होता है। किन्तु उनकी प्रौढ़ रचनाओं को इतने अधिक अंशों में समान पाया जाता है कि यह बात निस्सन्देह कही जा सकती है कि इन दोनों श्रेणियों का कोई एक ही फंकीय शरीर का पूर्वज रहा होगा जिसमें शरीर के प्रत्येक अंग में एक जोड़े उपांग होते होंगे और एक स्नायु मंडल भी होगा जो भोजन-प्रणाली के पिछले सिरे का चक्कर लगाकर पीछे की ओर उदर तल के साथ बढ़ा रह कर दोहरा दंड या सूत्र बना रहता होगा।

मेरुमंतीय महाशाखा के विकास की अधिक चर्चा करने का स्थान यहाँ नहीं है। शल्य पृष्ठ या तारक मत्स्य वत अपृष्ठवंशी जन्तु भी इस महाशाखा के ही अनुवर्ती हैं। किन्तु इसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि अपृष्ठवंशियों की कोई प्रसृष्टि यदि मनुष्य या अपृष्ठवंशियों के अधिक निकट हो सकती है तो वह तारक मत्स्य वाली प्रसृष्टि है। दूसरे शब्दों में पृष्ठवंशियों के पूर्वजों में तारक मत्स्य ही आपके निकटवर्ती सिद्ध होता है! इसका एक तर्क यह भी किया जा सकता है कि कृमियों, शंखों आदि अपृष्ठवंशियों के ट्रोचोफोर शिशु से तारक मत्स्य के स्वच्छन्द प्लवक शिशु सर्वथा भिन्न होते हैं। उनमें द्विपार्श्वीय समरूप तारक मत्स्य या शल्यपृष्ठ का शिशु ट्रोचोफोरों से अधिक चपटा होता है और उसमें गति कर सकने के लिए लंबोतरी झिल्ली मय टेढ़ी पट्टी होती है।

—:-०-:—

कीटों का कायापलट और हारमोन

प्रायः कीटों के शरीर का कई बार रूपान्तर होने के बाद अंतिम प्रौढ़ रूप उत्पन्न होता है। उसे कायापलट कह सकते हैं। जन्म के समय जो रूप रहता है प्रायः वह प्रौढ़ रूप से मेल खाता नहीं होगा। कुछ थोड़े से कीटों में ही ऐसी क्रिया नहीं देखी जाती। उनमें शिशु भी माता-पिता की आकृति के, किन्तु आकार में छोटे होते हैं। हम उनको अपवाद ही समझ कर कीटों का अधिकांशतः कायापलट करने वाला मान कर उनकी इस जीवन क्रिया पर विचार करना चाहते हैं।

कीटों के कायापलट की समस्या सदा से ही एक विशेष कौतूहल और आश्चर्य का विषय रही है। शरीरविज्ञान-वेत्ताओं और जीववैज्ञानिकों के अनुशीलन और प्रयोगों द्वारा बाह्य रूप का रहस्य तो खुल सका है परन्तु भीतरी मर्म गुप्त ही पड़ा है।

पतंग और तितली कीटों में, जिन्हें क्षुद्र शल्कों या छिछड़ों से पंख निर्मित होने से शल्किपक्ष कीट कहते हैं, कायापलट का चरम सीमा का उदाहरण पाया जाता है। उनमें अंडे से उत्पन्न सूंडी या इल्ली कोशस्थ या कोएदार रूप धारण करने के पश्चात् अंतिम रूप में कायापलट की क्रिया होती है। तब पंखदार प्रौढ़ कीट पतंग या तितली (चित्रपतंग) नाम से उत्पन्न दिखाई पड़ता है। उनके शिशुओं में प्रौढ़ रूप (पंखधारी) के अंगों का अविकसित आधार शरीर में विद्यमान् रहता है जो पैर और पंख आदि की उत्पत्ति करता है। इनके उत्पादक आधार अभिन्न स्थिति के कोषों के पुंज की तरह ही सूंड़ियों में विद्यमान रहते हैं। उनको काल्पनिक रूप में चकत्ती भी समझा जाता है। इन कीटों के सम्पूर्ण सूंड़ी (शिशु) काल में पंख के आधार कण अंतर्वर्ती ही विकसित होते रहते हैं! कोशस्थ अवस्था के आगमन तक उनकी उपस्थिति व्यक्त नहीं हो पाती।

स्पष्ट तथ्य यह ही है कि प्रौढ़ रूप की विशुद्ध रचनाओं का शिशु जीवन में कोई भी व्यावहारिक सहयोग नहीं होता। अंडे से उत्पन्न होने पर शिशु के अंगों का पूर्णतः विकास और विभेद हुआ तो पाया जाता है। परन्तु शिशु की पूर्ण वृद्धि तक प्रौढ़ कीट का रूप प्रच्छन्न ही पड़ा रहता है और कायापलट की क्रिया पूर्ण करने वाले त्वचामोचन से ही उसका वास्तविक रूप स्फुटित होता है।

शल्किपक्षी कीटों की सूंड़ी को कुछ विचारक चलता फिरता भ्रूण कह कर संतोष करते हैं परन्तु यथार्थतः वह पूर्णतः रूपविभिन्नित प्राणधारी होती है जिसके अंतर्गत प्रौढ़ तितली या पतंग का रूप भ्रूणीय अवस्था में विद्यमान होता है। कायापलट में यह होता है कि सूंड़ी का रूप लुप्त हो जाता है और उसके बाद भीतर छिपे प्राणी तितली या पतंग की उत्पत्ति और रूपविभेद अविलंब हो जाता है।

जन्तुओं के विकास में अंगों का प्रत्यक्ष विभिन्नीकरण होने के पूर्व एक तैयारी की अवस्था होती है जिसमें बाह्य रूप से तो सब खंड समान प्रतीत होते हैं परन्तु प्रत्येक खंड जीव के उस विशिष्ट अवयव के निर्माण के लिए पहले से ही निर्धारित या नियोजित होता है जो भावी रूप में उत्पन्न होने वाला होता है। उस स्थिति के विकास को संक्रमण अवस्था पहुँचा कहा जाता है। कीटों के शरीर के मुख्य भागों का निर्धारण अंडे के विकास के बहुत आरम्भ काल में ही हो चुका रहता है। कुछ कीटों में जैसे ड्रोसोफिला नाम की फल-मक्खी में अंडा देने के समय उसके तल पर जनन कण के प्ररस में ही संक्रमण अवस्था पहुँची रहती है। अर्थात् अंडे के एकाकी बीज-केन्द्र का जब विभाजन प्रारम्भ नहीं हुआ रहता, तभी यह अवस्था
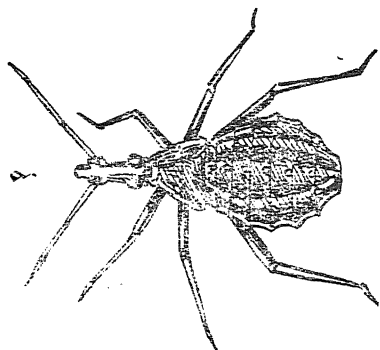
चित्र १—रोडनियस इल्ली की चतुर्थ अवस्था (यथार्थ आकार का चौगुना)।
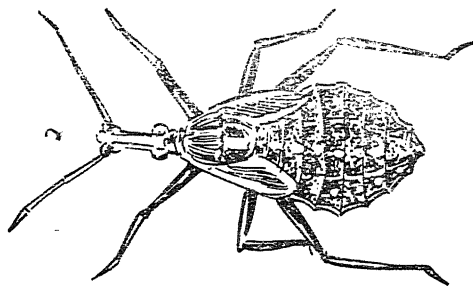
चित्र २—रोडनियस इल्ली की पञ्चम अवस्था (यथार्थ आकार का तिगुना)।
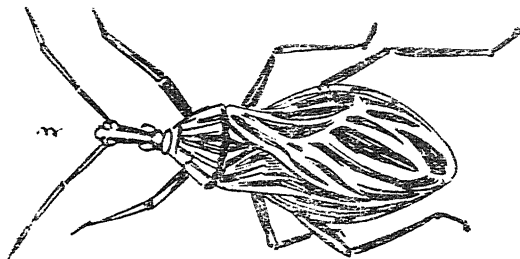
चित्र ३—रोडनियस प्रौढ़—पाँचवीं अवस्था की इल्ली से कायापलट होने पर पूर्णतः विकसित पंखोंयुक्त (यथार्थ आकार का ढाई गुना)।

चित्र ४—पाँचवीं अवस्था की रोडनियस इल्ली—सिर कट जाने के बाद भी ग्यारह मास तक जीवित पड़ी रही। (यथार्थ आकार का दुगुना)।

चित्र ५—दीर्घकाय प्रौढ़ रोडनियस छठीं अवस्था की इल्ली के कायापलट के पश्चात् उत्पन्न (यथार्थ आकार का दुगुना)।
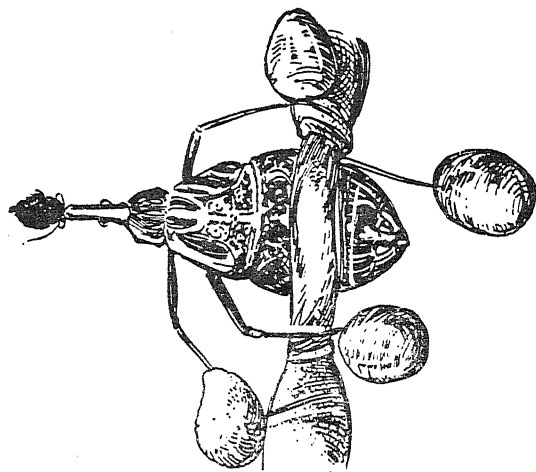
चित्र ६ – पहली अवस्था की रोडनियस इल्ली पाँचवीं अवस्था के रोडनियस इल्ली से गर्दन द्वारा सम्बन्धित जिससे वामन प्रौढ़ की उत्पत्ति हुई (असली आकार का तिगुना)।
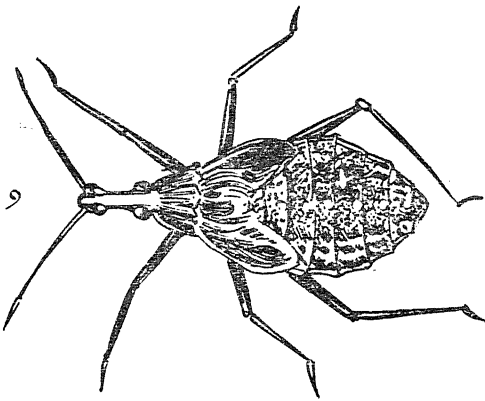
चित्र ७—दीर्घकाय या छठी अवस्था की रोडनियस इल्ली यौवनस्थापक हारमोन स्रवित करने वाली ग्रंथि 'कार्पस एलेटम' की कलम करने से उत्पन्न। कलम करने की जगह उदरस्थल पर एक दाग की भाँति दिखाई पड़ती है।
(यथार्थ आकार का ढाई गुना)
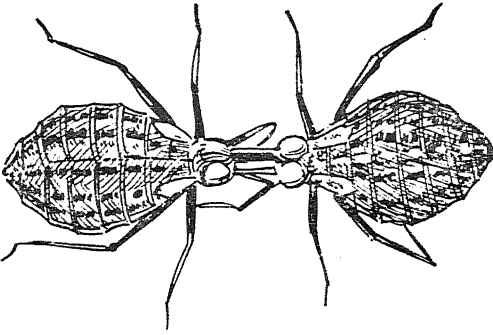
चित्र ८—चतुर्थ अवस्था की रोडनियस इल्ली जिसका सिर खाने के एक हफ्ते बाद काट लिया गया और एक नली द्वारा चौथी अवस्था की दूसरी इल्ली से, उसके खाने के चौबीस घन्टा बाद जोड़ दिया गया। पहले कीड़े के त्वचामोचक हारमोन से दूसरे कीड़े में त्वचामोचन क्रिया होती है।
(यथार्थ आकार का तिगुना)
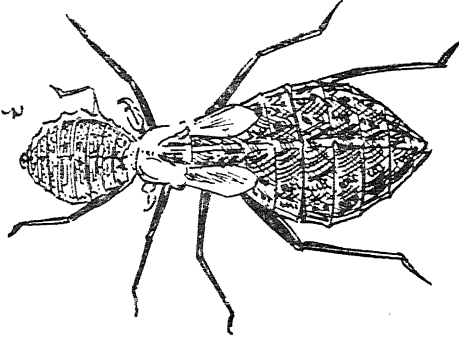
चित्र ९—ट्रियाटोमा प्रजाति के कीट की अल्पायु इल्ली (ऊपर की ओर) खाने के चौबीस घन्टे बाद सिर काटी हुई है। खाने के दस दिन बाद रोडनियस को पाँचवी अवस्था की इल्ली का सिर काट कर जोड़ देने पर उसमें त्वचामोचन की क्रिया करा सकी।
(यथार्थ आकार का तिगुना)
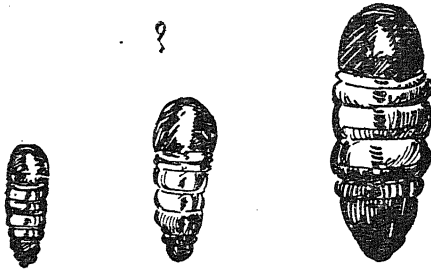
चित्र १०—रेशम का कोशस्थ कीट बाएँ से पहला—उस इल्ली से उत्पन्न जिसमें यौवनस्थापक ग्रंथि (कार्पस एलेटम) तीसरी अवस्था में निकाल ली गई। दूसरा—उस इल्ली से उत्पन्न जिसमें उसी प्रकार चौथी अवस्था में क्रिया हुई। तीसरी—पाँचवीं अवस्था की साधारण इल्ली से उत्पन्न।

चित्र ११—ऊपरी कोशस्थ कीटों से क्रमशः उत्पन्न कोश या कोये।
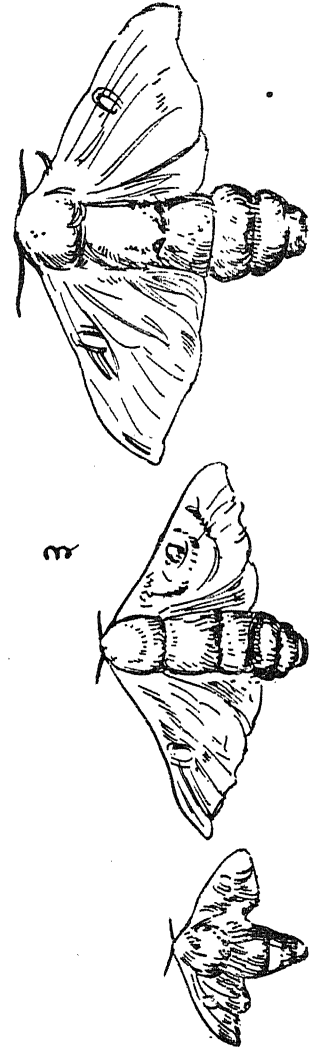
चित्र १२—ऊपर के कोशस्थ कीटों से क्रमशः उत्पन्न पतंग
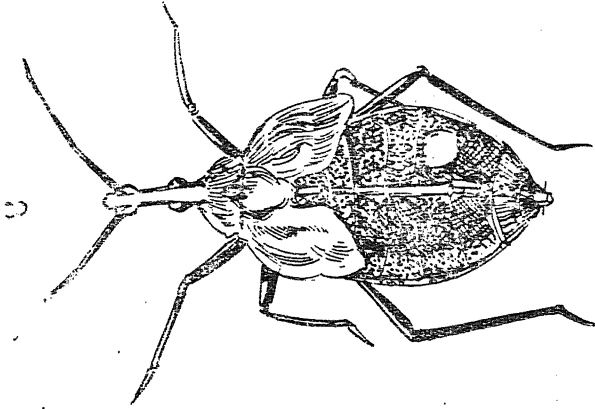
चित्र १३—अल्पायु इल्ली के यौवनस्थापक ग्रंथि (कार्पस एलेटम) पाँचवीं अवस्था की इल्ली (चित्र सं० ४ को भी देखें) के उदर में कलम कर जोड़ने से उत्पन्न रोडनियस जो इल्ली और प्रौढ़ अवस्था के मध्य का लक्षण रखता है।
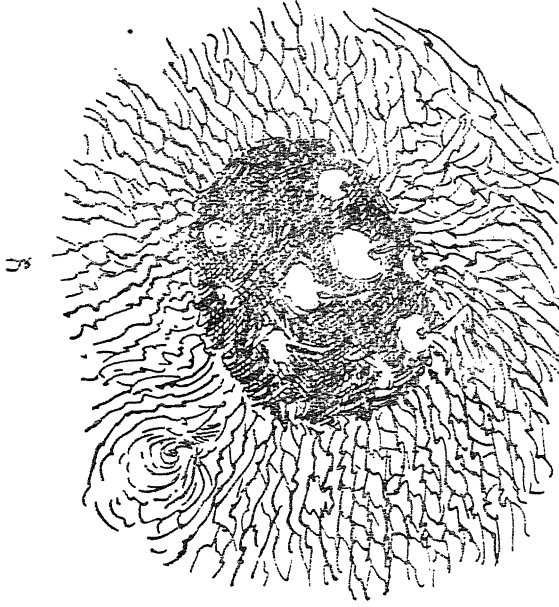
चित्र १४—प्रौढ़ रोडनियस के उदर का बाह्यचर्म जिसे पाँचवीं अवस्था में चित्र ४ और ७ के कीटों की भाँति प्रभावित किया गया है। यह एक साधारण रूप का प्रौढ़ कीट बना है परन्तु इल्ली के ढंग के एक बाह्य चर्म की चकत्ती एक मिलीमीटर व्यास की है और यौवन-स्थापक ग्रंथि कलम द्वारा जोड़ने की जगह ही है।

पहुँच चुकी रहती है। अन्य कीटों में यह अवस्था कुछ बाद की विकास स्थिति में आती है। जब संक्रमण स्थिति उत्पन्न हो गई हो तो निर्धारित अंग के किसी अंश पर सूक्ष्म ताप किरणों द्वारा ज्वलन क्रिया करने से उसका क्षय हो सकता है अतएव उस जीव के शरीर का प्रत्यक्ष अंग विभेदन और विकास पूर्ण होने पर उस अंग का लोप ही हो सकता है।

इन कीटों के संबंध में विचित्र तथ्य यह है कि विकास की उस आरंभिक अवस्था में सूंड़ी जीवधारी और प्रौढ़ जीवधारी स्पष्ट भिन्न होते हैं। ड्रोसोफिला फल मक्खी के नए अंडे के सीमित क्षेत्र का क्षय कर देने से अंडे से उत्पन्न सूंड़ी में तदनुरूप अंगाभाव होता है किन्तु उस से उत्पन्न प्रौढ़ मक्खी पूर्णतः साधारण रूप की ही होती है। इस अवस्था में अंडा सूंड़ी के शरीर निर्माण के संबंध में संक्रमण स्थिति में होता है किन्तु प्रौढ़ कीट के शरीर निर्माण के सम्बंध में निर्धारित स्थिति अभी तक नहीं होती। परन्तु अंडा दिए जाने के सात घंटे बाद ही काल्पनिक निर्धारण प्रारम्भ हो जाता है। अब अंडा प्रौढ़ कीट के रूप के सम्बन्ध में भी संक्रमण स्थिति में हो जाता है। इस स्थिति के पहुँचने के बाद यदि विशिष्ट क्षेत्र को क्षति पहुँचे तो प्रौढ़ मक्खी में भी उसका प्रभाव दिखाई पड़ सकता है। इतना अवश्य है कि इन व्याघातों का प्रभाव पैर, पंख आदि अंगों पर पड़े; जो सूंडी में तो विद्यमान नहीं होते, प्रौढ़ रूप में ही पहले पहल दिखलाई पड़ने वाले होते हैं तो उन व्याघातों का प्रभाव कायापलट होने तक कुछ भी प्रतीत नहीं हो सकता। टिनियोला प्रजाति के वस्त्र कीटों में भी किरणदाह क्रिया ठीक घड़ी करने से कभी-कभी यह सम्भव हो सकता है। साधारण अंगों का वस्त्रपतंग सूंड़ी से ही उत्पन्न कराया जा सके, जिसमें एक या दो पैर पूर्णतः लुप्त रहे हों।

इस प्रकार कायापलट का अर्थ उन सब प्रौढ़ या अविकसित लक्षणों की उत्पत्ति है जो सूंडी (शिशु) के सम्पूर्ण जीवन काल में सुप्त पड़े रहते हैं। अतएव कायापलट से शरीरवैज्ञानिक अनुशीलन का उद्देश्य उन उपादानों की छानबीन है जिनके द्वारा इन लक्षणों की अभिव्यक्ति नियंत्रित की जा सकती है।

पहले अनेक मन्तव्य रक्खे जा चुके हैं किन्तु अब इन बातों के प्रमाण संचित हो सके हैं कि हारमोन द्वारा नियंत्रण कार्य सम्पादित होता है। प्रयोग के उद्देश्य से एक अल्प कायापरिवर्तनीय कीट को ही लिया गया जिसमें सूंडी से तितली बनने तक के रूपों में चरम सीमा का कायापलट नहीं होता। बल्कि शिशु अवस्था प्रौढ़ आकृति से बहुत भिन्न नहीं होती और जिनके कायापलट में केवल पंख तथा जननांगों के और अन्य रचनात्मक परिवर्तन ही होते हैं जिनके लिए मध्यवर्ती स्थिति में कोशस्थ रूप की आवश्यकता नहीं पड़ती।

दक्षिण अमेरिका का एक रक्तचूषक मत्कुण 'रोडनियस' पूर्ण विकास होने पर केवल दो सेंटीमीटर लंबा ही होता है। वह प्रयोग के लिए सुविधाजनक सिद्ध हो सका है। सब कीट त्वचामोचन या केंचुल उतारने की क्रियाओं से ही शरीर परिवर्तन करते हैं और बराबर त्वचामोचन के लिये बाह्य त्वचा पुराने बाह्य चर्म से असम्बद्ध हो जाती है, एक नया और बड़ा चर्म बना लेती है तब अन्त में पुराने बाह्य चर्म को शरीर से पृथक कर देती है।

क्षुद्र खटमल 'साइमेक्स' की तरह 'रोडनियस' भी पाँच बार त्वचामोचन करता है। अपनी प्रत्येक त्वचामोचन स्थिति में केवल रक्त के प्रचुर आहार की आवश्यकता होती है। पाँचवीं त्वचामोचन क्रिया के समय यह कायापलट करता है और प्रौढ़ बन जाता है।

(चित्र १—३)

रोडनियस में त्वचामोचन के पूर्व शरीर की वृद्धि, पुनर्व्यवस्था और अगली अवस्था के लिए बाह्य चर्म स्थापित करने की क्रिया होती है। यह पूर्ण विस्तृत कार्यक्रम कतिपय दीर्घ परिवर्तित स्नायु कोषों से, जो मस्तिष्क के पृष्ठतल पर स्थित होते हैं, स्रवित एक रस द्वारा क्रियाशील होता है। यदि रक्त का प्रचुर आहार कर लेने के बाद एक दिन के भीतर भी इस मत्कुण का शिरोच्छेद कर दिया जाय तो त्वचामोचन क्रिया रुक जाती है, परन्तु

ऐसे शिरहीन मत्कुण कीट साल भर से भी अधिक जीवित रहते पाये जा सके हैं। (चित्र ४)। यदि उपर्युक्त रस-स्रावक कोषों को निहित करने वाले मस्तिष्क क्षेत्र को काटकर किसी शिरहीन बनाए मत्कुण कीट के उदर में कलम करने की भाँति जोड़ दिया जाय तो वह नियम पूर्वक त्वचामोचन कर सकेगा। इससे भी बढ़कर आश्चर्य की दूसरी बात यह है कि यदि यह वृद्धि की प्रारंभिक स्थिति का शिशु कीट हो, तब भी उसका कायापलट हो सकेगा और वह ठिगने प्रौढ़ कीट रूप में विकसित हो सकेगा। यह कैसे विस्मय की घटना है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मस्तिष्ट एक त्वचामोचक हारमोन स्रवित करता प्रतीत होता है। रोडनियस में यह वृद्धिगत अंगों पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालते अनुमानित किया गया है किन्तु पतंगों के शिशु (सूंड़ी) और कोशस्थ (क्रिसेलिड्स) रूपों में यह प्रक्रिया अधिक जटिल दीखती है। कौशेय कीट पतंग के कोशस्थ रूप के मस्तिष्क में दो श्रेणियों के कोष होते हैं जो देखने में दो प्रकार के रस स्रवित करते हैं। त्वचामोचन होने के लिए उन दोनों प्रकारों का विद्यमान रहना आवश्यक होता है। ये स्रवित रस तंतुओं पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं डालते, बल्कि अन्य स्रावक अंग पर प्रभाव डालते हैं जो एक ऐसा रस स्रवित करता है जिसकी कीट की शरीर-वृद्धि और त्वचामोचन में आवश्यकता होती है। इन पदार्थों के गुण की खोज नहीं की जा सकी है। कोशस्थ अवस्था बनने और त्वचामोचन के समय कीटों के रूप में उल्लेखनीय परिवर्तन पाया जाता है। विभिन्न कीटों में विभिन्न रूप की वस्तुएँ रक्त में विद्यमान देखी जाती हैं। रक्त के परिवर्तित रूप धारण करने पर ये विभिन्न पदार्थ विद्यमान देख कर प्रश्न उठता है कि ये हारमोन ही हो सकते हैं या परिवर्तन की क्रियाओं से उत्पन्न काल के कारण ही इनको विद्यमान देखा जाता है। इस गंभीर प्रश्न का उत्तर नहीं प्राप्त हो सका है।

मस्तिष्क कोषों की कलम, जो त्वचामोचक हारमोन उत्पन्न करती है, शिरहीन बनाए हुए रोडनियस के उदर में लगाने से कायापलट होने के उदाहरण को हमने देखा है जिससे उस शिशु कीट में भी कायापलट होता पाया जाता है जिसकी वृद्धि बिल्कुल अधूरी ही हुई रहती है। इस परिणाम से ज्ञात होता है कि मुँह कोई दूसरा उपादान उत्पन्न करता है जो शिशुकाल में कायापलट की क्रिया साधारणतया अवरुद्ध रखता है। ऐसा उपादान अवश्य है, यह सिद्ध किया जा चुका है, इसे यौवन-स्थापक हारमोन कहते हैं। इसका स्रवण शरीर की अंतवर्ती एक विशेष ग्रंथि से होता है जिसको "कार्पस एलेटम" नाम दिया गया है। यह ग्रंथि मस्तिष्क के पीछे स्थित होती है। स्तनपोषियों में यौवन संचारक पिट्युटरी ग्रंथि पाई जाती है। उसकी समवर्ती यह ग्रंथि जान पड़ती है।

रोडनियस कीट प्रौढ़ बनने के पूर्व पाँच शिशु अवस्थायें रखता है। यदि किसी एक शिशु अवस्था से 'कार्पस एलेटम' नाम की उपयुक्त ग्रंथि पृथक कर ली जाय और पाँचवीं अवस्था के शिशु में उसको कलम कर दी जाय तो उस कीट के त्वचामोचन करने पर एक दीर्घ-काय शिशु रूप या छठीं अवस्था के शिशु की उत्पत्ति होती है। प्रौढ़ स्थिति का कीट नहीं उत्पन्न होता (चित्र ७)। इसी प्रकार सातवीं अवस्था का शिशु कीट भी उत्पन्न किया जा सका है और कतिपय छठीं अवस्था के शिशुकीट सफलता पूर्वक कायापलट कर दीर्घकाय प्रौढ़ कीट बन सके हैं (चित्र ५—६)।

इसके विपक्ष त्वचामोचन प्रारंभ होने जाने के समय एक शिशु रोडनियस का शिर काट लेने से शरीर में अनायास कायापलट हो उठता है। जीवित रोडनियस की यौवनस्थापक ग्रंथि (कार्पस एलेटम) सिर और मस्तिष्क को क्षति पहुँचाए बिना काट निकालना संभव नहीं हो सका है किन्तु अन्य कीटों में यह स्पष्ट सिद्ध हो सका है और रोडनियस में उत्पन्न परिणाम की भी पुष्टि हो सकी है। दंडकीट ऐसे भी प्रभाव में होने पर क्षुद्र काय रहने पर भी अंडा देता पाया गया है। तेलचटा अल्पायु में प्रौढ़ बनाये जा सके हैं। कौशेय कीट (रेशम का कीड़ा) नन्हें कोशस्थ रूप का बनाया जा सका है जो नन्हें पतंग को उत्पन्न करने में समर्थ हो सका।

यौवनस्थापक हारमोन रोडनियस की प्रथमचार शिशु अवस्थाओं की सम्पूर्ण अवधि में स्रवित होता है। पांचवी अवस्था के समय वह स्रवित नहीं होता। पांचवीं अवस्था की यौवनस्थापक ग्रंथि (कार्पस एलेटम) की कलम अन्य पांचवीं अवस्था के कीट में लगाने से कायापलट की क्रिया अवरुद्ध नहीं होती। प्रौढ़ अवस्था में यह रस एक बार पुनः स्रवित होने लगता है। अंडों के परिपक्व होने के लिए उस समय उसकी आवश्यकता होती है। यदि आहार कर लेने के पश्चात् प्रौढ़ मादा का सिर काट लिया जाता है तो अंडे विकसित नहीं होते। उसमें यौवन-स्थापक ग्रंथि दूसरे कीट से लेकर उदर में कलम की जाय तभी अंडे विकसित होना प्रारंभ हो सकते हैं। यदि प्रौढ़ कीट की यौवनस्थापक ग्रंथि पाँचवीं अवस्था के शिशु के उदर में कलम की जाय तो कायापलट अवरुद्ध हो जाता है और छठीं शिशुअवस्था ही उत्पन्न होती है।

इन बातों से प्रत्यक्ष होता है कि हारमोन उन लक्षणों की अभिव्यक्ति ही नियंत्रित करते हैं जो कोषों में सुप्त विद्यमान रहते हैं। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं हो सकती कि अपनी क्रियाशीलता के लिए वे उन कीटों में ही सीमित नहीं रहते जिनसे उनकी उत्पत्ति हुई रहती है। एक त्वचामोचन करने वाले रोडनियस का रक्त अन्य संबंधित प्रजाति ट्रायाटोमा या साट्मेक्स प्रजातीय खटमल से भी शिरहीन बनाए शिशु के अन्दर प्रविष्ट कराने पर त्वचामोचन प्रारंभ कर सकता है। (चित्र ६-८)। यदि खटमल के पाँचवीं अवस्था के शिशु के शरीर में यौवन-स्थापक हारमोन रखने वाले रोडनियस शिशु का रक्त प्रविष्ट किया जाय तो उसे प्रौढ़ बनने से रोका जा सकता है।

कीट का स्वाभाविक रूप की शरीर वृद्धि होना, शरीर-वृद्धि पूर्ण न होने तक कायापलट क्रिया का स्थगन और एक ठीक निश्चित समय पर ही कल्पनाभूत अंग का विभिन्नीकरण प्रारंभ हो जाना घटना-क्रम का एक अत्यन्त विशुद्ध काल निरूपण व्यक्त करते हैं। हारमोन निश्चित समय ही निश्चित मात्रा में ही उन्मुक्त होने चाहिए। यदि ये स्थितियाँ पूर्ण न की जाँय जैसे उदाहरणतः प्रयोगों में कृत्रिम रूप से शिशु रोडनियस का यौवनस्थापक हारमोन की एक पाँचवीं अवस्था के शिशु में कलम की जाय और यौवनस्थापक हारमोन की मात्रा बहुत न्यून हो या बहुत विलंब से उत्पन्न हो तो कायापलट अधूरा होता है और शिशु तथा प्रौढ़ के अवस्था के मध्य का कीट ही उत्पन्न होता है। (चित्र १३, १४)

इस प्रकार के व्यतिक्रम प्रकृति में भी पाये जाते हैं। ऐसी सूंड़ियाँ उत्पन्न हुई पाई जाती हैं जिनमें पंखों की फाँकें हों और अर्द्ध निर्मित कोशस्थ कीट की भाँति स्पर्शसूत्र भी दिखाई पड़ें या कोशस्थ कीट ही ऐसे उत्पन्न हो सकते हैं जिनमें सूंड़ी की तरह दिखाई पड़ने वाले शरीर के भाग हों। विभिन्न जातियों के नर मादा के संयोग से उत्पन्न दोगली कीटों में ऐसे रूपव्यतिक्रम अत्यधिक मिल सकते हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि हारमोन रस की प्रगाढ़ता या उत्पादन काल में भूल होने से ही वैसा परिणाम होता है।

यह प्रतीत हो सकता है कि शिशु कीट के कोषों में दो व्यवस्थायें होती हैं, एक तो प्रौढ़ कीट उत्पन्न करने में समर्थ होती और दूसरी शिशु या सूंड़ी उत्पन्न करके में समर्थ होती हैं, केवल त्वचामोचक हारमोन की ही उप-स्थिति होने पर प्रौढ़ व्यवस्था क्रियाशील होती है और कायापलट घटित होता है। त्वचामोचक और यौवनस्थापक दोनों ही हरमोनों की यदि उपस्थिति हो तो शिशु व्यवस्था जागरूक होती है और कायापलट दब जाता है, या कदा-चित हमें किसी एक ही व्यवस्था की स्थिति मानना पड़ सकती है जिसको एकान्तरित दिशाओं में अपनी क्रियाएँ यौवनस्थापक हारमोन की उपस्थिति या अनुपस्थिति के अनुसार ही परिवर्तित करते पाया जाता है। अंततः अव-यव तत्वों की प्रकृति और तंतुकोषों में निहित सुप्त तथा हारमोन के मध्य पारस्परिक क्रिया की विधि जीववैज्ञानिक समस्यायें ही हैं। उनका इस दृष्टि से ही विवेचन हो सकता है।

एक बार जब कीट प्रौढ़ अवस्था में पहुँच जाता है तो वह फिर त्वचामोचन नहीं करता। केवल अत्यंत

आदिम रूपों में इसका अपवाद पाया जा सकता है। प्रौढ़ रोडनियस को यदि शिशु त्वचामोचन कीट के साथ जोड़ दिया जाय जिससे एक का रक्त दूसरे के शरीर में प्रवाहित हो सके तो प्रौढ़ कीट में त्वचामोचन क्रिया हो सकती है। किन्तु उसी समय यौवनस्थापक ग्रंथि उसके बदन में कलमं कर यौवनस्थापक हारमोन भी पहुँचा दिया जाय तो उसके उदर पर सूंड़ी की तरह की बाह्य त्वचा उत्पन्न पाई जा सकती है। उसमें एक ओर आंशिक कायापलट क्रिया की ओर लौटने की प्रवृत्ति होती है, दूसरी ओर आंशिक रूप में शिशु अवस्था उत्पन्न होती है।

इन समस्याओं का भविष्य क्या होगा इसका उत्तर रसायन विज्ञान की भावी खोजें ही व्यक्त कर सकती हैं। कीटों और वृद्धि-नियंत्रक हारमोनों का गुण ज्ञात करना और उनकी क्रिया की अवस्था निश्चित करना संभव हो सकता है। वे जीवित कोषों द्वारा संवाहित प्राणधारी के साँग जीवन कण तथा जिस उत्प्रेरक पदार्थों पर हारमोन क्रियाशील होती है, उसकी प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना एक टेढ़ी समस्या है जिसका जीवन की प्रकृति सा ही मर्म है और इन क्षेत्रों में जीववैज्ञानिकों को भविष्य में कुछ समय अपने बुद्धिकौशल को प्रयुक्त करते ही रहना पड़ेगा।

[इस लेख के सब ब्लाक किताब महल, इलाहाबाद के सौजन्य से प्राप्त]

पक्षियों का इतिहास [पृष्ठ २६ का शेषांश]

अर्थ न लेना चाहिए कि किसी समकालीन सरीसृप से ही अकस्मात् इसकी उत्पत्ति हो गई प्रत्युत सरीसृप पूर्वजों से एक शाखा रूप में इसका विकास हुआ होगा। यह बात कही जा सकती है कि आर्चियोप्टेरिक्स के कंकाल में सरीसृपीय अवस्था से बहुत अधिक अन्तर नहीं उत्पन्न हुआ था। इस पक्षी का आकार एक द्रोण काक (वन कौए) के बराबर ही था अतएव वह पूर्वज सरीसृप एक फुट लम्बा होना चाहिए, जिसमें छोटा कपाल हो और आर्चियोप्टेरिक्स की तरह उसमें दाँत हों। कशेरुकाएँ सिरे पर चपटी या हल्की प्यालीनुमा ही हों। अगले पैरों की लम्बाई प्रायः पिछले पैरों के ही बराबर हो।

सरीसृपों की दो श्रेणियों में सब लक्षण पाये जा सकते हैं। एक तो पक्षांगुलीय या पक्षसरटों को इस तरह का पाया जाता है, दूसरे छोटे आकार में द्विपदगामी दानवसरटों में भी ऐसा लक्षण मिलता है। पक्षसरटों में खोखली हड्डी होती थी और उड़ान विधि भी दूसरी थी। द्विपाद दानवसरट अगले पैरों को भूमि से ऊपर कर पिछले पैरों पर दौड़ सकते थे। उनके कपाल, पादांगों और श्रोणिचक्र में प्राचीनतम पक्षियों से समानता पाई जाती है। इस जंतु से प्रत्यक्ष ही प्राचीनतम पक्षी का विकास न होकर उसके किसी पूर्वज ही से भिन्न शाखावत् हुआ होगा। ऐसे रूप के सरीसृप स्यूडोसूचिया नाम से ज्ञात हैं। परन्तु इनसे भी अधिक उपयुक्त कुछ दूसरे सरट पूर्वज पक्षी कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं।

आज से २० करोड़ वर्षों पूर्व परमियन काल में अनेक अविशिष्ट रूप के छोटे सरीसृप थे जो दो पैरों पर दौड़ सकते थे और अगले शरीर को भूमि से ऊपर उठा सकते सकते थे। किसी समय भूमि पर जीवन संघर्ष बहुत बढ़ जाने से इनमें से कुछ ने पृथ्वी को छोड़ कर वृक्षों पर आहार प्राप्त करना सरल समझा होगा। उसी जीवन का परिणाम यह हुआ होगा कि दाँतों की आवश्यकता न्यून होने लगी, जिससे चोंच ही कीड़े मकोड़े पकड़ने के लिए यथेष्ट रह गई तथा किसी प्रकार कुलाँच की उड़ान भरने की शक्ति उत्पन्न होने के बाद उड़ने की भी शक्ति और पंखों के उत्कृष्ट रूप का विकास हुआ। आर्चियोप्टेरिक्स ऐसे ही विकसित रूपों का जंतु था।

कांच की कहानी

रेमण्ड शूसलर

रोमन इतिहासज्ञ प्लिनी के कथनानुसार ईसा से लगभग ५००० वर्ष पहले, फीनिशिया के मल्लाहों का एक दल तूफान के कारण भूमध्य सागर के किसी अज्ञात तट पर जब पहुँचा, तो उसे खाना पकाने की पतीली के नीचे रखने के लिए पत्थर नहीं मिले। उनमें से एक मल्लाह ने यह सुझाव दिया कि पतीली को जहाज़ में पड़े सोडे के टुकड़ों पर रख दिया जाए। उन्होंने ऐसा ही किया और आग जलाने के बाद वे यह देख कर चकित रह गए कि इस चूल्हे से एक तरल पदार्थ बाहर निकल रहा है। ताप से रेत और सोडा आपस में मिल गए थे। यहीं से काँच को तैयार करने की कहानी शुरू होती है।

हमारे जीवन में कांच-उद्योग का महत्व बहुत बढ़ गया है और हमारे दैनिक जीवन में इसका उपयोग निरन्तर बढ़ रहा है। बाइजेन्टाइन के कारीगरों ने १० वीं शताब्दी में जब खिड़कियों में इस्तेमाल करने के लिए कांच तैयार किया था, तब वे यह समझते थे कि उन्होंने कांच-उद्योग में चोटी की प्रगति कर ली है, लेकिन उन्हें इस संभावना का ज्ञान नहीं था कि किसी दिन इससे गाँठें बाँधी जा सकेंगी, कपड़ा या रेशम तैयार किया जाएगा, इसे जोड़ा या चीरा जा सकेगा या कील की तरह गाड़ा या रबड़ की तरह मोड़ा या तैराया जा सकेगा।

अमेरिका में कांच का निर्माण करने वाली पहली भट्ठी

अमेरिकी इण्डियनों के साथ कांच की बनी मालाओं का व्यापार करने के लिए जौन स्मिथ ने पहली बार कांच तैयार करने के लिए भट्ठी का निर्माण किया। कांच तैयार करने को इस प्रकार अमेरिका का पहला औद्योगिक व्यवसाय कहा जा सकता है। उत्तमता एवं उत्पादन की दृष्टि से आज अमेरिका, कांच-उद्योग में न केवल पहले नम्बर पर है, अपितु विज्ञान एवं उद्योग के सभी क्षेत्रों में कांच को इस्तेमाल में लाने में अग्रणी है।

कांच के कई तरह से इस्तेमाल करने और उससे कई तरह के लाभ उठाने का श्रेय केवल अनुसन्धान-कार्य को ही प्राप्त है। अन्य बहुत से उद्योगों की तरह कांच-उद्योग में जिस साहस एवं स्वतन्त्रता से परीक्षणों पर खर्चा किया जाता है, उसी के कारण इसने समाज में उन्नति की है।

१८५१ में स्थापित हुई "कोर्निंग ग्लास वर्क्स" नामी कम्पनी का उदाहरण लीजिए। स्थापना के पहले २५ वर्षों में, इस कम्पनी ने कांच तैयार करने वाली दूसरी कम्पनियों की तरह ही काम किया। अन्तर केवल यह रहा कि इस कम्पनी ने रंगीन कांच को नए तरीकों द्वारा तैयार करने के काम में रुचि लेनी शुरू की। १८७७ ई० में रेलों के सिगनलों के लिए रंगीन कांच तैयार करने की समस्या समाने आई। तब तक कम्पनी ने विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों की सहायता से उस समस्या को हल कर लिया। विज्ञान की सहायता से कांच-उद्योग में तब विकास-कार्य शुरू हो गया।

१८७९ का महत्त्वपूर्ण वर्ष

काँच के इतिहास में १८७६ का वर्ष बड़ा महत्वपूर्ण वर्ष है। इस वर्ष कोर्निंग कम्पनी ने टौमस ए० एडिसन के लिए बिजली के बल्ब का खोल तैयार किया था। आगामी तीस वर्षों में काँच को वाणिज्य एवं उद्योग के कई क्षेत्रों में इस्तेमाल किया जाने लगा; इसे रसोई के बर्तनों, प्रयोगशालाओं, औषधि तैयार करने के पात्रों, ताप-अवरोधक कांच, माउण्ट पालोमर (कैलिफ़ोर्निया)

स्थित दूरवीक्षण यन्त्र और इस तरह के अन्य कई यन्त्रों में इस्तेमाल किया जाने लगा।

कांच को व्यापक रूप से इस्तेमाल करने का श्रेय केवल नई विधियों को ही प्राप्त नहीं है, अपितु मशीनों को भी प्राप्त है, जिनकी सहायता से काँच निर्मित वस्तुओं को बड़े पैमाने पर तैयार किया जाता है। इस का एक बड़ा उदाहरण बिजली के बल्ब तैयार करने का उद्योग है। १९०० में शहरों के अधिकांश घरों में प्रकाश के लिए गैस को इस्तेमाल किया जाता था। यद्यपि १८७९ ई० में एडिसन के बिजली के लैम्प का आविष्कार हुआ था, फिर भी देहातों में मिट्टी के तेल को ही प्रकाश के लिए इस्तेमाल किया जाता था। २० वीं शताब्दी के शुरू में जैसे ही लोगों में बिजली का प्रचलन बढ़ा, काँच के बल्बों की मांग इतनी अधिक बढ़ गई कि उन्हें हाथ से तैयार करना संभव नहीं रहा।

१९१६ में कांच के बल्बों को हाथ से तैयार करने के तरीकों का स्थान धीरे-धीरे अर्ध-स्वचालित मशीनों ने ग्रहण कर लिया। १९२६ तक उन्नति करते न करते कम दाम और बड़ी मात्रा में बल्बों के उत्पादन का काम शुरू हो गया। आज जिस मशीन द्वारा एक मिनट में १००० बल्ब बनाए जाते हैं, पहले इसे दो कुशल कारीगर, दो दिन लगातार ८ घण्टे काम करने के बाद ही तैयार कर सकते थे।

आधुनिक विज्ञान एवं टैक्नोलोजी में योग

कांच ने विभिन्न और महत्वपूर्ण तरीकों से आधुनिक विज्ञान एवं टैक्नोलोजी के विकास-कार्य में तेजी ला दी है। सभी औद्योगिक प्रयोगशालाओं में कांच को महत्वपूर्ण कार्यों के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। काँच के बिना चिकित्सा-विज्ञान को बहुत बड़ी बाधा का सामना करने की सम्भावना थी। टीका लगाने की पिचकारी या निदान सम्बन्धी यन्त्रों और अन्य उपचारों में कांच का किसी न किसी रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

संचार-वाहन के हर आधुनिक साधन में कांच किसी न किसी रूप में इस्तेमाल होता है। विद्युदणु (इलैक्ट्रोनिक्स) उद्योग कांच पर ही आधारित है। रेडियो, टैलिफोन, टैलिग्राफ, रडार तथा इस तरह के अन्य उपयोगी यन्त्र कांच की सहायता के बिना कभी भी इतनी दक्षता से काम नहीं कर सकते थे।

जिस तेजी से कांच का इस्तेमाल घरों में हो रहा है, उतनी तेजी से किसी और क्षेत्र में नहीं हो रहा है। सब से पहले रसोई में कांच का इस्तेमाल गिलास के रूप में हुआ और बाद में इसे खाना रखने और पकाने के सब कामों में इस्तेमाल किया गया। कांच के पात्रों में कौफी तैयार करना इतना पसन्द किया गया कि इन्हें तैयार करने के लिए एक नया उद्योग स्थापित करना पड़ा।

उन प्रयोगशालाओं में जिनमें आणविक परीक्षण किए जाते हैं, कांच से महत्वपूर्ण काम लिया जाता है।

आप यह समझते होंगे कि कांच-उद्योग अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गया है, लेकिन कौर्निंग ग्लास वर्क्स नामी कम्पनी का यह ख्याल नहीं है। जैसा कि एक इंजीनियर का कथन है : "हमारा भावी काम नई किस्म के कांच से नई चीजें बनाना है। जहां तक सम्भव हो हम कांच को इस्तेमाल करने सम्बन्धी साधनों को निरन्तर बढ़ाना चाहते हैं।"

पक्षियों का इतिहास

जगपति चतुर्वेदी

उड़ान की कहानी में अपृष्ठवंशी जन्तुओं को तो जीव की कथा के बहुत आरंभिक भाग में ही सफलता प्राप्त करते देखा जा सकता है। उड़ाकू कीटों का प्रसार डेवोनियन काल में (आज से ३२ करोड़ वर्षों पूर्व) पाया जाता है। कार्बोनिफेरस काल में तो कोयला बनों में विशाल व्याध पतंग और उड़ाकू तेलचटे पटे पड़े थे। तथापि उच्चतर जन्तुओं द्वारा वायु विजय का अभियान दस करोड़ वर्षों तक स्थगित ही पड़ा रहा और मध्यजन्तुक युग के पूर्ण प्रसार होने के पूर्व तक कोई भी पृष्ठवंशी उड़ान-क्रिया प्रदर्शित करने में सफल नहीं हो सका था। जब सफलता मिली भी तो उसका सर्वप्रथम श्रेय सरीसृपों को ही था किन्तु अन्ततः उनके ही निकट बंधुओं, प्रथम पत्तधारी पक्षियों ने उड़ान-क्रिया में उनसे विजय-श्री छीन ली।

मध्यजन्तुक युग के उड़ाकू सरट जिस श्रेणी से संबद्ध थे, वह प्रसिद्ध विलुप्त जन्तु पक्षांगुलीय (टेरोडेक्टाइल्स) या पक्षसरट (टेरोसौरस) नाम से ज्ञात है। ये जन्तु आज से सोलह करोड़ वर्षों पूर्व, जुराकाल में उत्पन्न हुए और उनके प्रस्तरावशेष सर्वप्रथम १७८४ ई० में बवेरिया की सोलेनहाफैन नाम की जगह की लिथोग्राफीय चट्टानों में प्राप्त हुए। उस समय मिली हड्डियाँ तो एक ही कंकाल की थीं जिसे पहले सरीसृप का कंकाल समझा जाता था। किन्तु १८०९ में बैरन कुवियर ने उसे उड़ाकू सरीसृप की एक विलुप्त प्रजाति का घोषित किया जिसका नाम 'टेरोडेक्टाइल' या 'पक्षांगुलीय' रक्खा गया। इसके लगभग २० वर्षों बाद इंगलैंड में भी १८२८ ई० में मेरी एनिंग द्वारा लाइम रेगिस में एक पक्षसरट का प्रस्तराव-शेष पाया गया। सर रिचार्ड ओवेन ने उसके कंकाल की परीक्षा कर पक्षांगुलीय श्रेणी का जन्तु घोषित किया।

उड़ाकू सरटों की उत्पत्ति दानवसरटों की ही तरह द्विपदगामी थेकोडोंट (आदि सरट) से हुई किन्तु पृथक शाखा रूप में इसका विकास होता गया। दानवसरटों में अगले पैरों को भूमि पर चलने में उपयोग न किए जाने के कारण क्षुद्र लाक्षणिक रूप का बना पाया गया।

पक्षसरटों में एक उलटे ही रूप का परिवर्तन हुआ। अगले पैर पुष्ट और यथेष्ट विकसित बने रहे और एक उँगली उत्तरोत्तर एक वृहद् लंबोतरे दंड रूप में विकसित होकर चमगीदड़ के पंख समान झिल्ली का अवलंब बन गई जिसे त्वचापंख कहते हैं। अँगुली के अवलंब से होने के कारण ही इस जन्तु के पंख को पक्षांगुलि कहते हैं और इस जन्तु की श्रेणी पक्षांगुलीय कहलाती है।

पक्षांगुलीयों का आदिम पंख लंबोतरी उँगली से लेकर बाहुओं की पिछली हड्डी (प्रकोष्ठास्थि) तक फैला रहता था जिससे यह छतरी की तरह हवा में कुलाँच की उड़ान उड़ सकता था। इस पंख पर ही पूर्णतः अधिक अवलम्ब रखने लगने के कारण पिछले पैर छोटे होने लगे, यहाँ तक कि वे भूमि पर चलने में भी असमर्थ हो गए।

उड़ान के लिए अंगों का अन्य विशिष्टीकरण भी सम्पन्न हुआ। उदाहरणार्थ वक्षास्थि की अत्यधिक बल वृद्धि हुई जिसमें उड़ान में उपयुक्त पेशियों के बंधन के लिए दृढ़ विन्दु प्राप्त हो सके, साथ ही पूँछ में एक पक्षत (पखना) विकसित हुआ जो शरीर को वायु में संतुलित रखने में सहायक होता। शरीर का भार न्यून करने के लिए कपाल में असाधारण दीर्घगह्वर उत्पन्न हुए और कंकाल की अस्थियाँ खोखली बन गईं और उनके अन्दर हवा भर गई जैसा कि पक्षियों की हड्डियों को आज पाया जाता है। इस प्रकार का शरीर आकार की तुलना में उत्तरोत्तर हल्का होता गया जिससे तीन फुट फैलाव का पंख धारण

करने वाला यह जंतु केवल आधा सेर भार का ही होता था।

पक्षसरटों के कतिपय प्रस्तरावशेषों के मिलने के पश्चात् जब विज्ञान-जगत का ध्यान इस ओर अधिक आकर्षित हुआ और उड़ान की कथा प्रकट करने वाली घटनाएँ ज्ञात होने लगीं तो बवेरिया की लिथोग्राफीय चट्टानों में बहुत ही मूल्यवान अन्य प्रस्तरावशेष भी प्राप्त हुए। ये शिलायें प्राचीन समय में मूँगे की दीवाल से घिरे समुद्र में संचित होती हुई बारीक तलछट से निर्मित हुई होंगी इसी कारण वे जेली मत्स्य, पक्षियों के पर और पक्षसरटों के पंख समान सूक्ष्म सूचनाओं की रूप रेखा भी रक्षित रख सकी हैं। इस चट्टान में टेरोडेक्टाइल्स प्रजाति के पक्षसरटों के कई नए उदाहरण प्राप्त हुए। इन सब को पक्षांगुलीय टेरोडेक्टाइल्स श्रेणी के अंतर्गत रक्खा गया है। इनके आकार के संबन्ध में लोगों में भ्रान्त धारणायें प्रचलित थीं, परन्तु यथार्थतः इनका आकार गौरैया से बड़ा नहीं होता था। कुछ नमूनों को बड़े बाज (श्येनक) के आकार का पाया जाता है। इनका आहार कदाचित कीट थे और इनके पैरों की रचना से प्रकट होता है कि वे डालों या किसी आधार से चमगीदड़ों की तरह उलटे लटके पड़े रह सकते थे। इनके कंकाल की हड्डियाँ अत्यंत ही सूक्ष्म होती थीं। कुछ की चौड़ाई एक मिलीमीटर (इंच का पच्चीसवां भाग) ही होती थी।

एक बड़े आकार का पक्षसरट होता था जिसका नाम रैम्फोरहिंचस रक्खा गया। इसके प्रस्तरावशेष भी बवेरिया (जर्मनी) की लिथोग्राफीय चट्टान से ही प्राप्त हुए हैं। इसका नाम अग्रपोत या नौकाग्र चंचु भी हो सकता है जो रैम्फोरहिंचस का अनुवाद है। इनमें लम्बी सीधी पूंछ होती थी जिसके अंत में चौकोर पक्षत होता था जिससे उड़ान में पथभ्रष्टता का शमन हो सकता था। पक्षों का फैलाव लगभग तीस इंच था और अधिकांश आदिम पक्षसरटों की भांति इसके जबड़े तीक्ष्ण अग्रमुखी दंतों से सज्जित होते थे।

यह एक विशेष बात है कि अब तक प्राप्त पक्षसरटों के सब प्रस्तावशेष वेला संगमों (नदियों के मुहानों) या समुद्रों के नीचे जमी तलछटों की शिलाओं में मिले हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये तटवासी थे और इनका मुख्य आहार मछलियों या कीट आदि थे जिनको पानी के ऊपर लम्बी कुलांच वाली उड़ान से ये पकड़ लिया करते होंगे। इनके पंख फटफटा सकने में सर्वथा असमर्थ थे। अतएव वे उड़ान के लिए हवा के झोंके और आंधी से लाभ उठाते होंगे। यदि अकस्मात हवा शान्त हो जाती तो उनके लिए संकट काल आ उपस्थित हो सकता था और वे शिकार की खोज में तट से दूर जलखंड के ऊपर पहुँचे होने पर डूब जाते होंगे। किन्तु भारी तूफान और बवंडर भी उनके लिए घातक ही सिद्ध होते क्योंकि एक बार एक पक्ष की भी लंबोतरी उँगली आँधी के भारी झोंके से फट जाती तो पक्ष बिल्कुल निकम्मे ही हो जाते। इस तरह इन पक्षसरटों की उड़ान-व्यवस्था आज के पक्षियों या चमगीदड़ों की तुलना में अत्यंत ही हीन अवस्था की थी। पक्षियों के कई पर टूट जायँ तब भी वे निर्द्वन्द उड़ते रह सकते हैं। चमगीदड़ के पंख में भी अधिक शक्ति लाने के लिए कई उँगलियाँ उसमें सम्मिलित पाई जाती हैं।

ये पक्षसरट जुराकाल के थे किन्तु इनकी दानवाकार जाति का जन्म इसके पश्चात् दूसरे काल में ही हो सका। उसका नाम टेरानोडोन या निर्दन्तपक्ष था। इस नाम का कारण यह था कि जो विकास क्रम इनमें संचालित हुए थे, उनके कारण इनके दाँतों का लोप हो गया था और पक्षियों समान चोंचें उत्पन्न हो गई थीं। अन्य परिवर्तन भी हुए थे। जैसे पूँछ अत्यन्त छोटी होकर बिल्कुल ठूँठी बन गई थी और आकार में वृद्धि हो गई थी जो भूखंड के खटीकलीन दानवसरटों और समुद्र के दीर्घकाय समुद्री दानवों या मोजासौरों के अनुरूप थी। टेरानोडोन (निर्दन्त पक्ष) यथार्थतः सब युगों के गगनचारियों में दीर्घतम आधार का था। उसके पक्षों का फैलाव बीस से लेकर सत्ताईस फुट तक होता था।

टेरानोडोन (निर्दन्त पक्ष) में वृहद आकार के अतिरिक्त भी अनेक विशेषतायें थीं। सबसे प्रमुख बात तो यह थी कि उसके सिर से पीछे की ओर एक वृहद

अस्थीय उद्वर्धन होता था जो चोंच का भार-संतुलक था। इसकी लंबाई प्रायः चोंच के बराबर ही होती थी। दूसरी यह विशेषता थी कि पिछले पैर पूर्णतः निरर्थक होते थे। उन का भूमि पर चलने में कुछ भी उपयोग हो सकना असंभव था। और यह बहुत कुछ संभव जान पड़ता है कि निर्दन्तपक्ष अधिकांश समय तक मछलियों की ताक में समुद्र के ऊपर उड़ता ही रहता था। जब यह भूमि पर विश्राम करने उतरता होगा तो यह कदाचित अपने केहुनियों के बल ही शरीर को अवलम्ब प्रदान करता होगा और पक्षों को पीछे की ओर आधे खुले छाते की तरह फैला लेता होगा।

पक्षसरटों के उड़ान के संबंध में कुछ शरीर-रचनात्मक कठिनाइयाँ अनुमानित की गई हैं। अधिक काल तक प्रचालित किसी भी तरह की उड़ान के लिए बहुत अधिक शक्ति व्यय होती है जो प्रायः शीतरक्तीय जंतुओं के बूते की बात नहीं होती। इससे यह धारणा पाई जाती है कि पक्षसरट कुछ अंश तक उष्णरक्तीय जंतु रहे होंगे और उनमें रक्त-परिभ्रमण व्यवस्था होगी। ये बातें स्थलचारी अन्य समकालीन जंतुओं से विशेष उन्नति का परिचय देती हैं। किन्तु ऐसी बात यदि सत्य हो तो भी ये विकासात्मक संघर्ष में जीवित रह सकने के लिए यथेष्ट उपकरण नहीं थे। भूमि तथा समुद्र के अन्य सरीसृपों की भाँति पक्षसरट भी मध्यजंतुक युग द्वारा प्रवर्तित विकासात्मक उथल-पथलों के समय पूर्णतः समाप्त हो गये।

एक दूसरी अत्यंत मनोरंजक समस्या यह है कि इन पूर्वज पक्षसरटों को किन बातों के कारण उड़ने की सूझी। उनमें पंखों की उत्पत्ति स्पष्टतः उनको विकासात्मक सुविधा प्रदान करने वाली वस्तु थी किन्तु उनकी वृद्धि की समस्या अभी तक अज्ञात ही है। दो प्रमुख धारणायें पाई जाती हैं। पहली तो यह है कि थेकोडोंट (आदि सरट) और टेरोसौ रस (पक्षसरट) के सम्बन्ध-सूत्र की कड़ी एक वृक्षचारी रूप का जंतु था जो कदाचित क्षुद्र खटीकालीन दानव सरट 'हिफिलोकोन फाक्सी' से बहुत अधिक भिन्न न रहा होगा। इस प्रकार के जंतु में एक आदिम सहायक अंग रूप में पंखीय झिल्ली उत्पन्न हुई होगी जिसका उपयोग वृक्ष की एक शाखा तक कूदने फाँदने या बड़े वृक्षों पर से नीचे की झाड़ियों पर कुलाँच की उड़ान भरने के लिए होता होगा।

दूसरा मंतव्य यह है कि इस जन्तु को भूमि पर तीव्र वेग से भाग सकने में सहायता प्रदान करने के लिए ही उनमें झिल्लीय पंख उत्पन्न हुए। वे उत्तरोत्तर बड़े और पुष्ट होते गये। अंत में उनके बल पर यह उड़ने का साहस कर सका। पहले कुछ पगों की ही कुलाँच वाली उड़ान भर सकता होगा। परन्तु धीरे-धीरे साहस और अभ्यास बढ़ने से वह अधिक दूरी की कुलाँच युक्त उड़ान कर सकने लगा होगा। किन्तु इन दोनों ही मंतव्यों का पोषण करने वाले प्रस्तरावशेष का सर्वथा अभाव है। ऐसी मध्यवर्ती कड़ी का कोई जन्तु नहीं मिल सका है।

यह तो पक्षसरटों की बात हुई जिन्होंने आदिम उड़ाकू पृष्ठवंशी जन्तु होने का यश अर्जित किया और करोड़ों वर्ष तक अत्यधिक सफलतापूर्वक उड़ान करते जीवन व्यतीत करते रहे। किन्तु प्रारंभ से ही एक दूसरी श्रेणी के जन्तुओं द्वारा भी उड़ान की समस्या सुलझाने का प्रयास होता आ रहा था जो यद्यपि पहले पक्षसरटों की तुलना में उड़ान विद्या के विकास में बहुत ही शिथिल सफलता प्राप्त कर सके थे, किन्तु कालान्तर में उन्हें भारी सफलता प्राप्त होनी थी। ये जन्तु पक्षी थे। इनका भी जन्म थेकोडोंट (आदिसरटों) से ही हुआ था परन्तु उड़ान की भौतिक समस्याओं को इन्होंने पूर्णतः पृथक रूप में ही सुलझाने का प्रयास किया। एक उँगली को ही बहुत अधिक लंबोतरी बनाकर उस पर पंख की सारी झिल्ली अवलंबित करने के स्थान पर पक्षियों ने अपने अगले पैरों की पूर्ण शक्ति को अपना शरीर गगनचारी बनाने के लिए उपयुक्त करने की व्यवस्था की। इस प्रबलतर और उत्कृष्टतर उड़ान की विधि विकसित करने के पूर्व वे अवश्य ही उष्ण-रक्तीय अवस्था को पहुँच सके होंगे जिसकी संभावित स्थिति पक्षसरटों के संबंध में होने का पहले उल्लेख किया जा चुका है। इसके साथ

ही पक्षियों में उनका शल्कीय आवरण शनैः-शनैः परों के रूप में परिवर्तित हो रहा था जो उड़ान में मूल्यवान होने के अतिरिक्त उनके शरीर के अंतवर्ती उत्पन्न ताप को सुरक्षित रखने के लिए अवरोधक स्तर का भी कार्य करता था।

पक्षियों को प्राचीन लेखकों ने "गौरवान्वित सरीसृप" नाम देने का प्रयास किया था। बात कुछ सीमा तक सच भी है। यथार्थ में पर (पक्षपत्र) ही उनकी विशेषता है अन्यथा अन्य सब लक्षण तो कुछ आदिसरटों में भी पाये जा सकते हैं। पंखों का विस्तार बड़े परों द्वारा होता है जो अगले पैर (भुजा) की प्रकोष्ठास्थि के मूल हैं। और तीन संयुक्त बनी हुई उँगलियों से उत्पन्न होते हैं जिसमें पंख समाप्त हुआ रहता है। पूंछ का मांसल भाग एक छोटे ठूंठ रूप में बन गया होता है। वहाँ से परों का एक पंखे रूप में फैलाव हुआ रहता है। शेष शरीर पर मोटे छोटे और नर्म पर एक दूसरे पर आरोहित रह कर आच्छादित रहते हैं।

सरीसृपों के विपक्ष पक्षी उष्णरक्तीय होते हैं अर्थात् उनके शरीर का तापमान ऊँचा और स्थिर होता है। कुछ पक्षियों में तो मनुष्य के शरीर के तापमान से कई अंश ऊँचा तापमान होता है। इसके लिए प्रचुर आहार, पुष्ट फुफ्फुस, और सम्यक रक्त-परिभ्रमण की आवश्यकता होती है। निम्न श्रेणी के जन्तुओं में शुद्ध और उपयुक्त (विकृत) रक्त में अधूरा ही अंतर होता है किन्तु पक्षियों में मनुष्य समान ही उत्कृष्ट प्रकार का रक्त-परिभ्रमण होता है। उनमें मनुष्य की भाँति ही चार प्रकोष्ठों का हृदय होता है किन्तु सारे शरीर में प्रसारित करने के लिए शुद्ध रक्त की एक ही नली होती है।

पक्षियों के शरीर की इस व्यवस्था का विकास स्तनपोषियों से पृथक स्वतंत्र रूप में ही हुआ है क्योंकि मनुष्य में प्रमुख शुद्ध रक्तवाहिनी (धमनी) शरीर के बाईं ओर मुड़ी रहती है, वहाँ पक्षियों में इसी की व्यवस्था दाहिनी ओर होती है।

सरीसृपों में प्रायः घोंसलों और शिशुओं तथा अंडों की रक्षावृत्ति का अभाव ही होता है, परन्तु पक्षियों में उसके विपक्ष ये वृत्तियाँ प्रबल होती हैं। उड़ान के सम्बंध में इन वृत्तियों का विकास हुआ होगा। भ्रूण के शरीर में उष्ण ताप रखने के लिए अंडे को अल्पोष्ण रखना आवश्यक होता है। दूसरे उड़ान की पेचीदी क्रिया सिखाने की अवश्यकता होती है जिससे शिशु की रक्षा और पोषण की व्यवस्था करनी पड़ती है।

मस्तिष्क और इन्द्रियाँ उड़ान के उपयुक्त परिवर्तित होती हैं। मनुष्य के समान किन्तु अन्य पृष्ठवंशियों के विपक्ष, पक्षियों को बाह्य जगत की सूचना के लिए मुख्यतः नेत्रों पर ही अवलंबित रहना पड़ता है। नेत्र विशाल होते हैं। नेत्र के कोने में एक अस्थीय पट्टिकाओं का गोला होता है। ऐसी पट्टिकाओं को अनेक आदिम पृष्ठवंशियों में पानी के दबाव से रक्षा पाने के लिए विद्यमान पाया जाता है। पक्षियों में उड़ान के समय पानी की जगह हवा के दबाव से रक्षा पाने की आवश्यकता होती है। सरीसृपों की अपेक्षा उन में मस्तिष्क बहुत अधिक बड़ा होता है किन्तु उनमें साधारण बुद्धि का अधिक विकास न होकर दृष्टि, संतुलन तथा उड़ान में आवश्यक सूक्ष्म झिल्लियों के समन्वय संबंधी केन्द्र ही मस्तिष्क में विकसित पाये जाते हैं। कंकाल में उड़ान के उपयुक्त कई परिवर्तन होते हैं। शरीर के आपेक्षिक घनत्व को न्यून करने के लिए शरीर के अंदर फुफ्फुस से सम्बद्ध हवा-थैलियाँ ही नहीं होतीं, प्रत्युत कंकाल की कई हड्डियाँ खोखली और वायुपूरित होती हैं।

वक्षास्थि को सरीसृपों में विकसित नहीं पाया जाता। पक्षियों में यह एक विशाल पट्टिका होती है जो प्रायः वक्ष के सम्पूर्ण अधोतल को आच्छादित रखती है। उसके मध्य में एक दृढ़ उद्वर्ध रेखा होती है। इसी से पंखों को सञ्चालित करने वाली शक्तिशाली वक्षीय पेशियाँ आबद्ध होती हैं। हाथ में केवल तीन उँगलियाँ होती हैं, दो लुप्त होती हैं। कुछ दानवसरटों में भी इसी तरह उँगलियों की संख्या न्यून पाई जाती है। वे तीनों उँगलियाँ भी प्रायः संयुक्त बनी रहती हैं और छोटी तथा चंगुलहीन रह कर पंखों का आधार होती हैं।

पक्षियों का श्रोणि-चक्र (कूल्हें की हड्डियाँ) कुछ दानवसरटों के समान होने की बात पहले कही जा चुकी है। हम यह भी जानते हैं कि पिछले पैर कुछ द्विपाद सरटों और पक्षियों में समान ही होते हैं। आधुनिक पक्षी दन्त-हीन होते हैं। उनमें शृंगनिर्मित चोंच होती है। कुछ उड़ाकू सरटों और दानवसरटों में भी मुख का ऐसा रूप पाया जाता है। यह सब कुछ तो है ही, पक्षियों का कंकाल महासरटों के सर्वथा अनुरूप ही पाया जाता है। उड़ान भी कोई बिल्कुल भारी पृथक लक्षण नहीं है। एक विशिष्ट लक्षण पर अवश्य हैं किन्तु सरीसृपों के बदन पर आच्छादित शल्कों से भिन्न जान पड़ने पर भी उनमें भारी अन्तर नहीं होता। दोनों की ही रासायनिक रचना एक समान होती है। शृंगरचित शल्कों से ही पर बने होंगे जिनके सिरे सूक्ष्म प्रशाखा सूत्रों रूप में हो गए होंगे।

प्रथम पक्षी का कंकाल १८६१ ई० में जर्मनी की जुराकालीन शिला में प्राप्त हुआ जहाँ से पक्षीसरटों के विलक्षण प्रस्तरावशेष पहले प्राप्त हुए थे। चूने के पत्थर में एक ऐसे प्रस्तरावशेष को पाकर इंगलैंड में उसका अध्ययन प्रसिद्ध प्रस्तरावशेष विज्ञानविद सररिचर्ड ओवेन ने किया और उसका नाम 'आर्चियोप्टेरिक्स लिथोग्राफिका' रक्खा गया जिसका अर्थ लिथोग्राफीय शिला में प्राप्त प्राचीन पंख' है। सोलहवर्ष पश्चात् एक दूसरा प्रस्तरा-वशेष आइश्टैट नाम की जगह के निकट प्राप्त हुआ। बर्लिन के जन्तु-संग्रहालय ने हस्तगत कर उसका अध्ययन किया और उसे पहले आर्चियोप्टेरिक्स प्रजाति का ही घोषित किया परन्तु उसमें शारीरिक रचना की भिन्नता पाकर बाद में इस दूसरे नमूने का नाम बदल कर 'आर्किओर्निस' रक्खा गया।

बर्लिन का प्रस्तरावशेष अधिक सुरक्षित अवस्था में प्राप्त हुआ था। पत्थर पर इसकी चपटी छाप मृत की उस परित्यक्त अवस्था में भी विचित्र जीवन-शक्ति की झलक प्रकट कर रही थी। उसमें सरीसृपों के अनेक लक्षण विद्य-मान थे। उदाहरणार्थ जबड़े में यथार्थ दाँत थे और एक लंबी सरीसृपीय दुम थी जिसकी रचना बीस कशेरुकाओं से हुई थी। उसका कपाल पक्षी की अपेक्षा सरीसृप के ही अधिक अनुरूप दिखाई पड़ता था। पंखों का अंत तीन उँगलियों के साथ हुआ था जिनमें प्रबल वक्रित चंगुल बने थे। यथार्थ में उस प्रस्तरावशेष को तो सरीसृप ही कह दिया जाता, परन्तु लिथोग्राफीय चट्टान ने सूक्ष्मता से उसके परों की छाप को भी सुरक्षित रक्खा था, इस कारण उसके पक्षी होने का प्रमाण मिल जाता था।

ये प्रथम पक्षी प्रायः कौए के आकार के थे किन्तु उनकी उड़ान भद्दी होती थी और वे अपना अधिक समय प्रायः साइकेड वृक्ष की शाखा पर दौड़ लगाने में ही व्यतीत करते होंगे या बहुपत्रियों के पल्लवों के मध्य खेल-कूद करते रहते होंगे। पंखों का सहारा लेकर उड़ने का कार्य तो साहस एकत्र कर कुछ विशेष तीव्र आवश्यकता या उत्सुकता होने पर ही सम्पन्न होता होगा।

प्रथम पक्षियों का अधिकांश आहार कीट और क्षुद्र सरीसृप ही होंगे जो अधिकतर भूमि पर ही प्राप्त हो जाते होंगे किन्तु कभी-कभी विशालकाय व्याधपतंगों को पकड़ने के लिए वे हवा में उड़ पड़ते होंगे। उनके रंग का हमें कुछ भी अनुमान नहीं हो सकता। वे किस प्रकार का शब्द उत्पन्न कर सकते होंगे, इसे बताने वाला भी कुछ आधार सुलभ नहीं है। किन्तु कल्पना कर हम किसी भी रंग और ध्वनि का अनुमान कर सकते हैं जिसके साथ जुराकाल का आगमन हो सका होगा।

आर्चियोप्टेरिक्स तथा आर्कियोर्निस नाम के प्रथम पक्षियों के प्रस्तरावशेष लिथोग्राफ की भव्य शिलाओं में न मिल सके होते तो उस प्राचीन युग के इस जंतु क्षेत्र का हमें कुछ भी पता न चल पाता। इनकी दुम उस समय तक पुराने रूप की सरीसृपनुमा ही थी किन्तु उसकी लंबाई में परों की दोहरी पंक्ति पाई जाती थी। इनका वक्षस्थल छोटा ही होता था जो इनकी दुर्बल उड़ान-पेशियों का द्योतक है। इनमें कोई भी हड्डी खोखली नहीं थीं। इन जंतुओं को पर धारण करने के कारण शुद्ध पक्षी नाम देना चाहिए किन्तु ये पक्षी अपने पूर्वज सरीसृपों से बहुत आगे बढ़ सके थे।

प्रथम पक्षियों के उदय के पश्चात् खटीकाल में पक्षियों की उन्नति की झलक प्रकट करने वाले प्रस्तरावशेष प्राप्त होते हैं। इनमें संयुक्त राज्य अमेरिका के कंसा प्रदेश में प्राप्त कुछ जलपक्षियों के प्रस्तरावशेष समुद्री शिलाओं में प्राप्त हो सके हैं। इनमें एक प्रकार के प्रस्तरावशेष को पश्चिमी पक्षी (हेस्पेरोर्निस) नाम दिया गया है। यह जलचर पक्षी ही था जिसकी उड़ान शक्ति नष्ट हो चुकी थी। दूसरी जाति का प्रस्तरावशेष 'इच्थ्योर्निस' या मत्स्य-पक्षी का प्राप्त हुआ है। यह समुद्री पक्षियों समान जीवन व्यतीत करता होगा। इन दोनों जातियों में जबड़े में दाँत पाये जाते हैं किन्तु अन्य सब बातों में मत्स्यपक्षी आधुनिक पक्षियों समान बहुत अधिक विकसित पाया जाता है। इसमें प्रबल शक्तिशाली पंख विकसित मिलते हैं।

सृष्टि के इतिहास में पक्षियों का इतिहास अत्यंत ही विलक्षण है। आज के बहुसंख्यक प्रकार के पक्षियों की जातियाँ भौगर्भिकीय काल में पीछे की ओर जाने पर तीव्र वेग से न्यूनसंख्यक होने लगती हैं। इओसीन काल के प्रारंभ में, जो आज से छः करोड़ वर्षों पूर्व हुआ था, पक्षियों के प्रस्तरावशेष बहुत ही न्यून पाये जाते हैं।

इसके भी पीछे के खटी काल में केवल आठ जातियों के नमूने मिलते हैं। ये सब आज के पक्षियों से बिल्कुल भिन्न हैं और उनमें से कुछ की तो केवल रूपरेखा ही ज्ञात हो सकी है। सबसे उत्कृष्ट रूप में रक्षित हेस्पेरोर्निस प्रजाति के पक्षी का प्रस्तरावशेष ही है। इस पक्षी की ऊँचाई चार या पाँच फुट होती थी। यह पूर्णतः मत्स्य-पक्षी ही था। इसमें उड़ान शक्ति नष्ट हो चुकी थी और पंख भ्रष्ट होकर केवल लाक्षणिक ही रह गए थे जो सजीव अवस्था में परों के घने आवरण में बिल्कुल अदृश्य ही रहते थे। चोंचनुमा मुख के अन्दर ९४ तीक्ष्ण दाँत थे। अपने बिछलनदार और भाग पड़ने वाले शिकार को पकड़ने के लिए इसमें यथेष्ट व्यवस्था थी।

'इचथ्योर्निस' भी मत्स्यभक्षी पक्षी ही था। इसकी लम्बाई नौ इंच होती थी किन्तु हेस्पेरोर्निस के विपक्ष इसमें यथेष्ट विकसित पंख थे और यह विलंब तक तथा उत्कृष्ट उड़ान कर सकने में समर्थ प्रतीत होता है। इसके मुख के दाँत सरीसृपानुरूप और पृथक-पृथक कोटरों में स्थित होते थे। किन्तु पंख और हड्डियाँ आज के पक्षियों समान थीं। इसके मस्तिष्क में सब पक्षियों की तरह समन्वय की यथेष्ट शक्ति थी। किन्तु अधिक वर्तमान नमूने के पक्षियों की तुलना में उसके मस्तिष्क का आकार छोटा था।

इचथ्योर्निस पृथक पृथक रूप में उड़ान विकास के निश्चित सोपानों को व्यक्त करते हैं। यह कबूतर के बराबर होता था। इसकी वक्षास्थि में जो मध्यवर्ती अस्थीय आधारदंड पाया जाता है, वह इसकी प्रबल उड़ान शक्ति का द्योतक है किन्तु हेस्पेरोर्निस में वह अस्थीय आधारदंड नहीं पाया जाता। इससे यह उड़ने में असमर्थ होगा। पानी के ऊपर तैरते रहने से इसको उड़ान की शक्ति से रहित होने के संकेत पाये जाते हैं।

इङ्गलैंड में इन पक्षियों के काल के पक्षियों के कुछ प्रस्तरावशेष प्राप्त हो सके हैं, परन्तु उनसे बहुत कुछ जानकारी नहीं होती। १८६४ में एक खटी-कालीन पक्षी का प्रस्तरावशेष कैम्ब्रिज ग्रीनलैंड से प्राप्त हुआ था। उस प्रस्तरावशेष के पक्षी का नाम 'एनालियोनिंस वैरेटी' रक्खा गया। इन प्रस्तरावशेषों में से किसी से कुछ विशेष बात केवल इस तथ्य को प्रकट करने के अतिरिक्त नहीं प्राप्त होती है कि उड़ान क्रिया का पूर्व काल में ही प्रचार हो चुका था और प्रारम्भिक विकासों का पता पूर्वतर प्रस्तरा-वशेषों से ही मिल सकता है।

खटी या खरिया शिला के नीचे महानस्तर पाया जाता है जिसमें बहुसंख्यक प्रस्तरावशेष प्राप्त होते हैं जो मुख्यतः समुद्रों में रहने वाले अपृष्ठवंशी जन्तुओं के हैं। उड़ान का मुख्य विकास तो भूतल पर ही नहीं सम्पन्न हुआ होता और भूमि या वनों के धरातल पर मृत जन्तुओं के शव का अधिक समय तक पड़े रहना सम्भव नहीं हो सकता था। अतएव इन पूर्व खटी शिलाओं में पक्षियों के पूर्वजों की खोज का कार्य अपेक्षाकृत निराशाजनक ही हो सकता था।

यह संयोग की ही बात है कि जर्मनी में ऐसे महत्वपूर्ण रूप के दुर्लभ प्रस्तरावशेष लिथोग्राफीय शिलाओं में प्राप्त

हुए जिनकी ख्याति विज्ञान जगत में अपूर्व है। इन प्रस्त-रावशेषों की ही चर्चा आर्चियोप्टेरिक्स और आर्कियोर्निस नाम से पहले की गई है। इनकी खोजों के विवरण तथा महत्व विज्ञान-जगत में अत्यन्त ही अपूर्व हैं।

जर्मनी के थुरिंजिया प्रदेश में सोलेनहोफेन में जुरा-काल में अत्यन्त सूक्ष्म रवों के चूने के पत्थर की महान स्तर-निर्मायक तलछट एक शान्त और छिछले स्थलीय समुद्र में संचित होते जाने का अवसर प्राप्त कर सकी। लिथो के छापे के लिए ऐसे विशेष पत्थर की आवश्यकता होती है जो सूक्ष्मता से अक्षरों या चित्रणों की रेखाओं के चिन्ह अपने तल पर रासायनिक द्रव्यों के द्वारा उद्धर्षित कर सके और उस पर एक स्याही के वेलन फेरने से कागज पर उसकी सुन्दर छाप उतर सके। यह तो लिथो के छापने की विधि होती है। जर्मनी के सोलेनहोफेन की शिला इस कार्य के बहुत ही उपयुक्त थी अतएव इन पत्थरों की बहुत खुदाई होती थी। मूल्यवान और उपयोगी होने के कारण इनकी कटाई और खुदाई बड़ी ही कोमलता और सावधानी से की जाती। कटे हुए पत्थरों की भली भाँति जाँच की जाती। इस कारण किसी भी प्रस्तरावशेष पर दृष्टि न पड़ना असम्भव ही हो सकता था। इस स्थान पर स्थानीय सरकारी चिकित्सक एक अत्यन्त उत्साही संग्रहप्रेमी था। अतएव विशेषतया मछलियों और पक्षांगुलीयों (टेरोडेक्टाइल्स) के प्रस्तरावशेषों की एक भव्य शृंखला १८६० ई० में प्रकाश में आई।

इनमें से अधिकांश प्रस्तरावशेष शिला को चीरने पर दिखाई पड़ते थे, अतएव वे प्रायः अनेक अवसरों पर फटे हुए शिलास्तर के दोनों तलों पर प्रदर्शित होते थे। १८६१ के प्रारंभ में इस प्रकार एक पर की छाप शिलास्तर में देख कर खुदान करने वाले श्रमिक स्तब्ध हो गये। उन्हें शीघ्र ही एक जंतु का प्रायः पूर्ण कंकाल परों के साथ अपनी छाप प्रदर्शित करते हुए प्राप्त हो सका। यह अद्भुत प्रस्तरावशेष जर्मनी के पैपेनहीम ग्राम के निकट लैंजेनाल्थीमर हार्ट से सुलभ हुआ। यह संयोग की बात थी कि अद्भुत वस्तुओं के संग्रह करने का उत्कट प्रेमी, सोलेनहोफेन का स्थानीय सरकारी चिकित्सक अर्न्स्ट हैबरलीन वहीं रहता था। उसने तुरन्त ही उन दोनों टुकड़ों को हस्तगत कर लिया जिन पर इस जन्तु की छाप विद्यमान थी और उन्हें अपनी बहुमूल्य संगृहीत वस्तुओं के मध्य रख लिया। कुछ ही समय पश्चात् हरमन वान मियर ने उसका नाम "आर्चियोप्टेरिक्स लिथोग्राफिका" रख दिया। जो अकेला पंख पहले पाया गया था, वह आर्चियोप्टेरिक्स के ही दूसरे नमूने का भाग सिद्ध हुआ।

इस नमूने के संबंध में कुछ निर्णय करना कठिन था। स्थानीय श्रमिकों की स्तब्धता का तो ठिकाना ही नहीं था। सूक्ष्म, कोमल और खोखली हड्डियों वाले पक्षांगुलीय जन्तुओं के प्रस्तरावशेष प्राप्त करते रह कर तो उससे परिचित हो गये थे। इस प्रस्तरावशेष में सरीसृप का मुख और उसके अंदर दाँत विद्यमान थे। यह सरीसृप का रूप रखने पर भी बाहु के साथ परों वाला पंख आबद्ध रखने वाला जन्तु था। यही नहीं, एक लम्बी, परों युक्त दुम भी ऐसे रूप की लगी थी जैसा किसी भी आधुनिक पक्षी में नहीं पाया जाता। हड्डियाँ सब तो नहीं थीं, परन्तु वे भव्य रूप में सुरक्षित थीं, कुछ टूटी तथा स्थानांतरित भी थीं किन्तु वैज्ञानिकों की तीक्ष्ण दृष्टि में यह जन्तु प्राचीनतम पक्षी सिद्ध होने में कुछ संदेह न रख सका।

इस प्रस्तरावशेष की ख्याति बढ़ने लगी। फलतः इंगलैंड के ब्रिटिश म्यूजियम को इस महत्वपूर्ण अलभ्य वस्तु को ग्रहण करने की चिन्ता हुई। उस समय भी इसके क्रय करने के लिए द्रव्य संचित करने में कठिनाई हुई किन्तु इसके लिए उद्योग होता ही रहा और १८६२ के अन्त तक यह नमूना अन्य प्रतिनिध्यात्मक संग्रहों के साथ डा० हेबरलीन के संग्रहालय से क्रय कर ७०० पौंड के पूर्ण व्यय के पश्चात् लन्दन लाया जा सका।

१८७७ ई० में आर्चियोप्टेरिक्स का इससे भी सुन्दर दूसरा नमूना पत्थर की खुदाई में मिला जो पहले के प्रस्तरावशेष मिलने के स्थान से दस मील दूर आइश्टेट के निकट ब्लूमेनबर्ग नाम के स्थान में प्राप्त हो सका। इस नमूने को बर्लिन जंतु-संग्रहालय ने एक हजार पौंड पर क्रय कर प्राप्त किया। यह इस वस्तु की प्राचीनता और अलभ्यता का मूल्य था।

इन नमूनों का अध्ययन कर लोग कितने ही निष्कर्ष निकालते रहे हैं। एक मंतव्य तो ऐसा प्रचारित पाया गया कि उड़ाकू पक्षियों का विकास बर्लिन वाले नमूने से हुआ और उड़ानहीन पक्षियों का विकास लंदन वाले नमूने से हुआ किन्तु ऐसी धारणा पूर्णतः क्लिष्ट कल्पना ही है। इसी तरह आर्चियोप्टेरिक्स का जंतु-जगत में स्थान निर्धारण के लिए लगभग छत्तीस मंतव्य विभिन्न वैज्ञानिकों द्वारा प्रकट किये जा चुके हैं। इनमें एक मंतव्य गंभीर और विशेष विचारणीय है जिसे कुछ दिनों पूर्व ब्रिटिश संग्रहालय के अध्यक्ष सर गेविन डी बियर ने प्रस्तुत किया है। उनकी पुस्तिका में इस पक्षी का विशद विवरण तथा सम्बन्ध का प्रतिपादन है। सर गेबिन की खोज में पहले पहल परा-कासनी किरणों द्वारा छायाचित्र उतारने की विधि प्रयुक्त हुई है जिससे प्रस्तरावशेष के प्रस्तरखंड के संदिग्ध चिन्हों का ठीक रूप निर्धारित हो सका है। क्योंकि इस किरण के चित्र में हड्डी के ऊपर प्रकाश की प्रतिक्रिया अन्य पदार्थों की प्रतिक्रिया से भिन्न होती है। अप्रत्यक्ष प्रकाश डाल कर भी हड्डियों के उभाड़ ज्ञात करने की युक्ति कार्य में लाई गई है। एक्स किरण द्वारा आर्चियोप्टेरिक्स का छायाचित्र १६१६ में ही लिया जा चुका है किन्तु सर गेविन डी बियर ने नवीनतम उपकरणों से परीक्षण करने का प्रयास किया। इस कारण उनके निकले परिणाम अधिक विशद हैं।

यह कहना तो ठीक नहीं है कि सर गेविन द्वारा बहुत अधिक नई बातें ज्ञात हुई हैं। परन्तु संदिग्ध स्थलों का स्पष्ट रूप अवश्य ज्ञात हो सका है। अतएव इस पूर्ण प्रस्तरावशेष की नयी व्याख्या ठीक तरह की जा सकती है। उदाहरणार्थ लंदन के प्रस्तरखंड के प्रस्तरावशेष में अब तक की धारणाओं की अपेक्षा कपाल की अस्थियों की संख्या अधिक है तथा प्रस्तरखंड पर एक जो रूपहीन चिन्ह पड़ा ज्ञात होता था, वह मस्तिष्क का आकार अनुमानित कर सकने में सहायक हो सका है। यह बात अब ज्ञात हुई है कि यह आदिम पक्षी पक्षियों की योजना के स्थान पर सरीसृपों की योजना के अनुसार ही मस्तिष्क रखता था।

पृष्ठवंश की रचना भी अधिक स्पष्ट हो सकी है। यह अब निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कशेरुकाओं के सिरे चपटे होते थे या बहुत अल्प रूप में प्यालीनुमा होते थे। इससे भी ज्ञात होता है कि वे सरीसृप ढङ्ग के थे।

यथार्थ में सबसे प्रमुख नूतन खोज वक्षास्थि के सम्बन्ध में है। यह ज्ञात हुआ है कि वह वक्षास्थि बिलकुल नावनुमा हड्डी का खण्ड है जिसमें किसी भी प्रकार का मध्यवर्ती उद्वर्धित आधार दण्ड (हड्डियों का उभाड़) नहीं पाया जाता जिसमें यह इंगित हो कि पंख फटफटाने के समान क्रिया कर सकने के लिए प्रबल पेशियाँ बंधी होती थीं। दूसरे शब्दों में यह कहना युक्तिसंगत हो सका है कि ठीक अर्थ में यह पक्षी उड़ाकू नहीं था। बल्कि कुलाँच वाली उड़ान ही कर सकता था।

आर्चियोप्टेरिक्स के जंतु-जगत में ठीक स्थान के निर्णय के सम्बन्ध में बहुत सी बातें विचारणीय हैं। यह पक्षी था या सरीसृप, उसकी परीक्षा के लिए दोनों रूपों के लक्षणों का विवरण जानना आवश्यक है। पक्षी रूप के लक्षणों में इसमें पर पाये जाते हैं। पैर के अंगूठे को शेष उंगलियों की विपरीत दिशा में घूम सकते पाया जाता है। श्रोणिचक्र में पुरोनितंबास्थि (प्यूबिस) को पीछे की ओर मुड़ा पाया जाता है। यथार्थ सरीसृप लक्षणों में इसमें हड्डियाँ ठोस और अन्तर्भाग में वायुशून्य पाई जाती हैं। कशेरुकाओं का रूप और जोड़ सरीसृपवत् होता है। बीस कशेरुकाओं से निर्मित पूँछ होती है। पिछले पैरों का अगले पैरों की लम्बाई और आकृति से आपेक्षिक सम्बन्ध है। हाथ में तीनों उँगलियों में चंगुल होते हैं। जबड़े में दाँत पाये जाते हैं।

इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस जंतु में मिश्रित लक्षणों के कारण इसे सरीसृप और पक्षी का मध्यवर्ती जंतु मानना चाहिए। सरीसृप और पक्षियों के जो मुख्य लक्षण होते हैं उनके आधे आधे इस जंतु में पाये जाते हैं। यह बात असंदिग्ध कही जाती है कि पक्षियों का विकास सरीसृपों से ही हुआ किन्तु इसका यह

[शेष पृष्ठ १६ पर]

विज्ञान के चमत्कार

जेबी रेडियो

क्या आप विश्वास कर सकेंगे कि सिगरेट की डिबिया के बराबर भी रेडियो बन सकता है ?

आप विश्वास करें या न करें, परन्तु यह सच है। पिछले दो वर्षों से ऐसे जेबी रेडियो बाजार में बिकने लगे हैं। यह भी कहा जा रहा है कि शीघ्र ही इतने छोटे रेडियो बनने लगेंगे जो केवल हाथ की घड़ी के बराबर होंगे।

यह कथन निराधार नहीं है। "ट्रांजिस्टर" नाम के एक नये तत्व ने, जिसका आविष्कार १९४८ में हुआ था, श्रवण-यन्त्र उद्योग में एक क्रान्ति पैदा कर दी है और वह अब बेतार के यन्त्रों में निर्वात-नली (वैक्युम ट्यूब) के स्थान पर भी प्रयोग किया जा सकता है।

ट्रांजिस्टर मुख्यतः जर्मेनियम, सिलिकन आदि के क्रिस्टलों से बनाया जाता है। इनके बारे में भौतिक विज्ञानवेत्ता और रेडियो इन्जीनियर काफी अर्से से जानते हैं। रेडियो-निर्माता पहले क्रिस्टल का ही प्रयोग करते थे, परन्तु बाद में इसके स्थान पर निर्वातनली का प्रयोग किया जाने लगा।

ट्रांजिस्टर से भी लगभग वही काम लिया जा सकता है जो निर्वात-नली करती है। अतः यह रेडियो में निर्वात-नली के स्थान पर लगाया जा सकता है। इससे सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि निर्वात-नली के अन्दर के तार (फिलामेंट) को गर्म करने में जो बिजली खर्च होती है, वह न होगी।

इसे बहुत कम लोग जानते हैं कि रेडियो में खर्च होने वाली कुल बिजली का तीन-चौथाई भाग केवल तार (फिलामेंट) गर्म करने में ही खर्च हो जाता है और बाकी एक-चौथाई भाग से ध्वनि प्रसारित होती है। ट्रांजिस्टर के प्रयोग से भारी बैटरी की आवश्यकता न रहेगी और फलस्वरूप रेडियो का आकार छोटा हो जाएगा।

ट्रांजिस्टर का आकार और वजन निर्वात-नली के सौवें हिस्से के बराबर होता है। इसलिए इसके प्रयोग से रेडियो का आकार और वजन दोनों ही कम हो सकते हैं। ट्रांजिस्टर में हिलने वाले पुर्जे नहीं होते, इसलिए वह मजबूत होता है और नली की तरह टूट-फूट नहीं सकता। इन्हीं सब कारणों से रेडियो-निर्माता अब नली के स्थान पर ट्रांजिस्टर लगाने की ओर अधिक ध्यान देने लगे हैं।

फिर भी अभी ट्रांजिस्टर के प्रयोग करने में दो मुख्य रुकावटें हैं—एक तो इससे ध्वनि काफी अस्पष्ट रहती है और दूसरे इसके दाम बहुत अधिक हैं। जहाँ ध्वनि के अधिक स्पष्ट होने की आवश्यकता होती है, वहाँ इन्जीनियर निर्वात-नली का प्रयोग ही ठीक समझते हैं। हाल में ट्रांजिस्टर के दाम कुछ गिरे हैं, फिर भी ट्रांजिस्टर से बने रेडियो का मूल्य नली वाली रेडियो से दूना बैठता है।

कुछ भी हो, ट्रांजिस्टर का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है और एक दिन ऐसा आएगा जब रेडियो और बेतार की अन्य सभी चीजों में ट्रांजिस्टर का प्रयोग होने लगेगा।

८००० वर्ष पूर्व के मानव-अवशेष मिले

अमेरिका की राष्ट्रीय भौगोलिक संस्था ने सूचना दी है कि उत्तरी अमेरिका में आज से ८००० वर्ष पहले के अस्थिपिंजर ऐलाबैमा राज्य के एक फार्म में चूने के पत्थर की एक गुफा से मिले हैं। दक्षिण पूर्वी अमेरिका में लोगों के रहने के बारे में यह सब से पुराना और पक्का प्रमाण है।

खुदाई पर खुदाई करते जाने के बाद गुफा से जो अवशेष मिले हैं उनमें अस्थिपिंजर, औजार और शस्त्रास्त्र आदि शामिल हैं। इन अवशेषों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि ईसा से ६२०० वर्ष पहले या इससे भी पहले से लेकर ईसा के १६५० वर्ष के बाद तक भी यहाँ लोग रहते थे। वैज्ञानिकों ने इस गुफा में १४ फुट नीचे तक खुदाई की है। इन अवशेषों में मनुष्य द्वारा जलाई गई आग से प्रमाण भी मिले हैं। रेडियो-सक्रिय कार्बन की सहायता से जो परीक्षण किये गये हैं, उनसे पता चला है कि वह राख ८,१६० वर्ष पुरानी है। इतना सम्भव है कि इस अनुमान में ३०० वर्ष पहले या पीछे का हेरफेर हो।

इस गुफा में रहने वाले अपना सब कूड़ा-कचरा वहीं मिट्टी के नीचे दबा देते थे। जिस तरह वृक्ष के तने की भीतरी रेखाओं से उसकी आयु का पता चल जाता है, उसी तरह मिट्टी की इन परतों का विश्लेषण करने से प्राचीन ब्यौरे का पता चल जाता है। राष्ट्रीय भौगोलिक संस्था ने बताया है कि उत्तरी अमेरिका के किसी भी अन्य स्थान से इस तरह के अवशेष नहीं मिले हैं, जिनसे प्राचीन इतिहास के बारे में ऐसी विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सके।

—:-०-:—

समालोचना

खेती

कृषि-यन्त्र विशेषांक

भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् ने 'खेती' का कृषि-यन्त्र विशेषांक प्रकाशित किया है। आज तक विभिन्न राज्यों में जो भी यन्त्र और औजार विकसित किये गये हैं, विशेषांक में उनका विस्तृत विवरण दिया गया है। बोआई से लेकर फसल को बाजार के लिए तैयार करने तक कौन से यन्त्र काम में आते हैं, इन सब की झांकी इस विशेषांक में मिलती है। गन्ना, गेहूँ, चावल, जूट, आदि मुख्य फसलों के काम आने वाले सभी उपयोगी उन्नत औजारों की चर्चा विशेष रूप से की गयी है।

विशेषांक हिन्दी में अपने ढंग का अनूठा प्रयास है और कृषि में रुचि रखने वाले लोगों के लिए विशेष महत्वपूर्ण है। यदि इस तरह का साहित्य पुस्तिका रूप में बराबर सुलभ होने योग्य प्रकाशित होता रहे तो जनता का विशेष कल्याण हो सकता है।

विशेषांक की पृष्ठ-संख्या ६२ और मूल्य ।।) है। पत्रिका के सभी लेख सचित्र, संक्षिप्त, सरल और सभी उपयोगी सूचनाओं से परिपूर्ण हैं।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)
२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ।।।=)
३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)
४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८) । इस पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।
५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)
६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)
७—निर्णायक डिटर्मिनैंटस—प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ।।।)
८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस सी०, १।)
९—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)
१०—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)
११—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; (अप्राप्य)
१२—वायुमंडल डाक्टर के० बी० माथुर, २)
१३—लकड़ी पर पालिश डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २) (अप्राप्य)
१४—क़लम पेवंद ले० श्री शंकरराव जोशी; २)
१५—जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)
१६—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)
१७—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—(अप्राप्य)
१८—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० ॥)
१९—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती; मूल्य ।।।)
२०—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),
२१—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २।।)
२२—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । मूल्य ४)
२३—मधु मक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान: ३)
२४—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)
२५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३।।)
२६—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३।।)
२७—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)
२८—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ।।।)
२९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)
३०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २।।)

अन्य पुस्तकें

१—विज्ञान जगत की झाँकी	(डा० परिहार)	२)
२—खोज के पथ पर	(शुकदेव दुबे)	।।)
३—विज्ञान के महारथी	(जगपति चतुर्वेदी)	२)
४—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ	(,,)	१।।)
५—हमारे गाय बैल	(,,)	।।)
६—मवेशियों के छूत के रोग	(,,)	।।)
७—मवेशियों के साधारण रोग	(,,)	।।)
८—मवेशियों के कृमि-रोग	(,,)	।।)
९—फसल-रक्षा की दवाएँ	(,,)	।।)
१०—देशी खाद	(,,)	।।)
११—वैज्ञानिक खाद	(,,)	।।)
१२—मवेशियों के विविध रोग	(,,)	।।)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर सेन्ट्रल कालेज भवन) प्रयाग

Reg. No. A 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्दक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) बार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों की परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तक उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० देवेन्द्र शर्मा
सहायक संपादक— जगपति चतुर्वेदी

मुद्रक—श्री सरयू प्रसाद पांडेय, नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग तथा प्रकाशक—डा० रामदास तिवारी प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद।

भाग ८५

संख्या २

मई १९५७ वृष २०१४ (वैसाख १८७९ श०)

प्रति अङ्क छः आने

वार्षिक मूल्य चार रुपये

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
१—प्रो० प्रशान्त चन्द् महलनवीस	.....	डा० सत्य प्रकाश	३३
२—सर्प-परिचय	.....	जगपति चतुर्वेदी	३६
३—पपीते की खेती	.....	श्री तेजपाल सिंह	४१
४—दशमिक प्रणाली क्या है ?	.....	.....	४५
५—वैज्ञानिक बनने के प्रेरक तत्व	.....	.....	४७
६—जीवजन्तुओं का मार्ग-निर्देशन	.....	.....	४६
७—अन्तरिक्ष विजय का उपकरण	.....	.....	५५
८—पैसे की प्रतिष्ठा	.....	.....	५६
९—सम्पादकीय—वैज्ञानिक वृत्ति कैसे हो ?	.....	.....	५७

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानं जानेनानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तति । तै०उ० ।३।५।

भाग ८५	वृष २०१४; विक्र०; वैशाख १८७६ शाकाब्द; मई १९५७ ईस्वी	संख्या २

प्रो० प्रशान्तचन्द्र महलनवीस

डा० सत्यप्रकाश

[२८ जनवरी १९५७ को प्रयाग रेडियो स्टेशन से प्रसारित वार्ता]

भारतवर्ष ने ज्ञान-विज्ञान की उन्नति में सदा से ही भाग लिया है और इस देश में ही अंकगणित और बीजगणित की प्राचीन काल में नींव पड़ी। प्रसन्नता की बात है कि आधुनिक युग के विज्ञान में भी हमारा देश अच्छा सहयोग दे रहा है। इस शती में रामानुजन्, जगदीशचन्द्र बसु, रामन्, साहा, साहनी, कृष्णन्, भटनागर और भाभा के समान वैज्ञानिकों ने देश का मस्तक ऊँचा किया है और इसी श्रेणी के विज्ञानसेवियों में डा० महलनवीस की भी गिनती है, जिनके सम्बन्ध में वार्ता प्रस्तुत करने हम जा रहे हैं। महलनवीस संख्या-शास्त्र के इस समय हमारे सबसे बड़े ज्ञाता हैं, और वस्तुतः यह कहना अनुचित न होगा कि हमारे देश में संख्या-शास्त्र की उन्होंने ही नींव डाली और इस शास्त्र को इस देश में गौरव दे दिया। संख्या-शास्त्र एक प्रकार की विचित्र गणित है जिसका प्रयोग अब विज्ञान के सब अंगों में हो रहा है। संख्या-शास्त्र क्या है इसे अब इस प्रकार समझिये, मान लीजिये कि आपने एक पैसा उछाला, धरती पर यह चित भी गिर सकता है, और पट भी, हो सकता है कि आप चार बार उछालें और यह चारों बार पट गिरे या केवल तीन बार ही पट गिरे या चारों बार चित गिरे, पर संख्या-शास्त्र की गणित यह कहती है कि आप ईमानदारी से यदि १० लाख बार उछालेंगे तो यह पाँच लाख बार चित गिरेगा और पाँच लाख बार पट गिरेगा। पाँच लाख की संख्या में अगर भूल भी होगी तो ५०-१०० की ही, इससे अधिक की नहीं और अगर आप दस करोड़ बार उछालें, तो पाँच करोड़ बार पैसा चित गिरेगा और पाँच करोड़ बार पट गिरेगा। आपकी इस गणना में त्रुटि और भी कम होगी। इसी बात को हम संख्या-शास्त्र के अनुसार इन शब्दों में भी कह सकते हैं कि पैसे के चित और पट गिरने की

सम्भावना एक बराबर है, और दोनों की सम्भावना आधी-आधी अथवा पचास-पचास प्रतिशत है। संख्या-शास्त्र का एक मोटा-सा उदाहरण मैंने दिया है। किसी भी घटना के होने की सम्भावना कितनी है, इसका ज्ञान हमें संख्या-शास्त्र से हो सकता है। इस प्रकार का संख्या-शास्त्र हमारे समाज के लिए बड़ा आवश्यक है। संख्या-शास्त्र अपने आंकड़ों का अध्ययन करके आपको यह बता सकता है कि आपके नगर में १९५७ में कितने व्यक्ति अमुक अमुक कारणों से मरेंगे। हाँ, यह शास्त्र यह तो नहीं बतायेगा कि कौन-सा विशेष व्यक्ति मरेगा। इस प्रकार की भविष्यवाणी व्यक्ति-विशेष के लिये तो मूल्य की नहीं होगी, पर नगर की समस्त जनता के लिये इस प्रकार का ज्ञान बड़ा लाभ-कर होगा। किसी एक गाँव और नगर के लिए भविष्यवाणी करने की अपेक्षा समस्त प्रदेश या समस्त राष्ट्र के लिए भविष्यवाणियाँ करना बड़े लाभ का हैं। ऋतु सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ, फसल सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ, आरोग्य और जनसंख्या सम्बन्धी भविष्य-वाणियाँ—ये सब राष्ट्र के लिए बड़ी हितकर हैं। डा० महलनवीस का संख्या-शास्त्र हमारे लिए इस दृष्टि से अति महत्व का है। हमारा देश सन् १९४७ में स्वतन्त्र हुआ और तब से हमने संख्या-शास्त्र-विशारदों की उपयोगिता स्वीकार की। सन् १९४९ में डा० महलनवीस भारतीय शासन के मन्त्रि-मंडल के सांख्यिक परामर्शदाता नियुक्त हुए और तब से आज तक उनकी देख-रेख में देश के आंकड़ों का वैज्ञानिक अध्ययन होता आ रहा है।

प्रशान्तचन्द्र महलनवीस का जन्म २९ जून १८९३ को कलकत्ता में हुआ और कलकत्ते में ही इन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की। सन् १९१३ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में बी० एस-सी० आनर्स की उपाधि भौतिक विज्ञान में ली, और फिर ये इङ्गलैंड चले गए। सन् १९१४ में इन्होंने कैम्ब्रिज में गणित में ट्राइपोस का प्रथम खंड उतीर्ण किया और फिर १९१५ में भौतिक विज्ञान में ट्राइपोस का दूसरा खंड उत्तीर्ण किया। इसी वर्ष (१९१५) इन्हें कैम्ब्रिज के किंग्स कालेज की उच्चतर छात्रवृत्ति मिली। कैम्ब्रिज में अध्ययन पूरा करने के अनन्तर ये कलकत्ता लौट आये और यहाँ के प्रेसिडेंसी कालेज में भौतिक विज्ञान के अध्यापक हो गये। सन् १९१५ से १९४५ तक तीस वर्ष इन्होंने इस पद पर व्यतीत किए और इसी समय इनकी ख्याति बढ़ी। शीघ्र ही देश के प्रमुख वैज्ञानिकों में इनकी गणना होने लगी और इन्हें अपनी खोजों के सम्बन्ध में अच्छा यश मिला डा० महलनवीस १९४५ से १९४८ तक प्रेसिडेन्सी कालेज के प्रिन्सपल भी रहे। इस लम्बी अवधि के बीच में सन् १९२२ से १९२६ तक ये कलकत्ता के मेटिओरोलोजिस्ट अर्थात् ऋतु विभाग के अधिकारी भी रहे। डा० महलनवीस ने संख्या-शास्त्र-विशारदों की एक संस्था "इण्डियन स्टैटिस्टिक इन्सटीट्यूट" नाम से स्थापित की और सन् १९३१ से ये इस संस्था के अध्यक्ष और मंत्री रहे हैं। सन् १९४५ से १९४८ तक ये बंगाल गवर्नमेंट के संख्या संबंधी परामर्शदाता रहे और जैसा हम अभी कह चुके हैं, डा० महलनवीस सन् १९४९ से भारतीय गवर्नमेंट के परामर्शदाता हैं। सन् १९४७ से १९५१ तक इन्होंने यूनाइटेड नेशन्स स्टेटिस्टिकल कमीशन में भारत का प्रतिनिधित्व किया। उसके उपाध्यक्ष भी रहे। यूनाइटेड नेशन्स के सैम्पलिंग (Sampling) सब-कमीशन के ये अध्यक्ष भी रहे, और इस प्रकार उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्रों में भी दिया।

सन् १९४५ में डा० महलनवीस इंगलैंड की सुविख्यात रायल सोसायटी के फेलो निर्वाचित हुए। यह गौरव हमारे देश के इने-गिने थोड़े से ही वैज्ञानिकों को प्राप्त हो पाया है। इस समय हमारे जीवित वैज्ञानिकों में रामन्, भाभा, कृष्णन्, और महलनवीस, ये चार ही व्यक्ति इस रायल सोसायटी के फेलो हैं। डा० महलनवीस इंटरनेशनल स्टेटिस्टिकल इन्सटीट्यूट के उपाध्यक्ष भी हैं और देश विदेश की अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं में ये गौरवपूर्ण पद प्राप्त कर चुके हैं, सन् १९५० में पूना में इंडियन साइन्स कांग्रेस के ये प्रमुख सभापति बनाए गए थे। इंडियन साइन्स कांग्रेस एसोसियेशन के ये वर्षों तक कर्णधार रहे हैं और विदेशी वैज्ञानिकों को हमारे देश से परिचित कराने का श्रेय भी बहुत कुछ डा० महलनवीस को रहा है। अनेक विश्वविद्यालयों ने डा०

महलनवीस को सम्मानित उपाधियाँ दीं और आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने १९४४ में इन्हें वेल्डन पुरस्कार दिया। डा० महलनवीस ने "संख्या" नाम की अँग्रेजी में एक वैज्ञानिक शोध पत्रिका को भी सन् १९३३ में जन्म दिया और तब से आज तक वे इसके सम्पादक रहे हैं।

डा० महलनवीस ने आँकड़ों के अनुमान करने की एक नयी विधि निकाली जिसका प्रयोग संसार में पहली बार सन् १९३५ में बंगाल की उपज के सम्बन्ध में किया गया। यह नयी पद्धति वैज्ञानिक जगत् में सेम्पल-सर्वे (Sample Survey) या बानगी-पर्य्यवेक्षण के नाम से प्रसिद्ध है। इस पद्धति का विस्तृत वर्णन डा० महलनवीस ने रायल सोसायटी लन्डन की फिलोसिफिक ट्रान्जेक्शन में सन् १९५४ में प्रकाशित कराया। डा० महलनवीस की पद्धति के पहले उपज आदि का कूतना गाँव और जिले के अधिकारियों की कल्पना पर निर्भर रहा करता था और उनकी विधि न केवल अशुद्ध और त्रुटिपूर्ण ही थी, खर्चीली भी अधिक थी, डा० महलनवीस ने सन् १९३९ में अपनी विधि का प्रयोग बंगाल की सन या जूट की खेती के आँकड़ों पर किया। इस काम के लिए उन्होंने साढ़े पाँच से ६६ वर्ग फुट तक के २२ टुकड़े अस्तव्यस्त क्रम से चुन लिए और इन टुकड़ों से प्राप्त अनुभव के आधार पर ही अपनी सांख्यिकी गणना के अनुसार सम्पूर्ण बंगाल की जूट की उपज का अनुमान कर लिया। इसी पद्धति का उपयोग इन्होंने सन् १९४३–४४ में बिहार के गेहूँ और दाल के आँकड़ों के सम्बन्ध में भी किया और अगले वर्ष इसका प्रयोग धान की खेती के लिए भी उसी प्रदेश में किया गया। खेती की उपज के सच्चे आँकड़ों पर ही तो हम अपने स्वतंत्र भारत में आगे की आयोजनाओं को जन्म दे सकते हैं। अगर हमारे आँकड़े गलत हुए तो इनसे देश को बहुत हानि हो सकती है।

डा० महलनवीस की आँकड़े प्राप्त करने की पद्धति ने एक बार कई करोड़ रुपयों की बचत कर दी, सन् १९२६ में उड़ीसा की ब्राह्मणी नदी में बड़ी बाढ़ आयी। सरकारी इंजीनियरों ने यह अनुमान प्रस्तुत किया कि नदी तलेटी कई फुट ऊपर उठ आयी है और इसीलिए नदी का पानी ऊपर चढ़ आया है। इस सुझाव की दृष्टि से आवश्यक समझा गया कि नदी के किनारों के बांध पहले की अपेक्षा कुछ फुट ऊँचे कर दिए जायँ। स्वभावतः ऐसा करने में कई करोड़ रुपये का खर्च था। डा० महलनवीस ने वर्षा सम्बन्धी आँकड़ों को अपनी पद्धति पर जाँचा और यह स्पष्ट घोषित किया कि नदी की बाढ़ विशेष वर्षा के आधिक्य के कारण ही हुई है, इस प्रकार करोड़ों का खर्चा बच गया और सन् १९३० से अब तक जो २७ वर्ष हुए हैं, उसके अनुभव ने भी डा० महलनवीस की बात की पुष्टि की। डा० महलनवीस ने उड़ीसा की नदियों की बाढ़ के सम्बन्ध में जो आँकड़े दिये, उन्होंने उड़ीसा के हिरकुड डैम के बनाने में बड़ी सहायता दी।

इसी प्रकार जब कभी भी शुद्ध-शुद्ध आँकड़ों को प्राप्त करने और उनसे परिणाम निकालने का अवसर आता है, हमें डा० महलनवीस और उनके छात्रों से सहायता मिलती है। राष्ट्र की भावी आयोजनायें इन आँकड़ों पर ही निर्भर हैं और इस दृष्टि से हम डा० महलनवीस की वैज्ञानिक खोजों के राष्ट्रीय महत्व का थोड़ा सा अनुमान कर सकते हैं।

सर्प-परिचय

सर्प का विचित्र लम्बोतरा आकार भूलने या वर्णित करने की वस्तु नहीं है। कुछ अंधेरे में कहीं रस्सी पड़ी रहने पर भी साँप होने का भ्रम तो तर्कशास्त्रियों द्वारा 'भ्रम' की ठीक व्याख्या के लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण ही बना है। हम लोग इस जन्तु को काल का विशेष दूत ही मानते हैं। सर्प ने काटा न भी हो, या काट ही न सकता हो, तब भी उसे देख कर श्वास या हृदय की गति में हमें तुरन्त ही विशेष परिवर्तन दिखाई पड़ने लगता है। परन्तु जंतुशास्त्री हमें सर्प-जगत का दूसरा पहलू भी दिग्दर्शन करा सकने में समर्थ हो सके हैं। संसार भर में इसकी भाँति भाँति की जाति-प्रजातियों, वंशों आदि का अध्ययन तथा पर्यवेक्षण कर वे हमें यह तथ्य अवगत कर सकने के लिए प्रेरित करते हैं कि सर्प भी प्राणि जगत में अन्य प्राणियों की भाँति एक स्थान रखते हैं। उनमें सभी यम के दूत बन कर संसार में नहीं आते बल्कि हमें काल सरीखे विषधर अनुभव होने वाले सर्प भी केवल अपने शिकार की प्राप्ति तथा रक्षा के लिए ही विषदंतों से सज्जित होते हैं।

भूगर्भशास्त्रियों के मत से पृथ्वी के इतिहास में पुराजंतुक युग में पहले मछलियों या जलजन्तुओं का उदय हुआ जिनके पश्चात् उभजीवी या मंडूक समान जन्तु उत्पन्न हुए जिनको कुछ गलफड़ों तथा कुछ फेफड़ों से श्वास लेने की युक्ति रखते पाया जाता है। इनके पश्चात् ही शुद्ध फुफ्फुस (फेफड़े) की व्यवस्था वाले स्थलचर जन्तु संसार में अवतरित हुए जिन्हें सरीसृप नाम दिया जाता है। सर्प इन्हीं में एक विभाग या संविभाग बनाते हैं। हमें सारा सरीसृप-जगत एक-सा नहीं दिखाई पड़ता। उनमें अधिकांश को क्षुद्र पादयुक्त पाया जाता है परन्तु सर्प तो उनसे भी हीन रूप, निष्पाद शरीर के जन्तु हैं।

लोगों को प्रायः यह बात प्रतिभासित होती है कि सर्प कुछ आदिम या अवनत अवस्था के ही सरीसृप होंगे तथा अन्य सरीसृपों मगर, कच्छपों, सरटों आदि ने उन्नति कर पैर उत्पन्न किये होंगे परन्तु वस्तुस्थिति ठीक विपरीत ही है। यह बात सत्य है कि अन्य सरीसृपों में पादहीन जातियाँ पाई जाती हैं परन्तु सर्प या अन्य पादहीन सरीसृप हीन अवस्था के द्योतक नहीं हैं, प्रत्युत पहले इन सबकी पुरानी जातियाँ प्रजातियाँ पादयुक्त ही रही होंगी या किसी पादयुत वंश या जाति से ही इनका जन्म हुआ होगा; परन्तु विशेष जीवन-क्रम तथा स्थितियों के अनुरूप इन्होंने अपना रूप विशिष्ट रूप का बनाना प्रारम्भ किया। फलतः वे विशिष्टता की एक सीमातक पहुँच कर पादहीन बन गये जिसमें उन्हें चलने-फिरने, आहार प्राप्त करने, छिपे रह सकने आदि की विशेष सुविधा हो। अतएव सर्प का रूप सरीसृपों के किसी विभाग का अविकसित या हीन रूप नहीं कहना चाहिए प्रत्युत विशिष्ट अथवा विशेष आवश्यकताओं तथा स्थितियों के कारण विशेष रूप का विकसित रूप कहना चाहिए।

सरीसृपों की सभी जातियों से सर्प का प्रमुख विभेद उसके निचले जबड़े की रचना करने वाली दो अस्थियों का जकड़े रूप में सूत्रबद्ध न होकर लचीले बंधनों से बँधा होना है जिससे वे अपना मुख फैला कर बड़े आकार का शिकार भी निगलने की सुविधा प्राप्त कर सकें। किसी भी अन्य सरीसृप में निचले जबड़े की अस्थि इस प्रकार लचीले रूप में बँधी नहीं होती। सर्प के मुख की रचना करने वाली सभी अस्थियाँ बड़े शिथिल रूप में परस्पर बँधी होती हैं इस कारण शिकार निगलने के समय वे मुख को अधिक से अधिक फैला सकती हैं। बहुत से साँपों में तो ऊपरी जबड़े तथा तालू की अस्थियाँ भी स्वतन्त्र गति कर सकती हैं।

सर्पों के विभिन्न आकार होते हैं। एक ओर जहाँ ३० फुट लम्बा अजगर लगभग पौने चार मन का हो सकता है, वहाँ दूसरी ओर एक भूगर्भी वयस्क सर्प पाँच या छः

इञ्च लम्बा ही पाया जाता है जिसकी मोटाई एक इञ्च के आठवें भाग के बराबर बगुले के पङ्ख-सी ही हो। गति पर ध्यान देने पर हमें एक ओर कहीं रेत में मुँह छिपा कर पड़ा रहने वाला दुमुहाँ साँप दिखाई पड़ता है तो दूसरी ओर वायु गति से भागने वाले सर्प भी मिलते हैं।

सर्पों का प्रसार-क्षेत्र भी बड़ा विभिन्न तथा व्यापक पाया जाता है। साइबेरिया के निम्न भाग में स्टेपी मैदानों तक में कुछ मंडली (वाइपर) सर्प इस समय पाये जाते हैं। वे सम्भवतः नवागंतुक ही हैं परन्तु सरटों (गिरगिट, गोह, छिपकली आदि) की अपेक्षा सर्पों को अवश्य ही अधिक प्रसारित पाया जाता है। हम साँपों को अधिक नहीं देख पाते। उसका कारण यह है कि अधिकांश सर्प छिपकर ही जीवन व्यतीत करते हैं। विशेष कर आहार कर चुकने के पश्चात् तो पाचन काल में उन्हें अधिक छिपकर रहना पड़ता है।

शीतोष्ण कटिबंधों में सरटों की अपेक्षा विशेष अधिक दूर तक के क्षेत्रों में सर्पों को प्रसारित पाया जाता है। अपेक्षाकृत उत्तरी या शीत अक्षांशों में जहाँ सरटों का बिल्कुल नाम नहीं होता, वहाँ भी अनेक सर्प की जातियाँ पाई जाती हैं। किन्तु सरटों की ही भाँति सर्पों की भी सबसे अधिक संख्या उष्ण कटिबंधों में ही है। भूमध्य रेखा से जितना ही उत्तर या दक्षिण बढ़ा जाय, उनकी जातियाँ न्यून होती पाई जाती हैं।

शीतोष्ण कटिबंधों में जहाँ हिम जम जाने योग्य शीत का निश्चित रूप से प्रकोप होता है, सरीसृप एक तो कम होते हैं, दूसरे बस्तियों की वृद्धि से मनुष्य द्वारा सर्पों का दिन पर दिन अधिक बध होता जा रहा है। परिणाम यह हो रहा है कि सर्पों की बहुत-सी जातियाँ दुर्लभ या लुप्त-प्राय हो रही है। अमेरिका के फ्लोरिडा प्रायद्वीप में बस्ती के प्रसार का यह परिणाम हुआ कि घोर जंगल तथा पहाड़ों के मध्य सड़कें बनीं। मोटरों का अधिकाधिक आवागमन प्रारम्भ हुआ। ज्ञात होता है कि मोटरें और बसें सर्पों का काल हैं। प्रतिवर्ष कई सहस्र सर्प इन से दब और कुचल कर मरने लगे। घने जंगलों के मध्य सड़क ही खुला स्थान होता है अतएव शिकार की खोज में सर्प उस मार्ग पर फैलते हैं तथा धूप खाने का अच्छा स्थान समझ कर खुली सड़क पर ही आराम करने लगते हैं। उधर तीव्र-गति से कोई मोटर आकर उनको भाग सकने का अवसर देने के पूर्व ही कुचल डालती है। जब कोई सड़क जंगल में नई ही बनी हो, तो उस पर दब कर मरे पड़े रहने वाले सर्पों की संख्या सैकड़ों पाई जा सकती हैं। एक पर्यवेक्षक ने तो दस मील की दूरी में तीस काँच सर्पों (ग्लास स्नेक) को मरा हुआ देखा। वे कुचल कर तुरन्त के ही मरे पड़े थे। किन्तु यही दशा संसार भर में नहीं पाई जा सकती। मनुष्य की कितनी भी प्रगति हो, किन्तु सर्पों के रहने योग्य बीहड़ बनों तथा पहाड़ी स्थानों की कमी बहुत दिनों तक न हो सकेगी।

सर्पों के प्रसार-क्षेत्र पर दृष्टि डालने से कुछ विस्मय भी होता है। कुछ वंशों को अनेक क्षेत्रों में प्रतिनिधित्व करते पाया जाता है, परन्तु कुछ ऐसे वंश भी हैं जिनका प्रसार एक गोलार्द्ध के कुछ क्षेत्रों में ही सीमित-सा है, परन्तु कोई भूली-भटकी-सी जाति कहीं दूसरे गोलार्द्ध के दूर के किसी क्षेत्र में उसका प्रतिनिधित्व कर प्रसार प्रकट करती है। उदाहरण के रूप में अजगरों को लिया जा सकता है। भारत, मलाया, अफ्रीका आदि में पाये जाने वाले अजगर पाइथन या पूर्वी अजगर उपवंश के माने जाते हैं। इनके विपक्ष दूसरा उपवंश बोआ का होता है जो पश्चिमी गोलार्द्ध का ही जंतु है इसलिए उसे पश्चिमी अजगर बोआ उपवंश का कहते हैं। पूर्वी अजगर उपवंश का प्रसार एशिया, अफ्रीका, मलाया तथा पूर्वी द्वीप समूह और आस्ट्रेलिया में है किन्तु केवल एक जाति पश्चिमी गोलार्द्ध में मेक्सिको में पाई जाती है। पश्चिमी अजगर या बोआ उपवंश का प्रसार यों तो दोनों गोलार्द्धों में है। परन्तु इसकी सभी बड़ी जातियाँ केवल अमेरिका के उष्ण कटिबंध में पाई जाती हैं। उन अमेरिकीय जातियों की समकक्ष एक जाति मेडागास्कर में पाई जाती है। साथ ही मेडागास्कर में वृक्षचारी बोआ भी पाया जाता है जो अपनी पूँछ शाखाओं में लपेटकर शरीर अवलम्बित कर सकता है। इसी तरह की चार जातियाँ अमेरिका में भी पाई जाती हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि सरीसृपों की उत्पत्ति कहीं पर मध्य एशिया में हुई। सर्प भी वहीं

उदय हुए होंगे। उन दिनो भूतल के खंड परस्पर मिले-से रहे होंगे या एक दूसरे तक जा सकने के लिए भूतल पट्टियाँ संलग्न रही होंगी। कदाचित् उन कारणों से विभिन्न स्थलों में एक रूप की जातियाँ आज फैली पाई जाती हैं।

पौराणिक कथाओं में हम नागलोक की बात सुनते हैं। सुनने की ही बात है तब तो हम नागकन्या की बात भी उठा सकते हैं, परन्तु उसकी कुछ लोग यह व्याख्या कर सकते हैं कि नाग नाम की कोई पुरानी मानव जाति कहीं पर अपना राज्य या अधिकार स्थापित किये होगी। उनके सरदार या अध्यक्ष की कन्या ही नागपुत्री या नागकन्या कहला सकी होगी। हमें इन कथाओं से कोई विशेष प्रयोजन नहीं है, परन्तु आज के वैज्ञानिक पर्यवेक्षणों से यह बात ज्ञात हो सकी है कि शीत देशों में ऋतु-प्रकोप से बचने के लिए कहीं पहाड़ी कगारों या अधिक कठोर चढ़ाई की या खड़ी-सी किनारी या दीवाल के अन्दर गुफा में बहुत भारी दलों रूप में कुछ जातियों के सर्पों को दीर्घ शीतकालीन निद्रा में लिप्त होते पाया जाता है। शीत का जहाँ बाहर की ओर भारी प्रकोप दिखाई पड़ता है, हिम का चारों ओर प्रसार-सा दिखाई पड़ता है, वहाँ उस गुहा या खोह के अन्दर अपेक्षाकृत अधिक उष्णता रहती है और सर्प घोर शीत ऋतु को वहाँ अचेतन-से पड़े रहकर निराहार ही बिता ले जाते हैं। उन्हें नागलोक या सर्प नगर कहें तो कुछ अनुचित नहीं कहा जा सकता।

जब शीत ऋतु का अवसान होकर वसंत का पुनः आगमन होने लगता है, इन नागों या सर्पों की बस्ती में प्राण-संचार-सा दिखाई पड़ने लगता है। धीरे-धीरे सर्प बाहर निकलने और आहार ढूँढ़ने लगते हैं। मादा सर्प को कहीं दूर तक के स्थान में पहुँच कर किसी चट्टान के नीचे अंतराल पाकर अंडा देने का उपक्रम करते पाया जाता है। चट्टान की मोटी या बहुत पतली तह न होने से उसके निचले तल में अण्डों के लिए उपयुक्त तापमान प्राप्त होता है। एक ओर बहुत अधिक गर्मी नहीं पहुँचती, दूसरी ओर घोर ठण्डक का भी सामना नहीं करना पड़ता। चट्टानों के नीचे कुछ गड्ढे से बनाकर मादा उसमें अण्डे रखकर तुरन्त ही चली गई होती है। केवल प्रकृति द्वारा उनका रक्षण तथा विकास होता रहता है। कुछ सप्ताहों में अण्डों से शिशु निकलते हैं। वे पहले कुछ दिन तो वहीं पड़े रहते हैं, नन्हें कीट का आहार करते हैं। परन्तु शीघ्र ही कुछ बल प्राप्त कर बाहर निकल आते हैं। कुछ दिनों में कदाचित् उन सर्प-शिशुओं में से कुछ को या बहुतों को अगले वर्ष के शीतकाल के आगमन के पूर्व उन पूर्वजों की शरणस्थली या सर्प नगरी में पहुँचने के लिए पहाड़ की चढ़ाई पर जाते देखा जाता है। उनकी कोई अन्तर्वृत्ति ही उस रक्षित गुहा या कंदरा तक उन्हें पहुँचाती है।

यह शीतकालीन दलबद्ध व्यवस्था सब सर्पों में नहीं पाई जाती, परन्तु जिनमें ऐसी रीति है उन्हें सहस्रों तक की संख्या में एकत्र सङ्घबद्ध-सा शयन-क्रिया करते पाया जाता है। कहीं एक ही गुफा में विभिन्न जातियों के सर्पों को भी जुटा पड़ा पाया जाता है। कहीं एक जाति के सर्पों के नीचे लेटे पड़े रहने पर ऊपर से किसी दूसरे सर्प को सरक कर निकल जाते देख उनके द्वारा कोई रोष-भाव प्रकट होते नहीं पाया जाता।

सर्पों की सब जातियाँ एक-सा सन्तानोत्पादन-विधान नहीं रखतीं। कुछ को अंडजन्मा पाया जाता है। उनमें कुछ को अण्डा देकर उसे अपने शरीर की कुन्डली में दबाये रक्षित रखते तथा सेते पाया जाता है परन्तु कुछ सर्पों को तो अण्डा न देकर सदेह शिशु ही कोख से उत्पन्न करते पाया जाता है। उन्हें पिंडजन्मा कहना उचित हो सकता है। उनके अण्डे गर्भ के अन्दर ही शिशु को विकसित करते रहते हैं। उसमें विकसित होने पर शिशु का बाहर जन्म होता है।

संसार भर में लगभग २५०० विभिन्न जातियों के सर्प हैं। इनमें से विषधर सर्प की जातियाँ तो थोड़ी ही हैं। अधिकांश जातियाँ निरापद या विषहीन होती हैं। विज्ञान को सर्पों की जितनी भी जातियाँ ज्ञात हो सकीं उनमें से दस बाहर प्रतिशत जातियों में अत्यधिक विकसित विषदन्त पाये जाते हैं। उनमें भी आधे से ही कुछ अधिक को मनुष्य के लिए घातक माना जा सकता है।

साँपों की विभिन्न जातियों पर ध्यान जाने पर ज्ञात होता है कि एक ओर ऐसी जातियाँ हैं जिनके मुख में

जबड़ों के बहुत अधिक खुलने की व्यवस्था नहीं होती। ऐसी जतियाँ सर्प नाम का परिहास-सा ही करती हैं। वे छोटे आकार की ही होती हैं तथा प्रायः चींटियों के बिल में रहतीं और उनकी इल्लियाँ खाकर जीती हैं।

दूसरी ओर हम अजगर को पाते हैं जिसके जबड़े अधिक से अधिक फैल सकने की व्यवस्था प्रकट करते हैं। इन दोनों प्रकार के सर्पों को पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्द्धों में पाया जाता है। अजगरों में तो पिछले पैर भी कुछ नाम मात्र के पाये जाते हैं जो केवल उभाड़ मात्र होते हैं।

सर्पों की जातियाँ प्रजातियाँ या वंशों का निर्णय कपालीय अस्थियों की रचना पर ही निर्भर नहीं होता। उनकी विभिन्न प्रकार की दन्तावलो तथा शरीर के ऊपर आवरण रूप के छिछड़ों या शल्कों द्वारा भी विभेद किया जाता है। छिछड़ों के रूपों, उनकी व्यवस्था तथा पंक्तियों की संख्या भी भेद प्रकट कर सकती है। विषधर सर्पों के विषदन्तों के ही अनेक रूप तथा भेद होते हैं। कुछ को उन दाँतों में कोई खुली नाली या लम्बाई के तल खुला गड्ढा रक्खे पाया जाता है तथा कुछ को टीका लगाने की सूई के समान खोखली स्थिति की नलिका समान पाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि साँप अपने विषदन्त की खोखली अन्तर्स्थिति या नलिकावत रूप से अन्य जन्तुओं के शरीर में उसे नोकीले छोर से चुभो कर जिस प्रकार विष का प्रवेश कराता है, उसी प्रकार मनुष्य ने किसी रोग के प्रभाव का शमन करने के लिए कीटाणु या उसके कुप्रभाव के मारक द्रव पदार्थों को अपने शरीर में प्रविष्ट कराने की व्यवस्था प्रचारित की। टीका या इंजेक्शन की इस पद्धति के सूत्रपात करने में मनुष्य ने सुई को खोखली रख उपयोग में लाने का विधान सर्प के विषदन्तों से ही सीखा होगा। साँपों के इन विषदन्तों को हम एक वंश में तो छोटे सीधे और दृढ़ स्थिति के पाते हैं। परन्तु दूसरे वंशों में वे इतने लम्बे होते हैं कि मुख बन्द रहने पर साँप को उन्हें तालू से चिपका रखने के लिए मोड़ या झुका लेना पड़ता है।

कोलुब्राइडी या अल्पविषदन्ती वंश नाम की जातियाँ अपने आकार-प्रकार तथा संख्या और दूर-दूर के भूभागों में प्रसार की दृष्टि से अन्य सभी वंशों को नीचा दिखाती हैं। इस वंश में मुख्यतः सभी निरापद या निर्विष जातियाँ हैं। किन्तु कुछ जातियों का गुट्ट ऐसा भी है जिनमें ऊपरी जबड़े के पिछले भाग में छोटे विष-दन्त होते हैं। उनमें अपेक्षाकृत हल्का विष ही होता है जिसका उपयोग शिकार को मूर्च्छित कर देने के लिए होता है। संसार में जिस किसी भूभाग में साँप पाये जाते हैं, वहाँ इस वंश के सर्प अवश्य ही पाये जा सकते हैं। इस वंश में इतने अधिक साँपों की जातियाँ होती हैं कि इसकी कई एक उपजातियाँ निर्धारित की गई हैं। निर्विष साँप तो अजगर भी होते हैं, परन्तु कोलुब्राइडी वंश की जातियाँ पिछले पैरों के अवशेष या चिन्ह रूप का उभाड़ नहीं रखतीं। यह उनकी भिन्नता होती है।

एक वंश के प्रभेदों में जातियाँ तो छोटा रूप होती हैं। परन्तु उनमें कुछ को समान लक्षणों के आधार पर कुछ पृथक-पृथक गुट्ट-सा बनाये पाया जाता है। उस गुट्ट या जातियों के समूहों को प्रजाति नाम दिया जाता है। संसार के समस्त सर्पों के एक दर्जन वंश विभाग होंगे। उनमें तीन सौ प्रजातियाँ मानी जाती हैं। कुल सवा दो हजार जातियाँ इन प्रजातियों के अन्तर्गत ही बटी हैं। कोलुब्राइडी वंश में ही आधी प्रजातियाँ सम्मिलित हैं। अतएव हम अनुमान कर सकते हैं कि इस वंश में कितने विभिन्न प्रकार तथा भारी संख्या के सर्प होंगे।

कोलुब्राइडी वंश के सर्पों में इतने विभिन्न रूपों के सर्प पाये जाते हैं कि उन सबको एक ही वंश का मानने में साधारण व्यक्ति को कठिनाई प्रतीत होती है। परन्तु शरीर-रचना के कुछ लक्षणों की समानता पर वंशों का निर्धारण किया जाता होगा। वह समानता हमें उनके बाह्य रूप देखने से ही ज्ञात नहीं हो सकती। इस कारण हमें इस वंश में एक ओर पुष्ट शरीर के सर्प मिलते हैं तो दूसरी ओर अत्यन्त क्षीणकाय जतियाँ भी होती हैं। इस कारण शरीर की मोटाई या क्षीणता देखकर विषहीन या विषधर जातियाँ नहीं पहचानी जा सकतीं। इस वंश की कुछ जातियाँ तो दस फुट तक लम्बी पाई जा सकती हैं परन्तु उतनी ही लम्बाई के अजगर के शरीर से तुलना की जाय तब तो तुरन्त यह बात ही मुख से निकल सकती

हैं, कि "कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगू तेली।" इतनी लम्बाई की कोलुब्राइडी वंशी जाति को तो बिल्कुल कोड़े समान पतला पाया जाता है मानो कोई बहुत लम्बी पत्रहीन लता ही हो।

कोलुब्राइडी वंशी सर्पों में ही धामिन (मूषक भक्षी सर्प) की गिनती है। अमरिहा, असदिहा, पहाड़िया तथा पनिहाँ (या डोंड़) साँपों की गणना भी इस वंश में ही है जो विषहीन होने के लिए प्रसिद्ध हैं। घास का साँप, कृष्ण सर्प, दुग्ध सर्प, पट्टित सर्प आदि विदेशी जातियाँ भी इस वंश की हैं।

निरापद सर्पों में जहाँ धामिन को हम इतना बड़ा रूप रखते पाते हैं, वहाँ हलाहल विष की प्याली समान करैत (कैरात), कोबरा (नाग तथा नागराज आदि) सर्प पतले आकार के ही साँप होते हैं। इनमें ऊपरी जबड़े में छोटे ही विषदन्त स्थिर रूप से जड़े होते हैं परन्तु विष प्रबल घातक होता है। इस वंश में लगभग ६० प्रतिशत साँप पतले ही होते हैं। संसार के सबसे प्रबल घातक विषयुक्त दन्तों के इन सर्पों को नागवंशी (एलापाइड) कहा जा सकता है। इनके वंश का नाम नागवंश (एलापाइडी) है। इस वंश की जातियाँ अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और पश्चिमी गोलार्द्ध में भी पाई जाती हैं। आस्ट्रेलिया का काला सर्प तथा व्याघ्र सर्प और अमेरिका के बहुरंजित क्षीणकाय प्रवाल सर्प की गणना नागवंश में ही है।

करैत या नागों की ही भाँति कुछ विषैले समुद्र-जीवी सर्प पाये जाते हैं। उन्हें नागवंशी ही मानना चाहिये परन्तु जल-जीवन के कारण उनका विशेष वंश ही निर्धारित किया गया है। उनकी पूँछ को खड़े रूप में पिचका बनकर डाँड़नुमा बना पाया जाता है जिससे वे सुविधापूर्वक तैर सकें। इनमें तीन फुट से लेकर बारह फुट तक लम्बाई के सर्प होते हैं। लगभग पचास जातियाँ इस वंश में होंगी। भारत महासागर तथा पश्चिमी उष्ण कटिबंधीय प्रशान्त महासागर में उनका प्रसार है। जल नागवंश या जल सर्पवन्श (हाइड्रोफाइडी) यही बनाते हैं।

मंडली (वाइपर) या दबोइया नाम से प्रसिद्ध सर्प उस जाति का है जो दीर्घ विषदन्ती वन्श (वाइपराइडी) में सन्निविष्ट है। इस वन्श की जातियों में यह विशेषता है कि इनके विषदन्तों की लम्बाई पराकाष्ठा को पहुँची होती है किन्तु इनके अत्यधिक लम्बे विषदन्तों के विकास के के साथ ही एक दूसरी व्यवस्था भी होती है। ये इन दाँतों को मुख बन्द करते समय मोड़ कर तालु में चिपका लेते हैं अन्यथा मुख बन्द ही न हो। इन विषदन्तों को टीका या इंजेक्शन लगाने वाली बड़ी लम्बी सुई का ही प्रतिरूप कह सकते हैं। भारत के दीर्घ विषदन्ती सर्प को मण्डली या पृदाकु शब्द से प्रसिद्ध पाया जाता है। योरप में वाइपर या ऐडर नाम से प्रसिद्ध जातियाँ पाई जाती हैं। अफ्रीका में पफ ऐडर (फुल्ल मण्डली सर्प), रिनोसेरा वाइपर (गंडक मंडली) तथा गैबून वाइपर नामक जातियाँ भी इसी वंश की हैं। यह वन्श पूर्वी गोलार्द्ध का ही है।

एक प्रकार के मण्डली सर्प (वाइपर) ऐसे होते हैं जिनकी नासिका तथा नेत्रों के मध्य एक छेद होता है। इनको पिट वाइपर या रंध्रीय सर्प कहते हैं। इस वन्श को रन्ध्रीय मंडली वन्श कह सकते हैं। इसका मुख्यतः पश्चिमी गोलार्द्ध में प्रसार है किन्तु कुछ जातियाँ पूर्वी गोलार्द्ध में भी हैं।※

—जगपति चतुर्वेदी

———

※ "संसार के सर्प" मूल्य ४) : किताब महल, इलाहाबाद।

पपीते की खेती

श्री तेज पाल सिंह

पपीता केवल बागवानी और वनस्पति की दृष्टि से ही रुचिकर नहीं है वरन् आर्थिक दृष्टि से भी इसका महत्व समझना चाहिये। आमतौर से इस देश के निवासी पतीते के बारे में जानते हैं। पंजाब, उत्तर प्रदेश, गुजरात और राजस्थान के कुछ भागों में इसको एरंड खरबूजा भी कहते हैं। इसको एरंड खरबूजा कहना भी गलत नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इसका वृक्ष एरंड के वृक्ष से मिलता है और फल खरबूजे से मिलता है। यह फल बहुत रुचिकर होता है और उसकी खेती का प्रसार बहुत सफलता से हो रहा है। यह फलने में लगभग एक वर्ष लेता है। भारत वर्ष के लगभग सभी निवासी पपीते का उपयोग करते हैं।

पपीते का पेड़ ज्यादा लम्बा नहीं होता। लम्बाई किस्म के ऊपर निर्भर है; जैसे गुजराती किस्म की लम्बाई १५-२० फीट तक होती है और वाशिंगटन किस्म की लम्बाई ६-६ फीट की होती है। इसका तना प्रायः एक और सीधा होता है। परन्तु कभी-कभी शाखायें भी निकल आती हैं।

पपीता ऐसा वृक्ष है जिसमें नर और मादा फूल अलग-अलग वृक्षों पर होता है। नर पौधे पर पुंकेसरीय (Staminate) फूल आते हैं जिसमें स्त्रीकेसर (Pistil) नाम मात्र के लिये ही होता है और ऐसे स्त्रीकेसर की फल बनने में कोई सहायता नहीं होती है। फूल लम्बे-लम्बे गुच्छों में होते हैं जिसका रंग कुछ हलका पीलापन पर होता है। नर फूलों में कभी भी फल नहीं लगते। परन्तु यह फूल मादाफूलों को परागकण देते हैं जिनके द्वारा परागण (Pollination) होता है।

मादा पौधे पर स्त्रीकेसरीय (Pistillate) फूल आते हैं जिनमें पुंकेसर (Stamen) नाम मात्र के लिये होता है। इन फूलों की सब से बड़ी पहचान यह है कि इनमें अण्डाशय बड़ा होता है और पुष्प वृन्त मोटा और छोटा होता है। ये फूल पीले रंग के होते हैं और फल इन्हीं फूलों में लगते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी वृक्ष पर द्विलिंगी फूल लग जाते हैं। इस तरह के फूल मादाफूलों की अपेक्षा नर फूलों से अधिक मिलते हैं। इन फूलों द्वारा जो फल बनते हैं वे आकार में छोटे और कम स्वादिष्ट होते हैं।

प्रायः नर पौधे मादा पौधों की अपेक्षा अधिक संख्या में निकल आते हैं। इन पौधों पर फल नहीं लगते। अतः किसी भी बाग में इस तरह के पौधों की संख्या ज्यादा नहीं होनी चाहिये। फिर भी ४०-४५ पौधों के बीच एक नर पौधे का होना आवश्यक है। क्योंकि मादा फूलों के परागण के लिये परागकण इसी पौधे से प्राप्त होते हैं और यह प्रक्रिया फल बनने में सहायता करती है।

यदि कोई ऐसी रीति मालूम हो जाय जिसके द्वारा नर पौधे मादा पौधों में बदले जा सकें तो यह पपीता-उत्पादकों के लिये बड़ा लाभदायक हो।

कुलकर्णी (१९५५) और दूसरों ने लिंग बदलने की बहुत सी रीतियाँ बताई हैं और उनमें सब से उत्तम रीति पौधे का सिर काटना और जड़ों को चोट पहुँचाना है। फिर भी अभी तक लिंग बदलने की कोई भी रीति मालूम नहीं की जा सकी है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इससे सफलता मिल जायेगी। ऐसी अवस्था में यह जानना महत्वपूर्ण होगा कि किन बीजों से नर पौधे और किन बीजों के बोने से मादा पौधे होंगे या रोपण के समय यह जाना जा सके कि कौन सा पौधा नर है और कौन सा मादा है।

इस बारे में वैज्ञानिक आधार पर कुछ नहीं कहा जा सकता परन्तु पपीता-उत्पादकों के कुछ मत इस तरह हैं:—

यदि फल के डंठल की ओर के बीज बोयें तो उनसे उगने वाले पौधे मादा होते हैं और दूसरी ओर के बीजों के बोने से नर पौधे उगते हैं।

जिन बीजों से मादा पौधे उगते हैं वे वजन में उन बीजों की अपेक्षा जिन से नर पौधे उगते हैं भारी होते हैं और रंग में गहरे भूरे रंग के होते हैं।

यह भी कहा जाता है तीन महीने बाद नर पौधों का तना पौधों के तने की अपेक्षा तेजी के साथ बढ़ता है।

कुछ ऐसे विचार भी हैं कि पपीते के पौधे के सिर पर एक लोहे की अँगूठी धागे द्वारा लटकाई जाय और उसकी गति देखी जाय। मादा पौधे के सिर पर वृत्तीय गति होती और नर पौधे के सिर पर लोलक गति होती है।

मिट्टी—पपीते की खेती के लिये हलकी दोमट मिट्टी सब से उत्तम होती है। जहाँ पर पपीते की खेती की जाय उस भूमि में जल की निकासी की व्यवस्था अच्छी होनी चाहिये। क्योंकि पपीते के थाले में पानी का रुकना बहुत हानिकारक होता है।

पपीते की खेती के लिये दो जुताई काफी होती है। पपीते के पौधे लगाने के लिये ८-१० फीट के अन्तर पर तीन फीट लम्बे और तीन फीट चौड़े और तीन फीट गहरे गड्ढे खोद लेने चाहिये। पौधे लगाने से लगभग एक महीना पहले दो टोकरी गोबर के गले हुए खाद के साथ एक पौंड खली और एक मुट्ठी चूना अच्छी तरह मिलाकर प्रत्येक गड्ढे में भर कर रोपण से पहले मिट्टी में अच्छी तरह मिला देना चाहिये।

जलवायु—समुद्र तल से ४०० फीट की ऊँचाई के पर्वतीय स्थानों पर पपीते की खेती करना लाभदायक नहीं हो सकता। इसके पौधों पर ताप, वर्षा और वायु का बहुत प्रभाव पड़ता है। ज्यादा गर्मी और ज्यादा सर्दी दोनों की इसकी खेती के लिये हानिकारक होती हैं। जाड़ों में ६० फीट और गर्मियों में १०० फीट तक का तापक्रम इसकी खेती के लिये ठीक रहता है। अधिक-तम ताप पौधों की वृद्धि और फलने पर बुरा प्रभाव डालते हैं जिसके कारण पौधा छोटा रह जाता है और फल कम और आकार में छोटे रह जाते हैं। कोहरा और पाला भी इसकी वृद्धि को रोकते हैं और छोटे-छोटे पौधे पाले के प्रभाव से मर जाते हैं। तेज हवा से बहुत पौधे टूट जाते हैं और बहुत तो जड़ से उखड़ कर जमीन पर गिर जाते हैं। इसका पौधा उखड़ कर जमीन पर गिरने के बाद फिर खड़ा नहीं किया जा सकता। इस हानि को रोकने के लिये खेत के चारों तरफ बहुत बड़े-बड़े वृक्षों की घनी बाड़ लगा देनी चाहिये जिससे हवा का वेग कम होने के कारण पतीते की कम हानि हो। बाड़ लगाने के लिये शीशम, बबूल और जामुन आदि के वृक्ष अच्छे होते हैं।

किस्म—भारत वर्ष में हनीड्यू, वाशिंगटन, रांची, गुजराती और कलकत्तिया किस्में भली भाँति हो सकती हैं।

संजनन—पपीते का संजनन कलम और बीज दोनों से हो सकता है परन्तु कलम द्वारा संजनन रीति अधिक खर्चीली होती है। इसलिये इसका संजनन बीज द्वारा ही किया जाता है।

बीज नर्सरी में बोये जाते हैं। एक एकड़ के लिये दो छटांक बीज पर्याप्त होता है। बीज पूरे पके और स्वस्थ फलों के होने चाहिये। बीज नर्सरी में मध्य मार्च से अप्रैल तक बो देने चाहिये। बीज बोने से पहले क्यारी की मिट्टी भुरभुरी करनी आवश्यक होती है। क्यारी का धरातल कुछ ऊँचा होना चाहिये ताकि वहाँ पर पानी जमा न हो सके। नर्सरी में बीज डेढ़ फीट के अन्तर से बोने चाहिये और आध इंच बारीक मिट्टी बीजों के ऊपर होनी चाहिये। मिट्टी को कुछ नम रखना चाहिये। बोने के १५-२० दिन बाद अंकुरण होता है। जब तक बीज जमने पाये तब तक क्यारी को तेज धूप और वर्षा से बचाना होता है।

रोपण—पौधे सदा ही शाम के समय रोपे जाते हैं। जब पौधे ½ फीट ऊँचे हो जायँ तब वे स्थायी खेत में रोपे जाने चाहिये। रोपने के पहले गड्ढे की खाद और मिट्टी को अच्छी तरह मिला लेना चाहिये। रोपण के समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि पौधे का तना मिट्टी में न दब जाय क्योंकि इससे पौधा गल जाता है। इसलिये यह आवश्यक है कि पौधे का तना मिट्टी से उतना ही दबाया जाय जितना नर्सरी में दबा था। रोपते समय जड़ों को किसी तरह से चोट न पहुँचे।

एक थाले में तीन पौधे लगाने चाहिये क्योंकि उनमें से कुछ पौधे नर निकलने पर उखाड़ देने पड़ेंगे और यदि दो मादा निकल आये तो जो पौधा अच्छा, स्वस्थ दिखाई दे उसको रख लेना चाहिये और कमजोर को निकाल देना चाहिये।

सिंचाई :—सिंचाई पौधों की अवस्था और ऋतु पर बहुत कुछ निर्भर करती है। फिर भी गर्मी के दिनों में एक सप्ताह में दो बार और सरदी के दिनों में एक सप्ताह में एक बार पानी दे देना चाहिये। थाले की मिट्टी नम रहनी चाहिये। पानी देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि थाले में पानी देर तक न भरा रहे। आवश्यकता से अधिक पानी देने पर फूल झड़ने लगते हैं।

निराई और गुड़ाई—हर दूसरी सिंचाई के बाद निराई और गुड़ाई करनी चाहिये और जो घास पात हो उनको निकाल देना चाहिये। फूलने के दिनों में यह कार्य नहीं करना चाहिये।

खाद—पपीते का पौधा बहुत जल्दी बढ़ता है। इसकी बढ़वार के लिये अधिक खाद की आवश्यकता होती है। प्रत्येक पौधे के लिये प्रतिवर्ष निम्नलिखित खाद की मात्रा की आवश्यकता होती है।

१—एक टोकरी गोबर की गली हुई खाद।

२—½ पौंड अमोनियम सलफेट।

३—¾ पौंड सुपरफोस्फेट।

४—½ पौंड पोटेशियम नाइट्रेट।

ऊपर दी हुई खाद की मात्रा दो बराबर-बराबर अंशों में दी जानी चाहिये—एक बार जून के महीने में और दूसरी बार अक्टूबर के महिने में। खाद का मिश्रण तभी करना चाहिये जब वह दी जाय। खाद देने के बाद पानी भी अवश्य देना चाहिये।

जीवन—पपीते का पौधा एक साल के बाद फलने लगता है। इसकी वायु लगभग १० वर्ष की होती है। यदि परिस्थितियाँ अच्छी हों, तो १२–१३ साल तक इसका पौदा रह सकता है।

आर्थिक दृष्टि से इसके पहले तीन वर्ष अच्छे होते हैं। पहले तीन वर्षों में फलों का केवल आकार ही बड़ा नहीं होता बल्कि फलों की संख्या भी अधिक होती है। तीन साल के बाद फल आकार में छोटे और कम लगने लगते हैं। इस दोष को दूर करने लिये हर तीसरे वर्ष पौधों को बदल देना चाहिये। इस तरह पौधे बदलने की रीति से आर्थिक हानि की कोई सम्भावना नहीं रहती।

छंटाई—पपीते के फलों की छंटाई की जाती है। जब फल छोटे-छोटे होते हैं तभी उनमें से कुछ फल इस तरह तोड़े जाते हैं कि जो फल पौधों पर छोड़े जायँ वे बड़े होकर एक दूसरे से न मिलें। पौधे पर लगभग १५–२० फल छोड़ने चाहिये। छंटाई करने से फलों का आकार बड़ा हो जाता है।

रोग—

पपीते के पौधों को प्रायः तीन रोग होते हैं।

१—तना गलन।

२—पत्ती कुन्चन।

३—फल झड़ना।

१—तना गलन—यह रोग अधिक पानी देने के कारण होता है। यदि थाले में पानी भरा रहे तो पौधे का तना गलने लगता है। इसको दूर करने के लिये ४–५% लाइसोल सोलूशन का प्रयोग करना चाहिये।

२—पत्ती कुन्चन—पत्तियों में एक प्रकार की ऐंठन सी हो जाती है और पत्तियाँ नीचे की ओर लटक जाती हैं। रोग के होने से पौधों की वृद्धि रुक जाती है। यह छूत का रोग है। इसका तुरन्त ही उपचार करना चाहिये। रोगी पौधों को उखाड़ कर जला देना चाहिये। जलाना ही इसका अच्छा इलाज है।

३—फलों का झड़ना—पानी की निकासी का उचित प्रबन्ध ठीक न होने के कारण पौधों की पत्ती और फल झड़ने लगते हैं। इसको दूर करने के लिये जल की निकासी की अच्छी व्यवस्था करनी चाहिये। बरगन्डी मिश्रण छिड़कना लाभदायक होता है।

पपीते के फलों को रोगों और कीटों की अपेक्षा पक्षी आदि अधिक हानि पहुँचाते हैं। उनसे बचाने के लिये फलों के पास पौधों के चारों तरफ काँटे लगाने चाहिये और फलों को टाट के टुकड़े से ढंक देना चाहिये।

फल तोड़ना और उनको बाजार में भेजने के लिये टोकरियों में बन्द करना।

फल को पूरी तरह पौधों पर नहीं पकने दिया जाता है। जब फल का भाग पीला पड़ना शुरू हो जाय तब ही उसको पौधों से तोड़ लिया जाता है। यदि इससे पहले तोड़ लिया जाय तो फल का स्वाद और लज्जत कम हो जाती है और यदि इसके बाद तोड़ा जाय तो फल अधिक दिनों तक नहीं रखा जा सकता है। फलों को तोड़ते समय चोट नहीं लगनी चाहिये।

फलों को टोकरियों में बन्द करने से पहले आकार के अनुसार अलग-अलग दर्जों में बाँट लेना चाहिये ताकि बाजार में अच्छा मूल्य मिल मिल सके।

फलों को बन्द करने के लिये बाँस की टोकरियों का प्रयोग करना चाहिये। टोकरी में फलों की दो तह से ज्यादा तह नहीं लगानी चाहिये। दोनों तहों के बीच में कागज आदि लगा देना चाहिये। टोकरी के मुँह पर टाट सी देना चाहिये। बाजार की माँग के अनुसार बाजार में भेजना अच्छा होता है।

आय—

डा० लाल बिहारी सिंह के अनुसार कहा जा सकता है कि एक एकड़ पपीते के खेत से, फल बेच कर पहले तीन वर्ष में २१,२५० रु० की बचत हो सकती है।

इसके अतिरिक्त पपीते के पौधों के बीच में पड़ी हुई जमीन में मिर्च, बैगन, टिमाटर, गोभी आदि की फसलें भी ली जा सकती है।

उपयोग और गुण—

कच्चे फलों की तरकारी बना ली जाती है और पके फल वैसे ही खाये जाते हैं। इस फल का स्वाद भी अच्छा होता है। यह फल पाचक, दस्तावर, और बलवर्धक होता है। गरम देशों में लोग सदियों से इसे औषधीय गुणों से युक्त समझ कर उगाते आये है। मार्को पोलो, वास्कोडिगामा, और कोलम्बस ने अपनी समुद्री यात्रा के विवरण में इसके लाभों का वर्णन किया है और मार्को पोलो ने तो अपने नाविकों के स्कर्वी नामक रोग को इसकी सहायता से ठीक करने की भी बात कही है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने इसके तत्वों का विश्लेषण और प्रभाव का निरीक्षण करके पता लगाया है कि यह शरीर का क्षार संतुलित रखता है। विटामिन ए और सी की प्राप्ति का अच्छा साधन है। वैसे विटामिन बी और डी भी इसमें पाये जाते हैं।

इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके दूध से पेप्सिन तैयार किया जाता है जो बहुत पाचक होता है। प्रयोग से ज्ञात हुआ है कि इससे निकलने वाला यह रस अपने वजन से सौ गुना प्रोटिन बहुत जल्द पचा देता है। पपीते का सेवन बढ़ी हुई तिल्ली और आमाशय तथा आंत्रसम्बन्धी विकारों के लिये बहुत अच्छा होता है।

———

दशमिक प्रणाली क्या है

हम ४५६ की संख्या को देख, कहेंगे कि यह चार सौ छप्पन है। क्यों? इसलिए कि ६ इकाई के स्थान पर होने से यह ६ के, ५ दहाई के स्थान पर होने से ५० के और ४ सैकड़े के स्थान पर होने से चार सौ के बराबर है। इसका मतलब यह हुआ कि ४, ५ और ६ कितने के बराबर हैं, यह उनके स्थान पर निर्भर है।

बस, यही स्थानानुसार मूल्य का नियम ही दशमिक प्रणाली का आधार है। फिर यह प्रणाली चाहे रुपये-पैसे की हो या नाप-तोल की। इसमें सारा हिसाब दहाई के अनुसार चलता है।

दहाई प्रणाली लगभग २,००० वर्ष पुरानी है, यानी प्रायः ईसवी सन् के साथ ही इसका आरम्भ होता है। इससे पहले १० से ऊपर की संख्या लिखने में बड़ी मुश्किल पड़ती थी। मिश्री लोग १५ को ३३३३३ लिखते थे।

दहाई प्रणाली निकालने का श्रेय भारत के गणितज्ञों को ही है, जिन्होंने शून्य का आविष्कार किया। यह मानवजाति को भारत की बहुत बड़ी देन है। शून्य के आविष्कार से गणित में एक क्रान्ति आ गयी है। हर तरह का हिसाब बड़ा सीधा और सरल हो गया।

दहाई की प्रणाली से छोटी और बड़ी संख्याओं का हिसाब इतना सरल हो जाता है कि आज तीन-चौथाई संसार में इसी का बोलबाला है। सबसे पहले संयुक्त राज्य अमेरिका ने (१७८६ और १७९२) इसे अपनाया। इसके बाद फ्रांस (१७९९ और १८०३) और जर्मनी (१८७३) में इसका चलन शुरू हुआ। बाद में स्कैंडीनेवियन देशों (१८७५), आस्ट्रिया-हंगरी (१८७० और १८९२), रूस (१८३९ और १८९९), लैटिन अमेरिकी देश और जापान (१८७१) ने इनका अनुकरण कर दशमिक प्रणाली को स्थान दिया।

यद्यपि शून्य का आविष्कर्त्ता भारत ही है, पर कई कारणों से दहाई या दशमिक प्रणाली का आरम्भ यहाँ बहुत देर से हो रहा है। देश में उद्योग-धन्धों की भारी वृद्धि ने दशमिक प्रणाली अपनाने को और वाध्य किया है, क्योंकि हर तरह के हिसाब-किताब में और विशेषकर उद्योगों से सम्बद्ध हिसाब में दशमिक प्रणाली का बड़ा लाभ है।

इसी समय क्यों

प्रश्न उठता है कि जिन देशों में दशमिक प्रणाली का प्रचार नहीं, वहाँ काम कैसे चलता है? यहाँ यह याद रखना चाहिए कि जिन १४० देशों में सिक्के चलते हैं, उनमें से १०५ में दशमिक सिक्कों का ही चलन है। दशमिक प्रणाली का एक उल्लेनीय अपवाद है ब्रिटेन। ब्रिटेन के लोग भी दशमिक प्रणाली की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं, लेकिन अपनी व्यवस्था को बदल नहीं सकते, इसकी एक मुख्य मजबूरी है; वहाँ पर हिसाब की स्वचालित मशीनों और "स्लाट मशीनों" का व्यापक प्रयोग।

भारत में इस समय बड़े-बड़े उद्योगों की नींव ही पड़ रही है, इसलिए इस समय कोई भी परिवर्तन आसानी से हो सकता है। वरना बाद में वही दिक्कत आयेगी, जो आज ब्रिटेन में आ रही है। नाप-तोल के असंख्य वैज्ञानिक यन्त्रों और उपकरणों को बाद में दशमिक प्रणाली के अनुसार बदलने में बहुत कठिनाई होगी और अमित धन व्यय करना होगा।

इन बातों के अलावा, क्या हम यह चाहते हैं कि बच्चों तथा आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए वर्तमान पेचीदा प्रणाली इसी तरह सिर दर्द बनी रहे। शुरू से ही बच्चों को घोटना पड़ता है १ रु० के १६ आने, १ आने के ४ पैसे, १ पैसे की ३ पाइयाँ इत्यादि इत्यादि। नाप-तोल में तो इस विविधता का ठिकाना ही नहीं। देश में १०० से भी अधिक किस्म के मन चलते हैं। स्टैंडर्ड मन ३२०० तोले का होता है, पर इसके मुकाबले २८० तोले से लेकर ८३२० तोले तक के मनों का देश में रिवाज है। नाम भी कम से कम १४३ तरह के पाये जाते हैं।

आज के युग की आवश्यकता

आज व्यापार-वाणिज्य बहुत आगे बढ़ गया है। इसलिए हिसाब-किताब का तरीका भी ऐसा होना चाहिए, जो सरल हो और जिसमें समय न लगे। दहाई के हिसाब से बढ़कर और सरल तरीका हो ही नहीं सकता।

बहुत से देशों में दशमिक प्रणाली का चलन होने से उनके साथ होने वाले हमारे व्यापार के हिसाब में आसानी ही नहीं होगी, बल्कि यह व्यापार और बढ़ेगा भी। विदेशों में हमारे माल की मांग दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। इसलिए आज की अवस्था में देश के आर्थिक और औद्योगिक विकास के लिए दशमिक प्रणाली का अमूल्य उपयोग है।

भारत ने भी, अन्य प्रगतिशील देशों की तरह, मुद्रा और नाप-तोल की दशमिक प्रणाली अपनाने का निश्चय किया है। लेकिन यह परिवर्तन धीरे-धीरे होगा। पहले दशमिक सिक्के चलाये जाएँगे और दशमिक नाप-तोल आरम्भ होने में १० वर्ष लगेंगे।

नयी मुद्रा में रुपये का वही स्थान रहेगा, जो आज अठन्नी तथा चवन्नी के क्रमशः ५० और २५ नये पैसे होंगे। फिलहाल दस, पाँच, दो और एक नये पैसे के सिक्के चलाये जा रहे हैं। वर्तमान दुअन्नी, इकन्नी, अधन्ने और पैसे के बराबर के कोई असुविधाजनक बातों को हमने छोड़ दिया है। १० के गुणकों या उप-गुणकों के सिक्के चलाये जा रहे हैं। इस प्रकार दशमिक प्रणाली की भी अच्छाइयों को ही हमने स्थान दिया है। तीन साल तक नये और पुराने दोनों तरह के सिक्के चलते रहेंगे। इससे धीरे-धीरे लोग नये सिक्कों से परिचित हो जायेंगे और सारा परिवर्तन सहज और सुगम रीति से हो जाएगा।

वैज्ञानिक बनने के प्रेरक तत्व

वैज्ञानिक बनने के लिए बालक एवं बालिकाओं को किन बातों से प्रेरणा मिलती है? क्या इसके लिए पाठ्यक्रम में लगी वैज्ञानिक पुस्तकों का पढ़ लेना ही काफी है अथवा उन्हें किसी जादुई आकर्षण से वैज्ञानिक बनने की प्रेरणा मिलती है? कुछ प्रसिद्ध अमेरिकी वैज्ञानिकों ने १ हजार विद्यार्थियों के समक्ष इस विषय से सम्बन्धित ऐसे अनेक प्रश्नों के उत्तर दिए।

सरकारी स्कूलों के शिक्षकों द्वारा न्यूयार्क क्षेत्र से चुने गये होनहार विद्यार्थियों के एक दल ने विज्ञान का अध्ययन करने वाले हाई स्कूल के विद्यार्थियों की १० वीं वार्षिक गोष्ठी में भाग लिया। हाल में विज्ञान की उन्नति सम्बन्धी अमेरिका संस्था का जो ५ दिन का सम्मेलन हुआ यह गोष्ठी उसी का एक अंग थी।

विद्यार्थियों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के वैज्ञानिकों ने जो उत्तर दिए, उनका उनके भावी जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा। इसके अलावा, छात्र-छात्राओं ने चकित कर देने वाले चमत्कार-पूर्ण प्रदर्शन भी गोष्ठी में देखे। अधिकांश युवक एवं युवतियों ने उसी दिन वैज्ञानिक बनने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय की विद्युदणु अनुसंधान-प्रयोगशाला के सहायक निर्देशक डाक्टर रौबर्ट टी० बर्नस्टीन तथा चिकित्सा-अनुसन्धान सम्बन्धी रौकफैलर इन्स्टिट्यूट के डा० नार्टन जिण्डेर ने उन बातों की चर्चा की, जिनसे युवक तथा युवतियों को वैज्ञानिक बनने की प्रेरणा मिलती है। उक्त वैज्ञानिकों को उत्तर देने के लिए इसलिए नियुक्त किया गया, क्योंकि युवा विद्यार्थियों की सरल भाषा में विज्ञान सम्बन्धी बातें बताने की उनकी प्रतिभा से सब परिचित हैं।

माता-पिता द्वारा प्रोत्साहन

डा० जिण्डेर ने बताया कि मेरे पिता ने परिश्रम-पूर्वक बाल्य-काल के मेरे प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर देकर मेरी जानने की प्रवृत्ति के बारे में दिलचस्पी कायम रखी। वे यदि चाहते तो मुझे योंही कुछ कह कर टाल सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा कभी नहीं किया।

अन्य वैज्ञानिकों ने भी बताया कि माता-पिता द्वारा प्रदान किए गए प्रोत्साहन तथा माध्यमिक स्कूलों के विज्ञान-शिक्षकों द्वारा दी गई प्रेरणा से उन्हें विज्ञान के क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने में मदद मिली है।

वैज्ञानिक तथा दो शिक्षकों के अलावा गोष्ठी में न्यूयार्क के दो बहुत बड़े हाई स्कूलों के विज्ञान के ३ छात्र भी थे। उन्होंने समस्त छात्र-छात्राओं की ओर से अनेक प्रश्न पूछे। उनमें से एक प्रश्न था कि भाषाओं का पढ़ना क्यों आवश्यक है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए डा० बर्नस्टीन ने कहा :—"पुस्तकों का अध्ययन किए बिना वैज्ञानिक बनना असम्भव है। मूलभूत जानकारी हासिल करने के लिए जिस सामग्री की आवश्यकता होती है, वह पुस्तकों तथा पत्रों में दूसरों के कार्य को पढ़ कर प्राप्त की जा सकती है। देखने तथा परीक्षण करने के साथ-साथ दूसरे वैज्ञानिकों द्वारा प्राप्त की गई सफलताओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना भी अत्यावश्यक है। इसका अभिप्राय यह है कि वैज्ञानिकों के लिए भाषा तथा गणित का अध्ययन करना आवश्यक है।"

जिज्ञासा और सत्य की खोज पर बल

टैलिविजन पर विज्ञान सम्बन्धी कार्यक्रमों में भाग लेने वाले प्रसिद्ध अमेरिकी श्री डोन हरबर्ट ने विद्यार्थियों

को बताया कि जो गुण वैज्ञानिक को सामान्य व्यक्ति से जुदा करता है, वह जिज्ञासा है। एक बच्चे तथा एक प्रौढ़ व्यक्ति के मध्य जो मानसिक अन्तर है, उसे जिज्ञासा कह सकते हैं। बच्चे स्वभाव से जिज्ञासु होते हैं, किन्तु बड़े होने पर उनकी यह विशेषता समाप्त हो जाती है। यदि आप वैज्ञानिक रहस्यों को जानना चाहते हैं, तो आपको भावी वैज्ञानिक होने के नाते जिज्ञासा से इस गुण को कायम रखना चाहिये। जो स्पष्ट दिखाई पड़ता है उसी को ठीक मत समझो। सदैव उसके विषय में प्रश्न पूछो और स्वयं सत्य की खोज करो।

इस सम्बन्ध में प्रिन्स्टन विश्वविद्यालय की फ्रिक कैमिकल प्रयोगशाला के डा० ह्यूबर्ट ने "भाग्य, संयोग तथा समुन्नत मस्तिष्क" नामी अपने विषय का परिचय उत्तम विविध प्रदर्शनों द्वारा समुपस्थित किया।

उन्होंने विद्यार्थियों को बताया कि संयोगवश बहुत सी ऐतिहासिक एवं महत्वपूर्ण वैज्ञानिक खोजें हुई हैं, किन्तु उनका श्रेय उन वैज्ञानिकों को है जिन्होंने उनको देख कर रहस्य का पता लगाया। श्रोताओं को यह याद दिलाने के पश्चात् कि सेब के वृक्ष से एक सेब को गिरता देख कर न्यूटन ने गुरुत्वशक्ति के सिद्धान्त की स्थापना की थी, आपने अपनी बात सिद्ध करने के लिए कई रासायनिक प्रदर्शन करके दिखाए। एक रासायनिक द्रव्य मिला देने पर कुछ ही क्षणों में बुदबुदों वाला एक सरल पदार्थ एक ठोस वस्तु के रूप में परिणत हो गया। इसी भूलभूत खोज के परिणाम स्वरूप प्लास्टिक का आविष्कार हुआ है। रंगों को बनाने के सम्बन्ध में प्रदर्शन करते हुए आपने उबलते हुए घोल में कुछ तत्व मिलाए और वह घोल पहले लाल, फिर हरा और अन्त में साफ हो गया। उन्होंने कुछ कागजों के पास से दियासलाई की बुझी हुई तीली गुजारी, तो वे कागज भभक कर जल उठे। इस प्रकार उन्होंने बताया कि किस प्रकार कुछ पदार्थ मामूली से ताप से आग पकड़ लेते हैं।

विज्ञान का सब से बड़ा महत्व

विज्ञान की उन्नति सम्बन्धी अमेरिकी संस्था के अध्यक्ष एवं येल विश्वविद्यालय के भूमि-संरक्षण कार्यक्रम के अध्यक्ष डा० पौल बी० सीयर्स ने विद्यार्थियों को एक महान् तथ्य से परिचित कराया।

आपने कहा :—यह सत्य है कि विज्ञान मानव-जाति के भौतिक कल्याण, उन्नति तथा यहाँ तक कि उसे जीवित रहने में भी महान् योग देता है, किन्तु उसका महत्व उस आदर्श में निहित है जो यह हम सबके लिए उपस्थित करता है। विज्ञान से समस्त संसार को जो सब से बड़ी शिक्षा मिलती है, वह उसका यह गुरुतर उत्तर-दायित्व है कि जो कुछ मालूम किया जाए, वह किसी से गुप्त न रखकर समस्त संसार के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाए, जिससे कि दूसरे भी जानकारी प्राप्त कर सकें तथा उसकी परीक्षा कर सकें। मुझे आशा है कि इस वैज्ञानिक भावना को आप अपने हृदय में स्थान देंगे, भले ही आप वैज्ञानिक अन्य किसी रूप में अपनी रोटी कमाएँ।

एक विद्यार्थी के इस प्रश्न के उत्तर में कि जब कोई छात्र शिक्षा लेनी समाप्त कर दे तथा उसे वैज्ञानिक समझा जाने लगे तब वह क्या करे, डा० सीयर्स ने कहा : "मेरे युवा मित्र ! इस बारे में तुम्हें कोई कुछ नहीं सिखा सकता। सब कुछ तुम्हें स्वयं सीखना होगा। चाहे लोग तुम्हें किसी भी नाम से पुकारें, तुम उस क्षण से वैज्ञानिक बन जाओगे, जब से विज्ञान के क्षेत्र में सह-योग देना प्रारम्भ कर दो।"

जीव-जंतुओं का मार्ग-निर्देशन

बहुत-से जीव-जन्तु प्रवास करते हैं। कभी पहले किसी क्षेत्र का प्रवास करने का अनुभव न होने पर भी किसी शक्ति द्वारा अपने पूर्वजों की प्रवासक्रिया का अनुकरण कर जाते हैं। बहुत से जन्तुओं को किसी प्रकार अन्यत्र ले जाने पर भी अपने पूर्व निवासस्थान पर लौट आते देखा जाता है। इन सब बातों की मीमाँसा कर जन्तुओं की बुद्धि तथा शक्ति का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया गया है।

निवास-स्थान से दूर पहुँचाने पर अनेक मीलों दूर से लौट आने की बहुत सी कथाएँ सुनने को मिलती हैं। उनमें कितनी सत्य भी होती होंगी। दूत या संदेशवाहक कपोत को अपने निवास-स्थान से सैकड़ों मील दूर लेकर छोड़ने पर वापस आ जाते देखा जाता है। पक्षियों के प्रवास की कहानी तो अत्यन्त ही आश्चर्य युक्त है। वे बहुत दूर के भूभागों तक जाकर प्रवास करते और पुनः वापस चले जाते हैं। हमारे देश में ही शीतकाल में बाहर से आए पक्षियों का दल देखने का अवसर सबको मिल सकता है। वे दूर के उत्तर या पश्चिमोत्तर भागों से यहाँ आकर जाड़े भर रहते और पुनः वापस चले जाते हैं। हिमालय के ही पक्षी नीचे की भूमि या दक्षिण भारत तक जाकर प्रवास करते मिलते हैं। ब्रिटेन तथा योरप से दक्षिणी अफ्रिका तक पक्षी प्रवास करने जाते हैं।

मधुमक्षिकाएँ अपने छत्ते से एक दो मील दूर तक पुष्परस तथा पराग ढूँढ़ने जाती हैं। अनेक प्रयोगों द्वारा यह पता लगाने का प्रयत्न किया गया है कि मधुमक्षिकाएँ छत्ते के बाहर के स्थानों से लौटने में किन बातों की सहायता लेती हैं। एक बड़ा सुन्दर प्रयोग किया गया। अनेक मधुमक्षिकाएँ एक छत्ते से पकड़ कर एक सन्दूक में बन्द की गईं। पहचान के लिए उन पर रंगों के चिन्ह लगा दिए गए। छत्ते से दो मील दूर ले जा उन्हें संदूक से बाहर निकाल दिया गया। तुरन्त ही सब मधुमक्षिकाएँ आकाश में उड़ गईं। उनमें से बहुतेरी तो उड़ कर छत्ते में जा पहुँची, वे कदाचित उस क्षेत्र से परिचित होंगी। प्रौढ़ अवस्था की होंगी अतएव पुष्परस की खोज में उधर तक आई होंगी और मार्ग-निर्देशक कुछ चिन्ह स्मरण रहे होंगे परन्तु कुछ मधुमक्षिकाएँ आगे न बढ़ सकीं। वे पुनः लौट कर उस संदूक के पास ही नीचे आईं जो वहीं पड़ा था। वे शायद अल्प आयु की होंगी, इस कारण उन्हें बाहर निकलने और मार्ग पहचानने के लिए कुछ वस्तुओं को निर्देशक रूप में स्मरण रखने का अवसर न मिल सका होगा। इसी कारण उन्हें छत्ते की ओर उड़ जाने का मार्ग ज्ञात न हो सका।

मधुमक्खियों द्वारा स्थल क्षेत्र में कुछ निर्देशक चिन्ह स्मरण रखने की बात प्रकट करने में एक दूसरा प्रयोग सहायक है। कुछ मधुमक्षिकाएँ एक जल खंड के निकट छत्ता बनाए थीं। उनमें से कुछ को चिन्हित कर एक सन्दूक में बन्द किया गया तथा उस सन्दूक को भूखंड के भीतरी भाग में कई मील दूर पहुँचाया गया। कुल बीस मधुमक्षिकाएँ संदूक में थीं। उनमें सत्रह को संदूक खुलने के बाद अपने छत्ते में वापस आ सकने में सफल होते पाया गया। दूसरे दिन एक संदूक में इन सत्रह मधुमक्षिकाओं को बन्द किया गया और एक नाव पर रख कर जल खण्ड के क्षेत्र में कई मील दूर पहुँचाया गया। जब वे जल खंड के ऊपर संदूक से मुक्त की गईं तो उनमें से किसी को भी छत्ते में लौट सकने में समर्थ नहीं पाया गया। इसका एक मात्र कारण यही हो सकता था कि भूखंड पर तो अनेक पेड़-पौधे या ऊँचे-नीचे स्थल हो सकते हैं। उन्हें मधुमक्षिकाएँ अपने मार्ग-निर्देशक चिन्ह रूप में स्मरण रख सकती हैं। परन्तु यह

सुविधा विस्तृत जल खंड पर नहीं हो सकती। वहाँ तो दूर तक एक सा ही दृश्य होता है। बेचारी मधुमक्षिकाएँ किस वस्तु को अपना मार्ग-निर्देशक चिन्ह समझें। इसी कारण सभी मधुमक्षिकाएँ जल खंड से लौट न सकीं।

मधु (पुष्परस) के प्राप्त होने के स्थल की दूरी तथा दिशा बताने के लिए मधुमक्षिकाओं को आकाश में सूर्य की स्थिति से पृथ्वी पर अपने शरीर तक की सीध में रेखा को आधार मान कर उसके साथ कोण और दिशा की आपेक्षिक दृष्टि से अनुमान करते पाया जाता है। उदाहरणार्थ सूर्य मधुमक्षिका तक कल्पित रेखा की विलोम दिशा में उससे दाईं या बाईं ओर ३० अंश का कोण बना कर मधुमक्षिका को कहीं जाते पाया जाता है। उसे दूरी का भी ज्ञान है। लौटते समय सूर्य की आकाश में स्थिति से अपने शरीर तक की सीध की रेखा के साथ निर्दिष्ट झुकाव का कोण बनाते हुए मार्ग से ही वह लौट आवेगी। इस मार्ग का चित्र सूर्य के बिन्दु से आपेक्षिक दिशा तथा झुकाव में मधुमक्षिका के मस्तिष्क में खिंचा सा रहता है। उसी को वह नृत्य के विभेद तथ्य निर्दिष्ट मोड़ की गति द्वारा अन्य मधुमक्षिकाओं के सम्मुख प्रकट कर देती हैं। अब यदि मधुमक्षिका को बाहर जाने पर उपर्युक्त दिशा में ही संदूक में घन्टे भर तक बन्द कर रक्खा जाय तो इतने समय में सूर्य का आपेक्षिक स्थान कुछ हटा रहेगा। अतएव उसकी आपेक्षिक दिशा और निर्दिष्ट कोण का मार्ग अब उसे छत्ते के स्थान पर अन्यत्र पहुँचा देगा। परन्तु दूरी का निश्चय होने से वह कहीं छत्ते की ओर ही कुछ दूर हटे बिन्दु तक पहुँचेगी।

समुद्र में जिस प्रकार जल, गर्मी, चट्टानों या तटों की सूचना देने के लिए प्रकाशस्तंभ होते हैं और अपने स्थान की सूचना प्रकाश के विभिन्न रूप से देते रहते हैं। उसी प्रकार मधुमक्षिकाएँ अपने सभी बाहर गए सदस्यों को छत्ते के स्थान की सूचना देने के लिए एक प्रकार से उसे गंधस्तम्भ सा बनाए रहती हैं। कोई मधुमक्षिका छत्ते की छत पर से अपना अधोभाग बाहर हिलाती डुलाती रह कर गंधग्रंथि को उभाड़े रहती है जिससे उसकी गंध का प्रसार दूर तक होता रहे और उसकी मंडली के सदस्य गंध की परख से सहज ही वहाँ लौट आया करें। यदि कभी मधुमक्खी के पूरे छत्ते को ही स्थानान्तरित कर दिया जाय तो कदाचित मार्ग निर्देशक चिन्हों की सहायता या दिशा के द्योतन की विधियों से प्रेरित मधुमक्षिकाएँ पुराने स्थल पर ही आया करेंगी परन्तु गंध की व्यवस्था से उन्हें परिवर्तित स्थान की सूचना मिल सकती है और वे कुछ भूलने भटकने के बाद अन्त में अपने छत्ते में जा पहुँचती हैं। नन्हें कीटों के मार्ग निर्देशन के इतने विशद प्रबंध उनकी अद्भुत विचक्षणता के स्पष्ट प्रमाण हैं।

मधुमक्षिकाएँ दूरी की माप कैसे कर लेती हैं, यह बता सकना टेढ़ी समस्या है। दूरी का उन्हें अनुमान होता है यह अवश्य ही सन्देहहीन बात है। वह कदाचित् अपने पंखों के स्पंदन या हृदय की गति की गणना से दूरी का अनुमान करती होंगी।

प्रवास के लिए मार्ग निर्देशन की समस्या उन जन्तुओं के सम्बन्ध में अत्यधिक जटिल हो सकती है जो समुद्र की लम्बी यात्राएँ निर्दिष्ट उद्देश्य से निर्दिष्ट समय पर निर्दिष्ट मार्ग से करते हैं। ऐसे जन्तुओं में ईल मछली का नाम स्वभावतया ही पहले आ जाता है। ये विचित्र लम्बोतरी मछलियाँ हैं जो योरोपीय तटों पर दो इञ्च लम्बाई के नन्हें आकार में भारी दलों के रूप में पहुँची मिलती हैं। इन्हें मिस्र के समुद्र तट तक पहुँचा पाया जाता है। वे पहले तो उस रूप में ही कोई स्वतन्त्र जाति के जलजन्तु मानी जाती थीं परन्तु उनकी रहस्यमय कथा बड़े परिश्रम से खोजियों ने ज्ञात कर लेने में सफलता प्राप्त कर ली!

जन्म तो घोर महासागर के मध्य हो। वहीं पर दस वर्षों बाद लौट आने के लिए वे लालायित हो उठें, परन्तु प्रौढ़ जीवन की सारी अवधि नदियों तथा ताल-तलैयों के मीठे (अलवणीय) जलों में व्यतीत हो, यह विचित्र जीवन इन ईल मछलियों का ही है।

ईल मछलियों का जन्म अटलांटिक महासागर के मध्य कहीं पश्चिमी द्वीप समूहों के निकट गहरे समुद्र में होता है। नवजात शिशु के झुंड स्वतः योरप की ओर चल पड़ते हैं। जिब्राल्टर होकर मिस्र तक भी जाते हैं। इन्हें योरप के तटों तक पहुँचने में तीन वर्ष लग जाते है। जिस समुद्र भाग में उनके अंडे दिए जाते हैं उसी के निकटवर्ती पश्चिमी भाग में दिए अंडों से उत्पन्न शिशु अमेरिका की ओर जाते हैं।

योरप के तटों पर पहुँचकर ये ईल नदी-तालों के मार्ग ऊपर चढ़ते हैं और भीतरी खन्ड में जाकर निवास करते हैं। वर्षों में स्थल के सूखे भाग पर भी जल का प्रसार होने से ये आगे बढ़कर जलाशयों तक में भी पहुँच जाते हैं। दस वर्ष की आयु होने पर इनमें मातृ-भूमि या मातृ सागर की स्मृति जाग्रति-सी हो उठती है और वे पश्चिमी द्वीप समूह के निकट उसी समुद्र में पहुँचते हैं जहाँ के क्षेत्र में इनके कुल के अंडे दिए जाने की प्रथा है। अंडे वहीं दिए जाते हैं तथा नर और मादा वहीं मर जाते हैं।

विश्वास किया जाता है कि समुद्र की हजारों मील की वर्षों की यात्रा नवजात शिशुओं को समुद्र की उष्ण धाराओं, विशेषकर गल्फस्ट्रीम द्वारा पार करने में सफलता मिलती होगी। दूसरे शब्दों में वे इनके प्रवाह के साथ ही बहते चले जाते हैं। परन्तु दस वर्ष की आयु हो जाने पर उन्हें क्यों समुद्र में लौटकर अपने जन्म स्थान के पास जाने की वृत्ति उत्पन्न होती है तथा उनका हजारों मील तक उस समय का क्या वस्तु मार्ग निर्देशन करती है! इसका स्पष्टीकरण कराने वाला कोई साधन नहीं प्रतीत होता।

ईलों के ठीक विपरीत सालमन मछलियों की प्रवास कथा है। उनका जीवन काल तो समुद्र खंड में व्यतीत होता है, परन्तु जन्म स्थल-खंडों के भीतर व्यतीत करते हैं। बाद में मीठे पानी के नदी-नालों में ही होता है। वहाँ वे दो वर्ष रहते हैं। समुद्र में दो या अधिक वर्षों तक रहने के बाद अंडे देने के लिए नदियों के ऊपरी भाग में जाने की वृत्ति का कुछ कारण ज्ञात नहीं हो सका है। कदाचित् जन्म धारण करने के क्षेत्र के जल का स्वाद कुछ ऐसा स्मरण रहता हो कि उसी क्षेत्र में वे पुनः प्रौढ़ होने पर अँडा देने के लिए पहुँचते हों। एक विशेष क्षेत्र में ही जाकर अंडे देने की उनकी जन्मजात या अंतःवृत्ति नहीं होती है। इसका तो परीक्षण द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जा सका है। सालमन मछलियों द्वारा एक नदी में दिए हुए अंडे लेकर किसी दूसरी नदी में पहुँचाए गए जहाँ उनसे शिशु उत्पन्न होकर समुद्र की ओर गए। बाद में वे इस दूसरी नदी में ही अँडा देने के लिए पहुँचे जहाँ वे अँडों से उत्पन्न हुए थे, किन्तु उन्हें परम्परागत पूर्व जनन स्थल की नदी में आते नहीं देखा गया।

ईल या सालमन मछलियों की आयु, उनके छिछड़े पर बने वार्षिक चिह्नों द्वारा ज्ञात होती है। उनके पखने या पक्षत (फिन) के कुछ भाग काटने से उनकी पहचान कर लेने की विधि की जाती है। अतएव उनके नदियों में रहने तथा पुनः समुद्र में कालमापक की अवधियाँ ज्ञात की जा सकी हैं।

यह ज्ञात नहीं होता कि सालमन के नवजात शिशु क्यों नदियों का क्षेत्र दो वर्ष की आयु में छोड़ देते हैं तथा किस कारण कुछ वर्षों में प्रौढ़ावस्था प्राप्त कर वे नदियों में पुनः वापस आते हैं, उनका मार्ग-निर्देशन किस प्रकार होता है। इन प्रश्नों का उत्तर विज्ञान के पास अभी नहीं है।

पक्षियों के प्रवास तथा मार्ग-निर्देशन की समस्या पर वैज्ञानिकों को गवेषणा करने में संलग्न देखा जाता है। प्रयोग में द्वितीय महायुद्ध के कुछ पूर्व जर्मनी में ब्रिटेन नगर के निकट घोंसलों से सात अबाबीलें पकड़ी गई। उनके कुछ श्वेत परों पर लाल रङ्ग के स्पष्ट चिन्ह बना दिए गए जिससे उनकी सहज पहचान हो सके। उन्हें वायुयान पर रखकर लंदन के निकट क्रायडन उड़ान केन्द्र तक पहुँचाया गया। वहाँ से छोड़ दिए जाने पर उनमें से पाँच लौटकर बृटेन के निकट अपने घोंसलों में पहुँच सकीं।

जलकपोतों का एक दूसरा उदाहरण है। ये भूमि के अंदर घोंसला बनाने वाले समुद्री पक्षी हैं। पैरों में नाम तथा क्रम संख्या निर्देशक अल्यूमीनियम मुद्रिका पहनाकर इन्हें वेल्श नाम के छोटे द्वीप से दूर दूर के अनेक स्थलों तक पहुँचाया गया। इनके घोंसले वेल्श द्वीप में थे। उनमें से अधिकांश लौटकर वापस आ सके। कुछ न लौट सके। दो पक्षी वायुयान द्वारा वेनिस पहुंचाये गए और वहाँ छोड़े गए। उनमें एक पखवाड़े में अपने शिशु के निकट वेल्श द्वीप आ पहुँचा। ये केवल वेल्श द्वीप में एक शिशु ही एक बार में उत्पन्न करते हैं। किन्तु दुसरा जलकपोत अपने शिशु का पोषण कर चुका था। अतएव वेनिस से वेल्श द्वीप तक काक उड़ान समान सीधी रेखा के मार्ग को देखा जाय तो वह ६३० मील लम्बा होगा। परन्तु जलकपोत समुद्री पक्षी हैं अतएव समुद्र के मार्ग यदि वह जिब्राल्टर से अटलांटिक होते हुए वेल्श पहुँचा तो उसे ३७०० मील की दूरी पार करनी पड़ी होगी। दूसरा जलकपोत शिशु पोषण की चिन्ता न रखने के कारण कुछ निर्द्वन्द्व सा रहा होगा। इसी कारण वह दूसरे वर्ष बसन्त ऋतु के निकट वेल्श में पहुँच सका। इनका मार्ग-निर्देशन किस भाँति हुआ होगा, इसे कह सकना कठिन है।

कुत्ते बिल्लियों के दूर से घर लौट आने की घटनाएँ सुनी जाती हैं। ऐसा हो सकता है कि हजारों व्यक्तियों के कुत्ते भूल जाते हों। वे कभी लौट न सकते हों, परन्तु उनका विज्ञापन न हो पाता हो, परन्तु जो कतिपय कुत्ते चारों ओर सैकड़ों स्थान में भटकते-भटकते अपने गृह पर कभी आ पहुँचते हों तो उनका संवाद-पत्रों में यथेष्ट विज्ञापन होता हो। बात चाहे जो हो, परन्तु दूर के स्थानों पर छूटे कुत्तों के लौटने की कुछ घटनाएँ अवश्य ही सत्य हैं। एक व्यक्ति रेल गाड़ी द्वारा २५ मील दूर के स्थान पर शिकार करने गया। दिन भर शिकार करने के पश्चात् वह रेलगाड़ी से लौट आया परन्तु उसके पाँचों कुत्ते पीछे ही छूट गए। इस भूल का निराकरण कुत्तों ने स्वयं ही कर लिया। मार्ग हिमाच्छादित भूखंडों से युक्त था। फिर भी एक सप्ताह के ही अन्दर पाँचों कुत्ते घर लौट आए। कहा जाता है कि कुत्ते आस पास के स्थलों का भौगोलिक ज्ञान रखते हैं, अथवा कहीं जाने पर मार्ग में चिन्ह के लिए मूत्रोत्सर्ग करते जाते हैं। परन्तु २५ मील दूर के स्थान का मार्ग जानने का प्रश्न ही नहीं उठता। यात्रा भी उन्होंने रेलगाड़ी से की थी। अतएव उनके मार्ग-निर्देशन की समस्या सुलझा सकने योग्य नहीं जान पड़ती।

पक्षियों की उड़ान के सम्बंध में प्रयोगों से भी विचित्र तथ्य प्राप्त हुए हैं। योरप से सारस प्रवास कर शीत ऋतु में अफ्रिका पहुँचते हैं। पूर्वी प्रशा (जर्मनी) के घोंसलों से अल्पवय सारसों को लेकर पश्चिम ओर ले जाकर एसेन नामक स्थान तक पहुँचाया गया। एसेन के निवासी सारसों का सारा दल जब प्रवास कर चुका था, तब ये पूर्वी प्रशा वाले अल्प वय सारस मुक्त किए गए। शीत ऋतु के प्रारंभ में प्रवास होता है। किन्तु एसेन के सारसों का प्रवास मार्ग जिब्राल्टर हो कर है इसके विपक्ष पूर्वी प्रशा या पूर्वी योरप के सारस दक्षिणी पूर्वी मार्ग से तुर्की हो कर प्रवास करते हैं। जन्म स्थान पूर्वी योरप होने पर भी ये अल्प वय सारस पश्चिमी योरप के उस क्षेत्र में छोड़े गए जहाँ के सारस दक्षिण पश्चिम दिशा में पूर्व से जिब्राल्टर होकर अफ्रिका जाते थे। इन अल्पवय सारसों ने जिब्राल्टर के मार्ग यात्रा नहीं की। बल्कि दक्षिण पूर्व दिशा में यात्रा की। उनको मार्ग प्रदर्शक कोई साधन प्राप्त नहीं था और न मार्ग से यात्रा करने की वृत्ति थी। परन्तु किसी अंतर्वृत्ति द्वारा एक निर्धारित दिशा में यात्रा करने का ही कदाचित उनका स्वभाव था। इस कारण वे अफ्रिका दक्षिण पूर्व की दिशा के मार्ग से प्रवास करने जा सके।

एक अन्य प्रयोग कृष्णशीर्ष काकों के संबंध में किया गया। ये बसंत ऋतु में उत्तरी जर्मनी और बाल्टिक को पार कर उत्तर पूर्व दिशा में प्रवास करने की वृत्ति रखते हैं। कई सौ कृष्णशीर्ष काकों (हूडेड क्रो) को पूर्वी प्रशा (जर्मनी) में पकड़ कर चिन्हित किया गया तथा ५०० मील पश्चिम की ओर कील नहर के निकट उन्हें

मुक्त किया गया। वहाँ से भी उन्होंने जिस मार्ग से प्रवास यात्रा की, वह मार्ग उत्तर पूर्व दिशा में पूर्व के मार्ग के ठीक समानान्तर था। मार्ग में प्रवास करते हुए कुछ कृष्ण शीर्षों को पकड़ने पर इस दिशा में यात्रा करने का प्रमाण मिला। फलतः वे स्कैंडिनेविया में जा उतरे। यह उनकी एक दिशा में प्रवास करने की जन्मजात अन्तर्वृत्ति प्रकट करने वाली घटना ही थी।

सूर्य की दिशा की तुलना में ही कोई मार्ग विशेष ओर पक्षियों द्वारा ग्रहण करने का अनुमान होता है। कृत्रिम रूप से बन्द कक्षों में किसी अन्य दिशा में तीव्र प्रकाश की व्यवस्था कर जब सूर्य का अनुकरण किया जाता है तो उसकी ही अपेक्षाकृत निर्दिष्ट दिशा में ये वे पक्षी बन्दी रूप में भी बढ़ने की उतावली प्रकट करते हैं। यदि प्रवास के एक स्थान के दूर के स्थलों में ले जा कर छोड़ा जाय तो सूर्य के स्थान की दृष्टि से ही अपेक्षाकृत जो निर्दिष्ट दिशा उनका प्रवास मार्ग हो सकती है, उसमें वे बढ़ते हैं अतएव वे अपने अन्य सजातियों की प्रवास-यात्रा के समानान्तर मार्ग से जाकर कहीं अन्यत्र ही पहुँचते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि लौटानी यात्रा को उन्हें स्थानान्तरित कर मुक्त किया जाय तो वे सूर्य की स्थिति की अपेक्षाकृत दिशा में ही यात्रा करेंगे। अतएव अपने मूल स्थान से कहीं दूर जा पहुँचेंगे और वहाँ ही जनन कार्य करेंगे। यदि पक्षियों या अन्य जन्तुओं के अँडों को एक स्थान या क्षेत्र से दूर ले जाकर शिशु उत्पन्न होने का अवसर दिया तो वे प्रवास के पश्चात् पुनः उस नवीन स्थल में ही लौट आने का प्रयत्न करते हैं। पूर्वजों के जन्म स्थल पर जाने का उदाहरण नहीं पाया जाता।

मार्ग की कुछ वस्तुएँ मार्ग निर्देशन के लिए मानने की भी कुछ विद्वानों में प्रवृत्ति है। एक बार जिस प्रवासी पक्षी या जन्तु ने मार्ग देख लिया हो, उसके लिए ऐसा अनुमान करना ठीक हो सकता है। वे स्थानान्तरित होने पर भी अपने पूर्व निवास पर अनेक दशाओं में लौट आने में समर्थ पाए जाते हैं। परन्तु महासागरों के मध्य उन्हें मार्ग-निर्देश के क्या चिन्ह मिल सकते हैं, यह कल्पना में भी बात नहीं आती। फिर भी आश्चर्य जनक उदाहरण मिलते हैं। सब से आश्चर्यजनक उदाहरण एक मैंक्स तरंग काक शियर वाटर, का है जो ३०५० मील के अटलांटिक मार्ग को पार कर वेल्स में स्थापित स्कोखोम द्वीप की पक्षीशाला में अपने बिल में वापस आ सका।

अनेक दशाओं में पक्षियों की प्रवास-यात्रा बहुत लंबी हो सकती है। उन्हें विशाल सागरों के ऊपर या प्रायः रात को ही यात्रा करनी होती है। भूखंडों पर भी कुछ सौ लंबी यात्रा के लिए ही उन्हें अत्यधिक यात्रा-चिन्ह स्मरण रखने पड़ सकते हैं जो एक असंभव ही कार्य है फिर भी लम्बी यात्राएँ पूरी होती ही हैं।

इंगलैंड से अबाबीलें आफ्रिका के दक्षिणी भाग तक प्रवास करने जाती है। यह ६००० मील लंबा मार्ग है। परन्तु पैर में अल्यूमीनियम की अँगूठी संख्या-निर्देश युक्त पहनाने पर उन्हें कहीं भी मिलने से पहचान सकने की पद्धति अविष्कृत होने के कारण इंगलैंड की चौदह अबाबीलें दक्षिणी अफ्रिका में पकड़ी जा सकीं। अमेरिका स्वर्ण टिट्टिभ कनाडा से दक्षिणी अमेरिका तक प्रवास करता है। इस २००० मील मार्ग को वह अविश्रान्त रूप से समुद्र के ऊपर से एक उड़ान में ही पार करता है। उसे कहीं भी मार्ग-निर्देशक चिन्ह सुलभ नहीं हो सकता। पेंग्विन उड़ नहीं सकते, परन्तु समुद्र में तैर कर अंटार्कटिक से दक्षिण अमेरिका तक यात्रा करते और फिर वापस जाते हैं। उनका मार्ग विशाल समुद्र खंड में कौन साधन करते होंगे, इसकी कुछ भी कल्पना नहीं हो सकती। इस यात्रा में कभी पंग्विनों को पथच्युत होते नहीं देखा जाता।

पक्षियों को छोड़कर जलचर तथा थलचर जन्तुओं में भी प्रवास के उदाहरण पाए जा सकते हैं परन्तु इन्हें एक तो उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती। दूसरे उतने अबाध रूप से इनको गति भी नहीं होती। भूमि पर रहने वाले जन्तुओं को पग-पग पर शत्रु का भय रहता है। दूसरे उन्हें आहार कुछ निश्चित क्षेत्रों में ही मिल सकता है। इसलिए स्थलचारी जन्तु थोड़ी दूर ही स्थान परिवर्तन करते हैं। कुछ विशेष थलचरों को कुछ अधिक दूर भी प्रवास करते पाया जाता है। परन्तु उनके

लिए मार्ग-निर्देशन की टेढ़ी समस्या खड़ी नहीं दिखाई पड़ती।

जलचरों में हमें अवश्य कई जन्तुओं को दूर करने का उदाहरण देखने को मिलता है। कुछ सील और ह्वेल (तिमि) बहुत दूर की यात्रा करते हैं। इनकी यात्रा तट के निकट न होकर खुले समुद्र में ही होती है। अतएव इनके मार्ग-निर्देश की समस्या अवश्य ही बड़ी होगी। फर सील की यात्रा विचित्र होती है। यह अल्यूशियन द्वीप समूह के उत्तर में अलास्का तट से दो सौ मील दूर स्थित प्रिबिलोक द्वीप-समूहों में शिशु उत्पादन करती है। वहाँ पहले वयस्कन सील पहुँचते हैं। उनके बाद ही मादा सीलें आती हैं जो आने के कुछ दिनों या घंटों बाद ही शिशु जनन करती हैं। प्रत्येक नर का एक क्षेत्र होता है जिसमें अनेक मादायें आश्रय पाती हैं। दूसरा नर जल क्षेत्र में नहीं आ सकता। नर तो वहाँ के तीन मास के प्रवास की पूर्ण अवधि निराहार ही व्यतीत कर लेते हैं, परन्तु मादायें नित्य शिकार करने जाती हैं। प्रवास काल के अन्त में न तो अपने पूर्व निवास क्षेत्र में अल्यूशियन द्वीपसमूहों के पूर्व अलास्का की खाड़ी में चले जाते हैं। किन्तु मादायें, नवजात शिशु तथा अल्पवय नर अधिक दूर जाते हैं। वे केलिफोर्निया के अक्षांश तक के समुद्र तक वापस जाते हैं। उन्हें इतनी दूर के स्थान तक तीन सहस्र मील की यात्रा करते पाया जाता है जो तट के निकट नहीं होती बल्कि खुले समुद्र में ही होती है। कुछ अन्य सीलों को भी ऐसा किन्तु छोटे पैमाने पर प्रवास करते पाया जाता है।

बल्यूह्वेल, फिन ह्वेल, तथा हम्पबैक ह्वेलों को दक्षिणी गोलार्द्ध के ग्रीष्मकाल के समय पर दूर के समुद्र भाग में अंटार्कटिक तक यात्रा करते पाया जाता है जहाँ उन्हें समुद्र तलवाही सूक्ष्मदर्शकीय वनस्पति प्रचुर मात्रा में सुलभ होते हैं। ग्रीष्मकाल समाप्त होने के समय वे पुनः उष्ण तथा शीतोष्ण कटिबन्धों के समुद्रों में वापस चले आते हैं। यहाँ वे अल्प आहार ही करते हैं या निराहार ही रह जाते हैं। यहाँ वे संतानोत्पादन तथा शिशुओं का पोषण करते रहते हैं। इस प्रवास में तट से हजारों मील दूर समुद्र में ही उनकी यात्रा होती है। कहीं कोई मार्ग निर्देशक चिह्न नहीं सुलभ हो सकता।

प्रश्न यह उठता है कि सूर्य की आपेक्षिक स्थिति से जब पक्षियों के मार्ग-निर्देशन का प्रमाण प्राप्त किया जा सकता है तो क्या सील, ह्वेल आदि जलजन्तु भी जल खंड में अपने प्रवासों की यात्रा के लिए सूर्य की आपेक्षिक स्थिति से मार्ग-निर्देशन करने में सहायता नहीं प्राप्त कर सकते। इस युक्ति संगत सम्भावना का समर्थन कुछ विद्वान करने के लिए उत्सुक हैं किन्तु कुछ की यह भी धारणा हो रही है कि कदाचित जन्तु जगत में मार्ग निर्देशन के लिए कोई विशेष ज्ञानेन्द्रिय हो सकती है जिसका हमें कुछ भी अनुभव नहीं हो सकता। कदाचित् उसी शक्ति से इन्हें भीषण लम्बी यात्राओं में निर्देशन प्राप्त होता है। किन्तु उसके शरीर में ऐसा कोई भी नवीन अंग नहीं दिखाई पड़ता जिसमें इस शक्ति के निहित होने की ठीक कल्पना की जा सके। विज्ञान की भविष्य की खोजें ही इन गहन प्रश्नों पर प्रकाश डाल सकने में समर्थ हो सकेंगी।

———

अंतरिक्ष-विजय का उपकरण

अमेरिकी हवाई जहाज-उद्योग द्वारा २० फुट लम्बी और ३ फुट ऊँची हवा को बहा कर ले जाने वाली एक गुफा तैयार की गई है। यह संभावना की जाती है कि यह गुफा बाह्य आकाश मण्डल को जीतने की मनुष्य की कोशिश में सहायक होगी।

यह गुफा आकाश मण्डल के अपेक्षाकृत उच्च स्थानों तथा बाह्य आकाश मण्डल की सीमा पर स्थित भागों की खोज के लिए तैयार की गई है। जेट पम्पों की सहायता से इस गुफा में से हवा को उसी प्रकार खींचा जाता है, जिस प्रकार रोगनों का छिड़काव करने वाले यन्त्रों में यह क्रिया होती है। तथापि इस गुफा में शब्द से भी कई गुनी अधिक गति से हवा प्रवाहित की जाती है।

एक अलूमीनियम की नलकी से गुफा में से हवा शब्द की गति से ६ गुनी अधिक रफतार से खींची जाती है। गुफा के मध्य में झाँकने के लिए दो काँच की खिड़कियाँ रहती हैं, जिनसे गुफा के अन्दर की हलचल देखी जा सकती है तथा उसके चित्र उतारे जा सकते हैं।

गुफा में हवा का दबाव भी कम रखा जाता है। इस प्रकार ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दी जाती हैं, जो भूमि के ४० मील ऊपर से लेकर १०० मील ऊपर तक के बीच पाई जाती है तथा इस प्रकार ये ऊचाइयाँ भूमि पर ही ला कर उपस्थित कर दी जाती हैं। इस गुफा में "नाइट्रस ऑक्साइड" भी प्रविष्ट कराया जाता है, जिससे एक चमकीली गैस पैदा हो जाती है। इससे हवा के बहने का दृश्य काँच की खिड़कियों के जरिए देखा जा सकता है।

अब तक किए गए परीक्षणों से ऊँची ऊँचाइयों पर उड़ने के समय जिन भीषण परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, उनमें से कुछ का पता लग चुका है। इनमें से एक बात यह है कि कम घनी होने पर हवा बड़े जोरों से किसी वस्तु पर चोट नहीं करती, अपितु हवा के कण वर्षा के समान इन वस्तुओं पर प्रहार करते हैं।

एक जिस अन्य रहस्य का पता लगाया गया है' वह यह है कि बहुत ऊँची ऊँचाइयों पर उड़ने वाली कोई वस्तु उसी रफतार से कम ऊँचाई में उड़ने की तुलना में अन्य परिस्थितियाँ वैसी ही रहने पर अपेक्षाकृत अधिक गरम हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि कम ऊँचाई पर अवरोध अधिक होने पर भी इसके कारण पैदा गरमी आसानी से वहाँ फैल जाती है। अधिक ऊँचाई पर अवरोध कम होने पर भी यह गरमी आसानी से आस-पास फैल नहीं सकती।

अनुसन्धानकर्त्ताओं को इस बात का भी पता लगा है कि गुफा में डाली गई हवा यदि पहले से गरम न हो, तो भी वह शब्द से ६ गुनी रफ्तार होने पर तरलता अपना लेती है तथा कोहरे जैसी प्रतीत होने लगती है। इस बाधा को दूर करने के लिए हवा की शब्द से ८ गुनी रफतार होने पर हीलियम के उपयोग की योजना बनाई गई है।

———

पैसे की प्रतिष्ठा

[ले० पीताम्बर पंत]

दशमिक सिक्कों के आरम्भ को, क्रांति की संज्ञा दी जा सकती है। क्रांति, अत्यन्त शांति और निर्विवादपूर्ण है। इने-गिने कुछ देशों को छोड़ कर यह क्रांति संसार के प्रायः सब देशों में हो चुकी है। इसका आरम्भ आज से १६५ वर्ष पूर्व अमेरिका में हुआ था। दशमिक प्रणाली की सरलता ही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है और इसी के कारण भिन्न-भिन्न अर्थ-व्यवस्थाओं और शासन-तंत्रों वाले देशों में भी यह अपनायी जा सकी।

लिखने पढ़ने की तरह समाज में हर व्यक्ति को थोड़ा बहुत हिसाब-किताब भी आना चाहिये। स्कूल में बच्चों को जोड़, बाकी गुणा और भाग के जो तरीके सिखाये जाते हैं उनमें सब हिसाब दहाई के अनुसार चलता है और जहाँ तक पूरी-पूरी संख्या रहती हैं, बच्चे को हिसाब में कोई दिक्कत नहीं आती। लेकिन जहाँ भिन्न आते हैं वहाँ बच्चा चकरा जाता है। इसलिए यदि ये भी इसी तरह पूरी संस्थाओं में हो तो निश्चय ही आसानी होगी। दशमलव प्रणाली में भिन्न भी पूरी संख्याएँ ही बन जाते हैं।

सरल हिसाब-किताब

हमें अपने नित्य के जीवन में केवल संख्याओं ही नहीं, नाप-तोल और पैसे के भी हिसाब करने की जरूरत पड़ती है। देखिये १० रु० ६ आ० ५ पा० को अब दशमलव प्रणाली से लिखना सरल होगा, जो १०.४० लिखा जायगा। इसी प्रकार नाप और तोल को भी दशमलव प्रणाली से लिखने में बहुत आसानी होगी। सारा हिसाब गणित के आम नियमों से क्षण भर में ही लगाया जा सकता है।

कुछ लोग ऐसा अवश्य कह सकते हैं कि एक जमी-जमायी और प्रचलित चीज को बदलने का क्या लाभ? लेकिन ऐसा वही लोग कहेंगे जो हर नयी चीज को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। वे हिसाब किताब को आसान बनाना मूर्खता मानते है और समझाते हैं कि जितना ही यह कठिन होगा उतना ही हम अपनी बुद्धि को सतर्क और सचेत रखेंगे और गणित का ज्ञान भी बराबर बनाये रखेंगे।

सेफ्टी रेजर

शायद इसी तरह के प्रश्न सेफ्टी रेजर की ईजाद के समय लोगों ने उठाये होंगे। तब भी बहुत से लोग नाई के उस्तरे की जगह सेफ्टी रेजर इस्तेमाल नहीं करना चाहते होंगे। अनेकों बातें इसके विरुद्ध कही गई होंगी। किन्तु इन सब तर्क-कुतर्कों के बावजूद लोगों ने सेफ्टी रेजर को अपना ही लिया। इसी का यह नतीजा है कि आज लोग दाढ़ियाँ बढ़ाये नहीं दिखाई देते और सब सुन्दर और चुस्त दीख सकते हैं। नये पैसे के बारे में भी यही स्थिति है। शुरू-शुरू में नये पैसे का शायद कुछ विरोध हो। लोग इसके इस्तेमाल में हिचकें, लेकिन आखिर सब लोग इसको अवश्य अपनायेंगे।

आज भी इस्तेमाल होने वाला सबसे छोटा सिक्का पैसा ही है जो ३ पाई के बराबर होता है।

पैसे की प्रतिष्ठा बढ़ी

वास्तव में आज पैसे की भी वही दशा है जो किसी मेहनती आदमी की होती है जिसको कोई पूछता नहीं। पैसे का आज अपना कोई अस्तित्व नहीं। यह या तो

[शेष पृष्ठ ६३ पर]

सम्पादकीय

वैज्ञानिक वृत्ति कैसे हो ?

समझ में नहीं आता है कि इस आकर्षक शीर्षक के नीचे दी हुई सामग्री को हम सम्पादकीय कहें, या स्फुट विचार कहें या व्यक्तिगत सम्मति, भावना या विवेचन कहें अथवा किसी सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन कहें। इसी तरह की या अन्य तरह की कुछ विचारधारायें तो ये हैं ही। पाठकों को, श्रोताओं को सुनाना है उनमें बहुत से गंभीर विद्वान भी हैं, उन सबको ग्राह्य कौन सा तर्क तैयार कर प्रस्तुत किया जाय, किस प्रकार तर्कसंगत विचारों, विवेचनों को गुंफित किया जाय जिससे इस शीर्षक के नीचे कुछ अधकचरा, फूहड़, असंगत विचार-प्रवाह न आ सके, पाठक पढ़कर गद्‌गद् हो जाय, उत्साहपूर्ण हो जाय, उसकी बौद्धिक वृत्तियाँ उत्तेजित हो उठें, भावावेश जागृत हो उठे, लेखन और विचार शैली से मंत्रमुग्ध हो जाय, कुछ कहने को रह न जाय, कुछ सुनने को रह न जाय। इन्हीं तरह के भावावेशों, इन्हीं तैयारियों में हमारा मंचीय ज्ञानोपदेश (या विज्ञानोपदेश) का प्रदर्शन सा कार्य 'विज्ञान' में स्थगित सा रहता आया है। वास्तव में किसी मंच पर से स्वरित हुए ज्ञानोपदेश के श्रवण करने के हम अभ्यस्त नहीं हैं, फलतः बर्बस ऊँचा सा आसन मान कर विज्ञानोपदेश का अभिज्ञापन श्रोताओं या पाठकों के सम्मुख करने के भी हम पोषक नहीं हैं। समपदस्थ रह कर बंधुवत विचार-विनिमय ही सर्वोत्तम मार्ग है, न वक्ता का आसन ऊँचा है और न श्रोता का आसन नीचा है, नहीं नहीं, जो एक स्थान पर श्रोता है, वही तो विशेष समय, विशेष अवसर या विशेष स्थान पर अपने अन्य श्रोता बन्धुओं के लिए पुनः पुनः अल्पकालिक वक्ता बन सकता है। यही तो वैज्ञानिक ढङ्ग हो सकता है। अस्तु।

ढङ्ग कुछ भी हो, विचार-प्रदर्शन, विचार-विनिमय या समस्याओं के विवेचन की पद्धति भाषण लेखन, वाद-विवाद, अभिगोष्ठी या सम्पादकीय रूपों में से किसी भी तरह की हो, हमें इस समय ऊपर के शीर्षक पर कुछ कहना सुनना ही है। हमी उस विवेचन-शृंखला का सूत्रपात करते हैं।

हमें एक आँखों-देखी घटना याद है, बहुत ही पुरानी बात है। कोई विशेष महत्व की भी नहीं है। कोई सज्जन थे। कहीं किसी उदार सज्जन के यहाँ आ पड़े थे। परिचय के बहाने आश्रयदाता महोदय के स्थान पर उन्हें नित्य भोजन भी मिल जाता था। वे ऐसा प्रश्रय पाने वाले अकेले ही व्यक्ति नहीं थे। अन्य व्यक्तियों को भी प्रश्रय या सहायता प्राप्त थी। तो वे महाशय नित्य किसी कागज पर कुछ उतारा सा करते थे। नकल करते थे। कौतूहल-वश पूछने पर ज्ञात हुआ कि उनके स्वर्गीय पिता ने बहुत कुछ ऋण कर लिया था। राणा प्रताप के वंशजों द्वारा स्वराज्य-लोप के खेद में धातु के पात्र में न खाकर पत्तों के ऊपर ही भोजन ग्रहण करते रहने का जो संकल्प इस पीढ़ी तक चला आता था, उसी तरह ऋण-मुक्ति का कोई भी सक्रिय मार्ग न ग्रहण कर वे सज्जन बही के नए पृष्ठों पर ऋण के रुपयों के आंकड़े नित्य ही उतार लिया करते थे। उनके भाग्य सूत्र का लेखा तो मेरे पास उपलब्ध नहीं है किन्तु कभी उनको पिता के लादे हुए ऋण

को चुकाने का कदाचित अवसर भी मिल सका हो तो वह बहियों के नए पन्ने पर ऋण की राशियाँ उतारते रहने से ही कभी न हुआ होगा। परन्तु हम तो आज वैज्ञानिक वृत्ति पैदा करने के लिए सामूहिक रूप में बहियों पर ऋण उतारते जाने का ही क्रम जारी रख रहे हैं।

"वैज्ञानिक वृत्ति उत्पन्न करो" यह नारा लगाते सब ही हैं। प्रगतिवादी भी लगा रहे हैं, दकियानूसी भी लगा रहे हैं। विचारशील भी लगा रहे हैं और विचारहीन भी लगा रहे हैं, परन्तु उसी तरह जिस प्रकार हमने स्वराज्य खो देने पर महाराणा प्रताप के वंशजों को स्वराज्य-प्राप्ति का अवसर न आने तक स्वर्ण पात्र में न खाने का प्रण निभाते देखा था, आधार-तल स्वर्णपात्र हो कर भी उस पर पत्तों का दोना सांकेतिक रूप में रख दिया जाता था और भोजन के स्वर्ण पात्र में रक्खे उन दोनों या पत्तलों पर भोजन परसा जाता था अथवा ऊपर वर्णित महानुभाव के पिता के ऋण नित्य बही के नए पन्नों पर उतारने सा ही हमारा आज का वैज्ञानिक वृत्ति उत्पन्न करने का नारा है।

हम एक क्षण इस पर विचार करते हैं कि वैज्ञानिक वृत्ति क्या है, वह कैसे प्राप्त की जा सकती है तो एक बार नारा लगाने वाले बड़े से बड़े नेताओं, बड़े से बड़े राजनीतिज्ञों, विज्ञान-वेत्ताओं, आदि के नारों का खोखलापन देख कर हृदय बैठ सा जाता है, मस्तिष्क सहम सा जाता है। विचारों को आगे बढ़ाने का, छान बीन करने का उत्साह नहीं होता, इच्छा नहीं होती। नारा लगाने के शब्द कितने भी ऊँचे हों, उनके पीछे अँधकार कितना अधिक है! श्रोताओं तक यह भावना पहुँचा सकने के पूर्व खाई इतनी गहरी है कि इन विचारों के ऊहापोह में हम स्वयं ही गर्त्त के निम्न तल में ढकेल दिए जाने का बहुत कुछ अवसर सम्मुख आते देख सकते हैं। अवश्य ही हमें क्षीण प्रकाश भी नहीं दिखाई पड़ता जो इतना ऊँचा नारा लगाने वालों के नेत्र के सम्मुख हो। फिर भी नारा लगता ही रहता है। अंतरिक्ष में प्रतिध्वनित होकर वक्ता या नेता के कानों तक ही वह लौट आता है, इसलिए वह कदाचित आत्मश्लाघा में हर्षोन्मत्त हो उठता हो कि हमने कैसा नारा लगाया! कितना ऊँचा नारा लगाया!!

वैज्ञानिक वृत्ति क्या है? हम किन को सुनाएँ। कैसे सुनायें? बड़े अनमने ढङ्ग से निरुद्देश्य से होकर हम थोड़ी सी उलझनों को, विचार धाराओं को सम्मुख रखते हैं। कोई गंजेड़ी हैं, गाँजा पीने का नशा करता है। हाथ पकड़ कर या सामने खड़े होकर हम कहते हैं, भाई, हम मीमांसा करना चाहते हैं तुम्हारी गाँजा पीने की वृत्ति पर, हम कहना-सुनना चाहते हैं कि यह वैज्ञानिक वृत्ति न होगी। कोई शराब पीने वाला है। ठहरा कर हम यह कह उठते हैं, भाई, शराब पीना क्या वैज्ञानिक वृत्ति है? क्या तुम इसकी मीमांसा चाहते हो? अफीमचियों, गंजेड़ियों या शराबियों की ही चर्चा के लिए हमने इतना तूमार नहीं बाँधा है। आप तो तुरन्त कह उठ सकते हैं कि भाई जाने दो, ये तो नशे वाले हैं, इनकी बात क्या? कुछ संतुलित लोगों की बातें करो और अपने भारी भरकम आलोचनात्मक तूफान को कसौटी पर कसो तो जान पड़े।

यह भी तो एक भारी कठिनाई ही है। जो संतुलित ही है, वह किस प्रकार अवैज्ञानिक हो सकता है अतएव संतुलित लोगों में अवैज्ञानिक वृत्ति के उदाहरण कहाँ से पा सकते हैं, परन्तु हाँ, संतुलित कौन है, यह अवश्य विचारणीय प्रश्न हो सकता है।

हमारे निकट एक मामूली उदाहरण है। एक दलित वर्ग के परिचित परिवार में हमें देखने का अवसर मिला। पिता की मृत्यु हुई थी। एक हजार व्यक्तियों को खिला कर श्राद्ध किया। कुछ मासों पश्चात लड़के का ब्याह करने में भी इतने ही बिरादरी और मुहल्ले के लोगों को खिलाया। इतना व्यय अनिवार्य था। घर कच्चा है। दीवालें ढह रही हैं, सोने के लिए कोई छत नहीं है। पानी का बंबा भी नहीं लगा है। सामाजिक व्यवस्था है। पूरी करनी

पड़ेगी। कुछ निजी आस्था है। यह व्यय सिर पर लादना ही पड़ेगा। परिवार की स्थिति अच्छी करने में यह धन लगाना सम्भव नहीं है। सब घरों, परिवारों, जातियों में ऐसा ही होता है।

एक ताजा उदाहरण है। एक वृद्ध है। सन्तान नहीं है। वृद्धा स्त्री पर गई। अधिक समय से बीमार थी। बिरादरी के लोगों को खिलाने की व्यवस्था करना टल नहीं सकता था। खाने के समय पानी-पीने के लिए मिट्टी के सकोरे या पुरवे बँटे। पीने पर पानी कुछ गँदला देख कर कुछ लोगों ने प्रश्न किया होगा। पता लगा कि स्त्री बीमार होने पर वह बाजार से मिट्टी के जिन सकोरो या पुरवों में दूध लाता था, उनको घर में रख लिया करता था। एक समय आयेगा कि बुढ़िया मरेगी और बिरादरी को खिलाना पड़ेगा। पुरुखों से यही पद्धति चली आई है। इसलिए वह खिलाने के लिए पहले से ही तैयारी करता आ रहा था। पैसे कम खर्च होने की दृष्टि से ही उस बेचारे ने सकोरों को धो-धो कर बचा रक्खा था। बुड्ढा अभी जीवित है। सामने ही है। उसके मरने का दिन पता नहीं कब आ जाय, इस दृष्टि से अब भी शायद, मिट्टी के सकोरे या पुरवे उसके घर में जमा हैं और जमा करता भी जाता है। सामाजिक व्यवस्था में तो उसे चलना ही है।

आप कहेंगे कि कहाँ की अनर्गल, बेतुकी बातें कर रहे हो और आप शायद हमारी गर्दन नापने को भी तैयार हो जाँय। आप तो अवश्य कह उठेंगे कि इन कुरीतियों को मिटाने की ही बात तो सुधारवादी या नेता लोग कर रहे हैं। हमें तो अपनी गर्दन प्यारी है। इसलिए उसे बचाने के लिए हम इनको भी छोड़ कर अन्य प्रसंगों को लेते हैं।

खिलाफत आन्दोलन आया। अलीबंधुओं की कितनी अधिक प्रसिद्धि हुई। मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली जहाँ-जहाँ जाते, मीटिंगों में असीम दर्शकों की भीड़ जुट पड़ती। एक ही मिट्टी के सकोरे में हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्णों के नेता पानी पीते। अलौकिक दृश्य था। समय बदला। राजनीतिक जागृति का कार्य छोड़ कर अलीबंधुओं ने अपने ही सम्प्रदाय के भाइयों को उन्नति के मार्ग पर ले चलने का बीड़ा उठाया। वे साम्प्रदायिक नेता हो गए। "मुसलमान गरीब हैं, गोकुशी बिना उनका काम चल ही नहीं सकता।" शायद गोवध के प्रश्न पर उनकी या अन्यों की ऐसी ललकार पूर्ण घोषणा होती ही रही।

पटाक्षेप हुआ। स्वराज्य आया। गोवध निषेधक विधेयक प्रायः सभी राज्यों में पारित हो चुके हैं। हमें एक उल्लेखनीय बात सुनानी है। प्रयाग के एक हिन्दी संवाद पत्र ने हिन्दी में ही पश्चिमी बंगाल की बहुत अधिक भर्त्सना करने के लिए संपादकीय लिखा कि भारत के सभी राज्यों में तो ऐसा विधेयक पारित हो चुका है। परन्तु पश्चिमी बंगाल की सरकार इतनी अविवेक पूर्ण और हठवादी है कि ऐसा विधेयक पारित नहीं कर रही है।

हिन्दी भाषा और प्रयाग नगर में लिखा सम्पादकीय बंगाल के मंत्रियों की भर्त्सना करने के लिए किस प्रकार प्रभाव-दिशा रखता होगा, यह हमारी समझ में अब भी नहीं आ रहा है। हिन्दी-भाषी राज्यों के पाठकों की गोरक्षा भावना उत्तेजित करने में उसका हाथ अवश्य हो सकता है। एक प्रसिद्ध सरकारी "कृषि और पशुपालन" मासिक पत्र में बीसवीं सदी के इस छठें दशक में ही कोई प्रमुख लेख छपा था जिस में लिखा था कि "पुराने समय में जो गाय को क्षति पहुँचाता था उसके कान में पिघला सीसा पिला दिया जाता।" हम जानते हैं कि गोरक्षा की कोमल भावना लोगों के हृदय में कितना गहरा स्थान रखती है। पूर्वी जिलों में गोवध के बारे में उत्तेजनाएँ फैलते रहने से पचासों वर्ष पहले से सैकड़ों बलवे होते आए हैं जिन में हजारों मनुष्यों की जाने गई होंगी।

पाठकवृन्द, क्षमाकरें, हमने अपनी हठवादिता से आपके सूक्ष्म भावों को भारी ठेस पहुँचाने के लिए ये पंक्तियां नहीं लिखी हैं। किन्तु स्मरण रखिए हमने यहां पर गोवध का विषय नहीं लिया है। हमारा

शीर्षक तो वैज्ञानिक वृत्ति का है। केवल प्रसंग वश ही हम ने इस बात की चर्चा की है। हम जानते हैं कि हमारी स्थिति कितनी नाजुक है। हमारी आस्थायें, मान्यतायें, अंधविश्वास, सामाजिक रीतियाँ इतनी प्रबलता के हमें जकड़े हैं कि उनके विरुद्ध हम तर्क नहीं कर सकते, तनिक भी आवाज नहीं उठा सकते। हमारा लेखन और संपादन का मंच ही छिन सकता है। सरकार रुष्ट होकर सहायताएं बंद कर सकती है। अधिकारी चौंक सकते हैं। पाठक बिचक सकते हैं, अड़ोसी-पड़ोसी उलाहने के अंकुश से गला दबोच सकते हैं। हम अधिक क्या कहें, इतना अवश्य व्यक्त कर देना चाहते हैं कि कुछ उत्साह में हमने थोड़े से तर्कों के देने में उस मर्यादा का अतिक्रमण किया हो जिसके आगे आप बढ़ना नहीं चाहते, या आप उस सीमा तक विवेचना या तर्कों को पचाने के लिए तैयार नहीं हैं, वैज्ञानिक वृत्ति के बहाने उन उग्रताओं को आपके सामने रखने से विचारों का अपच हो सकता है या विरेचन हो सकता है तो हम मर्यादापूर्वक पीछे हटने को तैयार हैं। आप ही कोई तर्क दीजिए। आप ही वैज्ञानिक वृत्तियों का निरूपण कीजिए। आपकी ही तर्कावली का हम विज्ञापन करेंगे, आपकी ही विवेचना को प्रकाश में लायेंगे। प्रजातंत्र का समय है। आपके भी विचारों को हम उतना ही ऊँचा स्थान देना चाहते हैं जितना अपने या अन्य विचारों को देना चाहते हैं। प्रश्न केवल यह है कि आप आगे बढ़िए और कुछ कहिए सुनिए भी तो। कहाँ तक कहें, असंख्य उदाहरणों से स्मृति की छोटी सी संदूकची ठसी पड़ी है, उनके वर्णन में सरसता कहां होगी। पाठक उनको सुनने का कहाँ तक धैर्य रख सकता हो वह तो ऊब ही उठ सकता है किन्तु क्या करें। कुछ अन्य उदाहरणों को लेना ही पड़ता है। जन पक्ष और सरकार पक्ष दोनों के ही उदाहरणों की भरमार है।

दूर क्यों जायँ प्रयाग नगर को ही लेते हैं। भय है नागबासुकी मंदिर धस न पड़े, सारे नगर को भारी खतरा न हो जाय, भयंकर अघट घटना घटित होने की तात्कालिक आशंका कदाचित आ खड़ी हुई हो। चार छः लाख रुपए स्वीकृत हो गए हैं। हम कैसे कहें कि नगर की दिशा में नागबासुकी के पादतल के कठोर भूस्तर को काटने में गंगा के प्रवाह को दशक ही नहीं, शताब्दियाँ भी उपयुक्त अवसर कदाचित न दे सकती होंगी, परन्तु ऐसी तात्कालिक संकटापन्न अवस्था न भी सही, सीधे रूप में वह देव स्थान तो दिखाई पड़ता है! पुनीत स्थल की रक्षा करने से देश भर के धर्मप्राण, आस्थापूर्ण जन पुकार उठेंगे, हमारी सरकार ने कैसा धर्मोद्धार कर दिखाया। हमें तो उसकी दुहाई किसी भी कीमत पर लेनी है। दूसरी ओर हमारा ध्यान नहीं जा सकता। यहां एक नगर की क्षति हो जाने की काल्पनिक आशंका है, अरे भाई! एक नगर धस भी गया तो नीचे की भूमि के कुछ सहस्र व्यक्ति ही तो कालकवलित होंगे। उससे क्या होगा। क्या कुंभ मेला की रिपोर्ट में तीर्थराज के माहात्म्य का वर्णन आप को पढ़ने का अवसर नहीं मिल सका है जिसमें आयोग के विद्वान् सदस्यों ने सारे शास्त्रों के प्रमाणों का निचोड़ देकर सदा के लिए सिद्ध कर दिया है कि महान तीर्थराज प्रयाग में जो लोग भी आते हैं मरने के लिए तैयार होकर आते हैं, घोर आस्था है कि यह महा पवित्र स्थान है जहाँ मरण तो जीवन से भी श्रेयस्कर है। फिर नगर में स्थायी निवास करनेवाले नागरिक इस महान् सत्य की अवहेलना करने में कैसे लिप्त हो सकते हैं। वे तो यहाँ गंगा तट पर बसते ही इसलिए हैं कि गंगा मैया कभी कृपाकर अपना जलप्रलय कर उनकी आत्माओं को स्वर्ग पहुँचा दें। उन्हें बाँध टूटने से क्षति होने का क्या भय। अन्यथा क्या दूसरे नगर रहने के लिए कम हैं, क्या इस नगर में भी दूसरे ऊँचे सूखे स्थल निवास योग्य नहीं हैं, अस्तु।

हमारे सिर के भीतर आज ऐसे लाखों रुपयों की राशि नाच रही है एक तीर्थराज के अन्दर एक बिन्दु के पावन मन्दिर की रक्षा के लिए कागज पर

एक कलम चलाने से इतनी राशि स्वीकृत हुई है। सारा देश अज्ञानता में, सामाजिक रूढ़ियों में, अन्ध-विश्वासों में ग्रस्त होकर कराह रहा है। दिखाऊ संस्कारों, रीतियों आदि में फँसा रहकर अपनी अगाध शक्तियाँ अपनी तथा समाज की स्थिति सुधारने में न लगा कर उन आस्थाओं के प्रवाह में व्यर्थ, नित्य बहाता रहने के लिए विवश रहता है। हम उनको कुछ वैज्ञानिक वृत्ति का सन्देश पहुँचाने के लिए ज्ञान मन्दिर बनाना चाहता है, कोई उल्लेखनीय सहायता नहीं मिलती। सौतेले पुत्र की भाँति कभी कुछ टुकड़े फेंक भी दिए गए तो हमारा उससे क्या बनता है हम एक नहीं, अनेक शक्ति-शाली प्राण-प्रतिष्ठित ज्ञान-मन्दिरों की भी कल्पना कर सकते हैं, परन्तु सम्पन्न करने के क्या मार्ग हो सकते हैं, सरकार भी विज्ञान मन्दिर स्थापित करने के विज्ञापन करती है। सरकारी ढङ्ग ठहरा, बहुत कुछ कार्य, खर्चों का हिसाब, दिखाऊ सफलताओं का विज्ञापन बड़ी-बड़ी फाइलों में अवश्य होगा, वास्तविकता क्या होगी, हम कह नहीं सकते। इधर ४० वर्षों से हम वैज्ञानिकता की ठोस परीक्षा देने की साधना करते आ रहे हैं। हम सहायता के पात्र नहीं हैं। हमारे पास सौ पचास भी ग्राहक नहीं हैं, लिखने के लिए सादा कागज नहीं है, हमारे प्राणों में इतना बल नहीं रह गया कि थोड़ा बहुत हम जो कुछ भी लिख पाते हैं, उसकी स्याही सुखा सकने में हमारे उच्छ्वासों की ऊष्मा काम दे सकने के लिये समर्थ हो।

मेले लगते हैं। गंगा जमुना की पवित्र धाराओं को पार कर त्रिवेणी के संगम पर हमारे धर्म-पिपासु यात्रियों के आने में कहीं स्थानीय मल्लाहे, निषाद कुछ अधिक पैसे न ले लें। स्नान कर पाप-मुक्त होने की पुनीत क्रिया में कुछ विलम्ब न हो जाय, इसलिए आठ दस लाख रुपयों के फौलादी पीपे बन रहे हैं। कौन कहता है कि जो रुढ़िवादी नहीं हैं, जो निष्ठावान नहीं हैं, या जो धर्मान्ध नहीं है, जो बुद्धिवादी हैं या जो हिन्दू होने पर भी छोटी या बड़ी किसी भी प्रकार की नदियों में स्नान कर पाप-विमोचन का विश्वास नहीं रखते उन सबकी छाती पर यह लोहा कूटा जा रहा है? ऐसा विचार भी सम्मुख रखने का कौन साहस कर सकता है। असंख्य प्राणी घरबार सूना छोड़कर तीर्थराज पधारते हैं, हम कैसे कहें कि सूने घर में चोरी का अवसर वे देते हैं, बहू-बेटियों को अकेले अरक्षित ही घरों पर छोड़कर यहाँ आते हैं, या यहाँ पर साथ ही लाकर उनके धन आभूषण लूटे जाने का अवसर देते हैं? हम यह भी कैसे कहें कि वे किसी भी अटल धार्मिक प्रेरणा से ही नहीं आते, देखा-देखी भी आते हैं, तमाशा भी देखने आते हैं, घर उजाड़ कर बच्चों को भूखा रखकर भ्रमजाल में फँस कर धर्मान्धता के धक्के में ढकेले जाते चले आते हैं। देश का धन व्यर्थ जाता है। चोरियाँ खूब होती है, बीमारियाँ खूब फैलती हैं, हमारे नगर के बहुत बड़े भाग में इनके लिए केवल मेले के समय ही ट्रेनें पहुँचाने के लिए भारी स्टेशन और प्लेटफार्म अस्थायी बने पड़े हैं, वह भी ई० आई० आर० और ओ० आर० आर० की पृथक-पृथक कंपनियाँ पहले रहने के कारण स्पर्धावश पृथक-पृथक दो स्थानों पर बने पड़े हैं। हमारे लिए दीन-हीन नगर वासियों के बसने के लिए, रहने के लिए, फैलकर झोपड़ी बनाने के स्थान पर ये आवश्यक प्लेट फार्म हमारी छाती पर लदे पड़े हैं। हम माघ मेले में ऐसा भाषण नहीं दे सकते, ऐसी विज्ञप्ति प्रसारित नहीं कर सकते, ऐसी पुस्तिकायें नहीं बाँट सकते जिनमें लोगों को हम कुछ तार्किकता की बातें कह-सुन सकें, मेले में न आने की भी बुद्धिमत्ता का कुछ पक्ष उनके सम्मुख रख सकें। उनके कोमल धर्मप्रधान, भावुक हृदयों को ठेस पहुँचेगी, ऐसी ही सरकारी आज्ञा प्रचलित है। जो अविवेकी हैं, वे सदा अविवेकी ही पड़े रहें. जो धर्मान्ध हैं, वे धर्मान्ध ही पड़े रहें। हम फिर भी वैज्ञानिक वृत्ति फैलाने का दंभपूर्ण नारा नित्य लगाते हैं। मेला प्रारम्भ होने पर डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को अपनी आस्था का विचार

किए बिना ही गंगा-पूजा की वेदी पर पंडित के सामने बैठना अनिवार्य विधान है। धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र में बुद्धिवादी, अहिन्दू, धर्मान्धताहीन को हम तीर्थराजों में नौकरी करने से वंचित रखने के लिए विवश हैं अन्यथा वह गंगा-पूजा कैसे करा सकेगा, अपार जनसंख्या के सम्मुख सरकार की धर्म पोषण नीति में विज्ञापन द्वारा यश की प्राप्ति कैसे करा सकेगा ?

समाज की बात क्या कहें, चौराहे पर डब्बे लेकर ही साल भर तक दशहरे के चन्दे ही नहीं लेना है, पहले रिक्शा एसोसिएशन के नाम पर निकट छापकर दिन भर टैक्स वसूल किया जाता रहा। कहीं कोई कानूनी बाधा पड़ी तो बन्द सा हुआ। तुरन्त रोशनी कमेटी की मुहर बन गई। मुसलमान, हिन्दू सब रिक्शा वालों को वह टैक्स देना है। न देने पर रिक्शा उलट दिया जायेगा। जनानी सवारी गिर जाय तो गिर जाय। कुल वसूली का आधा पैसा वेतन या पारिश्रमिक रूप में वसूल करने वाले को मिलेगा। पुलिस की नाक के सामने यह जबर्दस्ती टैक्स सालों से चला आ रहा है। सैकड़ों रिपोर्ट होती है, पुलिस अधिकारी भी उस समाज में ही रहता है जिसकी धर्मान्धता का नंगा चित्रण हमने ऊपर किया है। वह क्या करे। यदि कंट्रोल की दूकान खुली तो रामचंदी दे लो तो सामान मिलेगा, मजबूरी है, देना ही है। साल भर तक गरीब ये सब टैक्स, चन्दे दे देकर और भी भूखों मरे, परन्तु २५, ५० की जगह १०० चौकियाँ निकाल कर हम एक दिन का प्रदर्शन करके ही रहेंगे।

हमारा मूल आरोप यह है कि स्थान-स्थान, देश-देश और व्यक्ति-व्यक्ति की वैज्ञानिक वृत्ति पृथक रूपों की प्रदर्शित होने पर हम कौन-सा मार्ग ग्रहण करें ? हमारे बहुसंख्यक नागरिक तिथि त्यौहारों में विश्वास करते हैं। नक्षत्रों, राशियों आदि की गणना से शादी व्याह, यज्ञोपवीत, मुण्डन, कृषि कर्म, गृहनिर्माण आदि सब कार्यों के लिए मुहूर्त देखे जाते हैं। राज्य की सरकार द्वारा ऐसे मुहूर्तों को प्रदर्शित करने वाले पंचांग राज्य के व्यय से छापे जाते हैं। इन आस्थाओं के रखने वालों के लिए राज्य द्वारा ऐसे पंचांगों का छापना न तो अवैज्ञानिक है और न धर्म-निर्पेक्षता में ही बाधक है। परन्तु उसी राज्य को कर प्रदान करने वाले बुद्धिवादी व्यक्तियों या मुसलमान, ईसाई, बौद्ध पारसी आदि की दृष्टि से भी ऐसे साम्प्रदायिक पंचांगों का छापना क्या वैज्ञानिक वृत्ति ज्ञात हो सकता है ?

भारी कठिनाई तो यह है कि कुछ दल अपने को प्रगतिवादी या सुधारवादी समझता है किन्तु उसका सुधारवाद या प्रगतिवाद भी कुएँ के घने अन्धकार की बिल्कुल निचली सीढ़ियों में से ही है। यह कुछ नीचे या कुछ ऊपर की सीढ़ियों पर कुएँ के अन्दर ही बैठने के समान है।

इसलिए हम उच्च स्वर से पुकार कर, जोर से चिल्ला कर यहाँ पर कह देना चाहते हैं कि वैज्ञानिक वृत्ति की मीमांसा हम से न हो सकेगी। इतने बड़े झाड़ झंखाड़ों की जड़ में अपनी दुर्बल खुरपियों की चोट दे देकर कृषि का प्रशस्त मैदान तैयार करने में सफल न हो सकेंगे। चारों ओर फैले इतने गहरे अन्धेरे वातावरण में तूफानों और अँधड़ों के सम्मुख कोई चिराग टिमटिमा सकने का भी प्रयास न कर सकें। सभी तो अवैज्ञानिता में ग्रस्त हैं। जो वैज्ञानिक वृत्ति का भारी नारा लगाते हैं वे भी तो दयनीय ही हैं जो अपने नारे का अर्थ नहीं समझते, उसका स्वरूप नहीं समझते, उसके प्रचारित कर सकने की युक्ति नहीं जानते।

वैज्ञानिक वृत्ति की हम कहाँ खोज करें ? उसका प्रचार कैसे करें ? हमारी जितनी भी सामूहिक शक्तियाँ हैं, घोर अवैज्ञानिकता के पाश में आबद्ध हैं। पुरानी आस्थाओं, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों में हमारे समाज, हमारे शासन का प्रत्येक स्तंभ जकड़ा पड़ा है। प्रत्येक सदस्य, कार्यकर्ता विचारक, अधिकारी इन संक्रामक रोगों में फँसा पड़ा है। शक्तियाँ उनके हाथों में बंधी पड़ी हैं। हम कहाँ लिखें, क्या साधन है ? जो कुछ भी लिखें, उसके छपने का क्या

निश्चय है। पाठकों तक पहुँचने का क्या भरोसा है ? कोई पढ़ेगा ही, इसका क्या ठिकाना है ?

किन्तु दूसरा करें भी क्या ? जो भावना उठती है उसे कहीं पर अंकित करना ही है। मनुष्य को निर्माण में विश्वास करना चाहिए। आशा का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। अन्धकारों और निराशाओं के मध्य भी हमें एक विश्वास बल प्रदान करता है, वह यह है कि विचार संक्रामक होते हैं। पाठकगण, आपका बल हमारी निराशा की कल्पना को दबाने में विशेष सहायक हो सकता है। आप भी विचार करें। हमने वैज्ञानिक वृत्ति के प्रसङ्ग में जो कुछ भी लिखा है उसे तर्क या सत्य का अन्तिम रूप न समझें उसके पोषण में हमारे दिए तर्कों की ध्वनि, भाषा, प्रवाह को ही ग्रहण न करें। उनको आप छोड़ दें। इनकी चर्चा में आप पर ही जो प्रतिक्रिया हुई हो, आप ही वैज्ञानिकता के सम्बर्धन और पोषण की समस्या पर जिस संयत भाषा और प्रवाह में विचार व्यक्त करना चाह सकते हों, उन्हीं को लिखें। हम उनको ही ग्रहण करेंगे, हम उनको ही प्रचारित करेंगे। यदि हम लोगों के इस समस्यायें निराकरण के उद्योग में कुछ ठोसपन होगा, विचार प्रदर्शनों, विवेचनों, तर्क-पद्धतियों आदि में कुछ बल होगा, आकर्षण होगा तो अन्य बन्धु भी उनको लेकर उड़ पड़ेंगे। हम अन्य विचारशील लेखकों, समर्थ आलोचकों, विज्ञान प्रचारकों, बुद्धिवादियों आदि को वैज्ञानिक वृत्ति की चर्चा में उत्तेजित तथा लिप्त कर सकने में कुछ सफल हो सकेंगे तो यह शृङ्खला यूरेनियम के कणों के क्रमबद्ध विस्फोटन की तरह देश और समाज के कल्याण का मार्ग अग्रसर कर सकेगी। हमने इस प्रबल आशा से ही बहुत से तर्क कुतर्क आपके सामने रखकर आपकी विचारशीलता प्रगतिशीलता, एवं तार्किकता को उग्र रूप में उत्तेजित करने के लिए ऊपर की विचार-शृंखला आपके सम्मुख रक्खी है। आप इस विचारोत्तेजन के यज्ञ में आहुति देने के लिए अवश्य ही सचेष्ट होंगे, इसकी हमें पूर्ण आशा है।

[पैसे की प्रतिष्ठा—पृष्ठ ५६ का शेषांश]

३/४ आना है या ३ पाई। अब हम उपेक्षित पैसे को वही महत्व देने जा रहे हैं जिसका वह पात्र है। अब उसे हिसाब-किताब में हर जगह रुपये के साथ ही स्थान मिलेगा। आने पाइयों का तीन साल में लोप हो जायगा।

सरकार ने पुराने सिक्कों का नये सिक्कों में क्या मूल्य होगा इसकी जानकारी देने के लिए तालिकाएँ तैयार कराकर जनता में बाँटी हैं। लेकिन आप अगर इतना ही याद रखें कि वर्तमान चार आने २५ नये पैसों के बराबर होते हैं तो आप कभी धोखा नहीं खायेंगे। एक और गुर आप याद रखिये कि पुराने दो पैसे तीन नये पैसों के बराबर हैं।

गरीबों को लाभ

आमतौर से यह ख्याल किया जाता है कि नये पैसे के चलन से गरीबों को नुकसान होगा। लेकिन बात ऐसी नहीं है। उल्टे, इससे छोटी मोटी खरीदारी में लाभ ही होगा। आज कल क्योंकि पाई तो चलती नहीं, इसलिए १ या २ पाई के बदले पूरा पैसा ही देना पड़ता है। नये पैसों के चलने से आम लोगों को यह नुकसान नहीं उठाना पड़ेगा! कीमतें भी अब पहले से अधिक ठीक लगायी जा सकेंगी। हो सकता है किसी को इससे कम लाभ हो और किसी को अधिक लेकिन इसमें संदेह नहीं कि लाभ सब को होगा।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—श्रीरामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ।=)

२—चुम्बक—प्रो० सालिगराम भार्गव ।।।=)

३—मनोरञ्जन रसायन—प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव २)

४—सूर्य सिद्धान्त—श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव छः भाग मूल्य ८) । इस पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।

५—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी १)

६—समीकरण मीमांसा—पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—निर्णायक डिटर्मिनैंटस—प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री ।।।)

८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस सी०, १।)

९—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली; ।=)

१०—व्यङ्ग-चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; २)

११—मिट्टी के बरतन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; (अप्राप्य)

१२—वायुमंडल डाक्टर के० बी० माथुर, २)

१३—लकड़ी पर पालिश डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २) (अप्राप्य)

१४—कलम पेवंद ले० श्री शंकरराव जोशी; २)

१५—जिल्दसाजी—श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० २)

१६—तैरना—डा० गोरखप्रसाद १)

१७—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—(अप्राप्य)

-वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—डा० सन्तप्रसाद .डन, डी० फिल० ।।)

मूल्य

-खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकारनाथ परती; मूल्य ।।।)

२०—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन) ४),

२१—फल संरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह २।।)

२२—शिशु पालन—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । मूल्य ४)

२३—मधु मक्खी पालन—दयाराम जुगड़ान: ३)

२४—घरेलू डाक्टर—डाक्टर जी० घोष डा० उमाशङ्कर प्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, ४)

२५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, ३।।)

२६—फसल के शत्रु—श्री शङ्कर राव जोशी ३।।)

२७—साँपों की दुनिया—श्री रमेश वेदी ४)

२८—पोर्सलीन उद्योग—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस ।।।)

२९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ—२)

३०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—प्रो० नरेन्द्र २।।)

अन्य पुस्तकें

१—विज्ञान जगत की झाँकी (डा० परिहार) २)

२—खोज के पथ पर (शुकदेव दुबे) ।।)

३—विज्ञान के महारथी (जगपति चतुर्वेदी) २)

४—पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ (,,) १।।)

५—हमारे गाय बैल (,,) ।।)

६—मवेशियों के छूत के रोग (,,) ।।)

७—मवेशियों के साधारण रोग (,,) ।।)

८—मवेशियों के कृमि-रोग (,,) ।।)

९—फसल-रक्षा की दवाएँ (,,) ।।)

१०—देशी खाद (,,) ।।)

११—वैज्ञानिक खाद (,,) ।।)

१२—मवेशियों के विविध रोग (,,) ।।)

पता—विज्ञान परिषद् (म्योर कालेज कंपाउंड) प्रयाग

Reg. No. A 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० देवेन्द्र शर्मा
सहायक संपादक— जगपति चतुर्वेदी

मुद्रक—श्री सरयू प्रसाद पांडेय, नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग तथा प्रकाशक—डा० डी० एन० वर्मा प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद।

भाग ८५

संख्या ३

जून १९५७, मिथुन २०१४ वि० (ज्येष्ठ १८७९ श०)

प्रति अङ्क छः आने

वार्षिक मूल्य चार रुपये

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१—विज्ञान परिषद् के सभापति का भाषण	.....	६५
२—भास्कराचार्य द्वितीय-एक प्राचीन गणितज्ञ	श्री दयाल सिंह कोठारी, बी० एस-सी०, बी० एड, उदयपुर	६७
३—साँपों का श्रेणी विभाजन	जगपति चतुर्वेदी	७२
४—श्रव्य-दृश्यदर्शन साधन-क्या, क्यों और कैसे	डा० जगदीश चन्द्र श्रीवास्तव, विकास अन्वेषणालय उ० प्र० लखनऊ	७८
५—कृत्रिम चाँद द्वारा पृथ्वी की परिक्रमा	.....	८३
६—सृष्टि कितनी बड़ी है ?	.....	८५
७—विज्ञान परिषद्, प्रयाग का ४३वां वार्षिक अधिवेशन	.....	८८
८—नये सभापति का अभिनन्दन	श्री हीरालाल खन्ना, सभापति, विज्ञान परिषद	८६
६—विज्ञान परिषद् के ४३वें वर्ष का कार्य विवरण	डा० रामदास तिवारी, प्रधान मन्त्री विज्ञान परिषद्	६१

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानं जानेतानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तति । तै०उ० ।३।५।

भाग ८५	मिथुन २०१४; (ज्येष्ठ १८७६ शाकाब्द;) विक्रमी जून १९५७ ईस्वी	संख्या ३

सभापति का भाषण

विज्ञान परिपद् प्रयाग के ४३ में वार्षिक अधिवेशन में परिषद् के नए सभापति माननीय श्री केशवदेव मालवीय, इस्पात, खदान तथा ईंधन मन्त्री ने निम्न भाषण दिया :—

विज्ञान परिषद् के नये सभापति, माननीय श्री केशव-देव मालवीय, मंत्री, इस्पात, खदान और ईंधन, केन्द्रीय सरकार

हमारे लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी में विज्ञान के अध्ययन का प्रचार किया जाय और देश की प्रगति के लिए महत्वपूर्ण विभिन्न संस्थाओं को वैज्ञानिक ढंग से हल करने का प्रयत्न किया जाय। हम इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि विज्ञान का अध्ययन अंग्रेजी के बजाय राष्ट्रभाषा के माध्यम से हो। इस से एक शून्यता की स्थिति पैदा हो गई है जिस का शीघ्र निराकरण परमावश्यक है यद्यपि ऐसा करने में कई वर्षों का समय लगेगा। इस संघर्ष में जल्दबाजी करने से कार्यकुशलता का ह्रास हो गया। परिषद् से सम्बद्ध वैज्ञानिकों से प्रार्थना है कि वे विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों का हिन्दीकरण करने का प्रयास करें जिससे वैज्ञानिक संसार में उन्हें अधिक से अधिक समझा जा सके।

परिषद् को अपना कार्य करते समय अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों और विज्ञान की प्रगति को ध्यान में रखना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि पश्चिम के वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रगतिशील देशों से निरंतर घनिष्ट संपर्क रखा जाय। हिन्दी में वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली तैयार करते समय इस बात को मद्दे नजर रखना चाहिए कि वह विज्ञान के कोष में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अभिवृद्धि में बाधक सिद्ध न हों। जो पारिभाषिक शब्द हिन्दी में बनाये जायें वे

अत्यधिक उत्साह के कारण अनिवार्यतः मौलिक न हों जिस से आधुनिक वैज्ञानिकों को समझने में बहुत कठिनाई हो। इस सम्बन्ध में रूसी भाषा का उदाहरण सामने रक्खा जा सकता है। क्योंकि इस भाषा के वैज्ञानिक शब्द अन्य भाषाओं, अंग्रेजी, जर्मनी और फ्रेंच से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। गत वर्ष रूस-यात्रा के समय पहले मुझे एक दुभाषिया दिया गया था जो विज्ञान का आदमी नहीं था। इस कारण वह मेरे विचारों को रूसी भाषा में व्यक्त न कर सकता था किन्तु बाद में जब विज्ञान जानने वाला दुभाषिया दिया गया तो उसके बताए अनेक पारिभाषिक शब्द रूसी में भी अंग्रेजी की तरह ही मिलते थे, जिससे आभास मिलने लगा कि वह मेरे विचारों को ठीक व्यक्त कर रहा है। मैंने रूस में अनेक स्थानों में वैज्ञानिक विचार-विनिमय के समय अनुभव किया कि बहुत से पारिभाषिक शब्द रूसी में भी जर्मन, फ्रेंच तथा अंग्रेजी समान ही हैं।

भारत की अन्य भागों की वैज्ञानिक संस्थाओं से भी परिषद् का सहयोग बना रहना आवश्यक है जिस से परिषद् को अन्य संस्थाओं में हुई प्रगति का लाभ हो सके। दक्षिणी भाषाओं द्वारा पारिभाषिक वैज्ञानिक शब्दों की दिशा में की गई प्रगति प्रशंसनीय है। देश के दक्षिणी भाग के लोग अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में विज्ञान का अध्ययन करने को अत्यंत उत्सुक हैं। विभिन्न राज्य एक दूसरे से सहयोग करके लाभ उठा सकते हैं। हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन करना आवश्यक है क्योंकि राष्ट्र भाषा में अपने विचारों को व्यक्त करना सरल है।

देश इस समय संक्रांति काल से गुजर रहा है अन्य समुन्नत देशों से होड़ करने के लिए यह आवश्यक है कि आर्थिक विकास के अलावा वैज्ञानिक प्रगति की गति भी बढ़ायी जाय।

हमें जीवन के आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। आज वैज्ञानिक प्रशिक्षण और वैज्ञानिक अध्ययन में पिछड़े होने के कारण भारत पश्चिमी देशों से कंधे से कंधा नहीं मिला पा रहा है।

भारत सरकार प्रारम्भिक विज्ञान आदि की शिक्षा के बारे में एक योजना तैयार करने वाली है जिससे गावों में भी नवयुग लाया जा सके।

परिषद् के कार्यों तथा प्रकाशन से मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि विज्ञान परिषद् प्रयाग नगर में स्थित है जहां प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ताओं तथा साहित्यिकों का निवास है और परिषद् को प्रमुख विद्वानों का सहयोग प्राप्त है। विज्ञान परिषद् ने राष्ट्र-भाषा हिन्दी के माध्यम से विज्ञान के प्रचार का कार्य अग्रसर किया है। परिषद् की तात्कालिक आवश्यकता व्याख्यानशाला (हाल) का निर्माण और एक-एक अद्यतम वैज्ञानिक पुस्तकालय है अन्यथा उस का कार्य अवरुद्ध होगा।

भास्कराचार्य द्वितीय-एक प्राचीन गणितज्ञ

[*श्री दयालसिंह कोठारी*, B. Sc. B. Ed. *उदयपूर*]

पुनरुत्थान युग [४०० ई० पू० से ४०० ई०] के अवसान पर देश में आर्यभट्ट प्रथम [४६६ ई० से गणितज्ञों की जो शृंखला सी प्रारम्भ हुई भास्कर द्वितीय [११४ ई०] उस शृंखला की अन्तिम कड़ी थे जिन्होंने सिद्धान्त शिरोमणि, लीलावती और बीज गणित की रचना से ज्योतिष व गणित के सञ्चित कोष को अत्यधिक उन्नत बनाया। आर्यभट्ट से पूर्व गणित पर अलग अध्याय या ग्रन्थ लिखने की परम्परा नहीं थी परन्तु आर्यभट्ट ने अपनी आर्यभट्टीयका में गणिताध्याय लिखकर और ब्रह्म गुप्त [६२६ ई०] ने ब्रह्म स्फुट सिद्धान्त में गणिताध्याय और बीज गणित लिखकर अंक गणित, बीज गणित और ज्योतिष के अलग-अलग अध्याय या ग्रन्थ लिखने की परम्परा को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप हम देखते हैं कि भास्कर ने अंकगणित और रेखागणित पर लीलावती, बीजगणित पर बीजगणित और ज्योतिष पर सिद्धान्त शिरोमणी की पृथक-पृथक रचनाएँ की।

लीलावती भास्कर का गणित काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें पूर्व प्रचलित तथ्यों के संकलन के अतिरिक्त भास्कर के अपने मौलिक प्रश्नों का समावेश है। ग्रन्थ के नाम के विषय में प्रचलित विभिन्न मतों में से एक मतानुसार लीलावती भास्कर की पत्नी का नाम था व दूसरे मतानुसार ग्रन्थ की अत्यधिक सुन्दरता के कारण उसका नाम लीलावती रखा गया परन्तु इन मतों में कोई सार नहीं है क्योंकि ग्रन्थकार ने स्थान-स्थान पर प्रश्नों में लीलावती को सम्बोधित किया गया है और वह भी कई स्थानों पर 'बाले' शब्द से जैसे 'बाले बाल कुरङ्ग लोल नयने लीलावती' "अये बाले लीलावति मतिमति ब्रूहि' आदि, जिनसे प्रमाणित होता है कि लीलावती भास्कर की पत्नी का नाम नहीं है। कहा जाता है कि ज्योतिष के आधार पर भास्कर ने यह जानलिया कि पुत्री लीलावती का विवाह पिता के लिए घातक है अतः उसने जन्म भर अपनी पुत्री को अविवाहित रखा और उसी के नाम से ग्रन्थ का नाम लीलावती रखा।

लीलावती में संख्याएँ, शब्द व अंक पद्धति अथवा दोनों के मिश्रण से अभिव्यक्त की गई हैं जो देश में एक सहस्र वर्षों के पूर्व से प्रचलित थी। भास्कर ने पृथ्वी, नयन, राम, देह, बाण, रस, अश्व, वसु, अंक, अंगुली, अक्षोहिणी, दिवाकर, इन्द्र, नृप, आदि शब्द क्रमशः १ से १२ और १४ व १६ को व एक, द्वि, त्रि, चतुर्थ, पञ्च, षट, सप्त, अष्ट, नव, दस, विंश, त्रिंश आदि अंक पर्यायवाची शब्द १ से १० तक और ख, अभ्र आदि शब्द शून्य को प्रकट करने के लिये प्रयुक्त किए हैं। उदाहरणार्थ दश हजार अर्थात् अयुत से दो पाँच, बत्तीस, एक सौ तिरानबे, अट्ठारह, दश, और सौ के घटाने के प्रयोजन को इस प्रकार प्रकट किया गया हैः—

> अये बाले लीलावति मति-मति ब्रूहि सहितान्
> द्विपञ्च द्वात्रिंशत्त्रिनवतिशताऽष्टादश दश।
> शतो पेता नेतानयुत वियुतांश्चापि वद में,
> यदि व्यक्ते युक्ति व्यवकलन मार्गेऽसि कुशला॥

इसी प्रकार निम्नलिखित संख्याओं की अभिव्यक्ति भी उल्लेखनीय हैः—

खयुगै = ४० [क्योंकि इकाई पर स्थित ख शून्य को और दहाई पर स्थित शब्द युग चार को

प्रकट करते हैं, इसलिये स्थानीय भाग क
क्रम से रखने पर संख्या = ४०]

द्विसत = ७२ ; द्वयङ्केन्दु = [द्वि + अङ्क + इन्दु] = १६२
पंचत्रेयेक = १३५ ; त्रिहीनस्य शतत्रयस्य = ३००—३ = २६७

पंचोत्तरस्याप्ययुतस्य = [पंच + अयुत] = १०,००५,
ख खाभ्राभ्ररसै = ६००००
कुराम दशवेदैश्च = ४१०३१ ; वैदाग्निकरण खा श्वै = ७०, ५३४

सख्याओं की इस प्रकार शब्द पद्धति के द्वारा प्रकट करने का कारण छन्द निर्माण, संक्षेप्य और सहज स्मरणीयता है। भास्कर ने वर्ण या अक्षर पद्धति का कहीं प्रयोग नहीं किया है जो पाणिनी, आर्यभट्ट प्रथम, भास्कर प्रथम और आर्यभट्ट द्वितीय द्वारा प्रयुक्त हुई थी।

भास्कर के समय में प्रचलित लम्बाई की इकाइयाँ आज के युग की तरह वैज्ञानिक नहीं थीं जैसा कि उसके द्वारा प्रयुक्त लम्बाई की निम्नलिखित सारिणी से स्पष्ट होगाः—

८ यव = १ अंगुल (चौड़ाई में)
१२ अंगुल = १ बलिश्त
२ बलिश्त अथवा २४ अंगुल = १ हाथ
४ हाथ = १ दंड
२००० दंड = १ क्रोश
४ क्रोश = १ योजन

भास्कर द्वारा प्रयुक्त नाम प्रणाली वही है जो ललित विस्तार [१०० ई० पू०] के लेखन काल में प्रचलित थी और जिसका विवरण मैत्रेय मुनि ने भी दिया है। इतने समय तक नाप प्रणाली में कोई वैज्ञानिकता नहीं आ सकी, यह विचारणीय है। संख्याओं के स्थान के लिए भास्कर ने पूर्व प्रचलित निम्नलिखित ही नाम लिए हैं:—

एक दशशत सहस्रायुत लक्षप्रयुत कोटयः क्रमशः ।
अर्बुदमब्ज खर्व्व निखर्व्व महापद्मशङ्कश्रवस्तस्मात् ॥
जलधिश्चान्त्यं मध्यं परार्द्धमिति दशगुणोत्तराः संज्ञाः ।
संख्यायाः स्थानानं व्यवहारार्थं कृताः पूर्वैः ।

अर्थात् एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, लक्ष, प्रयुत, कोटि, अर्बुद, अब्ज, खर्व्व, निखर्व्व, महापद्म, शङ्क, जलधि, अन्त्य, मध्य और परार्द्ध क्रमशः १ से लेकर $१०^{१७}$ को प्रकट करते हैं जो वस्तुतः महापद्म और जलधि को छोड़ कर वही हैं जो श्रीधराचार्य [७५० ई०] ने प्रयुक्त किये है।

भास्कर ने १३५ और १२ के उदाहरण द्वारा गुणनफल ज्ञात करने की ६ विधियों का उल्लेख किया है। उनमें हनन विधि और कपाट संधी (जिसका उल्लेख महावीर ने ६५० ई० में गणितसार संग्रह में किया है) उल्लेखनीय है। लीलावती के टीकाकार गणेश [१५४५] ने 'बुद्धि विलासिनी' में उक्त कपाट संधी को इस प्रकार स्पष्ट किया है :—
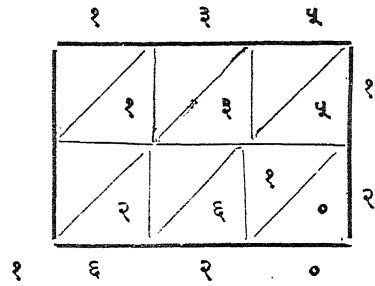
त्रैराशिक नियम के महत्व को समझाते हुए भास्कर ने अपनी लीलावती में लिखा है :—

'यथा भगवता श्रीनारायणेन जन्म मरण क्लेशपाप हारिणा निखिल जगज्जनैक पूज्येन सकल भुवन भावन गिरि सरित्सुर नर सासुरादिभिः स्वभेदैरिदं जगद्व्याप्तं तथेदमखिलं गणितजातं त्रैराशिकेन व्याप्तम् ।

अर्थात् जिस प्रकार भगवान नारायण जो जन्म मरण के क्लेश से मुक्ति देने वाला है, सारे संसार में स्वर्ग, गिरि, सरिता, नर, सुर, असुर आदि में व्याप्त है उसी प्रकार त्रैराषिक नियम सम्पूर्ण गणित में व्याप्त है। इस प्रकार

त्रैराशिक नियम को गणित में सर्वेसर्वा बतलाते हुए भास्कर ने दश राशि तक के प्रश्न दिए हैं जिनमें से कुछ अनाज के ढेरों के लिए वाञ्छित स्थान से सम्बन्धित हैं (अर्थात अमुक परिमाण के अनाज के ढेर के लिए यदि इतना स्थान चाहिए तो अभीष्ट ढेर के लिए कितना स्थान चाहिए) जो भास्कर के गणित को जीवनोपयोगी बनाने के प्रयास की ओर संकेत करता है।

शून्य भारत की महान देन है जिससे सांख्यिक भाषा पूर्णता प्राप्त कर पल्लवित हो सकी। भगवान महावीर द्वारा आविष्कृत सूत्र, जिसमें वृत्त की परिधि को व्यास और दश के वर्गमूल के गुणनफल से तैयार किया गया है, शून्य की परिगणनीयता की ऐतिहासिकता को आज से लगभग ढाई हजार पूर्व वर्ष ले जाता है। हाल ही में देहली में हुई जैन प्रदर्शनी में भगवान महावीर की बिजनौर जिले के पारसनाथ किले से प्राप्त मूर्ति पर उत्कीर्ण संवत १०६ में शून्य का प्रयोग भी उसकी प्राचीनता की ओर संकेत करता है। भास्कर शून्य से परिगणन करते कहते हुए हैं कि किसी संख्या में शून्य जोड़ने या हीन करने से संख्या अपरिवर्तनशील रहती है। शून्य का वर्ग या घन अथवा मूल भी शून्य होता है। शून्य से किसी को गुणा करने से भी फल शून्य ही होता है परन्तु शून्य से विभाजित करने पर परिणाम शून्य नहीं वरन् ख हर (अर्थात वह भिन्न जिसका हर शून्य हो) होता है 'ख भाजितो राशिः खहरः'। इसी प्रकार खहर, जो आजकल Infinity या अनन्त कहा जाता है, के विषय में अन्यत्र लिखते हैं, खहर में कुछ जोड़ने या घटाने से परिणाम उसी प्रकार अपरिवर्तनशील रहता है जिस प्रकार जीवोंकी उत्पति या मरण पर अनन्त और अपरिवर्तनशील ईश्वर में कोई परिवर्तन नहीं होता। भास्कर ने ब्रह्मगुप्त के इस कथन का कि $\frac{०}{०} = ०$ का खण्डन करते हुए उसे अनिर्णीत बताया और कहा कि $अ \times \frac{०}{०} = अ$ जो आधुनिक $Lt_{\theta \to 0}\ \alpha \times \frac{\theta}{\theta} = \alpha$ के अनुरूप है। भास्कर का शून्य से अभिप्राय गौण रूप से अत्यन्त सूक्ष्म परिमाण से था क्योंकि ऐसा माने बिना उनके अपने बीजगणित में दिए हुए प्रश्नों के उत्तर, जो इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं प्राप्त नहीं किए जा सकते। इस प्रकार वस्तुतः भास्कर ही लाइबनिज [१६६३ ई०] से ५५० वर्ष पूर्व चलन-कलन के सिद्धान्त के जन्मदाता थे।

लीलावती में भास्कर ने रेखागणित पर जो प्रश्न व गुर दिए हैं वे पाइथेगोरस साध्य अवधा, चतुर्भुज, आयत, समलम्ब चतुर्भुज, चक्रीय चतुर्भुज, वृत्त और उनमें स्थित बहुभुज क्षेत्रों व त्रिकोणमिति से सम्बधित है। पाइथेगोरस साध्य की, जिसकी लगभग सौ उपपत्तियाँ, रचनाएँ आदि संकलित की गई हैं, भास्कर ने एक रचनात्मक उपपत्ति भी दी है। समकोण त्रिभुज का, जिसके भुज और कोटि ज्ञात हों, कर्ण ज्ञात करने के लिए भुज और कोटि के गुणनफल का दुगुणा भुज और कोटि के अन्तर को वर्ग में मिलाकर वर्गमूल ज्ञात करने से वह प्राप्त हो जाता है जैसे $कर्ण = \sqrt{२ \times भुज \times कोटि + (भुज २ कोट)^{२}}$ जो वस्तुतः $c = \sqrt{2ab + (a-b)^2}$ के अनुरूप है। ऐसे गुर, कागज और कलम के अभाव के उस युग में, संक्षेप्य, शीघ्र परिगणन और चमत्कार की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण मानकर दिए गए हैं। पाइथेगोरस साध्य पर कई प्रकार के प्रश्न दिए गए हैं जिनमें से निम्नलिखित मनोरञ्जक प्रश्न उद्धृत किए जाते हैं :—

(१) यदि समभुविवेणुर्द्वित्रिपाणि प्रमाणो
गणक पवन वेगादेक देशे सभग्नः।
भुवि नृपमित हस्तेष्वङ्ग लग्नं तदग्रं
कथय कतिषु मूलादेष भग्नः करेषु ॥

[एक बांस का वृक्ष, जो ३२ हाथ ऊँचा था, वायु वेग से टूट गया। यदि उसके अग्र भाग अर्थात सिरे ने वृक्ष के तले से १६ हाथ दूर पृथ्वी को छुआ तो बतलाओ वृक्ष अपने तल से कितनी ऊँचाई पर से टूटा।]

(२) अस्ति स्तम्भ तले विलं तदुपरि क्रीड़ा शिखण्डो-स्थितः। स्तम्भेहस्त नवोच्छ्रिते त्रिगुणिते स्तम्भ प्रमाणान्तरे। दृष्टाहि विलमात्रजन्तमपततत्तिर्य्यक् सतस्योपरि क्षिप्रं ब्र हि तयोर्विलात्कतिमितैः साम्येन गत्योर्युतिः ॥

एक मोर, जो ६ हाथ ऊँचे वृक्ष की चोटी पर क्रीड़ा कर रहा था वृक्ष के पेंदे में स्थित बिल से २७ हाथ दूर सर्प को बिल की ओर बढ़ते देख सांप की गति से उस पर झपटा और उसे पकड़ लिया। शीघ्र बतलाओ सांप बिल से कितनी दूर पकड़ा गया।

[३] ताल में स्थित एक कमल की कलि, जिसका सिरा पानी के धरातल से एक बलिश्त ऊपर था, वायु के वेग से धीरे-धीरे अपने स्थान से हट कर चार बालिश्त दूर पानी के धरातल को छूती है बताओ तलैया कितनी गहरी थी।

[४] दो बन्दर एक १०० हाथ ऊँचे वृक्ष की चोटी पर, जो एक निकटवर्ती कुएँ से २०० हाथ दूर स्थित था, रहा करते थे। पानी पीने के लिए एक बन्दर वृक्ष से उतर कर कुएँ पर पहुँचता है। व दूसरा वृक्ष से कुछ ऊँचा उछलकर एक सीध में कुएँ पर पहुँचता है। यदि दोनों ने कुएँ पर पहुँचने में समान दूरी तय की तो बतलाओ बन्दर कितना ऊँचा उछला।

बीज गणित के ज्ञान में भी हमारा देश अन्य देशों से काफी आगे था। पाश्चात्य विद्वान डायोफेन्टस को, जो ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ था, बीजगणित को सांकेतिक रूप प्रदान करने के कारण उसके आविष्कारक के रूप में सम्मानित करते हैं परन्तु सूर्य सिद्धान्त में कोणशङ्कु से आनयन के लिए गुर पं० सुधाकर द्विवेदी के मतानुसार बिना बीजगणित के कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। आर्यभट्ट ने एक घातीय अनिर्णित समीकरणों को व ब्रह्मगुप्त ने वर्ग समीकरणों को यूनानियों से आगे बढ़कर एक सामान्य रूप क य^२ + ख य + स = ० में लाकर हल किए। महावीराचार्य्य और श्रीधर की तरह भास्कर ने भी कई वर्ग समीकरणों की वही विधि अपनायी जो आज कल सामान्यतया प्रचलित है। उन्होंने वर्ग समीकरणों पर अनेक प्रश्न दिए जिसमें कर्णार्जुन युद्ध का निम्नलिखित प्रश्न उल्लेखनीय हैं :—

पार्थः कर्णवधाय मार्गणगणं क्रुद्धो रणे सन्दधे तस्यार्द्धेन निवार्य्य तच्छरगणं मूलैश्चतुर्भिर्हयान। शल्यं षड्भिरथेषुभिस्त्रिभिरपिच्छत्रं कार्मुकं चिच्छेदास्य शिरः शरेण कतिते यानर्जुनः सन्दधे ॥

अर्थात अर्जुन ने क्रुद्ध होकर कर्ण का वध करने के लिए जितने बाणों का प्रयोग किया उनमें से आधे बाण कर्ण के रथ के घोड़ों का वद्ध करने में, तीन बाण छत्र आदि गिराने में और एक बाण कर्ण का शिरोच्छेद करने में काम आया। बताओ अर्जुन ने कुल कितने बाणों का प्रयोग किया।

वर्ग समीकरणों के ऋणात्मक मूलों को पहचानते हुए भास्कर ने लिखा है, "चूँकि धनात्मक संख्याओं का ही वर्ग धनात्मक नहीं होगा वरन् ऋणात्मक संख्याओं का वर्ग भी धनात्मक होता है इसलिए धनात्मक संख्याओं के दो वर्गमूल होते हैं एक धनात्मक और दूसरा ऋणात्मक। ऋणात्मक संख्याओं का मूल नहीं होता क्योंकि वे वर्ग नहीं होते।" भास्कर के पश्चात के गणितज्ञ उक्त कथन में जिसमें कहा गया है कि ऋणात्मक संख्याओं का मूल नहीं होता कोई परिवर्तन या सुधार न कर सके और त्रिकोणमिति आदि में अधिक गति न कर सके। इस प्रकार ऋण संख्याओं पर ध्यान न देने से भारतीय गणित के आचार्य वर्ग समीकरण तक ही सीमित रहे। केवल भास्कर ने घन समीकरण का एक उदाहरण य^3 + १२ य = ६ य^२ + ३५ प्रस्तुत किया और यह कहते हुए, 'न निर्वहश्वेद घन वर्ग वर्गेष्वेवं तदा ज्ञेयमिदं स्वबुद्ध्या" अर्थात् घन और चतुर्घात समीकरणों में अपनी बुद्धि से विचारों कि किससे गुणें, क्या जोड़ें जिससे मूल मिले अथवा अपनी बुद्धि से ही अटकल करो कि समीकरण में अव्यक्त का मान क्या है। निम्नलिखित विधि से उस समीकरण का आनयन ज्ञात किया :—

य^3 + १२ य = ६ य^२ + ३५

दोनों पक्षों में ६ य^२ + र घटाने से

य^3 — ६ य^२ + १२ य – र = २७

या (य – २) ^{3} = ३^3

घनमूल लेने से

य − २ = ३

∴ य = ५

ऋणात्मक संख्याओं का मूल ज्ञात न होने से भास्कर ने उक्त समीकरण के तीन मूल में से केवल एक ही मूल दिया फिर भी १०० वर्ष भास्कर का घन समीकरण पर यह कार्य अत्यन्त सराहनीय है।

सिद्धान्त शिरोमणि भास्कर का ज्योतिष ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के द्वारा हमें ज्ञात होता है कि न्यूटन को अपनी वाटिका में इस प्रश्न का उत्तर, कि सेब वृक्ष से नीचे क्यों गिरता है, यह प्राप्त होने पर कि पृथ्वी सेब को अपनी ओर आकर्षित करती है भास्कर ने न्यूटन से ५५० वर्ष पूर्व कहा था :—

आकृष्टि शक्तिश्च मही यथा यत्।
स्वस्थं गुरू स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीव भाति।
समे समन्तात् क्व पतत्वियं स्वे॥

अर्थात् जब कभी कोई वस्तु पृथ्वी पर गिरती है तो ऐसा इसलिए होता है कि पृथ्वी अपनी ओर खींचती है। नभ पिण्डों के बीच इस परस्पर आकर्षण के कारण ही ये अपना स्थान अथवा कक्ष नहीं छोड़ते।

भास्कर की रचनाओं से ज्ञात होता है कि १२ वीं शताब्दी तक के भारतीय गणितज्ञों का स्थान अपने समकालीन विदेशी गणितज्ञों से काफी ऊँचा था। काल के कराल गाल में पद्मनाभ, श्रीधर आदि गणितज्ञों के बीजगणित जिनका भास्कर ने अपने बीजगणित में उल्लेख किया है, विलीन हो गए, अन्यथा बीजगणित का इतिहास ही और होता। भास्कर के प्रश्न कहीं-कहीं पर तो बड़े जटिल हैं जो भास्कर की प्रखर बुद्धि की ओर संकेत करते हैं। निश्चय ही भास्कर भारत के महान गणितज्ञ थे जिनके अवसान के साथ ही भारतीय गणित १०० वर्षों तक निद्रा मग्न रहा जो अब पुनः बीसवीं सदी में स्वर्गीय रामानुजम और गणेशप्रसाद के सिंहनाद को सुनकर एक बार फिर अंगड़ाई लेकर जाग उठा है। आशा है स्वाधीनता के सूर्योदय के साथ साथ गणित का सूर्य भी भारत में अपनी प्रखर रश्मियों से चमकेगा।

साँपों का श्रेणी-विभाजन

यदि साँपों की थोड़ी ही जातियाँ होतीं तो हम वैज्ञानिकों को अवश्य ही कुछ थोड़े वंशों में ही उनका श्रेणी-विभाजन करते पाते। ऐसे सरल विभाजनों में हम दाँतों की दृष्टि से माने जा सकने वाले विभाग या वंशों का नाम सुनते। जो साँप विषदन्ती नहीं हैं, उनके दाँतों को अन्य जंतुओं की भाँति ठोस (असुषिर) पाया जाता है अतएव उन्हें विषदन्तियों से पृथक समझने के लिए निर्विषदन्ती कह सकते। विषदंतियों के दाँत खोखले (सुषिर) हो सकते हैं या भीतरी भाग तो ठोस होता है और थैले से नीचे विष के बह आने के लिए खुले गड्ढे लम्बाई में इस प्रकार ही होते हैं जैसे खेत जोतने पर हल चलाने से भूमि पर हराई या नाली (सीता) सी बन जाती है। अतएव हल की जुताई द्वारा खुली नाली (सीता) समान लम्बाई में ऊपर तल पर गड्ढा रखने वाले विषदंत को प्रसीती (ग्रूव्ड) दन्त कह सकते हैं। खोखले विषदन्त को सुषिर विषदन्त कहना ठीक अर्थ का द्योतक हो सकता है। इनके विपक्ष ठोस (असुषिर) दाँतों को असुषिरदंत कह सकते हैं। इन दृष्टियों से बड़ी ही सुविधापूर्वक तीन विभाग बनते हैं। पहला ठोस या असुषिरदन्ती; दूसरा प्रसीतीदन्ती और तीसरा सुषिरदन्ती। इससे भी आगे बढ़ने पर विषदन्तों को किसी में आगे के भाग में जबड़े में स्थित देखकर अग्र विषदन्ती विभाग माना जा सकता है। वे ही विषदन्त जबड़े के पिछले भाग में हों तो पश्च विषदन्ती कहा जा सकता है। छोटे या साधारण ही विषदन्त हों तो साधारण विषदन्ती और बड़े आकार के हों तो दीर्घ विषदन्ती विभाग भी बन सकते हैं। यह सब विभाग तो हमारे समझने के लिए सुगम अवश्य प्रतीत होते हैं परन्तु साँपो की सैकड़ों विभिन्न रूपों की जातियाँ इतने सरल आधारों पर विभाजित कर काम नहीं चल सकता।

साँपों के श्रेणी-विभाजन का एक और प्रमुख आधार होता है। हम जानते हैं कि सर्प तथा सरट (गोह, गिरगिट, बिसतोइया आदि) को एक गण या विभाग का माना गया है। ये दोनों पृथक-पृथक उपगण या उपविभाग बनाते हैं। इसलिए इनमें बहुत कुछ साम्य भी पाया जा सकता है। इन दोनों ही उपगणों को शरीर के ऊपर छिछड़े या शल्क की व्यवस्था रक्खे पाया जाता है। यों तो मछलियों के शरीर पर भी छिछड़े ही होते हैं, परन्तु वह गलफड़ों से श्वास लेने वाला जलजीवी वर्ग ही होता है। शल्कधारी सरीसृपों के सर्प और सरट नाम के दोनों उपविभागों में कुछ जातियाँ एक दूसरे के बहुत अनुरूप जान पड़ सकती हैं। सर्प में जबड़े के अस्थिखंड पृथक-पृथक स्वतंत्र रूप से गति कर सकते हैं. अतएव उनका यह अनिवार्य लक्षण कहा जाता है अन्यथा हमें सरटों में भी बिल्कुल लम्बोतरे आकार के जन्तु मिलते हैं। सर्प का प्रमुख लक्षण रखने वाले बहुत-से जंतु केचुआ (गंडूपद) समान कहीं भूमि के अन्दर बिलों में दुबके रहने वाले ही होते हैं। इनके शरीर में पिछले पैरों की स्थिति के चिन्ह स्वरूप कटिप्रदेशीय अस्थिसमूह (श्रोणिचक्र) तथा पिछले पैरों के भीतरी भाग का कुछ नाम मात्र का रूप मिलता है। पूर्वी तथा पश्चिमी अजगरों (बोआ) में भी पिछले पैरों का भीतरी भाग शरीर में बना पाया जाता है। सरटों के अन्दर हमें कुछ जातियाँ ऐसी मिलती हैं जो पैरों का लोप-सा कर सर्पाकार शरीर बनाये मिलती हैं तो उनकी आँखों पर गतिशील पलकों को देखकर हम तुरन्त उन्हें सरट उपवर्ग का कह उठते हैं। सर्प तो किसी भी वंश या जाति के हों उनकी आँखें सदा खुली, पलकहीन ही पाई जा सकती हैं। इस तरह अनेक विचारों से साँपों का वंश विभाजन करने का उद्योग किया गया है।

ऊर्ध्वदंती अंधसर्प (टाइफलोपाइडी)—इस वंश के सभी साँपों का केचुए (गंडुपद) की तरह आकार भी छोटा है और भूमि के अंदर बिल में रहने की वृत्ति भी होती है। इस कारण इनको गंडूपदी सर्पवंश कहें तो ठीक है। कहीं भूमि के अन्दर से इन्हें बाहर लाकर छोड़ा जाय तो तुरन्त ही मिट्टी खोदकर भीतर घुस जाने की वृत्ति इनमें पाई जाती है। इनमें सबसे बड़े साँपों की लम्बाई चौदह इञ्च तक पहुँचती है। इनका प्रसार पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्द्धों में उष्णतर भूभागों में पाया जाता है। इतने छोटे रूप के साँपों की भी सौ जातियाँ तक निर्धारित की गई हैं। इनके शरीर का शल्क (छिछड़ा) चिकना, गोलाकार तथा चमकीला होता है। आँख क्या होती हैं, उसे तो माथे में अधमुन्दा-सा धुंधला विंदु ही कह सकते हैं। दाँत उपहास योग्य ही होते हैं जिनका होना, न होना बराबर ही समझा जा सकता है। इनके शरीर का रङ्ग भूरा होता है। उस पर किसी प्रकार के चित्रण, धब्बे, पट्टियाँ आदि का नाम भी नहीं होता।

गंडूपदी सर्पों के क्षुद्र रूप में भी पिछले पैरों का अवशिष्ट-सा भाग त्वचा के अन्दर छिपा मिलता है। कटिप्रदेशीय अस्थिमंडल या श्रोणिचक्र का भी बचा-खुचा रूप मिलता है। ऐसा ज्ञात होता है कि प्राचीन सर्पों की जातियाँ अपने शरीर का विकास भूमि के अन्दर बिल में छिपे रह सकने के लिए कर सकीं। उन्हीं का यह रूप है। प्राचीन काल में इनके पूर्वजों का अवश्य ही विस्तृत क्षेत्रों में प्रसार रहा होगा क्योंकि दूर स्थित द्वीपों में इन्हें पाया जाता है जो आज भूखण्डों से पृथक हैं परन्तु पूर्वकाल में कभी महाद्वीपों के संलग्न भाग ही रहे होंगे। दक्षिणी सागर के द्वीपसमूहों से बिल्कुल दूर एकाकी स्थित क्रिस्टमस द्वीप में भी इन्हें पाया जाता है। इस वंश का प्रसार दक्षिणी योरप, एशिया, मलाया द्वीपसमूह, अफ्रीका, उष्णकटिबंधीय अमेरिका और पश्चिमी द्वीपसमूह में है।

अधोदंती अंधसर्प (लेप्टोटाइफलोपाइडी)—इस वंश के साँप भी गंडूपदी सर्प वंश समान ही छोटे गोलाकार शरीर के होते हैं। उनका शरीर केचुओं-सा ही चमकीला होता है। गंडूपदी सर्पवंश में तो ऊर्ध्व हनु (ऊपरी जबड़े) की हड्डी से आड़े किनारों पर नाम मात्र के दाँत होते हैं परन्तु अधोदंती गंडूपदी में निचले जबड़े में भी नाम मात्र के दाँत होते हैं। इनमें कटिप्रदेशीय अस्थिमंडल या श्रोणिचक्र भी अधिक स्पष्ट पाया जाता है। इस वंश में तीस जातियाँ होती हैं। इनका प्रसार दक्षिणी संयुक्त राज्य, उष्णकटिबंधीय दक्षिणी अमेरिका, पश्चिमी द्वीपसमूह, एशिया तथा अफ्रीका में है।

अजगर वंश (बायडी) अजगरों को ऊपर से देखने पर अपना ठीक मर्म प्रकट करते नहीं पाया जाता परन्तु वैज्ञानिकों ने उनके कपाल की अस्थियों का विभिन्न रूप पाकर दो स्पष्ट पृथक अनुवंश निर्धारित किये हैं। इनमें एक को पश्चिमी अजगर या बोआ अनुवंश कहते हैं। दूसरा पाइथन या पूर्वी अजगर अनुवंश कहलाता है।

पाइथन या पूर्वी अजगर अनुवंश में बीस से अधिक जातियाँ पाई जाती हैं। इनका प्रसार एशिया, मलाया, पूर्वी द्वीपसमूह, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में पाया जाता है। लेकिन एक जाति दक्षिणी मेक्सिको में पाई जाती है जो इसी वंश की है। उसे लोक्सोसीमस प्रजाति का अजगर कहा जाता है। पूर्वी गोलार्द्ध के जो बड़े से बड़े अजगर हैं उन्हें इस अनुवंश में गिना जाता है। अमेरिका में जो अजगर पाये जाते हैं उनको दक्षिणी मेक्सिको वाली लोक्सोसीमस प्रजाति से विशेष विभेद प्रकट करते पाया जाता है।

पश्चिमी अजगर अनुवंश को बोआ कहते हैं। ज्ञान-विज्ञान का अधिक प्रचार तथा अनुशीलन होने से अमेरकीय या पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने बोआ से निकट का परिचय होने तथा उसी का पहले परिचय होने से सभी अजगरों का बोआ के नाम पर ही "बायडी" वंश नाम रक्खा है। अपनी परिचित वस्तु से ही साम्य या वैषम्य प्रकट कर अन्य वस्तुओं का परिचय देना मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति होती है। यदि पूर्वी गोलार्द्ध के दीर्घकाय साँपों, पाइथन या अजगर का ही नाम सामने रखकर वैज्ञानिक शब्दावली को गढ़ने का अवसर हो तो इन दोनों अनुवंशों का कोई

भी एक नाम का वंश प्रकट करने के लिए यदि पाइथन वंश या पाइथाइडी नाम ही रख लिया जाय तो उसको असंगत या अनुचित नहीं कहा जा सकता। किन्तु नाम कुछ भी रक्खे जायँ, हमें तो उनका विहंगम रूप ही ज्ञात करना अभीष्ट है।

बोआ या पश्चिमी अजगर अनुवंश में चालीस जातियाँ होंगी। यह अनुवंश पूर्वी अजगर अनुवंश से बड़ा है। पूर्वीअजगरों की अपेक्षा पश्चिमी अजगर अनुवंशी साँपों की संख्या दुगुनी है। इस अनुवंश का प्रसार पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों ही गोलार्द्धों में है, अतएव पश्चिमी अजगर अनुवंश कुछ भ्रामक नाम हो सकता है। फिर भी कोई दूसरा सुबोध नाम न ज्ञात होने से यही प्रचलित किया जा सकता है। यदि बोआ अनुवंश भी कहें तो कोई अनुचित नहीं। इस अनुवंश में यथार्थतः एक ही प्रजाति ऐसी होती है जो पूर्वी अजगर अनुवंश के भीमकाय अजगरों से समता कर सकती है।

बोआ अनुवंश के दीर्घकाय सर्पों का प्रसार केवल पश्चिमी गोलार्द्ध से है। इनकी जातियों को पहले बोआ प्रजाति नाम में प्रसिद्ध करते थे। अब उनको ही कांस्ट्रिक्टर या कुंडलबंधक प्रजाति कहने लगे हैं। इस प्रजाति के अजगरों की लम्बाई आठ या दस फुट तक होती है, परन्तु एक जाति की लम्बाई पन्द्रह फुट तक भी पाई गई है। इन दीर्घकाय अजगरों को अमेरिका के उष्ण कटिबन्धीय भूभागों में पाया जाता है परन्तु इसी कुण्डलबंधक (कांस्ट्रिक्टर) प्रजाति की एक जाति पूर्वी गोलार्द्ध में मेडागास्कर द्वीप में भी पाई जाती है। ग्रहणशील पूँछों के वृक्षचारी बोआ या पश्चिमी अजगर की चार जातियाँ उष्ण कटिबंधीय अमेरिका में पाई जाती हैं, परन्तु इसी तरह की जाति का वृक्षचारी पश्चिमी अजगर या बोआ मेडागास्कर द्वीप में भी पाया जाता है। अपनी पूँछ को शाखाओं में लपेट कर शरीर को अवलंबित कर सकना इन अजगरों की विशेषता होती है।

पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों ही अजगरों की छोटी जातियाँ विवरवासिनी भी पाई जाती हैं, परन्तु पश्चिमी अजगर या बोआ में यह प्रवृत्ति अधिक विकसित पाई जाती है। इस तरह की छोटी जातियों का प्रसार दक्षिणी-पश्चिमी संयुक्त राज्य, दक्षिणी एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका में पाया जाता है। बोआ अनुवंशी अजगरों का प्रसार-क्षेत्र पश्चिमी तथा दक्षिणी-पश्चिमी संयुक्त राज्य, सम्पूर्ण उष्ण-कटिबंधी अमेरिका, पश्चिमी द्वीपसमूहों का अधिकांश भाग मलक्का, न्यूगिनी, दक्षिणी एशिया और उत्तरी अफ्रीका में पाया जाता है। भारत महासागर में मारीशस द्वीप के निकटवर्ती राउन्ड द्वीप में भी इसकी कुछ जातियाँ मिलती हैं।

उभयदन्ती गंडूपद सर्पवंश (एनिलाइडी)—जिस प्रकार बिल में रहने वाले क्षुद्रकाय साँपों में एक वंश का केवल ऊपरी हनु में नन्हें दाँत की व्यवस्था से ऊर्ध्वदन्ती नाम पड़ा है या दूसरे वंश को केवल निचले जबड़े में क्षुद्र दाँतोंयुक्त होने से अधोदन्ती गंडूपद या अंध सर्प कहते हैं, उसी प्रकार एक वंश दोनों ही हनुओं या जबड़ों में दाँत रखने से उभयदन्ती गंडूपद कहला सकता है जिसका जीवन गंडूपद से कुछ अधिक उत्तम न दिखाई पड़ सकता हो। इन साँपों का आकार एक गज तक लंबा पाया जाता है। कटिप्रदेशीय अस्थि समूह या श्रोणिचक्र का नाम मात्र पाया जाता है। पिछले पैरों की भी स्थिति स्मरण कराने के चिन्ह बहुत धुँधले रूप में मलद्वार के निकट चंगुलनुमा काँटे या उभाड़ से ज्ञात हो सकते हैं। इन सर्पों का आकार बेलननुमा होता है और बिल में निवास करते हैं। इस वंश की अनेक जातियों का शरीर बहुत विशद रूप का रंगा होता है। उष्ण कटिबंधीय अमेरिका का एक साँप चमकदार प्रवालीय रक्त-वर्ण का होता है। उस पर काले रंग की मुद्रिकाएँ अंकित होती हैं। इस वंश का प्रसार दक्षिणी अमेरिका, सिंहल (सीलोन), हिन्दचीन तथा मलाया क्षेत्रीय भूभागों में पाया जाता है। इसकी बारह जातियाँ मिलती हैं।

विपुच्छ उभयदन्ती (उरोपेल्टाइडी)—इस वंश का क्या नाम रक्खा जाय, यह टेढ़ा प्रश्न है। पिछले पैरों या श्रोणिचक्र का तो नाम ही नहीं होता किन्तु उभयदन्ती गंडूपद सर्पों से अन्य रूपों में समानता पाई जाती है। एक विशेष अंतर यह होता है कि पूँछ

नन्हीं-सी बांड़ी या कटी-सी होती है। इसलिए इसे विपुच्छ ही कहा जा सकता है। आँखें अत्यन्त छोटी होती हैं। शरीर का रंग बहुत सुन्दर होता है। शरीर छोटा, दृढ़ गोल तथा पुष्ट होता है। इसकी ४५ जातियाँ हैं। भारत तथा सिंहल का ही यह सर्प है।

तालुदन्ती सर्प वंश (क्सेनोपेल्टाइडी)— इस वंश की एक ही प्रजाति है। उसमें एक ही जाति होती है जो बिल में रहने वाली होती है। इसके ऊपरी हनु में तालु के स्थान पर एक दाँतों की अतिरिक्त पंक्ति होती है। इसलिए इसे तालुदन्ती वंश कहना उचित है। इसके कपाल की अस्थियाँ संयुक्त होती हैं इसलिए इस वंश को अखंड कपाली वंश कहें तब भी युक्तिसंगत नाम हो सकता है। इसके शल्क अत्यन्त चिकने और चमकीले होते हैं। इस कारण इस साँप को चिक्कण शल्क भी कहा जाता है। इसका प्रसार दक्षिणी बर्मा (उत्तर में मिचकिना तक) थाईलैंड, हिन्द चीन, मलाया प्रायद्वीप तथा द्वीपसमूह में है। ऐंडमन तथा दक्षिणी चीन में इसके पाये जाने के उदाहरण हैं।

तालुदन्ती सर्प धान के खेतों तथा बस्ती के निकट बाग-बगीचों में पाया जाता है। भूमि के अन्दर या पथरीले ढोंकों, लट्ठों आदि के नीचे दुबका पड़ा रहता है। नर्म मिट्टी में बड़ी ही तीव्रता से घुस जाता है। कदाचित रात को ही निकलता है और दिन को मिट्टी में छिपा रहता है। यह विषहीन सर्प है। हाथ पर उठा लेने पर भी काटने का प्रयत्न नहीं कर सकता। उद्विग्न किये जाने पर अपनी नन्ही-सी दुम द्रुत वेग से कंपित करता है। इसका आकार साढ़े तीन फुट लंबा हो सकता है। उसमें पूँछ की लम्बाई चार इंच होती है। इसका मुख्य आहार अन्य सर्प, छोटे कृन्तक जंतु तथा मेढक होते हैं। पक्षी खाने के उदाहरण भी उल्लिखित मिलते हैं।

इसके शरीर का रंग ऊपरी तल पर भूरा चमकीला होता है। पार्श्व भागी के शल्क दल में श्वेत किनारी होती है। स्कंधदेशीय शल्क श्वेत होते हैं जिन पर भूरी किनारी हो सकती है।

साधारण सर्प वंश (कोलुब्राइडी)—इस वंश में इतने अधिक विभिन्न रूप के सर्प हैं कि उन्हें अनेक अनुवंशों में विभाजित किया गया है। यथार्थ में इसे मिश्रित ढंग का वंश कहा जा सकता है। जो स्वतंत्र रूप से पृथक वंश का भाग नहीं बन सकतीं, उन सब जातियों को इस वंश में डाल दिया गया है। परिणाम यह होता है कि शोधकार्य अग्रसर होने पर अनुवंशों को घटता-बढ़ता पाया जाता है। अनुवंशों का निम्न रूपों में संक्षिप्त परिचय दिया जा सकता है :—

असुषिरदन्ती जलसर्प (एक्रोकोर्डाइनी)—इस अनुवंश के साँप निर्विष होते हैं। दांत ठोस (असुषिर) होते हैं। शरीर पर छोटे दानेदार छिछड़े होते हैं। छिछड़ों का रूप अधिकांश जातियों में शरीर के निचले तथा ऊपरी तल पर एक समान ही होता है। ये जलजीवी होते हैं और नदियों के समुद्र द्वारा आप्लावित होने वाले भाग तथा समुद्रों में पाये जाते हैं। इनका प्रसार समुद्र तटीय भागों में दक्षिणी-पूर्वी एशिया (भारत, थाईलैंड, हिन्द-चीन, मलाया प्रायद्वीप और द्वीपसमूह), न्यूगिनी तथा उत्तरी आस्ट्रेलिया के समुद्री तट हैं। यह पूर्वी गोलार्द्ध का ही सर्प वंश है परन्तु इसकी एक जाति मध्य अमेरिका में भी पाई जाती है।

निर्विष सर्प अनुवंश (कोलुब्राइनी)—इस उपवंश में एक हजार जातियाँ पाई जाती हैं। उन्हें डेढ़ सौ प्रजातियों में विभाजित पाया जाता है। इन सब में दाँतों का आकार विभिन्न होता है। कुछ में तो सब दाँत एक लम्बाई के होते हैं। कुछ में आगे की ओर के दाँत बड़े हो सकते हैं तथा कुछ जातियों में पीछे की ओर के दाँत बहुत बड़े हो सकते हैं या कुछ अंश में खुली नाली (प्रसीता) युक्त हो सकते हैं किन्तु इस अनुवंश के किसी भी सर्प में विष-उत्पादक ग्रंथियाँ नहीं होतीं। इन सर्पों का विविन्न आकार है। कोई तो एक फुट ही लम्बे होते हैं परन्तु धामिन को दस फुट लम्बा पाया जाता है। कोई सर्प मोटा होता है तो कोई बेंत-सा पतला या लता सा लम्बोतरा तथा क्षीणकाय होता है और वृक्षजीवी होता है। कुछ अर्द्ध जलजीवी ही होते हैं।

अंडछेदक सर्प अनुवंश (डैसीपेल्टाइडी)—यह उष्ण कटिबंधीय तथा दक्षिणी अमेरिका का सर्प है। इसकी एक ही जाति होती है, परन्तु विचित्रता के कारण एक अनुवंश निर्धारित करना पड़ता है। इसकी गर्दन में रीढ़ की हड्डियों के उभाड़ इस प्रकार बढ़े होते हैं कि अंडा निगलने पर उसे गर्दन में पहुँचने पर चीर देते हैं। मुँह छोटा होने से यह समूचा अंडा निगल सकने में समर्थ नहीं होता। इस कारण अंडे के खंडित होने से द्रव खाद्य पदार्थ ही निगलता है और छिलके को उगल देता है। इसका आहार मुख्यतः पक्षियों के अण्डे होते हैं।

पिंडमुखी सर्प अनुवंश-(ऐम्बलीसेफालाइनी)—इस अनुवंश को पूर्वी गोलार्द्ध के शुद्ध निर्विष सर्प अनुवंश का ही अमेरिकीय प्रतिरूप कह सकते हैं। यह वृक्षजीवी जाति है। ये सर्वथा निर्विष होते हैं। गर्दन तो छोटी दुर्लभ ही होती है, परन्तु मुख बड़े आकार का होता है। फिर भी उसके हनु के नीचे मध्यवर्ती फटान या गड्ढा नहीं होता। इस कारण यह पिंड या ढोंके सा मुँह अधिक खोल नहीं सकता। बड़े शिकारों को निगल सकना इस अनुवंश के साँपों के लिए कठिन होता है। इसीलिए पिंडमुखी नाम है।

अल्प विषदन्ती सरिता सर्प (होमालोप्साइनी)—इस अनुवंश के सांपों में ऊपरी जबड़े के पिछले भाग में विषदन्त होते हैं जो प्रसीती (खुली नाली समान गड्ढेयुक्त) होते हैं। उन विषदन्तों से छोटी विषैली थैली भी संयुक्त होती हैं। उससे स्रवित विष का उपयोग शिकारों को मूर्च्छित करने के लिए होता है। किन्तु इनका विष उतना प्रबल नहीं होता जितना भयंकर विषैले साँपों का होता है। इस अनुवंश में लगभग दो दर्जन जातियाँ होंगी। इनका प्रसार दक्षिणी एशिया, मलाया क्षेत्र, न्यूगिनी तथा उत्तरी आस्ट्रेलिया में है। ये साँप नदियों में पाये जाते हैं।

पश्च विषदन्ती अनुवंश (बायगिनी)—यथार्थ में जितनी निर्विष जातियों के रूप होते हैं, वे प्रायः इन पश्च विषदन्ती उपवंश में दुहराये जान पड़ते हैं। कोई कुण्डलीधारी होता है, कोई तीव्रधावक होता है, कोई बेंतनुमा या लतानुमा लम्बोतरा पतला होता है तथा कोई जलजीवी होता है। स्थूल या पिंडमुखी सर्पों का भी रूप इनमें पाया जा सकता है। इस वंश में लगभग तीन सौ जातियाँ होती हैं। इनका प्रसार पूर्वी तथा पश्चिमी, दोनों ही गोलार्द्धों में उष्णतर भूभागों में है।

पश्च विषदन्ती अंडछेदक (एलाचिस्टोडोन्टाइनी)-जिस प्रकार अंडछेदक अनुवंश में रीढ़ की हड्डी (कशेरुका) गले में बढ़ी रह कर अंडों को चीरने का काम देती है, उसी तरह इस अनुवंश के साँपों में भी व्यवस्था होती है परन्तु उसके अतिरिक्त जबड़े के पिछले भाग में विषदन्त भी होते हैं। इसी कारण इस उपवंश का संयुक्त गुणों या लक्षणों के कारण इतना बड़ा नाम रक्खा जा सकता है। इस उपवंश का निर्धारण केवल इस विचित्रता के कारण ही किया गया है अन्यथा इसकी एक ही प्रजाति होती है जिसमें केवल एक जाति पाई जाती है। इस जाति के सर्पों का प्रसार बंगाल में जल्पाईगुड़ी तथा बिहार में पूर्णिया जिले में है। इस साँप की लम्बाई ३२ इंच हो सकती है जिसमें पूँछ पांच इञ्च लम्बी होती है। इसका रंग ऊपरी तल पर जैतूनी भूरे से कलौंछ तक होता है। पीठ के बीच श्वेत पीली-सी लम्बी पट्टी होती है।

नाग वंश (एलापाइडी)—नाग वंश के सर्प विकटतम विषधरों में से हैं। संसार के प्रसिद्ध विषैले सांप इस वंश में पाये जाते हैं जिनमें भारत के करैत, नाग, नागराज, अफ्रीका के मम्बा तथा आस्ट्रेलिया के काले सर्प, व्याघ्र सर्प आदि हैं। यह वंश मुख्यतः पूर्वी गोलार्द्ध का है जहाँ इसकी डेढ़ सौ जातियाँ पाई जाती हैं। पश्चिमी गोलार्द्ध में प्रवालीय (मूँगे समान) सर्प ही इस वंश के हैं जिन्हें एक प्रजाति का माना जाता है। उसकी दो जातियाँ दक्षिणी संयुक्त राज्य में तथा दो दर्जन जातियाँ उष्ण कटिबन्धीय अमेरिका में पाई जाती हैं।

नागवंशी सर्प अग्रविषदन्ती होते हैं जिनका यह अर्थ है कि जबड़े के अगले भाग में ही विष के दाँत होते हैं उनकी जड़ में बड़े आकार की विषथैलियाँ होती हैं जिनमें बड़ा घातक विष भरा रहता है।

जलनाग (हाइड्रोफाइडी)—विषैले सर्पों में नाग के अनुरूप सर्प जलखंडों में भी पाये जाते हैं। उन्हें जलनाग कहना उचित है। जल-जीवन के कारण उनमें कुछ विशेष शारीरिक व्यवस्था हुई रहती है। ये नागों की तरह ही विषैले दाँत रखते हैं तथा समुद्रों में रहने के अभ्यस्त होते हैं। इनकी पूँछ डाँड़नुमा खड़े रूप में चपटी होती है। बहुतों का शरीर भी खड़े रूप में चिपटा होता है जिससे तैरने में सुविधा हो। इनका शरीर दो फुट से लेकर आठ फुट तक लम्बा होता है। लगभग पचास जातियाँ पाई जाती हैं। इनका प्रसार भारतीय महासागर तथा उष्ण कटिबन्धीय पश्चिमी पैसिफिक महासागर में है। तट से हजार मील दूर तक भी मिलते हैं। दक्षिणी मेक्सिको, मध्य अमेरिका तथा दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट के समुद्र में भी ये पाये जाते हैं।

पृदाकु या मण्डली वंश (वाइपराइडी)—मण्डली या मण्डली वंश सांपों का प्रमुख प्रसार क्षेत्र अफ्रीका ही है। योरप, एशिया तथा पूर्वी द्वीप समूहों में भी पाये जाते हैं। इन्हें पश्चिमी गोलार्द्ध में नहीं पाया जाता। इस वंश की लगभग पचास जातियाँ पाई जाती हैं जिनमें बड़े आकार तथा भारी संख्या की जातियाँ अफ्रीका में होती हैं। इन सब जातियों के विषदन्त नागों के विषदन्तों की अपेक्षा बहुत ही बड़े होते हैं अतएव इस वंश को दीर्घ विषदन्ती कहना भी अनुचित नहीं हो सकता। विषैले दाँतों की अत्यधिक लम्बाई होने के कारण उन्हें एक गतिशील अस्थि में मढ़ा पाया जाता है जिससे उन्हें मोड़कर तालू में दबा सकें अन्यथा मुख को बन्द करना ही कठिन हो।

पृदाकु वंशी अधिकांश सर्पों को पुष्टकाय पाया जाता है। कुछ तो अत्यधिक पुष्ट होते हैं। सिर चपटा तथा स्पष्ट प्रदर्शित होता है। कुछ वृक्षजीवी पृदाकुओं को कृश-काय तथा लम्बोतरा पाया जाता है। उनका सिर विशेषरूप से चपटा और प्रत्यक्ष होता है। अधिकांश में आँख की पुतली खड़ी रेखा सी होती है।

कपोल-रंध्रीय पृदाकु वंश (क्रोटेलाइडी)—आंख और नाक के मध्य गर्त्त या रंध्र होने से इन सांपों को कपोल-गर्त्तीय या केवल गर्त्त पृदाकु कह सकते हैं। इस वंश की अस्सी जातियाँ पाई जाती हैं। इनका प्रसार पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों ही गोलार्द्धों में पाया जाता है किंतु इनको पश्चिमी गोलार्द्ध में ही विविध रूप प्राप्त किए पाया जाता है। वहाँ पचास जातियाँ होंगी किन्तु पूर्वी गोलार्द्ध में तीस ही जातियाँ मिलती हैं। पूर्वी गोलार्द्ध में इनका प्रसार कैस्पियन सागर के तटों, एशिया और मलाया क्षेत्र में है। अफ्रीका में कोई जाति नहीं है।

गर्त्त पृदाकु या गर्त्त मण्डली वंश के सर्पों में बहुत प्रसिद्ध सर्प कर्कर या झनझनिया होते हैं जिनका प्रसार केवल पश्चिमी गोलार्द्ध में ही पाया जाता है। कपोलरंध्रीय या गर्त्तपृदाकु वंश में सबसे विकराल साँप उष्ण कटिबन्धीय अमेरिका के क्षुपराज या वनराज सर्प (बुश मास्टर) होते हैं। उनकी लम्बाई बारह फुट तक होती है। इसके विपक्ष इसी वंश में कुछ जातियों के साँप क्षुद्र तथा कृशकाय और वृक्ष-चारी भी होते हैं किन्तु इस वंश के सभी सांपों के विषदन्त एक से ही अत्यधिक लम्बे और मण्डली सर्पों की तरह मुड़ कर तालु में चिपक सकने योग्य होते हैं।

—जगपति चतुर्वेदी

———

श्रव्य-दृश्यदर्शन साधन-क्या, क्यों और कैसे ?

डा० जगदीश चन्द्र श्री वास्तव, विकास अन्वेषणालय, उ० प्र०, लखनऊ

जब हम समाज विकास का कोई कार्यक्रम लेते हैं तो उसको जनता के समक्ष रखने में हर प्रकार के साधनों का प्रयोग करते हैं ताकि वे हमारे कार्यक्रम को अच्छी तरह समझ लें और उस पर कार्य करें। अगर कार्य न भी करें तो हम यह अवश्य चाहेंगे कि कम से कम आपकी बात उनके मन में बैठ जाय। यह बात चाहे वह शिक्षक, प्रसार कार्यकर्ता, ग्राम-सेवक या प्रचारक हो सबके लिए लागू होती है।

विज्ञान एवं कला के आधुनिक साधनों के प्रयोग द्वारा ही हम अपना जीवन-स्तर ऊँचा उठा सकते हैं और हमारा कार्यक्रम तब तक स्थायी और स्वयं-चालित नहीं हो सकता जब तक उसका पूर्ण प्रभाव जनता पर न पड़े। अतएव यह आवश्यक है कि हम आधुनिकतम साधनों एवं उपयोगी अनुसंधानों का उपयोग करें। इसके अतिरिक्त विशेषज्ञों की संख्या अल्प है पर हमें उनके सुझाओं को भी समाज के उन सब प्रकार के सदस्यों तक पहुँचाना है जो शिक्षित, अल्प शिक्षित और अशिक्षित हैं, विभिन्न भाषा के बोलने वाले हैं तथा जिनके रस्म-रिवाज, आचार-विचार भी भिन्न-भिन्न हैं। अतः इन परिस्थितियों में वह कौन सा एक मात्र साधन हो सकता है जो सबके साथ लागू हो सके। इसी की आवश्यकता ने श्रव्य-दृश्य दर्शन को जन्म दिया।

प्राचीन साधन—हमारे देश में प्राचीन समय से इस प्रकार की समाज शिक्षा को प्रदान करने के बहुत से साधनों का प्रयोग किया जाता था और संक्षेप में उन पर अलग-अलग विचार कर लेना आवश्यक है।

(१) भजन, कीर्तन, कथा—लोगों को एकत्र करके, सदाचार और नीति की शिक्षा देने के लिए इनका बहुत सुन्दर प्रयोग होता है। इसका मनोरंजन एवं शिक्षा में आस्था बढ़ाने में अच्छा प्रभाव पड़ता है।

(२) नाटक, छायाभिनय रामलीला—यह लोगों के लिए सिनेमा से पूर्व और आज गाँव वालों के लिए सिनेमा से भी अधिक शिक्षा और मनोरंजन का माध्यम है।

(३) कठपुतली—गोकि कठपुतली के नाच पर लोग हँसेंगे पर अगर सचमुच देखा जाय और उसका उचित रूप देकर प्रदर्शन किया जाय तो यह एक प्रसार का उपयुक्त साधन है।

इसके अतिरिक्त सम्मेलन और मेले, तीर्थ यात्रा, त्योहार, रथयात्रा, जलूस तथा संगीत और लोकगीत प्रतियोगिता आदि अनेक साधनों का प्रयोग किया जाता था। इनके द्वारा नये विचारों को भिन्न-भिन्न रूप में शिक्षा के लिए प्रचलित किया गया।
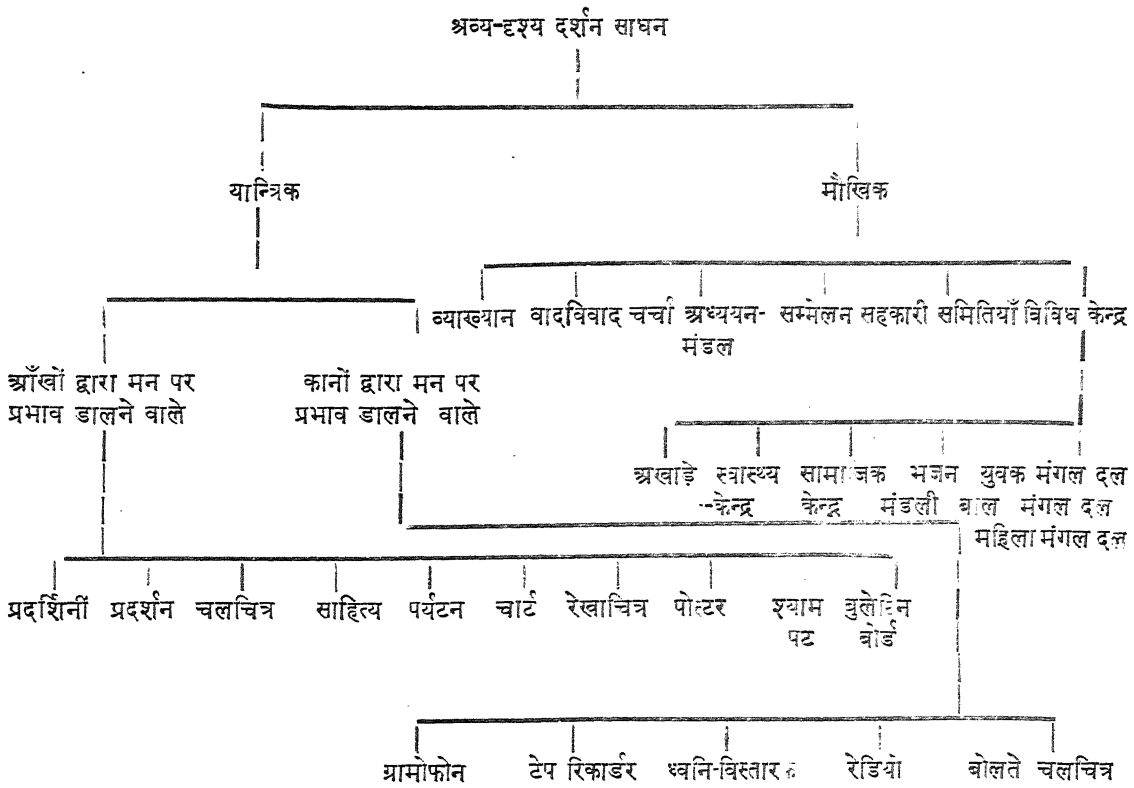
अब इन नवीन साधनों का संक्षेप में वर्णन करेंगे, जिनको अवसरानुकूल तथा सुविधानुसार प्रयोग किया जा सकता है।

(१) दृश्य-दर्शन। आँखों द्वारा देख कर मन पर प्रभाव डालने वाले साधन—वैज्ञानिकों का मत है कि इस साधन द्वारा ८४ प्रतिशत प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है।

(क) प्रदर्शिनी—विविध विषयों पर प्रदर्शिनी संगठित करना। इसमें चल प्रदर्शिनी का विशेष महत्व है। इसके अतिरिक्त चल प्रदर्शिनी किसी बड़ी मोटर में लगा कर दूर-दूर क्षेत्रों में भेजी जा सकती है। मोटर से सामग्री निकाल कर वहाँ प्रदर्शिनी लगा दी जा सकती है और फिर उनको आसानी से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है।

(ख) प्रदर्शन—ये दो तरह के होते हैं। एक तो किसी विषय विशेष का उसी क्षेत्र या स्थान में सही और गलत ढंग, प्राचीन और नवीन ढंग आदि को एक दूसरे के अगल-बगल या आमने-सामने कर दिखलाना।

प्रदर्शन का दूसरा साधन सचित्र व्याख्यान है। व्याख्यान को सचित्र बनाने से उसमें बड़ी सजीवता आ जाती है। इसके अन्तर्गत अचल चित्रों को विभिन्न ढंगों द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। इनमें मुख्य निम्नलिखित हैं:—

(अ) प्रोजेक्टर—यह एक यन्त्र है जिसके द्वारा हम किसी फोटो को बड़े रूप में पर्दे पर दिखाते हैं। इसको आसानी से इधर-उधर ले जाया जा सकता है तथा यह बिजली या गैस की लालटेन। पैट्रोमेक्स। दोनों से कार्य कर सकता है। इसमें चित्र को समझाने के लिए जितनी देर चाहें रोक सकते हैं या किसी पिछले चित्र को बिना

किसी असुविधा के फिर से दिखाया जा सकता है। इससे दो प्रकार के चित्र दिखाये जा सकते हैं।

(१) फिल्मस्ट्रिप—किसी विषय को समझाने के लिए ३५ मिली-मीटर सिनेमा के फिल्म पर अलग-अलग चित्र ले लिया जाता है। चित्र लेने के पहले विषय को छाँट कर भागों में विभाजित करके एक संलग्न वार्ता या कहानी का रूप दे दिया जाता है और क्रम से इन्हीं भागों के चित्रों को प्रोजेक्टर द्वारा दिखाया जाता है।

(२) स्लाइड—यह या तो शीशे की होती है या फोटो खींचने वाले फिल्म की ३५ मिलीमीटर नाप की बनती है। इनका भी चित्र अलग-अलग लेकर स्लाइड के रूप में बना लिया जाता है। फिल्मस्ट्रिप के सब चित्र एक दूसरे से जुड़े रहते हैं पर स्लाइड के चित्र अलग-अलग होते हैं।

(ब) साधन जिनमें यन्त्रों की आवश्यकता नहीं पड़ती—

(१) श्यामपट—किसी बात को समझाने के लिए श्यामपट का प्रयोग कोई नया नहीं है।

(२) फ्लैनोग्राफ—किसी विषय को पहले तस्वीरों के रूप में बना कर उसके नीचे बालू के कागज चिपटा कर काट लिया जाता है। फिर फलालेन या खद्दर के चौकोर टुकड़े को फ्रेम पर लगा कर चित्रों को उसी पर लगा कर (बालू कपड़े को पकड़ लेता है) विषय को समझाते हैं।

(३) फ्लैश कार्ड—पहले व्याख्यान को एक कहानी का रूप दे दिया जाता है। फिर १० इंच गुणा ८ इंच के मोटे कागज पर कहानी को चित्र के रूप में बना कर अलग-अलग कपड़ों पर अंकित कर लिया जाता है। प्रत्येक चित्र के पीछे उस चित्र विशेष की कहानी लिखी रहती है। दर्शकों के सामने तो उसका चित्र रहता है पर वक्ता चतुरता से उसके पीछे पढ़ कर बात बतलाता जाता है।

(स) एपेडाइस्कोप—इसके द्वारा कागज पर या किताब में बनी तस्वीरें पर्दे पर दिखाई जा सकती हैं।

(ग) चलचित्र—चलचित्र या सिनेमा के प्रभाव से सभी परिचित होंगे। शिक्षा देने का यह अनमोल साधन है। उनके द्वारा किसी घटना, कार्य करने की विधि, या समस्या को प्रत्यक्ष रूप में चित्रित किया जा सकता है। इसके द्वारा दी गई शिक्षा अधिक प्रभावोत्पादक एवं स्थायी होती है।

(घ) पर्यटन एवं दृश्य दर्शन—उन्नतिशील एवं वैज्ञानिक ढंग पर किये गये कार्यों का, जहाँ किये गये हों वहाँ जाकर उनको देख और समझ कर उनसे ज्ञान प्राप्त करना। इससे यह लाभ है कि दर्शक उक्त विषय को व्यावहारिक रूप में देख सकता है वहाँ उसकी आर्थिक समस्याओं को समझ कर अपनी शंकाओं को मिटा सकता है तथा दूसरों के कार्यों को देखने से जिज्ञासा तथा प्रयोग करने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है।

(ङ) प्रकाशित साधन—जनता को शिक्षा प्रदान करने के लिये छापेखाने का आविष्कार बहुत महत्व का है। उनसे तस्वीरें, किताबें, दैनिक पत्र, पत्रिकायें; भित्ति-पत्र (पोस्टर) व्यंगचित्र, चार्ट, ग्राफ (रेखा चित्र) आदि छापे जा सकते हैं और जिनका प्रयोग विशेष विषयों के लिए अलग-अलग या कई-कई एक साथ प्रयोग किया जा सकता है। सचित्र साहित्य भी प्रसार का बहुत प्रभावशाली साधन है।

(च) माडेल—जिन चीजों का या तो आकार बहुत बड़ा होता है या वस्तु कठिनता से उपलब्ध होती है या किसी अन्य कारण से उसे हम नहीं प्राप्त कर सकते, उनको हम एक छोटा रूप देकर मिट्टी, लोहा, कागज, लकड़ी आदि उपलब्ध वस्तुओं की सहायता से खिलौना या माडेल बना लेते हैं और उसके द्वारा श्रोताओं या विद्यार्थियों को शिक्षा देते हैं। प्रत्यक्ष वस्तु के नमूने को देख कर भी हम प्रत्यक्ष वस्तु का अनुमान लगा सकते हैं। इसके विपरीत इसके द्वारा हम सूक्ष्म वस्तुओं को बड़े रूप में परिवर्तित कर उसका भली प्रकार अध्ययन कर सकते हैं।

(२) श्रव्य साधन—कानों द्वारा सुनकर मन पर प्रभाव डालने वाले साधन।

(क) **ग्रामोफोन**—अच्छे-अच्छे चुने हुए रेकार्डों द्वारा लोगों को मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षा भी दी जा सकती है।

(ख) **टेप रिकार्ड**—इसमें ग्रामोफोन के रेकार्डों की ही भाँति सिनेमा के फिल्म की तरह के फीते के ऊपर आवाज भर ली जाती है जो मशीन द्वारा किसी भी अवसर पर सुनी जा सकती है। इससे उपयोगी वार्त्ता या व्याख्यान हू ब हू उन्हीं के आवाज में लोगों तक पहुँचाया जा सकता है। फिर इसी प्रकार इसी यंत्र द्वारा ध्वनि भर भी सकते हैं और लोकगीत आदि को एक दूसरे के क्षेत्र में सुना सकते हैं।

(ग) **ध्वनि-विस्तारक**—लाउडस्पीकर जब कोई सूचना या चर्चा अधिक व्यक्तियों से की जाती है तो इस यंत्र का प्रयोग कर सकते हैं। इसके द्वारा ग्रामोफोन के रेकार्डों को या रेडियो की ध्वनि का भी विस्तार कर अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाया जा सकता है।

(घ) **रेडियो**—आकाशवाणी सिनेमा के पश्चात प्रसार का यह एक अच्छा साधन है। चूँकि यह बैटरी से भी कार्य करता है इसलिए इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है। यह शिक्षा के क्षेत्र में सबसे अधिक प्रचलित और सहायक साधन है।

मौखिक—

यांत्रिक साधनों के अतिरिक्त मौखिक साधन भी कम उपयोगी नहीं है। इसमें भी विशेषज्ञों ने नई-नई पद्धतियों को जन्म देकर विषय को रोचक और प्रभावशाली बनाने की चेष्टा की है। इसमें मुख्य-मुख्य पर हम विचार करेंगे।

(१) **व्याख्यान**—व्याख्यान छोटा, रोचक और प्रभावशाली ढंग से देना चाहिए। अगर बीच-बीच में कोई यांत्रिक साधन या चित्र का प्रदर्शन दिया जावे तो निरे व्याख्यान के अपेक्षित अधिक लाभप्रद होता है। व्याख्यान के पश्चात उस विषय पर प्रश्नोत्तर के लिए भी समय देना अच्छा होता है।

(२) **वादविवाद**—वादविवाद की पद्धति आधुनिक साधनों में अनोखी है। पहले विषय की छानबीन कर वादविवाद की एक रूपरेखा तैयार कर लेनी चाहिए। इस प्रकार नियोजित वादविवाद से विषय सरलता से समझा जा सकता है। इसमें प्रश्नोत्तर को भी उपयुक्त स्थान मिलना चाहिए।

(३) **चर्चा**—किसी विषय पर आपस में विचार-विमर्श, प्रश्नोत्तर तथा शंका-समाधान द्वारा जो हल निकाला जाता है, उसे चर्चा पद्धति कहते हैं। छोटे समूह में चर्चा के साधन का प्रयोग करने से व्याख्यान की अपेक्षा कई गुना अधिक प्रभाव पड़ता है।

(४) **अध्ययन-मंडल**—किसी विशेष प्रश्न या विषय को लेकर शिक्षा प्राप्त करने वाला समूह छोटे-छोटे दलों में बँट जाता है। वे उस विषय से संबंधित साहित्य तथा उपलब्ध सामग्रियों की सहायता से अपने-अपने विचारों का अलग-अलग लेख तैयार करते हैं तत्पश्चात वह लेख पढ़ा जाता है और लोग उसके लेख पर अपने-अपने विचार देते हैं तथा प्रश्न पूछते हैं।

(५) **संवाद प्रणाली**—इसके अन्तर्गत समूह के सम्मुख दो अभिनेता प्रस्तुत होते हैं। उनमें एक प्रश्न पूछता है और दूसरा उसका उत्तर देते जाता है।

उसके अतिरिक्त सम्मेलन जहाँ परस्पर विचार-विनिमय किया जाता है, पुस्तकालय एवं वाचनालय जो व्यक्तियों में सम्पर्क बढ़ाने तथा शिक्षा प्रदान करने का उत्तम साधन सिद्ध हुआ है, सामाजिक केन्द्र, सहकारी समितियाँ, स्वास्थ्य केन्द्र, मंगल दल, जनता विद्यालय आदि भी लोगों को संगठित करने तथा सामाजिक एवं व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करने के साधन हैं। समय और सुविधा के अनुसार इनका प्रयोग जनता के लाभार्थ करना चाहिए।

बोलचाल या स्थानीय भाषा के कारण कोई असुविधा नहीं होती—चित्र स्वयं ही सर्वज्ञ भाषा है। एक चित्र एक हजार शब्दों के बराबर है। जहाँ लोग अशिक्षित हैं इसी साधन द्वारा हम उन्हें सामाजिक शिक्षा प्रदान कर सकते हैं।

(१) **विषय सरल हो जाता है**—मनुष्य उसी चीज को सीख और याद कर सकता है। जिसको वह अच्छी

तरह समझ लें। श्रव्य एवं दृश्य दर्शन द्वारा क्या-क्यों और कैसे का उत्तर सरलता से मिल जाता है और जब इन तीनों का उत्तर मिल गया तब वे शीघ्रता से ज्ञान प्राप्त करते हैं और उसको अधिक समय तक स्मरण रख सकते हैं।

(३) अधिक लोगों को एक साथ शिक्षा प्रदान की जा सकती है—कोई विशेषज्ञ या वैज्ञानिक चाह कर भी सबके पास अपने प्रयोग सम्बन्धी ज्ञान को नहीं पहुँचा सकता परन्तु इस साधन द्वारा हम उसकी ध्वनि, ज्ञान और प्रयोग-फल को विस्तृत करके हर एक के पास पहुँच सकते हैं।

(४) कार्यक्रम में आकर्षण आता है--किसी कार्यक्रम या बातचीत की सफलता उसके द्वारा श्रोताओं में आकर्षण पर निर्भर है। दृश्य-दर्शन द्वारा लोगों में जिज्ञासा और आकर्षण तथा इसके द्वारा हम उनसे सम्पर्क बढ़ा कर अपने काम को सरलतापूर्वक कार्यान्वित करा सकते हैं।

(५) विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान करने के साधन का उपयोग होता है—भिन्न-भिन्न विषयों के लिए या तो एक अथवा कई एक साधन साथ मिला कर शिक्षा का कार्य सुचारु रूप से किया जा सकता है। जिस वस्तु को लोग छू कर, देख कर तथा सुन कर अपनी अपनी जिज्ञासा का समाधान करते हैं उसका प्रभाव स्थायी होता है।

(६) सच्ची शिक्षा प्रदान करता है—चीजें देख और सुन कर अधिक प्रभाव डालती हैं।

(७) कम व्यय में अधिक से अधिक लोग लाभान्वित होते हैं—इन साधनों को प्रस्तुत करने का व्यय और जितने लोग उससे लाभ उठाते हैं उसको प्रति व्यक्ति में बाँट दिया जाय तो संभवतः इससे सस्ता कोई साधन नहीं होगा।

(८) इसका स्थानीय निर्माण हो सकता है—स्थानीय समस्याओं का चित्रण तथा उसका उन्नतिशील बातों से मेल इसी साधन द्वारा सम्भव है। समान स्थितियों एवं परिस्थितियों में दूसरे स्थानों पर क्या उन्नति हुई है यह इसी साधन द्वारा ज्ञात हो सकता है।

(९) प्रशिक्षित व्यक्तियों की कमी को यह साधन पूरा करता है।

प्रदर्शनकर्ता के गुण—

अन्त में इन साधनों के प्रयोग करने वालों के गुणों पर भी कुछ शब्द लिखना असंगत न होगा। श्रव्य-दृश्य दर्शन का प्रभाव और सफलता उसके समझाने वाले या प्रयोग करने वाले के ढंग पर निर्भर है। इसके लिए उपयुक्त नियोजन की आवश्यकता होती है। जिसके लिए उसे विशेष रूप से प्रशिक्षित होना चाहिए।

(१) प्रदर्शन मनोरंजक हो तथा भाषा में रोचकता हो।

(२) प्रदर्शन के पूर्व जाँच लें कि उसे सब भली-भाँति देख और सुन सकते हैं।

(३) प्रदर्शन के समय यह जाँच लेना चाहिए कि उससे संबंधित सब सामग्रियाँ उपलब्ध हैं।

(४) प्रदर्शन कई प्रकार के हों।

(५) प्रर्शन न तो इतना छोटा हो कि लोग उससे प्रभावित न हों और न ही इतना लम्बा कि लोग उससे ऊब जायें।

(६) अन्त में उसे ऐसे स्थान पर समाप्त करें कि लोगों की जिज्ञासा बनी रहे और वे उसके लिए लालायित हो उठें तथा आगे के कार्यक्रम की उत्सुकता से प्रतीक्षा करें।

(७) प्रदर्शनकर्ता को अपने साधनों के प्रयोग के प्रभाव की भी जाँच करनी चाहिए ताकि वह उसकी उपयुक्तता तथा अनुपयुक्तता को भी जान सके।

चित्रों या अन्य साधनों को छाँटने में सावधानी बरतनी चाहिए।

———

कृत्रिम चाँद द्वारा पृथ्वी की परिक्रमा

अमेरिका में कृत्रिम उपग्रह का निर्माण-कार्य पूरा होने वाला है। आज तक मनुष्य ने जितनी वस्तुओं का निर्माण किया है उनमें यह कृत्रिम उपग्रह सबसे अधिक विस्मय-कारी और विचित्र होगी। कुछ ही महीनों में यह कृत्रिम चाँद (उपग्रह) प्रबल वेग से उड़ कर वायुमण्डल को पार कर अन्तरिक्ष में विलीन हो जाएगा और वहाँ असीमित अन्तरिक्ष में पृथ्वी की परिक्रमा करने लगेगा। १९५७-५८ के भू-भौतिक वर्ष में किया जाने वाला यह एक अनूठा परीक्षण होगा।

अमेरिका द्वारा साहसपूर्ण निर्णय

जब १७ माह पूर्व अमेरिका ने अन्तरिक्ष में कृत्रिम चाँद स्थापित करने की घोषणा की थी तो लोगों को यह स्वप्नवत् प्रतीत हुआ था क्योंकि इससे पूर्व किसी ने भी इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया था। कोई भी यह नहीं जानता था कि इस प्रकार के उपग्रह अथवा उसे उड़ाकर अन्तरिक्ष में ले जाने वाले राकेट का निर्माण किस प्रकार किया जाए। इसके लिए कई बातों का होना आवश्यक था जो उस समय बहुत कठिन प्रतीत होती थी। यह आवश्यक था कि उपग्रह छोटा और हल्का हो लेकिन साथ ही उन यन्त्रों को ले जाने में पूर्ण समर्थ हो जो पृथ्वी से ३०० मील ऊपर की सूचना एकत्र कर पृथ्वी मण्डल को भेज सकें। यह भी आवश्यक था कि राकेट ऐसा हो जो कृत्रिम चाँद को इतनी ऊँचाई तक पहुँचा सके और उसे इतनी गति प्रदान कर सके कि वह १८ हजार मील प्रति घन्टा के हिसाब से पृथ्वी की परिक्रमा लगा सके। यदि राकेट द्वारा दी गई गति इससे कम हुई तो कृत्रिम चांद पृथ्वी पर गिर पड़ेगा और यदि यह गति १८ हजार मील प्रति घन्टा से अधिक हुई तो चाँद उड़ कर अन्तरिक्ष में विलीन हो जाएगा।

कृत्रिम चाँदों और राकेटों का निर्माण-कार्य तेज़ी पर

इन समस्याओं को सुलझाने और १२ से लेकर १५ तक कृत्रिम चांदों का निर्माण करने के लिए प्रोजेक्ट वेनगाड नामक योजना तैयार की गई तथा वैज्ञानिकों, उद्योगपतियों और सरकार ने मिलकर इसे सफल बनाने का पूरा प्रयत्न किया। आज डेढ़ वर्ष बाद दो कृत्रिम चांदों के ऊपरी खोल तैयार कर लिये गए हैं, यन्त्र तैयार हो चुके हैं और उन्हें इन कृत्रिम चाँदों की खोल के अन्दर फिट किया जा रहा है। साथ ही तीन मंजिलों में सफर करने वाले राकेट की पहली मंजिल की उड़ान के बारे में परीक्षण कर लिये गए हैं।

कृत्रिम चाँद—

राकेट द्वारा उड़ाकर अन्तरिक्ष में स्थापित किया जाने वाला पहला चाँद आकार में गोल होगा तथा उसका व्यास २० इञ्च और वजन २१॥ पौंड होगा। बाहरी खोल का वजन ११ पौंड होगा। यह खोल ताँबे, जिंक, निकल और चाँदी की परतों पर सोने की परत चढाकर तथा उस पर मैगनीशियम की तह की जायगी। बाहरी तह कृत्रिम चांद में फिट किए गए यन्त्रों की सूर्य के ताप से तथा सूर्य से दूर होने पर शीत से रक्षा करेंगी।

आवश्यक सूचना देने वाले सूक्ष्म यंत्र—

इस प्रकाशमान उपग्रह के अन्दर अन्तरिक्ष में सक्रिय शब्दों और पृथ्वी मण्डल पर उनके प्रभावों को रिकार्ड करने वाले अत्यन्त सूक्ष्म परन्तु अचूक सूचना देने वाले यन्त्र फिट रहेंगे। इन सूक्ष्म यन्त्रों द्वारा ताप-मान, हवा के दबाव, ब्रह्माण्ड किरणों, अल्ट्रा-वायोलेट

विकिरण, गुरुत्वाकर्षण, उल्का पिण्ड और पृथ्वी मंडल की ऊपरी सतह के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त होगी। उपग्रह की अन्तरिक्ष-यात्रा के दौरान विशेष प्रकार के यन्त्र पृथ्वी को समाचार भेजेंगे जिन्हें संसार के विभिन्न राष्ट्रों में स्थिति २५ वेधशालाओं द्वारा रिकार्ड किया जायगा। इन परीक्षणों से जो सूचना प्राप्त होगी वह सभी राष्ट्रों को सुलभ दी जायगी।

तीन मंजिलों में यात्रा—

कृत्रिम चाँद फ्लोरिडा राज्य स्थिति कैप कैनावेरेल नामक स्थान से राकेट द्वारा उड़ाया जायगा। कृत्रिम चाँद को अन्तरिक्ष में स्थापित करने और उसे ६० मिनट में समस्त भूमंडल की परिक्रमा पूरी करने लायक गति प्रदान करने वाला राकेट बिना परों का तथा ७२ फुट लम्बा होगा। ईंधन को मिलाकर इस वेनगार्ड राकेट का कुल वजन ११ टन होगा। यह तीन मंजिलों में अपनी यात्रा पूरी करेगा। पहली मंजिल में यह राकेट उपग्रह को ५५०० फुट प्रति सेकेन्ड की गति से ३६ मील ऊपर तक ले जायगा। पहली मंजिल पर पहुँचने पर राकेट का पहला भाग टूटकर समुद्र में गिर पड़ेगा और तुरन्त ही राकेट दूसरी मंजिल की यात्रा शुरू कर देगा। दूसरी मंजिल में यह राकेट १४० मील की ऊँचाई तक १३४०० फुट प्रति सेकेन्ड की गति से सफर करेगा। दूसरी मंजिल पर पहुँचते-पहुँचते राकेट का दूसरा भाग भी टूटकर गिर पड़ेगा और तीसरी मंजिल की यात्रा शुरू हो जायगी। तीसरी मंजिल में २६० मील की ऊँचाई पर पहुँचने पर राकेट का तीसरा भाग भी टूटकर गिर पड़ेगा। तीसरी मंजिल में उपग्रह को इतनी गति प्राप्त हो जायगी कि वह ३०० मील की ऊँचाई तक पहुँचकर १८ हजार मील प्रति घण्टे की गति से पृथ्वी की परिक्रमा करने लगे।

चूँकि अन्तरिक्ष में इस प्रकार का उपग्रह स्थापित करने का इससे पूर्व कोई प्रयत्न नहीं किया गया है इसलिए कई उपग्रहों का निर्माण किया गया है ताकि यह परीक्षण सफलता पूर्वक पूरा किया जा सके। इस योजना का संचालन करने वाले वैज्ञानिकों का यह दृढ़ विश्वास है कि एक वर्ष के अन्दर ही एक उपग्रह सुदूर अन्तरिक्ष में हर ६० मिनट में पृथ्वी की परिक्रमा लगाना शुरू कर देगा। अन्तरिक्ष पर विजय प्राप्त करने की दिशा में मनुष्य का यह पहला कदम होगा।

सृष्टि कितनी बड़ी है ?

सृष्टि का विस्तार कितनी दूर तक है, उसमें पृथ्वी का क्या स्थान है, इस तरह के प्रश्नों पर बहुत प्राचीन काल से लोग विचार करते आये होंगे। फलतः हमें अनेक कल्पनाएँ पुराणों तथा अन्य देशों के प्राचीन ग्रंथों में पढ़ने को मिलती है। कहीं तो हम त्रिलोक की बात सुनते हैं। उनमें आकाश और पाताल नाम के दो लोक बताये जाते हैं। तीसरा हमारा भूलोक माना जाता है। क्या आकाशलोक का अर्थ है और क्या पाताल लोक है यह आज हमारी समझ में कुछ नहीं आता। इसी तरह सत लोकों का नाम भी भूलोक, और भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य लोकों का नाम पढ़ने को मिलता है। सात पातालों को अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल नाम से भी प्रसिद्ध किया जाता है। हम यह भी नहीं कह सकते कि इन सात लोकों और सातों पातालों या चौदहों भुवन के नाम सात स्वर्ग और अपवर्ग के नाम का अर्थ आज के यथार्थ ज्ञान की दृष्टि से क्या किया जाय ? तुलसीदास जी की चौपाई "सात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग" में राम नाम की महिमा के आगे सारी सृष्टि के सुखों को हीन बताने के लिए किसी भी तरह के अगणित लोकों का नाम लेना भावात्मकता की दृष्टि से एक ही अर्थ का द्योतन कर सकता है। सातवें आसमान पर खुदा की मौजूदगी का विश्वास भी इस्लाम सम्प्रदाय के विश्वासों की दृष्टि से इसी तरह की कुछ कल्पना-प्रवर वस्तु है। इसी तरह अन्यान्य देशों, सम्प्रदायों या मानव-समाजों की पुरातन मान्यताओं के अनुसार सृष्टि के विस्तार के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनाएँ सुनने को मिल सकती हैं।

आज विज्ञान हमें कल्पनाओं की भित्ति से कुछ ऊपर उठाकर अधिक युक्तिसंगत और प्रामाणिक आधार पर ज्ञान के विभिन्न अंगों का दिग्दर्शन कराने में समर्थ हो सका है। फलतः सृष्टि के सम्बन्ध में भी हमें सत्य की झाँकी ऐसी मिल रही है जो अत्यन्त ही कौतूहल-वर्धक है। हम आज के वैज्ञानिकों के शोधों के आधार पर सृष्टि के विस्तार का कुछ चित्रण निम्न रूप में कर सकते हैं।

आकाश में जितने भी तारे हमें अपनी नंगी दृष्टि से देखने को मिलते हैं, वे प्रायः सब मिलकर हमारे अनुमान से इस सारी सृष्टि का निर्माण करते होंगे। आकाश में किसी समय एक श्वेत धारा के रूप में प्रकाश की चकत्ती क्षितिज के एक छोर से दूसरे छोर तक गई दिखाई पड़ती है। वह आकाशगङ्गा नाम से पुकारी जाती है। वह इस दृश्यमान तारासमूह का ही विशेष स्थिति में दिखाई पड़ने वाला रूप होता है। किसी भारी चपटे पहिए रूप में इस तारा-समूह को फैला मान लिया जाय और किसी भी स्थान से केन्द्र होकर दोनों ओर की किनारियों या परिधि की ओर खड़े रूप में दृष्टि डाली जाय तो हमें ऐसे पहिए का चपटा रूप हमारी दृष्टि-रेखा की सीध में होगा। हमारा सूर्य लोक इस 'तारा समूह रूप पहिए में ही किसी एक किनारे की ओर है। इस कारण जब हमारी पृथ्वी ऐसी स्थिति में होती है कि हमारी दृष्टि इस समूह के केन्द्र से होकर खड़े तल के आरपार तक पड़ती है तो हमें घने तारापुन्ज आकाश-गङ्गा रूप में दिखाई पड़ते हैं, दूसरी ओर दृष्टि का मार्ग होने पर छिटके तारो ही जान पड़ते हैं।

हमारे आकाश के इन सब तारागणों के समूह को आज का ज्योतिष विज्ञान एक बड़ा विस्तृत तारालोक मानता है। इसे एक नीहारिका या गैलेक्सी नाम दिया जाता है। इसी प्रकार एक सूत्र में सब बँधे रहकर बहुत अधिक दिनों से अपने बीच के किसी केन्द्र के चारों ओर

चक्कर लगाते से रहते हैं। जो समस्त दृश्यमान तारा-जगत हमें इतना व्यापक रूप प्रदर्शित करते दिखाई पड़ता है जिससे सारा आकाश ही हम लोगों की दृष्टि में आच्छादित प्रतीत होता है, उसको ज्योतिष विज्ञान के आधुनिककालीन विद्वान एक समुद्र को विशाल जलराशि में एक बूँद-सा मानते हैं। हमारी नंगी दृष्टि अधिक सूक्ष्म अवलोकन न कर सकने के कारण ही इन तारा-गणों को ही देखकर थक-सी जाती है। परन्तु अपने नेत्रों की शक्ति से ही संतुष्ट न होकर ज्योतिष विज्ञान के शोधकर्त्ता दूरदर्शक यंत्रों का प्रबल से प्रबल रूप कर आकाश की गहन छानबीन करने का प्रयास करते हैं। इसका बड़ा ही विस्मयजनक परिणाम निकला है। हमें सृष्टि के अतुल विस्तार की कल्पनातीत झाँकी मिलने लगी है। हम अब यह जानने लगे हैं कि आकाश भर में जितने भी तारागण दिखाई पड़ते हैं, वे सब एक ताराजगत का निर्माण करते हैं परन्तु इसी तरह की अन्य अगणित इकाइयों रूप में दूसरे ताराजगत भी दूर-दूर तक प्रसारित हैं जो बहुत दूरी पर स्थित होने के कारण ही दृष्टिगोचर नहीं होते। उनमें कोई-कोई ही हमें कहीं प्रकाश की हल्की चकत्ती रूप में नङ्गी आँख से दिखाई पड़ते हैं।

हमारी आकाशगंगा वाले इस ताराजगत का ही अकेले कितना अधिक विस्तार है, इसका कुछ आभास मिलने पर ही हमें उस व्यापक क्षेत्र के विस्तार की कल्पना करने का अवसर हो सकता है जिसमें इस तरह के अगणित अन्य ताराजगत विद्यमान हैं जिनकी उपस्थिति आज के दूरदर्शक यंत्रों से प्रमाणित हो रही है।

इस आकाशगंगा के ताराजगत या हमारे आकाश में नग्न आँखों से दिखाई पड़ने वाले समस्त तारागणों के विस्तार-क्षेत्र की भी गणना करने के लिए मीलों की साधारण संख्या किसी उपयोग में नहीं आ सकती। प्रकाश की गति एक सेकेंड में १८६००० मील होती है। इस तीव्र गति से प्रकाश वर्ष भर तक चलता रहकर जितनी दूरी पार कर सकता है उसे एक प्रकाश वर्ष या एक प्रकाश वर्ष की दूरी कहते हैं। इस माप से हमारे इस दृश्यमान ताराजगत का विस्तार लम्बाई में ६० हजार वर्ष से लेकर एक लाख प्रकाश वर्ष तक होगा। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि इसके विस्तार-क्षेत्र की परिधि के एक किनारे से दूसरे किनारे तक की दूरी इतनी होगी। किन्तु चौड़ाई का विस्तार बीस हजार प्रकाश वर्ष ही होगा। इस पहियेनुमा विस्तृत क्षेत्र में कुल तारों की संख्या दस अरब के लगभग होगी। इन तारों में किसी-किसी में उनकी परिक्रमा करने वाले ग्रह भी निस्संदेह ही विद्यमान हैं। परन्तु सबसे निकट का तारा भी हमारे सूर्य लोक से तीन प्रकाश वर्ष से अधिक दूरी पर ही स्थित है। अन्य तारे तो हमसे और भी दूर हैं।

हमारे इस ताराजगत का इतना विस्तार बड़ा ही विस्मय-जनक है परन्तु इतने विस्तृत क्षेत्र में फैले पूर्ण ताराजगत को भी एक छोटे गोले के रूप में लें तो अन्य तारागणों के विस्तार वाले क्षेत्रों या उनकी संख्या का कुछ अनुमान लगाना सम्भव हो सकता है। मान लीजिये कि आकाशगंगा वाला यह पूर्ण ताराजगत कुछ इंच लम्बे व्यास का ही है। यदि इसी तरह अन्य ताराजगतों को भी दो से लेकर चार इंच तक के व्यास के क्षेत्र में फैला माना जाय तो आज के दूरदर्शक यंत्रों से ज्ञात होने वाले समस्त ताराजगतों को इतने छोटे रूप में कल्पना करने पर दो मील व्यास के एक गोले की कल्पना करनी पड़ेगी जिसमें ऊपर-नीचे दाएँ-बाएँ सब ओर ही इतने बड़े चपटे पहिया-नुमा गोले भरे पड़े हों। उन्हीं के मध्य हमारा ताराजगत केन्द्र में लटका पड़ा हो। इस बड़े गोले में ताराजगत रूपी प्रत्येक गोला दूसरे से तीन गज की दूरी पर स्थिति लटका मानना पड़ेगा।

हमें यह बात भी ध्यान में रखनी है कि समस्त तारा-जगतों को समाविस्ट करने वाले इस बड़े गोले के विस्तार की सीमा कृत्रिम ही है। हमारे प्रबलतम दूरदर्शक यन्त्र चारो ओर जितनी दूर तक का क्षेत्र अपने दृष्टिक्षेत्र में

ला सकते हैं उतनी ही दूरी तक के क्षेत्र में विद्यमान ताराजगतों का ही दर्शन उनमें हो सकता है। इसलिए यह बात कैसे असंभव मानी जाय कि इस दो मील दूर के क्षेत्र से भी बाहर सृष्टि का प्रसार न होगा। हमारी ही दुनिया के आज के दूरदर्शकों से भी प्रबल शक्ति के भावी दूरदर्शक यंत्रों से इस सीमा में वृद्धि का प्रमाण मिलना संभव हो सकता है।

इतनी बड़ी सृष्टि में हमारे ताराजगत् का कितना छोटा स्थान है, यह बात आज के विशाल शक्तिशाली दूरदर्शक यन्त्रों और वैज्ञानिकों की सूक्ष्म गवेषणा दृष्टि से ही प्रदर्शित हो सकी है। इन ताराजगतों के ही बीच विद्यमान हमारे ताराजगत या आकाशगंगा वाले इस तारा समूह में सूर्य का स्थान बहुत साधारण ही माना जा सकता है। हमें सूर्य के आकार और रूप आदि के अतिरिक्त उसके चारों ओर परिक्रमा करने वाले ग्रहों के साथ ही पृथ्वी की प्रगति, आकार-प्रकार, कक्षा आदि के सम्बन्ध में जानकारी कराने वाली अनेक पुस्तकें सुलभ हैं।

सूर्य को एक आग का गोला माना जाता है जिसका व्यास ८,५४,००० मील है। उसका प्रचंड ताप ही कदाचित् जीवन है। शतांश (सेंट्रीग्रेट) रूप के तापमापक पैमाने से उसके तल का ही ताप ६००० अंश का होगा। भीतरी भाग का ताप तो दो करोड़ से लेकर चार करोड़ अंश शतांश तक का होगा। इतनी अधिक गर्मी तो हमारी पृथ्वी पर किसी भी उत्तम से उत्तम विद्युत-भट्टी में उत्पन्न हो सकने वाली गर्मी से भी छः हजार गुनी अधिक होगी।

सूर्य का आकार हमारी पृथ्वी के आकार से एक करोड़ २५ लाख गुना बड़ा है। इतने बड़े आकार को वह प्रचंड ताप के साथ रक्षित रख सकने में क्यों समर्थ हो सका है, यह एक रहस्य ही है जिसको अब परमाणु शक्ति से उत्पन्न मानने लगे हैं।

सूर्य की परिक्रमा करने वाले ग्रहों में सूर्य से सबसे निकट का ग्रह बुध है जो सूर्य से ३,६०,००,००० मील की दूरी पर परिक्रमा करता है। सूर्य से सबसे दूर का ग्रह प्लूटो है जो सूर्य से ३ अरब ६६ करोड़ ९० लाख मील की दूरी पर रहकर उसकी परिक्रमा करता है। हमारी पृथ्वी सूर्य से ९ लाख ३० हजार मील की दूरी पर ही रह कर परिक्रमा करती है।

सूर्य और ग्रहों के आपेक्षिक आकारों को एक उपमा लेकर सहज समझा जा सकता है। मान लीजिये कि सूर्य साढ़े चार फुट व्यास का एक गोला है। यदि उसकी एक सीध में ग्रहों की खोज करने निकला जाय तो उसकी दूर पचास गज तक चलने पर पहला ग्रह मिलेगा जो बुध नाम से प्रसिद्ध है। ऊपर के कल्पित आकार के बराबर सूर्य के होने पर बुध का आकार एक नन्हीं मटर के बराबर ही होगा। इससे दूर शुक्र और फिर पृथ्वी का स्थान होगा। जो सूर्य से १६१ गज की दूरी पर होगी ऊपर के माने हुए आकार के विचार से पृथ्वी का आकार आधे इंच व्यास की गोली के बराबर होगा। पृथ्वी के बाद सूर्य से दूर जो ग्रह मिलेंगे वे क्रम से पिछले ग्रह की अपेक्षा दूनी दूरी पर होंगे। इसमें एक दो ही स्थान पर अपवाद दिखाई पड़ेगा। उदाहरणतः मंगल सूर्य से २४४ गज दूर मिलेगा, इसके बाद दूनी दूरी पर ग्रहों की जगह छोटे-छोटे ग्रह खंडों के दल का ही स्थान होगा, परन्तु वास्तविक ग्रह चौगुनी दूरी पर ८३६ गज दूर बृहस्पति होगा जो अपने विशाल आकार के लिए प्रसिद्ध है और सबसे बड़े आकार का ग्रह है। उसका व्यास लगभग ६ इंच का पाया जायगा। इनसे आगे क्रम-से शनि १५३३ गज दूर यूरेनस३०८४ गज दूर और नेप्च्यून ४८३३ गज दूर स्थित होगा। अंत में प्लूटो ग्रह होगा जो ऊपर के माने पैमाने पर सूर्य से साढ़े तीन मील की दूरी पर स्थित होगा।

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

का

४३ वां वार्षिक अधिवेशन

विज्ञान परिषद् का इस वर्ष का वार्षिक अधिवेशन म्योर कालेजके इ हाते में विज्ञान भवन के सन्निकट प्रस्तावित व्याख्यान शाला की भूमि पर २५ अप्रैल, १९५७ को परिषद् के सभ्यों तथा अन्य गणयमान्य व्यक्तियों की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ। केन्द्रीय सरकार के इस्पात, खदान तथा ईंधन मंत्री श्री केशव देव मालवीय प्रमुख अतिति थे।

प्रारम्भ में प्रयाग विश्व विद्यालय के उपकुलपति डा० श्री रंजन ने स्वागत भाषण दिया तथा प्र० वि० वि० के भूतपूर्व उपकुलपति और गोरखपुर विश्व विद्यालय के वर्तमान उपकुलपति श्री बी० एन० झा० ने मुख्य अतिथि का स्वागत करते हुए भाषण दिया। तत्पश्चात् विज्ञान परिषद् के पद-निवृत्त सभापति श्री हीरालाल खन्ना ने परिषद् का इतिहास बताते हुए नए सभापति श्री मालवीय जी का स्वागत किया। परिषद् के प्रधान मन्त्री डा० राम दास तिवारी ने वार्षिक कार्य-विवरण पढ़ सुनाया और कोषाध्यक्ष डा० संतप्रसाद टंडन ने परिषद् के आय-व्यय का ब्यौरा सम्मुख रक्खा।

अंत में माननीय श्री केशवदेव मालवीय ने भाषण दिया और डा० गोरख प्रसाद तथा परिषद् के आजीवन सभ्य श्री सद्गोपाल ने सभापति तथा सभ्यों एवं व्यक्तियों को धन्यवाद दिया।

अधिवेशन प्रारम्भ होने के पूर्व साइंटिफिक इंस्ट्रूमेंट कंपनी लि० इलाहाबाद के संचालकों की ओर से अतिथियों के जलपान की व्यवस्था हुई थी अधिवेशन की समाप्ति पर नए सभापति श्री मालवीय जी ने श्री चिंतामणि घोष एवं श्री रामनारायण लाल की स्मृति में उनके पुत्रों द्वारा दिए हुए दान से बने कमरों का उद्घाटन किया।

श्री झा महोदय ने मुख्य अतिथि श्री मालवीय जी का स्वागत करते हुए कहा कि विज्ञान परिषद् के भवन का शिलान्यास गत वर्ष ४ अप्रैल को श्री जवाहर लाल नेहरू द्वारा सम्पन्न हुआ था। विज्ञान परिषद् एक महत्वपूर्ण संस्था है। इसने हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य प्रस्तुत करने में उल्लेखनीय कार्य किया है। श्री झा ने परिषद् की विशेष सफलता की कामना की और नए सभापति द्वारा परिषद् के भवन का हाल बन जाने की आशा प्रकट की। उन्होंने यह भी कहा कि विज्ञान परिषद् को केन्द्रीय सरकार से जो सहायता प्राप्त हुई है, वह उसकी मांगों को पूरा करने के लिए सर्वथा समर्थ है।

विज्ञान परिषद् प्रयाग के नये अधिकारी तथा अंतरंगी

सभापति—माननीय श्री केशवदेव मालवीय
उप-सभापति—१–डा० निहालकरण सेठी
२–डा० गोरख प्रसाद
प्रधान मन्त्री—डा० धर्मेन्द्र नाथ वर्मा
मन्त्री—१–डा० रमेश चन्द्र कपूर
२–श्री० नारायण सिंह परिहार
कोषाध्यक्ष—डा० संतप्रसाद टंडन
प्रधान संपादक—डा० देवेन्द्र शर्मा
आय-व्यय परीक्षक—डा० सत्य प्रकाश
तथा - एम० अग्रवाल एण्ड कम्पनी
चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट, इलाहाबाद

अंतरंग सभा के सदस्य—

स्थानीय—डा० प्यारेलाल श्रीवास्तव
डा० रामदास तिवारी
श्री हरिमोहन दास टंडन
डा० रामकुमार सक्सेना
बाहरी—श्री हरद्वारी लाल टंडन (कानपुर)
डा० ब्रज मोहन (वाराणसी)
डा० रामचरण मेहरोत्रा (लखनऊ)
डा० आर० डी० मिश्र (वाराणसी)

नये सभापति का अभिनन्दन

श्री केशव देव जी,

मैं आपके बड़े भाई श्री कपिल देव मालवीय और आपको बचपने से जानता हूँ। आपके पिता जी मेरे ऊपर सदा से दयालु रहे। आज इलाहाबाद के वैज्ञानिक और नागरिक की हैसियत से मैं आपका स्वागत करता हूँ।

कदाचित् आपको यह मालूम है कि इस संस्था की नींव डा० गंगानाथ झा, प्रो० रामदास गौड़ और प्रो० सालिगराम भार्गव ने सन् १९१३ में डाली। इसका मुख-पत्र "विज्ञान" सन् १९१५ से प्रकाशित होना आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे इस परिषद् ने प्रगति की और इसकी रजत जंयती श्री सम्पूर्णानन्द जी के सभापतित्व में सन् १९३९ में मनाई गई। हमारे पास अपने प्रकाशित वैज्ञानिक साहित्य की सम्पत्ति लगभग १५-१६ हजार पृष्ठों की है, और ६५ के लगभग पुस्तकें निकल चुकी हैं। परिषद् समय-समय पर वैज्ञानिक व्याख्यानों की आयोजना करती रही है। एक बार पूज्य श्री मदन-मोहन मालवीय जी ने इसी परिषद् के एक अधिवेशन में आर्कमीडीज सिद्धान्त पर ऐसा भाषण दिया कि जनता मुग्ध हो गई। एक बार स्व० डा० गणेश प्रसाद जी जब गणित के इतिहास पर व्याख्यान दे रहे थे, तो उसके सभापति लार्ड मेस्टन थे। लार्ड मेस्टन ने अपने हिन्दी भाषण में यह कहा, कि मुझे यह आशा न थी कि गणित ऐसे विषय पर हिन्दी में इतना सुन्दर भाषण दिया जा सकता है। इसी प्रकार इसी परिषद् की अध्यक्षता में महा-महोपाध्याय डा० गंगा नाथ झा[1] ने प्राचीन भारत की भवन-निर्माण कला पर और प्राचीन भारत और स्वास्थ्य पर बहुत ही सुन्दर व्याख्यान दिए थे।

इस प्रकार के भाषणों की परम्परा बराबर परिषद के अधिवेशनों में चलती रही। मेरा सम्बन्ध परिषद के साथ आरम्भ से ही रहा।। मेरे अवकाश ग्रहण करने के अनन्तर मुझे गत कई वर्षों से परिषद के सभापति रहने का सुयोग प्राप्त हुआ। विज्ञान भवन के निर्माण का कार्य तभी से हमने हाथ में लिया। इसी कार्य के लिए प्रयाग विश्वविद्यालय ने हमें म्योर कालेज में जमीन देने की कृपा की। इस कार्य में हमें उस समय के वाइस चांसलर प्रो० ए० सी० बनर्जी और रजिस्ट्रार श्री कन्हैया लाल गोविल से तथा विश्वविद्यालय के अन्य कार्यकारिणी सदस्यों से सहायता मिली, बाद को अन्त-रिम वाइस-चांसलर श्री भैरव नाथ झा ने भी प्रोत्सा-हित किया।

हमें यह सूचित करते हुए हर्ष होता है कि भवन-निर्माण के लिए श्री बेनी माधव और श्री बेनी प्रसाद अग्रवाल ने अपने पूज्य पिता श्री रामनारायण लाल जी की स्मृति में एक कमरा बनवाने के लिए और श्री हरिप्रसन्न घोष और उनके भाइयों ने अपने पूज्य पिता श्री चिन्तामणि घोष की पुण्य स्मृति में कमरे बनवाने के लिए कम से कम ५०००) रुपया देने का अनुग्रह किया। हम इन लोगों के अत्यन्त आभारी हैं। प्रयत्न यह हो रहा है कि प्रो० सालिगराम भार्गव और प्रो० रामदास जी गौड़[2] की स्मृति में भी हम अपने कमरे तैयार कर सकें। प्रो० गौड़ जी के कमरे के लिए प्रयाग विश्व-विद्यालय के रसायन विभाग के सदस्य प्रयत्न कर रहे हैं। प्रो० भार्गव के नाम के कमरे के लिए तोशनीवाल एण्ड ब्रदर्स ने १००० रु० दिए हैं। प्रो० भार्गव के अन्य विद्यार्थियों से भी हम सहायता की आशा करते हैं। लाला छोटे लाल और गया प्रसाद ट्रस्ट[3] ने हमें ५०००) रु० की रकम दी हैं। अन्य व्यक्तियों में से जिन्होंने हमें १०००) रुपया दिया है, उनके नाम ये हैं :—

१—श्री जस्टिस हरिश्चन्द्र
२—श्री रामकृष्ण दवे
३—श्री प्रकाश चन्द्र चतुर्वेदी
४—श्री राधेश्याम जी
५—श्री बेनीप्रसाद टण्डन
६—श्री डा० श्रीरंजन

१—और डा० अमरनाथ झा
२—और प्रो० अमरनाथ झा
३—और कानपुर

७—श्री डा० ईश्वरी प्रसाद

८—श्री डा० गोरख प्रसाद

६—श्री डा० सत्य प्रकाश

१०—श्री हीरालाल खन्ना

प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा और डा० प्यारे लाल श्रीवास्तव जी ने भी १०००) का वचन दिया है, और हम आशा करते हैं कि यह धन भी हमें अति शीघ्र मिल जायगा !

आपको स्मरण होगा कि गत वर्ष ४ अप्रैल १९५६ को प्रधान मंत्री श्री पं० जवाहर लाल नेहरू जी ने हमारे इस भवन का शिलान्यास रक्खा, और श्री नेहरू जी ने हमारे कार्य में इतनी रुचि ली, कि जब-जब हमने उनको पत्र लिखा उन्होंने २४ घण्टों के भीतर ही हमारे पत्रों का स्वयं उत्तर दिया और हमारे उत्साह को बढ़ाया। इस सम्बन्ध में हम आचार्य नरेन्द्र देव जी को नहीं भूल सकते जिनके प्रयत्न से ही हमें नेहरू जी का सहयोग प्राप्त हुआ। उन्होंने वचन दिया था कि वे हमारे शिलान्यास-समारोह में सम्मिलित होंगे, पर ईश्वर की इच्छा ही कुछ और थी। अस्तु !

आपको वैज्ञानिक अनुसन्धान और प्राकृतिक साधनों का अच्छा अनुभव रहा है। हमें प्रसन्नता है, कि आप इस समय भी केन्द्रीय शासन में महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व का कार्य लिए हुए हैं। हमें आशा है कि आपकी अध्यक्षता में परिषद के कार्य का स्तर ऊँचा उठेगा, और परिषद द्वारा देश की अच्छी सेवा हो सकेगी।

हीरा लाल खन्ना

सभापति, विज्ञान परिषद

विज्ञान परिषद के ४३ वें वर्ष का
कार्य्य-विवरण

अक्टूबर १९५५—सितम्बर १९५६

अक्टूबर १९५६—मार्च १९५७

इस वर्ष का वार्षिक उत्सव अन्य वर्षों के उत्सवों की अपेक्षा विशेष महत्व का है अतः कार्य्य-विवरण प्रस्तुत करने में हमें एक विशेष प्रसन्नता होती है। कारण यह है कि परिषद के ४३ साल के जीवन में हम पहली बार जिस स्थान पर अपना उत्सव कर रहे हैं वह परिषद का अपना भवन है। इसी वर्ष के अन्दर अप्रैल १९५६ को हमारे प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल जी नेहरू ने इस भवन का शिला-न्यास किया और लगभग १ वर्ष में हम इस स्थिति में हो गये हैं कि इस भवन में अपना कार्यालय रख सकते हैं तथा उत्सव भी कर रहे हैं। इस कार्य्य को आरंभ कराकर इस स्थिति तक पहुँचाने का श्रेय हमारे सभापति श्री हीरा-लाल जी खन्ना को है। जिस स्थान पर हम लोग एकत्रित हैं वह हमारा हाल होना है। इस हाल को छोड़ कर बाकी भाग तथा ४ कमरे लगभग तैयार हैं। हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि जहाँ हमारे अवकाश प्राप्त करने वाले सभापति जी ने इतना बनवा दिया है, हमारे नये सभापति जी हाल को पूरा करा देंगे और अगले वर्ष जब हम वार्षिक उत्सव करेंगे तब इस खुले मैदान के स्थान पर, जहाँ कि हमने हाल को प्लिंथ तक बना लिया है, हमें पूरा तय्यार हाल मिलेगा और उसी में हमारी मीटिंग होगी। भवन-निर्माण कोष की आय तथा व्यय का लेखा तथा दानदाताओं की सूची परिशिष्टों में दी हुई है।

गत वर्ष मैंने परिषद की ओर से एक अनुसंधान-पत्रिका निकालने के सम्बन्ध में कहा था जिसमें मूल अनुसंधान लेख तो हिन्दी में होंगे पर उनका संक्षेप हिन्दी, अँग्रेजी, फ्रेंच तथा जरमन में होगा जिससे हमारे अनुसंधान लेख संसार के प्रमुख Abstract में स्थान पा सकेंगे। अन्य देशों में इस प्रकार की पत्रिकायें छपा करती हैं। मैंने यह भी कहा था कि बिना अच्छे अनुदान के यह काम हम नहीं कर सकते। मुझे आज यह कहते हुए हर्ष होता है कि इस कार्य के लिये उत्तर प्रदेश सरकार ने हमें २५००) का अनावर्तक अनुदान जनवरी १९५७ में दिया है जिससे हम शीघ्र ही त्रैमासिक पत्रिका निकालने वाले हैं। नेशनल इन्स्टीट्यूट को भी हमने आवेदन पत्र भेजा है। अधिक अनुदान मिलने पर तथा इस अनावर्तक अनुदान के आवर्तक रूप में बदल जाने पर हम इसे मासिक पत्रिका कर सकेंगे। इसका सारा कार्य डा० सत्यप्रकाश जी कर रहे हैं।

वैज्ञानिक ज्ञानकोष के प्रकाशन के सम्बन्ध में, जिसके सम्बन्ध में मैंने गत वर्ष कहा था, भारत सरकार से लिखा पढ़ी हो रही है। अनुदान मिलने पर हम इस कार्य को सम्पन्न कर सकेंगे। डा० गोरख प्रसाद जी ने इस कार्य को पूरा करने का बीड़ा उठाया है। हम उनके आभारी है।

इस वर्ष हम पं० ओंकारनाथ जी शर्मा की पुस्तक "रेलइंजन परिचय तथा संचालन" पृष्ठ-संख्या ३४०, चित्र ८५, रंगीन चित्र २ के साथ निकाल सके हैं जिसे हम शीघ्र सभ्यों के पास भेजेंगे। उत्तर प्रदेश सरकार से पुस्तकें छापने के लिये हमें जनवरी १९५७ में २५००) अनावर्तक अनुदान मिला है जिससे हम पुस्तकें छापने का प्रबन्ध कर रहे हैं।

परिषद के आयव्यय का लेखा, विज्ञान के सम्बन्ध में खर्च, अगले वर्ष के लिए अनुमान पत्र तथा भवन सम्बन्धी हिसाब आगे परिशिष्ट क, ख, ग, घ और च में दिये हैं।

इस वर्ष आजीवन सभ्यों की संख्या ६६, सभ्यों की १४४ तथा ग्राहकों की २६१ रही। हमें सभ्यों से एक निवेदन करना है कि वह अपना वार्षिक सभ्य शुल्क समय

पर देते रहें। कुछ सभ्यों पर शुल्क बहुत वर्षों से बाकी है जिससे हमें असुविधा होती है। आशा है कि हमारे प्रेमी सभ्य हमारी परिस्थिति को देख कर सहायता करेंगे।

हम अपने भवन के अधोधरातलीय विस्तृत कक्ष (अंडरग्राउण्ड सेलार) को पूरी तरह तैयार कर सकें हैं। बिजली का भी प्रबन्ध हो गया है। कुछ फर्निचर भी आ रहा है। श्री जवाहरलाल जी नेहरू ने शिलान्यास के अवसर पर हमारे उस हाल को देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की थी और वैज्ञानिक पुस्तकालय के लिए बहुत उपयुक्त बतलाया था।

हम इस दिशा में विशेष उद्योग करना चाहते हैं। वैज्ञानिक साहित्य-सृजन के लिए हम उसे एक सुन्दर केन्द्र बनाना चाहते हैं। अंग्रेजी या अन्य विदेशी भाषाओं का उपयोगी साहित्य तो हमें अपने पुस्तकालय में रखना ही है, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं का वैज्ञानिक साहित्य भी अधिक से अधिक संख्या में एकत्र करने का हौसला है। यह कार्य बड़ा व्यय-साध्य है। सरकार की प्रचुर सहायता तो अपेक्षित है ही, साहित्य-प्रेमी विद्वानों से भी हमारी प्रार्थना है कि वे अपने निजी संग्रहों में से पुस्तकें दान कर हमारे इस पुस्तकालय का मूल्य बढ़ावें। यह ध्यान रखना है कि हम उनका सर्वोत्तम उपयोग करेंगे क्योंकि हम वैज्ञानिक लेखकों को प्रश्रय दे सकेंगे जो हमारी बहुसंख्यक जनता में वैज्ञानिक भावना उत्पन्न करने के लिए पुस्तक-पुस्तिकायें, लेख आदि प्रस्तुत करते रहेंगे। हम अपने मासिक 'विज्ञान' को भी सुन्दर बना सकने के लिए सामग्री तैयार करा सकेंगे। अन्य उत्तम पत्र-पत्रिकाओं में भी लेख भेजवाने या प्रकाशकों को वैज्ञानिक पुस्तकें तैयार करा सकने में यथेष्ट सहायता दे सकेंगे।

कार्यालय की व्यवस्था करने के लिए हमारे पास धन का पूर्ण अभाव है। फलतः हमारे पास कोई भी पूर्ण समय देकर काम करने वाला क्लर्क, प्रबन्धक तथा सम्पादक नहीं है।

प्रकाशन का भी कार्य अधिक बढ़ाना है। हम विज्ञान के उपयोगी अंगों पर साहित्य प्रस्तुत ही न करेंगे, प्रत्युत उसके प्रसार का भी अधिक आयोजन कर सकेंगे।

"विज्ञान" को हम अधिक से अधिक संख्या में छाप सकने के लिए आकर्षक और विशेष उपयोगी बनाना चाहते हैं। धनाभाव से अभी तक वह जीवित मात्र ही है।

अंततः हाल की हमें अत्यन्त ही आवश्यकता है जिसमें हम इंगलैण्ड की रायल इंस्टिट्यूशन की तरह वैज्ञानिक विषयों पर जनता के सम्मुख वैज्ञानिकों के लोकप्रिय भाषण तथा प्रयोगों के प्रदर्शन कराने का प्रयास करेंगे। ये सब हौसले आज हमें अपनी शक्ति के बिल्कुल बाहर की ही बातें हैं, किन्तु किसी न किसी को इस दिशा में आगे तो बढ़ना ही है। अतएव राष्ट्र-निर्माण के इस पुनीत तथा आवश्यक कार्य को हम अपने सभापति, कार्यकर्त्ताओं, विद्वानों तथा उदार पोषकों के बल पर अविलम्ब उठाना चाहते हैं। सफलता आप सब के सक्रिय सहयोग और आशीर्वाद पर निर्भर है।

रामदास तिवारी
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद्

परिशिष्ट क

विज्ञान परिषद् का आयव्यय

अक्टूबर १९५५ से मार्च १९५७ तक

आय		व्यय	
विज्ञान से	२५१२—९—०	लिपिक का वेतन	७२०—०—०
पुस्तकों से	१९९६—५—३	सह सम्पादक का वेतन	७२०—०—०
		चपरासी ,, ,,	८०४—०—०
उ० प्र० सरकार से	६५००—०—०	विज्ञान की छपाई	३९६०—६—०
ब्याज से	८५—५—१०	ब्लाक ,,	१७३—६—९
विज्ञान भवन से वापस	७४०—२—९	रेल इंजिन की छपाई	२१०७—१४—०
भारत सरकार से	१५०००—०—०	डाकव्यय	७७०—७—९
	३७११०—३—१०	पुस्तकें खरीदीं	१९५—१०—०
पिछली रोकड़	२०८८—७—११	लेखकों को पारिश्रमिक	१२४—०—०
		विज्ञान भवन को	२६६२६—०—०
	३९१९८—११—९	रिसर्च जरनल को	१५२—१२—३
	३६६८३—११—६	स्टेशनरी	३९—७—६
	२५१५—०—३	इक्का ठेला	१३—८—०
		साइकिल की मरम्मत	२०—१४—६
		पार्सल का सामान	१०—२—९
		टाइप कराई	३६—१३—०
		बैंक कमीशन	३—६—०
		फुटकर	२०५—१—०
			३६६८३—११—६

इस वर्ष के पदाधिकारी इस प्रकार थे :—

श्री हीरालाल खन्ना—सभापति
डा० निहाल करण सेठी—उप सभापति
,, गोरख प्रसाद— ,,
डा० नीलरत्नधर, ,,
डा० फूलदेव सहाय वर्मा, ,,
डा० श्रीरञ्जन, ,,
श्री हरिश्चन्द्र जी जज, ,,
,, रामदास तिवारी—प्रधान मंत्री
,, देवेन्द्र शर्मा— मंत्री
,, रामचरण मेहरोत्रा—,,
,, संत प्रसाद टंडन - कोषाध्यक्ष
,, देवेन्द्र शर्मा—प्रधान संपादक
,, सत्य प्रकाश—आय-व्यय परीक्षक

परिशिष्ट ख

विज्ञान का आय-व्यय

अक्टूबर १९५५ से मार्च १९५६ तक

आय		व्यय	
विज्ञान के ग्राहकों से	२५१२—६—०	विज्ञान की छपाई	३९६०—६—०
सभ्यशुल्क कुल का ⅓	१२१—३—३	डाक व्यय	५१२—१५—९
उत्तर प्रदेशीय सरकार से	२०००—०—०	ब्लाक	१७३—६—९
	४६३३—९—३	लिपिक का वेतन कुल का ⅔	४८०—०—०
		चपरासी का वेतन कुल का ⅔	५३६—०—०
		इक्का ठेला	१३—६—०
		साइकिल की मरम्मत	२०—१४—६
		लेखकों को पारिश्रमिक	१२४—०—०
			५८२१—१—०
		पिछला घाटा	२९०६—१२—६
			८७२७—१३—६
		इस वर्ष का घाटा	४०९४—४—३
			४६३३—९—३

परिशिष्ट ग

परिषद् के विषय में अनुमान पत्र

सन् १९५७-५८ (अप्रैल १९५७ से मार्च १९५८ तक का)

आय		व्यय	
आजीवन सभ्यों से	१००)	रेल इंजिन भाग २ की छपाई	२०००)
साधारण ,,	४००)	स्टेशनरी	५०)
पुस्तकों से	१४००)	डाक व्यय	२००)
	१९००)	लिपिक का वेतन (कुल का ⅓)	१६०)
		चपरासी का वेतन (कुल का ⅓)	१८४)
		विज्ञान का घाटा	४०९४।)।
			६६८८।)।

इस प्रकार परिषद् को इस वर्ष ४७८८।)। का घाटा होगा। इसके अतिरिक्त ३६९९) का पिछला कर्ज हमें देना है।

विज्ञान के विषय में अनुमान पत्र

आय		व्यय	
ग्राहकों से	१०००)	विज्ञान की छपाई	१८००)
सभ्यों से	१५०)	विज्ञान का कागज	७००)
सरकार से	२०००)	कवर का कागज	२३०)
	३१५०)	कवर की छपाई	४००)
		बाइंडिंग	२४०)
		ब्लाक	३००)
		सहायक सम्पादक का वेतन	४८०)
		लिपिक का वेतन (कुल का २/३	३२०)
		चपरासी का वेतन (कुल का २/३)	३६८)
		फुटकर	५०)
		डाकव्यय	२८०)
			५१६८)
		घाटा जो परिषद देगी	२०१८)

परिशिष्ट घ

विज्ञान भवन के आय-व्यय का विवरण

(जुलाई १९५५ से मार्च १९५७ तक)

आय		व्यय	
यूनीवर्सिटी से ट्रान्सफर	२३४००)	सीमेण्ट	६६२४— ८—०
भारत सरकार से	२५०००)	पानी	२४८८— ८—०
उत्तर प्रदेश सरकार से	५०००)	ईंट	११६२३— ७—६
इण्डियन प्रेस से	३०००)	लोहा	११४०९ — ३—०
परिषद से	३४२१)	मजदूरी	११४६२— ५—०
नेशनल सेविंग्स सर्टीफिकेट से	८२८०)	बाँस बल्ली	९१०— ०—६
कुल आय	६८१०१)	चूना	२३०८—१४—०
कुल व्यय	६२०२६।।)।।।	बालू	४१६७ — ७—०
	६०७४≡)।	लकड़ी	३०१४—१२—९
		मिट्टी	७४३— २—०
		चौकीदार	६०६— ०—०
		इंजीनियर	१३००— ०—०
		मोजेक फर्श	१७३९—१०—९
		ट्रान्सफर	१४९५— ०—०
		टैक्स, स्टोरवेल	४९७ १३—९
		बिजली	५००— ०—०
		अन्य	११३६— ०—६
		योग	६२०२६—१२—९

परिशिष्ट च

दान-दाताओं की सूची

डा० सत्यप्रकाश	१०००)
डा० ब्रजमोहन	५०१)
श्री हरिश्चन्द्र जी	१०००)
श्री रामकृष्ण दवे	१०००)
श्री प्रकाशचन्द्र चतुर्वेदी	१०००)
श्री राधेश्याम जी	१०००)
श्री बेनीप्रसाद टंडन	१०००)
श्री हीरालाल खन्ना	१०००)
श्री बेनी माधव अग्रवाल	३५००)
इन्डियन प्रेस द्वारा प्राप्त	३०००)
श्री जगदीश स्वरूप	२००)
डा० गोरख प्रसाद	७०२)
डा० गोरख प्रसाद	१३८।≡)
डा० ईश्वरी प्रसाद	५००)
श्री शिवनाथ (अलीगढ़ इनामिल वर्क्स)	१०१)
श्री हरीराम अग्रवाल	१००)
भारत सरकार	१०,०००)
भारत सरकार	२५०००)
डा० गोविन्दराम तोषनीवाल	१०००)
उत्तर प्रदेशीय सरकार	५०००)
परिषद् का अनुदान	८२००)
श्री ताराचन्द	१०१)
श्री एस० सी० कपूर	१०१)
श्री पुत्तूलाल	१०१)
श्री आर० एस० गुप्त	१०१)
श्री सालिग्राम टंडन	१०१)
श्री चंडी प्रसाद	१००)
श्री चंपाराम चतुर्वेदी	१००)
श्री हरद्वारी लाल टंडन	२००)
श्री परमानन्द	१५१)
श्री छोटेलाल गयाप्रसाद ट्रस्ट	५०००)
मिश्रित छोटी रकमें	१५८४)
मुनुआँ जी	१००)
श्रीराय	१००)

नवीन प्रकाशन

रेल इंजिन
परिचय और संचालन

लेखक

श्री० ओंकार नाथ शर्मा, ए० एम० आई० एल० ई०, भूतपूर्व, लोकोफोरमैन, बी० बी० ऐण्ड स० आई० रेलवे, चीफ मिकेनिकल इंस्ट्रक्टर, पूर्वोत्तर रेलवे।

पृष्ठ-संख्या (रायल साइज) ३४२, चित्र ८३, दो रंगीन प्लेट। मूल्य सजिल्द ६।।) अजिल्द ६)

इस पुस्तक के लेखक रेलवे के यान्त्रिक विभाग में कार्य-संचालन के अनुभवी विद्वान् हैं। भारतीय भाषाओं में इस विषय की पुस्तकों का अभी तक अभाव है। विद्वान् लेखक ने बहुत अधिक समय तक लगे रह कर प्रश्नोत्तरी के रूप में यह पुस्तक लिखी है। इसमें कुल ५२८ प्रश्न हैं जिनके उत्तर चित्रों के साथ समझाए गए हैं।

यह पुस्तक इंजन चलाने वालों और उनकी मरम्मत आदि करने वालों के उपयोग की है। होनहार ड्राइवरों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए रेल-इंजिन परिचय के प्रथम अध्याय में परीक्षोपयोगी विशेष पाठ्य-क्रम भी दिया गया है। कार्यकर्ताओं की रुचि को समझते हुए, जटिल विषयों को सरल बनाने के उद्देश्य से कई सांकेतिक चित्रों को तरह तरह के शेडों से सज्जित किया गया है और यान्त्रिक चित्रों को भी यथा साध्य सरल बनाया गया है जिससे पाठकों को बहुत लाभ हो सकता है। ऐसे साहित्य से रेलवे कर्मचारियों की कार्यक्षमता बढ़ेगी और दुर्घटनायें कम होंगी जिससे देश को भी लाभ होगा।

विषय-सूची—प्रथम खण्ड—(१) ड्राइवरों का जीवन और शिक्षाक्रम (२) विषय प्रवेश (३) वाष्प इंजिन के सिद्धान्त (४) वाल्व और सिलिंडर का घटना चक्र (५) स्टिफेंस का वाल्व गति यंत्र (६) वाल्शर्ट और जॉय के वाल्व गति यंत्र (७) कैपरॉटी वाल्व गति यंत्र (८) पॉपेट वाल्व गति यंत्र (९) इंजिन का यंत्र और फ्रेम (१०) बायलर (साधारण विवेचन) (११) बॉयलर (विशेष वर्णन) (१२) वाष्प का अति तप्तीकरण (१३) फीड पम्प, इंजेक्टर, फीड वाटर-हीटर और इकोनोमाइजर (१४) बायलर के सहायक यंत्र और उपकरण (१५) लुबरीकेटर और चिकनाई (१६) ग्रीज, तेल, कोयला, पानी और धातुओं के गुण आदि का विवेचन (१७) पदार्थ, ताप, वाष्प और दबाव आदि की परिभाषायें और निवारण (१८) प्रज्वलन विज्ञान (१९) रेल की लाइन और गेज आदि (२०) सिगनल और इंटरलाकिंग।

द्वितीय खण्ड—(२१) यात्रा की तैयारी—शेड में—(२२) रनिंग शेड से चलकर गाड़ी में लगना (२३) इञ्जन चलाना (२४) फायरमैन का काम कोयला झोंकने की वैज्ञानिक विधि—(२५) बीच के स्टेशनों पर ठहरना (२६) यात्रा के अंत में शेड में (२७) रेल संचालन नियम।

विज्ञान परिषद्

म्योर कालेज कम्पाउंड, इलाहाबाद

Reg. No. A 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१६७० वि० या १६१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री,दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों की परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० देवेन्द्र शर्मा
सहायक संपादक— जगपति चतुर्वेदी

मुद्रक—श्री सरयू प्रसाद पांडेय, नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग तथा प्रकाशक—डा० डी० एन० वर्मा प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद।

विशेषाङ्क

अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिकीय वर्ष

भाग ८५

संख्या ४–५

जलाई-अगस्त १९५७, कर्क-सिंह २०१४ वि० (आषाढ़-श्रावण १८७९ श०)

इस अङ्क का मूल्य ७५ नये पैसे

वार्षिक मूल्य चार रुपये

विषय-सूची

१—विज्ञान और पृथ्वी ... ६७

२—अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिकीय वर्ष—एक परिचय ... ६८

३—अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष (लेखक—सर हैरल्ड स्पैंसर जोंस) १००

४—अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष और उसका महत्व (लेखक—डा० के० एस० कृष्णन) १०२

५—क्या सूर्य का मौसम पर असर पड़ता है १०५

६—अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष और भारत का सहयोग (लेखक—डा० एस० के० मित्रा) ... १०७

७—अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष के लिए अमेरिका द्वारा आयोजित राकेट कार्यक्रम पर प्रकाश (लेखक—डा० जौजेफ कापलेन) १०६

८—आकाश में कृत्रिम उपग्रह चन्द्रमा की यात्रा के लिये पहला प्रयास (लेखक—श्री एन० आर० सेन) ११२

६—निशा उद्दीप्ति ... (लेखक—श्री अशोक वर्मा) ११५

१०—दक्षिणी ध्रुव-क्षेत्र में अनुसंधान का महत्वपूर्ण कार्यक्रम ११६

११—समुद्र के स्तरों और तरंगों का पड़ताल १२१

१२—चन्द्रमा के बारे में नये तथ्य (लेखक श्री प्रो० वी० शारोनोव डी० एस० सी०) १२३

१३—तेल की खोज १२६

—:o:—

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानं जानेतानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तति। तै० उ० ।३।५।

भाग ८५	कर्क-सिंह २०१४; विक्र०; आषाढ़-श्रावण १८७६ शाकाब्द; जुलाई-अगस्त १९५७ ईस्वी	संख्या ४, ५

विज्ञान और पृथ्वी

विज्ञान की उन्नति ने हमारा न केवल विश्व और प्रकृति का ज्ञान बढ़ाया है, वरन् देश और काल की संकुचित सीमाओं पर किसी हद तक विजय प्राप्त कर ली है। जहाँ पहले मानव केवल निज जाति और निज राष्ट्र की उन्नति को ही महत्व देता था, अब वह अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखता तथा विश्वकल्याण का चिन्तन करने लगा है। उसकी इस दिशा में सफलता मानव में स्वार्थ और परमार्थ की मात्रा पर निर्भर रहेगी। संयुक्त संघ कुछ हद तक विश्व शान्ति कायम रखने में सफल हुआ है; परन्तु इस दिशा में वैज्ञानिक और भी आगे है—वह सत्य के पथ का पथिक निरपेक्ष भाव से ज्ञानोपार्जन करता है, देश और काल के बन्धन उसे नहीं बाँधते क्योंकि सत्य इन बन्धनों से मुक्त है।

हमारी पृथ्वी के जलवायु, अन्तराल, चुम्बकत्व, महासागरों, ध्रुव प्रदेशों, वायु मण्डल आदि का ज्ञान अभी अपूर्ण है। इन सब पर हमारे ग्रह से परे की चीजों का कितना प्रभाव पड़ता है इसका जब तक कि धरातल के अनेक स्थानों पर ज्ञान प्राप्त करके अध्ययन न किया जाय हमारी अपनी पृथ्वी सम्बन्धी जानकारी ही अधूरी रह जाती है। भूतल के अनेक स्थानों पर अध्ययन तभी सफल हो सकता है जब सब देशों में सहयोग हो। और यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि संसार के प्राय: सत्तर देश मिलकर इस अध्ययन में हाथ बँटा रहे हैं। ये अध्ययन न केवल मानव ज्ञान की सीमा को और दूर हटा देंगे, वरन् इस ग्रह के प्राणियों को अधिक सुखी बनाने में सफल हो सकते हैं।

जिस प्रकार राष्ट्रों की सीमायें इस महान् आयोजन में कोई रुकावट नहीं, उसी प्रकार आशा है मानव के प्रत्येक व्यवहार से लघुता और कृत्रिम सीमाएँ हट जायँगी। तब होगी यह पृथ्वी अधिक सत्य, शिव और सुंदर।

———

अन्तरराष्ट्रीय भू-भौतिकीय वर्ष—एक परिचय

पहली जुलाई १९५७ प्रारम्भ होने के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष का आरम्भ होता है और ३१ दिसम्बर १९५८ की अर्धरात्रि को इसकी समाप्ति होगी। इसमें ७० देश भाग ले रहे हैं, जिसमें भारत भी शामिल है।

भू-भौतिक शास्त्र को 'भू-विज्ञान' कहा जा सकता है। इसमें धरती और उसके वातावरण का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है इसके अन्तर्गत ऋतुविज्ञान, समुद्रशास्त्र, भूकम्प और पृथ्वी के अन्तर का अध्ययन आदि अनेक विषय आ जाते हैं। इस प्रकार भू-भौतिक वर्ष में विज्ञान की लगभग १३ शालाओं द्वारा धरती के वातावरण के रहस्य का अन्वेषण किया जायगा।

पहले भी सन् १८८२-८३ में कई देशों ने मिलकर ध्रुव प्रदेश, मुख्यतः उत्तरी ध्रुव प्रदेश का भू-भौतिक अध्ययन किया था। फिर ५० वर्ष बाद १९३२-३३ में यह काम और विस्तृत रूप से किया गया।

अप्रैल १९५० में अमेरिका के डा० बर्कनेर ने प्रस्ताव रखा कि विज्ञान जिस गति से आगे बढ़ रहा है उसे देखते हुए यह अध्ययन ५० साल के बजाय २५ साल के अन्तर पर किया जाना चाहिए।

१९५२ में अन्तर्राष्ट्रीय-विज्ञान-संघ परिषद् के तत्वावधान में इसका कार्यक्रम बनाने के लिए विशेष समिति बनाई गयी। तदनुसार कार्यक्रम बना और इसमें ७० देश भाग ले रहे हैं।

१८८२-८३ और १९३२-३३ में जो अध्ययन हुआ था, उसे 'ध्रुवीय वर्ष' का नाम दिया गया था, परन्तु प्रस्तुत-अध्ययन को 'भू-भौतिक वर्ष' नाम दिया गया है।

१८ मास की अवधि में वैज्ञानिक हमारे इस ग्रह के जीवन में काम करने वाली तमाम प्रक्रियाओं का अध्ययन करने का प्रयत्न करेंगे। आगामी जाँच-पड़ताल की एक अत्यंत आवश्यक विशेषता यह होगी कि उसमें अनुसंधान करने के नये तरीकों का व्यापक प्रयोग, किया जायेगा। स्वचालन, दूर के नियंत्रण और रेडियो इंजिनियरिंग की नवीन उपलब्धियाँ वैज्ञानिकों की सेवा में प्रस्तुत होंगी। विशेष रूप से सुसज्जित वायुयानों द्वारा अनेक पर्यवेक्षण किये जायेंगे और वायुमंडल के अत्यधिक ऊँचे क्षेत्रों का अध्ययन करने के लिए राकेट यंत्रों का उपयोग किया जायेगा।

अंतर्राष्ट्रीय भू-भौतिकीय वर्ष में संयुक्तराष्ट्र अमरीका और सोवियत वैज्ञानिक मनुष्य द्वारा निर्मित पृथ्वी के उपग्रहों को छोड़ेंगे। कृत्रिम उपग्रह की उड़ान के समय उसके भीतर रखे हुए विशेष प्रकार के यंत्र हवा के घनत्व वायुमंडल के ऊँचे क्षेत्रों में होने वाली चुम्बक-क्रियाओं, अंतरिक्ष किरणों की ऊर्जा तथा उल्का-कणों के साथ उपग्रह की टक्करों को अंकित करेंगे।

कुछ सौ किलोमीटरों की ऊँचाई पर जो तथ्य अंकित होंगे वे रेडियो द्वारा पृथ्वी पर पहुँचते रहेंगे। पृथ्वी के चारों ओर उपग्रह की गति को पृथ्वी पर रखे हुए विशेष यन्त्र द्वारा लगातार देखा जायगा। सम्भवतः यह उपग्रह केवल चन्द दिनों तक ही पृथ्वी के गिर्द भयानक गति से चक्कर लगा पायेगा, क्योंकि अंत में वह उस गर्मी से जलकर नष्ट हो जायगा जो वायु के साथ उसके संघर्षण के फलस्वरूप पैदा हो जायगी। पृथ्वी के इन कृत्रिम उपग्रहों से विज्ञान को हमारे ग्रह और विश्व से सम्बन्धित नये पहलुओं का उद्घाटन करने में बड़ी सहायता मिलेगी।

समस्त पृथ्वी पर भू-भौतिकीय अध्ययन करने से वैज्ञानिकों को उन नियमों को समझने में जो प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की गतिविधि का नियंत्रण करते हैं, मानव जीवन पर उन नियमों के प्रभाव को पहले से जान लेना और उनका मानव जाति के हित में इस्तेमाल करने में मदद मिलेगी।

फलस्वरूप वैज्ञानिक पहली बार सारे संसार का एक विशेष ऋतु-मानचित्र तैयार कर सकेंगे।

भूचालों की उत्पत्ति के नियमों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हमारी पृथ्वी के अन्तर्भौम स्तरों में 'पैठा' जाये। पृथ्वी की पपड़ी के अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिए बहुत-कुछ किया जायगा। पूरे अंतर्राष्ट्रीय भू-भौतिकीय वर्ष भर वैज्ञानिक लोग भूकम्प निर्देशक यंत्रों द्वारा सावधानी के साथ पृथ्वी के प्रकम्पनों का निरीक्षण करेंगे।

उक्त महीनों में अयन मंडल में होने वाली जटिल क्रियाओं का निरीक्षण किया जायेगा। अयन मण्डल में परावर्तित होने वाली रेडियो-तरंगों के प्रसारण के लिए इन क्रियाओं का अधिक महत्व है और उनसे दूर-दूर तक होने वाले लघु तरंग-संचारण का स्वरूप निश्चत हो सकेगा।

यह बात बहुत दिनों से मालूम है कि जलवायु पर हिम-तरंगों का असर पड़ता है। अंतर्राष्ट्रीय भू-भौतिकीय वर्ष के कार्यक्रम में हिम-नदियों का निरीक्षण भी शामिल है जिसका संचालन यन्त्रों से सुसज्जित बीसियों सागर अनुसंधान अभियान, उन जहाजों पर सवार होकर करेंगे जो पृथ्वी के तमाम समुद्रों में घूमेंगे।

अंतर्राष्ट्रीय भू-भौतिकीय वर्ष के बहुत-से परिणाम उन परिस्थितियों को जानने के लिए बहुत मूल्यवान सिद्ध होंगे जिनमें अत्यंत निकट भविष्य में मनुष्य समताप मण्डल और अंतरिक्ष वरिमा में उड़ेगा।

अध्ययन का भारत में महत्व

कार्यक्रम के अनुसार ऊपरी और निचले दोनों ही प्रकार के वायुमण्डलों की विस्तृत जाँच की जाएगी। चुम्बक शक्ति की भू-मध्य रेखा (जियो-मैग्नेटिक इक्वेटर) दक्षिण भारत से गुजरती है। इसलिए भारत में और विशेषकर रेखा के निकट के केन्द्रों-कोदईकनाल, तिरुअनन्तपुरम्, तिरुचिरापल्ली आदि में अध्ययन से जो नतीजे निकलेंगे, वे काफी महत्वपूर्ण होंगे।

कार्यक्रम के अन्तर्गत अध्ययन के लिए अनेक विषय लिए जाएंगे, जैसे, ऋतु विज्ञान, भू-चुम्बकत्व, ध्रुव प्रभा (आरोरा), ब्रह्माण्ड किरण (कास्मिक रेज), अक्षांश और देशान्तर, समुद्रशास्त्र, भूकम्पशास्त्र और पृथ्वी के अन्तर का अध्ययन, आकर्षण आदि।

अन्तरराष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष का आयोजन करने में भारत प्रारम्भ से शामिल है। १९५३ में राष्ट्रीय भौतिकशाला के निदेशक डा० के० एस० कृष्णन की अध्यक्षता में भारत में राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष कार्य-क्रम चलाने के लिए समिति बनाई गयी थी।

भारत की ऋतु-शालाओं के अतिरिक्त भू-मौतिक अध्ययन के लिए देश भर में ६० और केन्द्र खोले गए हैं।

भारत में इस कार्यक्रम में निम्नलिखित संस्थाएं शामिल होंगी-शिक्षा तथा वैज्ञानिक गवेषणा, संचार और प्रतिरक्षा मंत्रालयों के विभाग, आकाशवाणी, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक गवेषणा परिषद्, देश के विश्वविद्यालय और कुछ निजी संस्थाएँ।

राष्ट्रीय समिति के सदस्य ये हैं:—प्रो० एस० के० मित्र, साइन्स कालेज, कलकत्ता; डा० के आर० रामनाथन, भौतिक गवेषणाशाला, अहमदाबाद; श्री वी० बी० वलीगा, अ० भा० रेडियो, नयी दिल्ली; श्री एस० वसु, डी० जी० ओ०, नयी दिल्ली; डा० ए० के० दास, एस्ट्रोफिजिक्स आवजरवेटरी, कोदईकनाल; डा० विक्रम साराभाई, भौतिक गवेषणाशाला, अहमदाबाद; केन्द्रीय भू-भौतिक मण्डल और भारतीय भूगर्भ सर्वे का एक प्रतिनिधि, श्री एस० एल० मलूर्कर, अलीबाग तथा कोलावा वेधशालाएँ, बम्बई; डिपुटी डाइरेक्टर, जिओडेटिक एण्ड रिसर्च ब्रांच, देहरादून। नयी दिल्ली की राष्ट्रीय भौतिकशाला के डा० ए० पी मित्र इसके सचिव हैं।

कार्यक्रम को १२ भागों में बाँट दिया गया है और प्रत्येक भाग में एक संयोजक है।

अंतर्राष्ट्रीय भूभौतिक वर्ष

लेखक—सर हैरोल्ड स्पैंसर जोंस,
सेक्रेटरी जनरल, इन्टरनेशनल काउंसिल आफ साइंटिफिक यूनियस तथा
ब्रिटेन के भू० पू० एस्ट्रानम्यर रायल

पृथ्वी पर काम करने वाली शक्तियों के अध्ययन से संबंधित विज्ञान को भूभौतिक शास्त्र कहते हैं।

इस शास्त्र के अंतर्गत अनेक विषय हैं इनमें से एक ऋतु-विज्ञान भी है। हम सब किसी न किसी कारण आगे वाले मौसम की जानकारी चाहते हैं। यही नहीं कि पृथ्वी तल पर कल या सप्ताह अथवा महीने बाद कैसा मौसम होने वाला है, बल्कि यह भी जानना चाहते हैं कि पृथ्वी से २० मील ऊपर वायुमंडल में क्या होने वाला है। अत्यंत तीव्र गति से चलने वाले विमानों के आविष्कार से तो पृथ्वी से २० हजार से ४० हजार फुट ऊपर की हवाओं आदि की पूर्व जानकारी आज परमावश्यक हो गयी है।

इसी प्रकार पृथ्वी पर काम करने वाली शक्तियों में पृथ्वी की चुम्बक शक्ति भी है। कुतुबनुमा की सुई ठीक उत्तर को नहीं रहती और कभी-कभी चौम्बिक विक्षोभ (मैगनैटिक स्टार्म) भी होते हैं और इनसे रेडियो तरंगों तथा दूर के तार और टेलीफोन संचार में बड़ी गड़बड़ पैदा हो जाती है। ये विक्षोभ सूर्य से निकले हुए उन विद्युन्मय कणों के पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र में आ जाने के कारण उत्पन्न होते हैं, जो बड़े वेग, १००० मील प्रति सेकेंड की गति से वायुमंडल में चक्कर लगाते हैं। विक्षोभ उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव में सबसे तीव्र होते हैं। इस पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति और इन सब घटनाओं का अध्ययन करना जरूरी है।

ऐसा ही एक अध्ययन योग्य विषय है ब्रह्मांड किरणें।

अयन मंडल का अध्ययन भी भूभौतिक शास्त्र के ही अंतर्गत आता है। अयन मंडल, पृथ्वी के चारों ओर ६० से २५० मील तक वायुमंडल का वह विद्युन्मय भाग है, जिसके कारण रेडियो तरंग के द्वारा प्रेषण सम्भव होता है। यदि अयन मंडल न हो तो रेडियो तरंगें ब्रह्मांड में न जाने कहाँ विलीन हो जायँ और पृथ्वी के एक-से दूसरे भाग में पकड़ी न जा सकें।

सागर की विविध लीलाओं को समझने में समुद्र शास्त्र (ओशनोग्राफी) हमारी सहायता करता है। यह भी भूभौतिक शास्त्र का ही एक अंग है।

आस्ट्रेलिया को छोड़कर बाकी सब महाद्वीपों का कोई न कोई क्षेत्र अपार हिमराशि से ढका हुआ है। दक्षिण ध्रुव के पास का महाद्वीप और ग्रीनलैंड में तो कहीं-कहीं बरफ की तह १० हजार फुट तक मोटी है। इधर कुछ वर्षों में इस हिमाच्छादित प्रदेश का कुछ हिम पिघल गया है। यह बड़ी महत्वपूर्ण घटना है इसका अर्थ हुआ कि हमारी पृथ्वी कुछ गर्म होती जा रही है। यदि यह सत्य है इसका परिणाम यह होगा कि कुछ निचले क्षेत्र समुद्र के गर्भ में समा जायँ गे और कई ऐसे बंदरगाह जो बरफ के कारण आज कुछ ही महीने खुले रहते हैं, साल भर खुले रहा करेंगे। इस प्रकार ऋतु परिवर्तन संबंधी ज्ञान के लिए हिम खंडों का अध्ययन बहुत जरूरी है। भूकम्पों के अध्ययन का भी एक शास्त्र है। इसी शास्त्र से पता चला है कि पृथ्वी का अंतर तरल है और यह तरल पदार्थ १ हजार मील के व्यास में भूगर्भ में भरा हुआ है।

उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव

भूभौतिक शास्त्री की प्रयोगशाला किसी चहारदीवारी में सीमित नहीं। समस्त विश्व उसकी प्रयोगशाला है और सारी प्रकृति अर्थात् तूफानों, बिजली, चुम्बकीय विक्षोभों, समुद्र की उद्दाम तरंगों, भूचालों आदि पर वह अपने परीक्षण करता है।

पृथ्वी के दो छोरों, उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव प्रदेशों,

में चुम्बकीय विक्षोभ, ध्रुव प्रभा (आरोरा) आदि प्रकृति की अनेक लीलाएँ बड़ी अबाध और स्वच्छंद रूप में और पूरे वेग से हुआ करती हैं। इन प्रदेशों में ६ महीने का दिन और ६ महीने की रात होने से इनको यहाँ बड़ी अच्छी तरह देखा जा सकता है, लेकिन इस निर्जन क्षेत्र में शायद इनी-गिनी वेधशालाएँ हैं, इसलिए यहाँ के बारे में अभी जानकारी बहुत कम है।

पहले दो प्रयास

इससे पहले १८८२-८३ और १९३२-३३ में कई देशों ने मिलकर उत्तरी ध्रुव प्रदेश की प्रकृति के अध्ययन करने में सहयोग किया। पहले को पहला और दूसरे को दूसरा अंतर्राष्ट्रीय भूभौतिक वर्ष कहा जाता है। कई देशों ने ध्रुव क्षेत्र में अपनी, अपनी प्रयोगशालाएँ कायम कीं और कई प्रकार की जानकारी हासिल की। किन्तु विज्ञान जिस गति से आगे बढ़ रहा है, उसको देखते हुए इस तरह की और भी अधिक जानकारी और नई-नई विधियों और तरीकों से इस तरह की जानकारी प्राप्त करना जरूरी हो गया है।

५५ देशों का संयुक्त प्रयास

इतने विषयों के बारे में एक साथ अनुसंधान किसी एक राष्ट्र के बस की बात नहीं। इसीलिए इस भागीरथ प्रयास में, जिसे अंतर्राष्ट्रीय भूभौतिक वर्ष नाम दिया गया है, छोटे बड़े ५५ राष्ट्र अपना योग दे रहे हैं। यह आयोजन वैज्ञानिक संघों की अंतर्राष्ट्रीय परिषद् के तत्वावधान में हो रहा है। भारत भी अपना एक वैज्ञानिक दल भेजेगा। अनेक ऐसे क्षेत्रों में जहाँ वेधशालाएँ नहीं हैं और उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव में वेधशालाएँ और केन्द्र स्थापित किये जायँगे। हर वेधशाला का काम निश्चित होगा। उसे अपने ही विषय के बारे में जानकारी लेनी होगी। अकेले दक्षिणी ध्रुव में १२ राष्ट्रों की ५७ वेधशालाएँ बनायी जायँगी। यह कार्य आगामी जुलाई से आरम्भ हो जायगा और १८ महीने तक चलेगा।

इस कार्य में तरह-तरह के यंत्र और उपकरण काम में लाये जायँगे। ऐसे गुब्बारे छोड़े जायँगे जो रेडियो तथा अन्य वैज्ञानिक यन्त्र लेकर १ लाख फुट ऊपर तक जायँगे। पृथ्वी से या विमान या गुब्बारे से एक राकेट छोड़ा जायगा जो पृथ्वी से २०० मील ऊपर जायगा और वहाँ से रेडियो द्वारा आवश्यक जानकारी भेजेगा।

अमेरिका और रूस इस अवसर पर राकेट की मदद से कई कृत्रिम ग्रह वायुमंडल में छोड़ेंगे। पहले ये कई राकेटों की मदद से पृथ्वी से कुछ सौ मील दूर पहुँचा दिये जायँगे, जहाँ से ये १८,००० मील प्रति घंटे की गति से उड़कर चन्द्रमा की भाँति पृथ्वी का चक्कर लगायँगे। धीरे-धीरे ये फिर पृथ्वी की तरफ आएँगे और फिर वायुमंडल में घुसकर हवा की रगड़ से नष्ट हो जायँगे।

इस प्रयास से पृथ्वी पर काम करने वाली विभिन्न शक्तियों के बारे में तो अमूल्य जानकारी मिलेगी ही, साथ ही यह भी सिद्ध हो जायगा कि भिन्न-भिन्न विचारधाराओं और राजनीतिक सिद्धांतों को मानने वाले राष्ट्र भी मिलकर काम कर सकते हैं, जो भविष्य के लिए अच्छा लक्षण है।

(आकाशवाणी के सौजन्य से)

अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष और उसका महत्व

ले०—डा० के० एस० कृष्णन

कुतुबनुमा की ईजाद शायद चीन में हुई, लेकिन कब और किसने यह ईजाद की, इस बारे में इतिहास मौन है।

कुतुबनुमा की सूई ठीक उत्तर-दक्षिण नहीं रहती। कहीं-कहीं तो इसमें काफी अन्तर रहता है। शायद कोलम्बस ने सबसे पहले इसका पता लगाया कि कुतुबनुमा की सूई ठीक उत्तर दिशा में नहीं रहती। कहते हैं कि कोलम्बस की पहली अटलांटिक-पार यात्रा में कुतुबनुमा के इस अजीब गुण के कारण जहाज में विद्रोह होते-होते बचा। कोलम्बस के साथी नाविक ऐसे समुद्र में आगे बढ़ने को हरगिज तैयार नहीं थे, जिसमें कुतुबनुमा भी ठीक-ठीक काम न करती हो। उन्होंने देखा कि कुतुबनुमा की सूई ध्रुव तारे से १० डिग्री पश्चिम की ओर है। आखिर कोलम्बस ने रात में कुतुबनुमा की सूई के नीचे लगा हुआ अंकित कागज ही बदल दिया और इस प्रकार धोखा देकर नाविकों को शान्त किया।

पहले-पहल प्रसिद्ध खगोल-वेत्ता हेली ने १७०२ में एक ऐसा नक्शा प्रकाशित किया जिसमें पृथ्वी भर के कुतुबनुमा की सूई के इस अन्तर का ब्यौरा दिया गया था। निस्सन्देह संसार के अनेक भागों के अवलोकन के बाद यह नक्शा बनाया गया होगा। भौगोलिक उत्तर और चुम्बकीय उत्तर के इस अन्तर को विनति (डेक्लिनेशन) कहते हैं। हेली ने इस विनति का कारण भी दिया और उससे आज के वैज्ञानिक भी प्रायः सहमत हैं। हेली ने बताया कि पृथ्वी का अन्तर अभी तक तरल है और वह बाहरी कठोर खोल की अपेक्षा कुछ कम गति से घूमता है। गति का यह अन्तर एक शताब्दी में करीब २० डिग्री के बराबर होता है। कहना न होगा कि हेली का अनुमान प्रायः सही निकला।

पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र

न्यूटन और आरकेमेडीज की भांति गाउस भी पश्चिम का बहुत बड़ा गणितज्ञ हुआ है। उसी ने सबसे पहले पृथ्वी के चुम्बकीय अवलोकन के लिए संगठित और विश्व-व्यापी प्रयास किया। उसने बड़ी दृढ़तापूर्वक यह मत व्यक्त किया कि पृथ्वी की ९४ प्र० श० चुम्बकीय शक्ति प्रायः स्थायी है और इसके कारण भी पृथ्वी पर ही मौजूद हैं और बाकी चुम्बकीय शक्ति कुछ बाहरी कारणों से पैदा होती है। गाउस ने पृथ्वी के ऊपर की वायु कुछ विद्युन्मय तहों की कल्पना की। आज तो यह बात असंदिग्ध रूप से सिद्ध हो गयी है कि वायुमंडल की इन्हीं विद्युन्मय तहों के कारण रेडियो तरंगें पृथ्वी के एक भाग से दूसरे भाग में भेजी और पकड़ी जा सकती हैं। गाउस का यह विचार भी सत्य सिद्ध हुआ कि पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति और ध्रुव प्रभा (आरोरा) में निकट संबंध है।

ध्रुव प्रभा और अवशिष्ट चुम्बक शक्ति

हम जानते हैं कि सूर्य के कुछ भाग कभी-कभी अत्यधिक विचलित हो उठते हैं और धीरे-धीरे शांत हो जाते हैं। यह घटना प्रायः हर ११ साल बाद घटती है। इन विचलित भागों से हर तरह की किरणें फूटती हैं। ये किरणें प्रकाश की गति से पृथ्वी की ओर दौड़ती हैं और लगभग ८ मिनट में पृथ्वी पर पहुँच जाती हैं। जब किरणें

वायुमंडल की विद्युन्मय तहों से गुजरती हैं तो ऊपर अयनन (आयोनाइजेशन) में काफी वृद्धि हो जाती हैं। इस प्रकार उस माध्यम में बड़ी गड़बड़ पैदा हो जाती है, जिसमें रेडियो तरंगें चक्कर काटती हैं। इन तरंगों के अबाध विचरण में बाधा पड़ने से ही कई बार रेडियो कार्य-क्रम सुनाई देने बंद हो जाते हैं।

सूर्य के विचलित भागों से किरणों के अलावा असंख्य विद्युन्मय कण भी तेजी से निकलते हैं। इन कणों की धारा की गति प्रकाश की गति का १५० वाँ भाग होती है। इस कारण ये कण, सूर्य के उसी भाग से निकलने वाली किरणों से एक दिन पीछे पृथ्वी पर पहुँचते हैं। यद्यपि विद्युन्मय कणों से भी वायुमंडल का अयनन (आयोनाइजेशन) होता पर किरणों (जिनसे रेडियो प्रसारण में बाधा पड़ती है) की अपेक्षा इनका प्रभाव कम होता है।

किरणों और कणों के प्रवाह में विशेष अंतर यह है कि किरणों पर पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति का कोई असर नहीं होता और कणों के प्रवाह पर इस शक्ति का काफी असर पड़ता है अर्थात् कणों को विषुवत् रेखा तक पहुँचने में बड़ा संघर्ष करना होता है लेकिन ध्रुवों के निकट के क्षेत्रों में आसानी से पहुँच सकते हैं। यही कारण है कि ध्रुव प्रदेशों में इन कणों का भारी जमाव हो जता है। इन विद्युन्मय कणों के प्रवाह के पृथ्वी के चारों ओर के वायुमंडल में प्रवेश करने से ही 'ध्रुव प्रभा' नामक प्रकाश पुंज का जन्म होता है। आदि काल से ही ध्रुव प्रभा की विचित्र लीला मानव मन में आश्चर्य और जिज्ञासा उत्पन्न करती आयी है।

पहले प्रयास

लगभग ७५ वर्ष पूर्व १८८२-८३ में वर्कलैंड ने ध्रुव-प्रभा के बारे में अध्ययन करने का संगठित और व्यापक प्रयास किया। ध्रुवप्रभा के साथ साथ उत्तरी ध्रुव प्रदेश में समुद्र शास्त्र और ऋतु विज्ञान का भी अध्ययन किया गया। उत्तरी ध्रुव प्रदेश की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया क्योंकि दक्षिणी ध्रुव प्रदेश के बारे में उस समय बहुत कम जानकारी थीं।

भू-भौतिक अध्ययन इतना विशाल कार्य है कि ५० वर्ष से पहले इसको उठाने का कोई साहस नहीं कर पाया और दूसरा प्रयास या दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष १९३२-३३ में ही आयोजित किया गया।

पहले प्रयास के समय रेडियो तरंगों के बारे में प्रायः नगण्य ज्ञान था। इस कारण ध्रुव प्रदेश में इन तरंगों के बारे में अधिक अनुसंधान नहीं हो सका। दूसरे के समय यद्यपि इस ज्ञान में काफी वृद्धि हो चुकी थी, फिर भी उतना काम नहीं हो सका, जितने की आज के युग में आवश्यकता है।

अब २५ साल के बाद यह जो तीसरा प्रयास हो रहा है, स्वाभाविक रूप से यह पहलों से कहीं व्यापक और विशाल होगा।

तीसरे अंतर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष में, ऋतु विज्ञान, भू-चुम्बकत्व, ध्रुवप्रभा, अयन मंडल, ब्रह्माड किरणों, हिमखंडों, समुद्र शास्त्र, भूकम्प संबंधी विद्या, इत्यादि अनेक विषयों का अध्ययन होगा। अध्ययन के अलावा कुछ कृत्रिम उपग्रह भी वायुमंडल में छोड़े जायँगे।

वैज्ञानिक संघों की अंतराष्ट्रीय परिषद विभिन्न देशों की भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक संस्थाओं और संगठनों के काम का संयोजन कर रही है। लगभग १३ संघ इस संस्था से सवद्ध है। इन संघों के आधीन कई-कई आयोग हैं। वैज्ञानिक संघों की अंतर्राष्ट्रीय परिषद् ने कितना बड़ा काम उठाया है, उतना बड़ा काम आज तक कोई भी अंतर्राष्ट्रीय संस्था नहीं कर पायी।

भारत का योग

जो संस्थाएँ इस आयोजन में भाग ले रही हैं, यदि उनका नाम ही गिनाया जाय तो एक अच्छा खासा पोथा तैयार हो जायगा। भारत की अनेक वैज्ञानिक संस्थएँ विश्व-विद्यालय और औद्योगिक तथा गवेषणा परिषद् शिक्षा तथा वैज्ञानिक गवेषणा मंत्रालय, सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय, संचार मंत्रालय तथा प्रतिरक्षा मंत्रालय के विज्ञान विभाग आदि कार्यक्रम में हाथ बँटा रहे हैं।

अंतर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष के लिए भारतीय राष्ट्रीय

समिति की ओर से ४० पृष्ठों की एक बुलेटिन प्रकाशित की गयी है, जिसमें इस आयोजन में भारत के काम का व्यौरा दिया गया है। इस समिति ने इसी तरह की और भी सामग्री प्रकाशित की है।

विदेशों से और बहुत सी सामाग्री मँगायी जा रही है, जो विशेषज्ञों को दी जायगी और जन-साधारण के उपयोग के लिए प्रकाशित भी करायी जायगी। हम आशा करते हैं कि विश्वव्यापी प्रयास के फलस्वरूप भू-भौतिक शास्त्र की कुछ कठिन गुत्थियाँ अवश्य सुलझ जायँगी।

गैलीलियो ने पहली बार यह बताया कि यदि समान ऊँचाई से अलग-अलग भार की चीजें एक साथ छोड़ी जायँ तो वे पृथ्वी पर एक साथ ही पहुँचेंगी—इस प्रकार एक छोटा सा छर्रा और तोप का गोला एक साथ एक ही स्थान से गिराये जाने पर साथ-साथ जमीन पर पहुँचेंगे।

परन्तु लोगों को यह बात पसन्द नहीं आई—परम्परागत सनातन विचार धारा के यह विपरीत थी।

.... पीसा की झुकी मीनार पर गैलीलियो धीरे-धीरे ऊपर चढ़ा—एक हाथ में एक पाँच सेर का और दूसरे में आधा सेर का गोला था। नीचे भीड़ लगी हुई थी, आचार्य और दार्शनिक, पंडित और धर्म गुरु। लोग फिकरे कसने लगे और उपहास की लहर चल रही थी—आखिर कभी गैलीलियो का कथन सत्य हो सकता था? हा! हा!. . . . . . . हा हा !!!

परन्तु यह क्या? सब स्तब्ध रह गये। गोले साथ-साथ छूटकर साथ-साथ चलते हुए एक साथ ही पृथ्वी पर गिरे।

पर धर्म पंडितों ने फिर भी यही कहा, 'ऐसा नहीं हो सकता, यह तो अरस्तू के विचार का खंडन है।'

सत्य किसी व्यक्ति के विचारों पर नहीं वास्तविकता पर अवलम्बित है। उसकी कसौटी है 'प्रयोग'।

क्या सूर्य का मौसम पर असर पड़ता है

इस समय संसार के वैज्ञानिक 'अन्तर्राष्ट्रीय भूभौतिक मना' रहे हैं और पृथ्वी मंडल के अनेक अज्ञात रहस्यों को जानने में व्यस्त हैं।

बहुत से वैज्ञानिकों का यह विश्वास है कि भूमंडल की ऋतुओं पर सूर्य का प्रत्यक्ष रूप से असर पड़ता है अर्थात् सूर्य और मौसम का आपस में सीधा सम्बन्ध है। यदि इस सम्बन्ध के बारे में निश्चित रूप में कुछ पता चल जाये तो इससे मौसम के बारे में दीर्घकालीन भविष्यवाणी की जा सकेगी।

१९५७-५८ में मनाये जा रहे भू भौतिक वर्ष में वैज्ञानिकों का एक मुख्य कार्य इस बात का अध्ययन करना होगा कि पृथ्वीमंडल के मौसम पर सूर्य का क्या प्रभाव पड़ता है। सूर्य के प्रकाश तथा ताप से परमाणविक कणों की धारा बड़ी तेजी से पृथ्वी पर पड़ती है और इसके साथ ही रेडियो-तरंगें, अल्ट्रावायलेट किरणें तथा ब्रह्माण्ड किरणें बहुत बड़ी मात्रा में भूमि पर गिरती हैं। पृथ्वी के वायु-मंडल के ऊपरी हिस्से पर परमाणविक कणों के इस प्रचण्ड प्रहार का क्या असर पड़ता है, इस बारे में प्रायः कोई भी जानकारी प्राप्त नहीं है और यह अभी तक एक रहस्य ही है।

लेकिन भौतिकशास्त्री, ऋतु-विशेषज्ञ तथा रेडियो-इंजिनियर इन रहस्यों का पता लगाने के बारे में बहुत उत्सुक हैं जिससे कि वे ऋतुओं तथा तूफान आदि के बारे में अधिक विश्वासनीय भविष्यवाणी कर सकें।

इस लिए अंतर्राष्ट्रीय भूभौतिक वर्ष में सूर्य-मंडल के बारे में विस्तृत रूप से अध्ययन किया जायेगा और सूर्य के धब्बों तथा सूर्य की तीव्र ज्वालाओं आदि के बारे में ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करने का यत्न किया जायगा—इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष को १८ महीने की अवधि—१ जुलाई १९५७ से ३१ दिसम्बर १९५८—तक मनाया जा रहा है क्योंकि ११ वर्ष की अवधि में इसी समय सूर्य पर धब्बे सबसे अधिक पड़ेंगे।

सूर्य की भौतिक स्थिति का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिक सूर्य की हर असाधारण क्रिया के बारे में पूर्व-चेतावनी दे देंगे। ससार के वैज्ञानिकों को रेडियो-सन्देशों द्वारा फौरन यह सूचना भेज दी जायेगी कि अब वे खास तौर पर सावधान हो जायें और ध्रुव क्षेत्रों में सूर्य के प्रकाश, प्रकाश के मन्द पड़ने तथा मौसम में होने वाले बड़े और छोटे परिवर्तनों की ओर विशेष ध्यान दें।

राकेट और कृत्रिम उपग्रह

'अंतर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष' के लिए संसार के बहुत से क्षेत्रों में अनुसन्धान करने के लिए केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इन केन्द्रों से आकाश में अमेरिका ने अनुसन्धान राकेटों को बहुत बड़ी संख्या में छोड़ने तथा १२ कृत्रिम उपग्रहों को स्थापित करने की योजना तैयार की है, ताकि सूर्य से निकलने वाली अदृश्य किरणों के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त हो सके।

वैज्ञानिकों ने हमें पहले ही यह बता दिया है कि सूर्य से निकलने वाली अपार शक्ति बहुत कम दिखाई देने वाली किरणों के रूप में अनुकूल दशाओं में हम तक पृथ्वी पर पहुँच जाती है।

कुछ अल्पकालिक अवस्थाओं में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि सूर्य की दृश्यमान किरणों से निकलने वाली शक्ति की मात्रा आश्चर्यजनक रूप से एक जैसी रहती है। न्यूमैक्सिको स्थित सैक्रामैन्टो शिखर-वेधशाला के निर्देशक डा० जौन डब्ल्यू० एवन्स के कथनानुसार, नापने के नये तरीकों से यह पता चला है कि गत तीन वर्षों में सूर्य के प्रकाश से जो शक्ति निकलती रही है उसमें १ प्रतिशत के एक-तिहाई भाग से अधिक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

डा० एवन्स ने यह संकेत किया कि इस तरह के अपरिवर्तित स्वरूप वाले विकिरण के परिणाम स्वरूप मौसम में भी कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ है। इस लिए इन किरणों के आधार पर मौसम के बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है।

लेकिन वे अदृश्य शक्तिशाली किरणें जो पृथवी से बहुत ही ऊपर वायुमण्डल के आयनोस्फीयर तथा ओजोन खण्ड में रुक जाती हैं, उनसे भीषण विस्फोट होते हैं जिस समय सूर्य पर धब्बे पड़ जाते हैं। इस तरह के तेज धमाके कुछ मिनटों से लेकर कुछ घन्टों तक जारी रहते हैं।

इस समय वैज्ञानिकों को यह मान्यता है कि जिस प्रकार रेडियों तक पहुँचने वाली ध्वनि तरंगे शब्दों की ऊँची या नीची मात्रा के कारण बदलती रहती हैं उसी तरह सूर्य की परिवर्तनशील अल्ट्रावायलेट किरणों के धमाकों से सूर्य सम्बन्धी सन्देशों की तीव्रता में भी परिवर्तन होते हैं। इस तरह विकिरण की सामान्य दशा में अल्ट्रावायलेट किरणों की परिवर्तनशील मात्रा से भावी मौसम के बारे में भविष्यवाणी की जा सकेगी।

वैज्ञानिकों को सबसे पहले यह पता लगाना होगा कि क्या सूर्य-क्षेत्र में कोई सन्देश है। यदि वहां कोई सन्देश है तो उन्हें उसका अर्थ समझने की कोशिश करनी होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय भू मौतिक वर्ष में किये जाने वाले प्रमुख अध्ययनों में सूर्य के बारे में अध्ययन करना भी शामिल होगा। संसार के विभिन्न देशों में स्थापित बीसियों विशाल अनुसन्धान-केन्द्रों और वेधशालाओं द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष में सूर्य का अध्ययन किया जायेगा। इन केन्द्रों में वैज्ञानिक निरन्तर सूर्य को देखते रहेंगे। बहुत से देशों के वैज्ञानिकों में इस तरह के आपसी सहयोग से कम से कम इस रहस्य के बारे में पता चल सकेगा कि हमारे मौसम पर सूर्य का वस्तुतः क्या प्रभाव पड़ता है।

'जहाँ घास की एक पत्ती उगती थी वहाँ जो दो उगा सकता है वह मानवता का हितकारी है; परन्तु वह जो एकान्त में छिपा हुआ इस उगाने के नियमों को ज्ञात करता है वह अधिक प्राज्ञ और साथ ही बड़ा हितकारी है।'

—रोलैण्ड

अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष और भारत का सहयोग

लेखक—डा० एस० के० मित्रा

अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष के प्रेक्षणात्मक कार्यक्रम में भारत के जो केन्द्र भाग लेंगे, वे अपनी तैयारी को अन्तिम रूप दे रहे हैं। यह वर्ष गत पहली जुलाई से शुरू हो गया है। यद्यपि इसे 'वर्ष' कहते हैं, किन्तु वास्तव में इसकी अवधि १८ महीने होगी। यह तथाकथित वर्ष ३१ दिसम्बर १९५८ को समाप्त होगा। परीक्षणात्मक प्रेक्षणा कार्य पहली जून से शुरू हो चुका है।

इस विश्व-व्यापी वैज्ञानिक उद्यम का मुख्य उद्देश्य इस पृथ्वी, उच्चतम सीमा तक इसके वातावरण, समुद्रों और पर्वतों, इसकी आकर्षण शक्ति तथा इन पर सूर्य के प्रभाव के बारे में और अधिक ज्ञान प्राप्त करना है। यह तभी हो सकता है जबकि दुनिया भर में विभिन्न केन्द्रों में एक-साथ अध्ययन और प्रेक्षणा-कार्य किया जाय।

इस अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष के बारे में भारतीय कार्यक्रम का संचालन, उससे सम्बन्धित भारतीय राष्ट्रीय समिति द्वारा किया जा रहा है। इस समिति के बारह सदस्य हैं और राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला के निर्देशक, डा० के० एस० कृष्णन इसके अध्यक्ष हैं।

इस भू-भौतिक वर्ष में विज्ञान की लगभग १३ शाखाओं द्वारा धरती के वातावरण के रहस्यों का अन्वेषण और अध्ययन किया जायगा।

जो भारतीय संस्थान इस कार्यक्रम में भाग ले रहे हैं, उनके नाम ये हैं: भारतीय ऋतु विभाग, भारतीय सर्वे विभाग, भारतीय भूगर्भ-सर्वे विभाग, आकाशवाणी, नौ-सैनिक गवेषणा प्रयोगशाला की समुद्र-विज्ञान विषयक शाखा; राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, नयी दिल्ली; पूना और करनाटक विश्वविद्यालयों की भौतिक प्रयोगशालाएँ अलीगढ़ विश्वविद्यालय की गुलमर्ग-स्थित प्रयोगशाला; भौतिक गवेषणाशाला, अहमदाबाद; और उत्तर प्रदेश की राजकीय वेधशाला। कलकत्ते की जो संस्थाएँ इस कार्यक्रम में भाग ले रही हैं, वे ये हैं: बोस इंस्टिट्यूट और कलकत्ता विश्वविद्यालय की इंस्टिट्यूट आफ रेडियो फिजिक्स एण्ड एलेक्ट्रोनिक्स।

सबसे अधिक प्रेक्षणा कार्य भारतीय ऋतु विभाग द्वारा किया जायगा। यह विभाग अन्य अन्वेषण कार्यों के अतिरिक्त विभिन्न केन्द्रों में सूर्य के प्रभाव का भी अध्ययन करेगा। भारतीय भूगर्भ सर्वे विभाग कई हिमालयवर्ती केन्द्रों में हिम-नदियों से सम्बन्धित प्रेक्षणकार्य करेगा। कोचीन स्थित नौसैनिक गवेषणा प्रयोगशाला की समुद्र-विज्ञान शाखा तरङ्गों को मापने के लिये 'रिकार्डर' यन्त्र लगा रही है। अहमदाबाद की भौतिक गवेषणाशाला, गुलमर्ग-केन्द्र, कोडइकनाल वेधशाला तथा दार्जिलिङ्ग के गवेषणा केन्द्र में ब्रह्माण्ड रश्मियों का विस्तृत अध्ययन किया जायगा। उत्तर प्रदेश की राजकीय वेधशाला में उन कृत्रिम उपग्रहों का अध्ययन किया जायगा जो फ्लोरिडा, अमेरिका और रूस से छोड़े जाएँगे।

इस तरह के विभिन्न प्रेक्षण-कार्यों के लिये लगभग ६० केन्द्र स्थापित किये गये हैं। ऋतु विभाग के केन्द्र इनके अलावा हैं। ये केन्द्र देश के विभिन्न भागों में स्थित हैं। कार्य संचालन के लिये दिल्ली, टोकियो, खरतूम, बीरूट और सिंगापुर के बीच रेडियो सम्बन्ध मौजूद रहेगा।

अयनमण्डलीय अध्ययन की दृष्टि से कोडइकनाल, त्रिवेन्द्रम और तिरुचिरापल्ली में किये जानेवाले प्रेक्षणों का विशेष महत्व होगा।

अमेरिका में वाशिंगटन के पास वेलवायर-स्थित विश्व केन्द्र से सूचना मिलने पर भारतीय—ऋतु विभाग विभिन्न केन्द्रों का यह बतायेगा कि किन दिनों में अध्ययन कार्य और भी गहन रूप से करना होगा। इस महत्वपूर्ण कार्य के सुचारु संचालन के लिए प्रेक्षण-महानिर्देशक और आकाशवाणी के एक प्रतिनिधि की एक समिति बना दी गयी है।

वैज्ञानिक अध्ययन के इस अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष का यह तीसरा आयोजन है। पहले आयोजन १८८२-८३ और १९३२-३३ में हुए थे।

इस भू-भौतिक वर्ष के आयोजक-देशों में भारत भी एक है। इससे सम्बन्धित भारतीय राष्ट्रीय समिति १९५३ में बन गयी थी। इसकी कई बैठकें हो चुकी हैं और इसका कार्यक्रम अन्तर्राष्ट्रीय समिति के सम्पर्क और योग से बनाया गया है। इस अध्ययन की दृष्टि से भारत की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण है।

इस अध्ययन से जो ज्ञान प्राप्त होगा उससे रेडियो संचार और हवाई यात्रा में सुधार किया जा सकेगा और मौसम के बारे में जानना सरल हो जायगा।

जिस समय शत्रु के घेरे के कारण सिराक्यूज़ की सुरक्षा खतरे में पड़ गई थी, बादशाह हियरो ने आर्कीमीडीज़ को बुलाया और पूछा,

'क्या शत्रु के जहाजों को हटाना सम्भव है ?'

'हाँ', आर्कीमीडीज ने उत्तर दिया, 'पृथ्वी तक को हटाना भी सम्भव है।'

'तुम्हारा क्या अभिप्राय ?'

'केवल यही कि यदि मुझे किसी दूसरी दुनिया (पृथ्वी) पर पैर रखने को स्थान मिल जाय तो मैं पृथ्वी को उसकी कक्षा से हटा सकता हूँ।

अंतर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष के लिए अमेरिका द्वारा आयोजित राकेट कार्यक्रम पर प्रकाश

लेखक—डा० जौजेफ कापलेन

(अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष के सम्बन्ध में बनाई गयी अमेरिकी राष्ट्रीय समिति के अध्यक्ष)

अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष में अनुसंधान की दृष्टि से अमेरिका सैकड़ों यानों का उपयोग करेगा। इनमें अपेक्षाकृत छोटे गुब्बारों या हवाई जहाजों द्वारा छोड़े गये यानों से लेकर अनेक दौरों में अपनी यात्रा पूरी करने वाले स्वयं-चालित वे यान भी सम्मिलित होंगे, जो २०० मील की ऊँचाई तक पहुँच सकेंगे।

ये समस्त यान उत्तरी-ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक स्थित अनेक स्थानों से छोड़े जाएँगे। अन्य देश भी भू-भौतिक वर्ष में राकेटों की सहायता से अनुसंधान करने की दिशा में सहयोग देंगे तथा इस प्रकार भौगोलिक ज्ञान का विस्तार करेंगे।

भू-भौतक वर्ष के राकेट कार्यक्रम का वैज्ञानिक कारण उन मूल आँकड़ों की प्राप्ति की आवश्यकता है, जो भूमि पर किए जाने वाले परीक्षणों के अन्तर्गत प्राप्त नहीं किए जा सकते। इन आँकड़ों के अभाव में ध्रुव प्रभा के निर्माण और कारणों सम्बन्धी समस्त प्रचलित सिद्धान्त तथा पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों से सम्बन्धित समस्त प्रचलित सिद्धान्त अभी तक अधूरे हैं। स्वयं अयन-मण्डल (आकाशमण्डल का वह भाग, जिसकी ऊँचाई ५० मील ऊपर से लेकर २५० मील ऊपर तक है) के सम्बन्ध में भी अभी तक कोई पूर्ण संतोषजनक सिद्धान्त स्थापित नहीं हो सका है।

समझा यह जाता है कि ध्रुव पर की प्रकाशधारा सूर्य से आने वाले विद्युत् प्रभावित कणों का परिणाम है। लेकिन कोई भी व्यक्ति सैद्धान्तिक रूप में यह बात नहीं समझा सका है कि सूर्य से ये कण किस प्रकार पृथक होते हैं, किस प्रकार अन्तर्नक्षत्रीय स्थल पार करते हैं तथा किस प्रकार पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र के जरिए आकाश-मण्डल में प्रविष्ट होते हैं तथा वहाँ प्रकाशधारा की सृष्टि करते हैं।

सच तो यह है कि कुछ लोगों ने इस बात का भी इशारा किया है कि ध्रुव प्रभा के सम्बन्ध में हमें सच्चाई की जानकारी नहीं। ऐसी दशा में इस की अपार्थविकता के बारे में जो लम्बी चौड़ी बहसें की गई हैं वे अपरिपक्व समझी जा सकती हैं।

सूर्य से प्राप्त होने वाला अलट्रा-वायलेट प्रकाश, एक्स-किरणें तथा वहाँ से आने वाला विकिरण अयनमण्डल के निर्माण में क्या भूमिका सम्पन्न करते हैं, इसका अभी हमें निश्चय करना है। भूमि की सतह से अयनमण्डल की

मात्राओं की जो पैमाइश की गई है, उसकी उचित व्याख्या के सम्बन्ध में अभी पर्याप्त शंका और संदेह हैं।

सूर्य और पृथ्वी के आपसी सम्बन्धों के बारे में एक मात्र राकेट से अनेक आवश्यक प्रश्नों की पूर्ति होनी संभव है।

बहिराकाशमण्डल, अयनमण्डल तथा प्रजारक (ओज़ोन) की सतह द्वारा उच्चशक्ति युक्त भाणुओं (फोटोन्स) को चूस लेने के कारण आकाशमण्डल के निचले भाग में सूर्य के विकिरण का स्वरूप काफी बदल जाता है। ऐसी दशा में भूमि की सतह पर से की गई किसी पैमाइश द्वारा यह बात ज्ञात होनी संभव नहीं कि अयनम-ण्डल की विभिन्न सतहों के निर्माण के लिए सूर्य के कौन से विकिरण उत्तरदायी हैं।

सूर्य के विकिरणों के फलस्वरूप अयनमण्डल में सहसा उथल-पुथल मच जाती है इस सम्बन्ध में जो अनुमान लगाए गए हैं, उनके आधार पर कई पुस्तकें तैयार हो सकती हैं। इसका उत्तर राकेट की एक उड़ान में मिल सकता है। सूर्य और मौसम के आपसी सम्बन्धों, अयन-मण्डल की अचानक उथल पुथल, भूमि की चुम्बकीय शक्ति में गड़बड़ तथा ब्रह्माण्ड किरणों की अभिवृद्धि इत्यादि समस्त प्रभावों के बारे में उचित नपैना प्राप्त करने के लिए राकेट द्वारा की गई पैमाइशों पर पूर्णतया निर्भर रहना आवश्यक सा प्रतीत होता है।

ध्रुव प्रभा, अयनमण्डल की विद्युत-धाराओं, उच्च ऊँचाइयों पर चलने वाली हवाओं तथा पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र में जो परिवर्तन पाए गए हैं, उनके आपसी सम्बन्धों का प्रश्न अभी स्पष्ट होना शेष है।

उच्च आकाशमण्डल में सन्निहित शक्ति तथा वहाँ की सामान्य गतिशील परिस्थितियों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए इस प्रश्न का जानना आवश्यक है कि कितनी मात्रा में तथा किस स्थान में कितनी शक्ति शोषित होती है। या कितनी मात्रा में यह शक्ति विकिरण की जाती है। उच्च ऊँचाइयों पर होने वाली घटनाओं का नीची ऊँचाइयों की ऋतु सम्बन्धी परिस्थितियों पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह प्रश्न भी अभी हल नहीं हो सका है।

परीक्षणों के विभिन्न आधार

ये उदाहरण उच्च आकाशमण्डल की अनेक ऐसी पेचीदा समस्याओं में से कुछ हैं, जिनका उत्तर जानना अभी शेष है। भू-भौतिक वर्ष के राकेट कार्यक्रम का मूल उद्देश्य इस प्रकार के प्रश्नों पर प्रकाश डालना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्न आधारों पर परीक्षण किए जाएँगे।

(१) आकाशमण्डल की रचना—राकेट विधि का प्रयोग कर नए स्थानों और विविध समयों में उच्च आकाश-मण्डल से सम्बन्धित आंकड़े एकत्रित किए जाएँगे। जिन बातों के पैमाइश की जाएगी, उनमें दबाव, तापमान, घनता तथा हवाएँ सम्मिलित हैं।

(२) आकाशमण्डल का निर्माण करने वाले तत्व—बड़े पैमाने पर काम में लाई गई "स्पैक्ट्रोग्राफिक" विधियों से उच्च आकाशमण्डल का निर्माण करनेवाले रसा-यनों तथा अयनिक तत्वों का पता लगाया जाएगा, विशेष बल अयनमण्डल के विविध स्तरों में विद्यामान अयनों के स्वरूप पर किया जाएगा, क्योंकि अयनमण्डल सम्बन्धी किसी सिद्धान्त के भावी विकास की दृष्टि से यह बात महत्वपूर्ण है। उच्च आकाशमण्डल में प्रजारक (ओज़ोन) का वित-रण किस प्रकार है, भूमिक जारेय (नाइट्रिक ऑक्साइड) का दबाव कितना है तथा वाष्पकणों की मात्रा वहाँ कितनी है, इन प्रश्नों पर भी इस पड़ताल में ध्यान दिया जाएगा। इसमें से अधिकांश जांच-पड़ताल ध्रुव प्रभा के क्षेत्र में की जाएगी, जहां के उच्च आकाशमण्डल की जानकारी बहुत कम ही है।

(३) विकरण सम्बन्धी अध्ययन—ध्रुव विभा के निर्माणकारी तत्वों तथा वायु की चमकने के शक्ति की जानकारी प्राप्त की जाएगी। अत्यधिक चमकीले विकि-रणों की ऊंचाई नापी जाएगी तथा साथ ही उनकी तीव्रता का भी पता लगाया जाएगा। सूर्य के अल्ट्रावायलेट प्रकाश के राकेट "स्पैक्ट्रोग्राम" (रंगावलि-चित्र) उतारे जाएंगे। इसी प्रकार एक्स-किरणों के क्षेत्रों के भी रंगावलि-चित्र उतारे जाएंगे। भाणु (फोटोन) गणकों की सहायता से इसका अध्ययन किया जाएगा। इस बात पर विशेष ध्यान

दिया जाएगा। सूर्य के उद्वेगों के समय रंगावलि चित्रों पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है।

(४) **कणों का अध्ययन**—ध्रुव प्रभा का निर्माण करने वाले तत्वों के स्वरूप और उनकी तीव्रताओं तथा इन तत्वों की विभिन्न दिशाओं में गतिशील होने की विशेषताओं का पता किया जाएगा। अपेक्षाकृत कम शक्ति युक्त ब्रह्माण्ड (कौस्मिक) किरणों की पैमाइश की जाएगी तथा इस बात की चेष्टा की जाएगी कि इन किरणों की तीव्रता तथा सूर्य एवं चुम्बकीय शक्ति सम्बन्धी उथल-पुथलों में जो सम्बन्ध है, वह स्थापित किए जाय।

(५) **अयनममण्डल और भूमि की चुम्बकीय शक्ति की पैमाइश**—अनेक विधियों से ध्रुव प्रभा धारा के क्षेत्र में अयनमण्डल में विभिन्न ऊंचाइयों पर विद्युत के प्रवाह की घनता निश्चित की जाएगी। इस बात की भी चेष्टा की जाएगी कि अयनों और विद्युदणुओं के बीच जो अन्तर है, वह मालूम किया जाय। विभिन्न अक्ष-रेखाओं (लैटिट्यूड्स) में पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र के बारे में पैमाइशें की जायँगी, जिससे निम्न अयनमण्डल में प्रवाहित होने वाले विद्युत् प्रवाहों तथा तथा ध्रुव प्रभा का निर्माण करने वाले तत्वों की स्थित तथा मात्रा के सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध हो सके।

धन के अभाव में भी क्यूरी दम्पति अनुसन्धान कार्य करते रहे और रेडियम की खोज में सफल हुये। जब रेडियम की उपयोगिता का पता लगा तो मित्रों ने उसके प्राप्त करने की विधि को पेटेन्ट कराने की सलाह दी। उन दिनों रेडियम का मूल्य ५००००० रु० प्रति ग्राम था। परन्तु उन लोगों ने अपनी खोज से कोई लाभ प्राप्त करना स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था, रेडियम विश्वकल्याण की वस्तु है और इस पर सबका समान अधिकार है।'

आकाश में कृत्रिम उपग्रह
चन्द्रमा की यात्रा के लिए पहला प्रयास

लेखक—श्री एन० आर० सेन
प्रोफेसर, व्यावहारिक गणित, कलकत्ता विश्वविद्यालय।

कृत्रिम चाँद की सहायता से आज वैज्ञानिक कुछ दुरूह और अत्यन्त उलझी हुई समस्याओं के समाधान और वैज्ञानिक ज्ञान की विशेष अभिवृद्धि के लिये-प्रयत्नशील है। भू-भौतिक-वर्ष में अधिकांश देशों के वैज्ञानिक भाग ले रहे हैं।

अमेरिका और रूस ने आकाश में कृत्रिम उपग्रह छोड़ने की योजना बनाई है, परन्तु, बहुत थोड़े लोग यह जानते हैं कि कृत्रिम उपग्रहों के छोड़ने का महत्व और लाभ क्या है।

ये उपग्रह क्या है? हम यह जानते हैं कि सौर-मंडल में ९ ग्रह हैं जो सूर्य के चारों ओर घूमते रहते हैं। इनमें से अनेक ग्रहों के चारों ओर भी अन्य छोटे ग्रह अभ्याकर्षणवश चक्कर काटते रहते हैं। केन्द्रीय पिंड के चारों ओर चक्कर काटने वाले ये ग्रह उस पिंड के उपग्रह कहलाते हैं। चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है।

उपग्रह छोड़ने की योजना का मतलब यह है कि पृथ्वी से एक पिंड इस प्रकार शून्य में छोड़ा जाएगा कि वह अभ्याकर्षणवश पृथ्वी के चारों ओर चक्कर काटे। अंतरिक्ष में पहुँचकर वह पिंड एक कृत्रिम लघु चन्द्रमा बन जाएगा।

इस कृत्रिम उपग्रह में मापक यंत्र होंगे। वास्तव में यह उपग्रह मंच का काम देगा जहाँ से पृथ्वी के चारों ओर व्याप्त वायुमण्डल का और उससे परे शून्य के कुछ भाग का निरंतर निरीक्षण किया जा सकेगा।

पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है और पृथ्वी के साथ ही साथ, अभ्याकर्षणवश पृथ्वी से चिपटा वायुमण्डल भी घूमता है। पृथ्वी और वायुमण्डल के परे शून्य है, अर्थात् पृथ्वी और वायुमण्डल शून्य में सूर्य के चारों ओर चक्कर काट रहे हैं। इस स्थिति ने वैज्ञानिकों के लिए अनेक समस्याएँ खड़ी कर दी हैं।

पहली बात तो यह है कि पृथ्वी में चुम्बकीय गुण है। वैज्ञानिक बहुत समय से इस समस्या को हल करने का प्रयत्न करते आ रहे हैं परन्तु, पृथ्वी की चौम्बिक शक्ति का कारण अभी तक निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। भू-भौतिकीय दृष्टि से यह बहुत महत्वपूर्ण है कि वायुमण्डल के ऊपरी स्तरों में पृथ्वी का चौम्बिक प्रभाव कितना है और उसके प्रभाव-क्षेत्र में क्या परिवर्तन होते रहते हैं।

गुब्बारों और राकेटों की सहायता से वैज्ञानिकों को यह तो पता चल गया है कि पृथ्वी से कुछ मील ऊपर तक वायु-मण्डल की घनता और तापमान कितना रहता है पर भू-भौतिकीय वायुमण्डल की उच्चतम परत के विषय में जानकारी पाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उपग्रह की सहायता से माप आदि लेने पर यह जानकारी मिल जाएगी।

वायुमण्डल पृथ्वी और सूर्य के मध्य जो महाशून्य है वह वास्तव में खाली स्थान नहीं है। सूर्य ताप और प्रकाश देने वाला निश्चल पिंड मात्र नहीं है। सूर्य में परमाणु-भंजन का क्रम चल रहा है। उस भंजन क्रिया के फलस्वरूप सूर्य के तप्त बह्यावरण से छिटक कर विद्युदणु (इलेक्ट्रोन्स तैरते रहते हैं जो चारों ओर शून्य को भेद कर पृथ्वी

के वायुमण्डल को घेर लेते हैं। पृथ्वी के जलवायु पर इनका गहरा प्रभाव पड़ता है।

सम्पूर्ण सौरमण्डल जिस बृहत्तर शून्य में स्थिति है वह भी वास्तव में खाली नहीं है। इस शून्य में भी अति तीव्रगामी कण प्रत्येक दिशा में तैरते रहते हैं। ये कण अत्यधिक ऊर्जापूर्ण (एनर्जी) होते हैं और वायुमण्डल का भेद कर पृथ्वी तक पहुँच जाते हैं। इन्हीं को ब्रह्मांड रश्मियाँ (कासमिक रेज) कहते हैं। इन कणों की ऊर्जा को पृथ्वी से बहुत ऊँचाई पर ही मापा जा सकता है। इनकी ऊर्जा और अन्य गुणों का पता चलने से ही वैज्ञानिक रहस्यमय ब्रह्मांड रश्मियाँ की उत्पत्ति का पता लगा सकते हैं। इसके अलावा, यह भी पता चल सकता है कि क्या ये कण शून्य की यात्रा करने वालों के लिए खतरनाक हैं ?

सूर्य की पारजम्बु (अल्ट्रावायलेट) रश्मियाँ पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रविष्ट हो कर वायु के व्यूहाणुओं (मालिक्यूल्स) का भंजन कर उन्हें विद्युदणुओं और अयनों (आयन) में बाँट देती है। पृथ्वी के ऊपर तीस मील से आगे वायुमण्डल इन विद्युदणुओं और आयनों से भरा रहता है। वायुमण्डल के इस भाग को आयनमंडल (आयनोस्फीयर) कहते हैं। यह आयनमण्डल पृथ्वी की गोल सतह के चारों ओर रेडियो-तरंगे उत्पन्न करता है। अयनमंडल का गहरा अध्ययन करना मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक है।
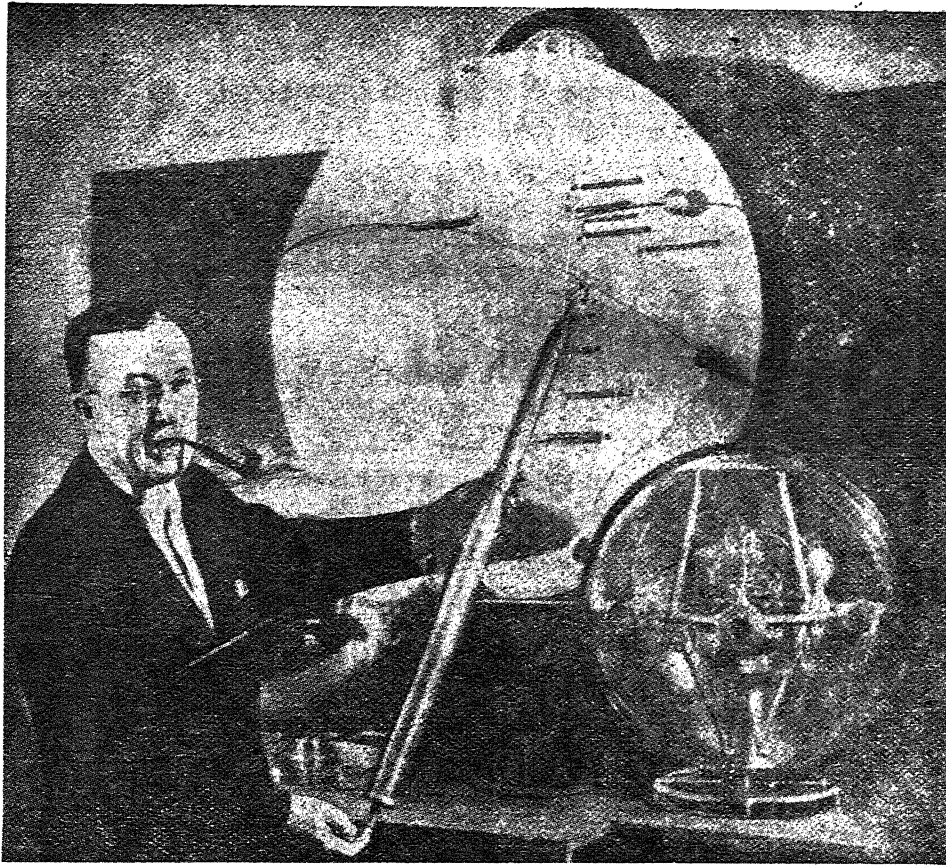
डा० हागेय (आयोजन के अध्यक्ष) कृत्रिम उपग्रह ले जाने वाले राकेट का मौडल (नमूना) लिये हुये हैं। पीछे ग्लोब में इस उपग्रह का मार्ग दिखाया गया है। सामने दाहिनी ओर कृत्रिम उपग्रह का नमूना है।

कृत्रिम उपग्रह की सहायता से इन समस्याओं का अध्ययन किया जा सकता है। आशा है कि प्रथम कृत्रिम उपग्रह की आकाश-यात्रा वायुमण्डल और उससे परे के शून्य के विषय में वैज्ञानिक परीक्षणों के एक नये युग का सूत्रपात कर देगी।

उपग्रह को छोड़ने के सम्बन्ध में पहलीसमस्या यह है कि उपग्राह को कितनी ऊँचाई तक पहुँचाया जाए जिससे वायु के घर्षण से उसकी गति धीमी न हो। यह हिसाब लगाया गया है कि यदि दो पौंड भार के उपग्रह को १०० मील ऊँचाई तक पहुँचाया जाए तो वह पृथ्वी की एक बार भी परिक्रमा नहीं कर सकेगा। २०० मील की ऊंचाई पर उपग्रह लगभग १५ दिन चक्कर काटता रहेगा और ३०० मील की ऊँचाई पर वायु का रोध इतना कम होगा कि उपग्रह १ वर्ष तक पृथ्वी के चारों ओर चक्कर काटता रहेगा।

दूसरी समस्या यह है कि उपग्रह को किस गति से जोड़ा जाए कि वह पृथ्वी के चारों ओर अपने बृत्ताकार मार्ग पर चलता रहे। यह हिसाब लगाया गया है कि यदि उपग्रह को ७ मील प्रति सेकैंड की गति से छोड़ा जाए तो वह पृथ्वी के अभ्याकर्षण से मुक्त होकर शून्य में चला जाएगा। यदि गति ४ मील प्रति सेकेंड हुई तो वह इतना छोटा वृत्त बनाएगा कि पृथ्वी की पूरी परिक्रमा करने से पहले ही नीचे आ जाएगा। पृथ्वी की पूरी परिक्रमा करने के लिए ५ मील प्रति सेकेंड की चाल जरूरी होगी।

अमेरिका जो उपग्रह छोड़ेगा वह ९५ मिनट में पृथ्वी की परिक्रमा पूरी कर लेगा और अनेक सप्ताह तक आकाश में रहेगा। इस कार्यक्रम में भारत भी शामिल हुआ है।

यदि इस प्रयोग में सफलता हुई तो मनुष्य द्वारा शून्य में यात्रा करने की बात उठ खड़ी होगी। परन्तु, इस यात्रा के मार्ग में अभी बहुत सी व्यावहारिक बाधाएँ हैं। मनुष्य को ले जाने के लिए बहुत भारी राकेटों का निर्माण करना होगा। इसके अलावा सारा हिसाब पूर्णतः सही होना जरूरी होगा। मनुष्य को ले जाने वाले उपग्रह का नियंत्रण-योग्य होना भी जरूरी है। जब तक यह सब नहीं हो जाता, मनुष्य को अपनी आकांक्षा को दबा कर रखना होगा।

हमारी पृथ्वी

महत्तम ऊँचाइ (माउन्ट एवरेस्ट)—२९०२८ फीट

महत्तम गहराई (फिलीपाइन्स के पूर्व में)—३५६१० फीट

थल क्षेत्रफल—५·७४७ × १०⁷ वर्गमील

जल क्षेत्रफल—१३·९५ × १०⁷ वर्गमील

पृथ्वी की पपड़ी के मुख्य तत्व (प्रतिशत भार में)

औक्सीजन ४६·१३%, सिलिकन २६·०% ऐल्यूमीनियम ७·४५%, लोहा ४·२%, कैल्शियम ३·२५%, सोडियम २·४% पोटैशियम २·३५%, मैगनीशियम २·३५%, हाइड्रोजन १%, अन्य तत्व १·८७%।

हाइड्रोस्फीयर के मुख्य तत्व (प्रतिशत भार में)

औक्सीजन ८५·८६%, हाइड्रोजन १०·८२%, क्लोरीन १·९०%, सोडियम १·०६%, अन्य तत्व ०·३३%।

निशा उद्दीप्ति

लेखक—श्री अशोक शर्मा

परिचय—मानवी तथा प्राकृतिक कार्य कलापों के दुर्भेद्य आवरण के रूप में अंधेरी रातों से कौन परिचित न होगा ? क्या यह भी हमने कभी सोचा है, कि वायुमण्डल के रहस्यों का अनावरण करने में येही अंधेरी रातें हमारी सहायक भी हो सकती हैं ! क्यों नहीं; यदि अन्य प्रकाश की अनुपस्थिति में हम केवल ऊपरी आकाश से उत्सर्जित प्रकाश के वर्णक्रम का अध्ययन कर सकें। केवल अंधेरी रातों में ही तो अन्य प्रकाश पूर्णतय: अनुपस्थित होता है। अतः अंधेरी रातें, उपरी वायुमण्डल के बारे में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये हमें अनुकूल अवसर देती हैं।

इस तथ्य को पहिचानने में, कि ऊपरी वायुमण्डल प्रकाश का उत्सर्जन करता है, काफी समय लगा। सब से पहले, सन् १९०१ में न्यूकौम्ब ने निशा आकाश के प्रकाश की तीव्रता को मापा। उसके अनुसार यह प्रकाश अविभेदित ताराओं का प्रभाव था, तथा उसका विचार था कि इस प्रकार उसने ब्रह्माण्ड विन्यास के अध्ययन के लिये अत्यन्त महत्व पूर्ण राशि प्राप्त कर ली है। उसके तथा अन्य बाद के अनुसंधानकर्ताओं के मापों ने दिखाया कि रात्रि आकाश का प्रकाश तारा गणना द्वारा इंगित तारकीय प्रकाश से अधिक होता है। सन् १९१९ में बी. एम. स्लिफर तथा सन् १९२२ में लौर्ड रैले यह दिखाने में समर्थ हुये कि वायुमण्डल अपना प्रकाश भी उत्सर्जित करता है। सन् १९३३ में स्लिफर ने यह भी दिखा दिया कि सन्धि काल (twilight) पर उत्सर्जित वर्णक्रम रात्रि कालीन वर्णक्रम से भिन्न होता है। अनेक अनुसंधानों के फलस्वरूप यह मालूम हुआ कि रात्रि प्रकाश में, ऊपरी आकाश के अलावा अन्य स्रोतों का भी प्रकाश मिश्रित होता है : तारकीय प्रकाश, राशिचक्रीय प्रकाश; आकाश गंगा और निहारिकाओं का प्रकाश इत्यादि। भिन्न-भिन्न स्रोतों से आने वाले प्रकाश का ठीक-ठीक परिमाण ज्ञात कर केवल ऊपरी आकाश से प्राप्त प्रकाश का परिमाण भी ठीक-ठीक ज्ञात कर लिया गया।

रातों को अंधेरी शायद हम न कहते यदि निशा आकाश से उत्सर्जित प्रकाश की तीव्रता बहुत कम न होती; इतना तो स्पष्ट ही है कि यह प्रकाश तीव्रता हमारी आँखों की न्यूनतम संवेदन सीमा से भी कम है। ज्योतिष में प्रेक्षित प्रकाश के जितने भी विस्तृत स्रोत हैं उनमें यह सब से मद्धिम है। रात्रि कालीन आकाश की चमक $4 \times \overline{10}^{८}$ कैंडिल पावर प्रतिवर्ग सें मी है; जबकि दिन के समय नीले आकाश की चमक एक कैंडिल पावर प्रति वर्ग सें मी होती है रात्रि कालीन आकाश की चमक दिन के समय के दो करोड़ पचास लाखवाँ हिस्सा होती है। यही कारण है कि रात्रि उद्दीप्ति के प्रेक्षण के लिये बहुत शक्तिशाली उपकरणिकाओं की आवश्यकता होती है। निशा आकाश द्वारा उत्सर्जित वर्णक्रम के अध्ययन के लिये ऐसे वर्णक्रम-मापी की आवश्यकता होती है जो कि अधिक से अधिक प्रकाश को इकट्ठा कर सके; जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि कम विभेदन तथा विक्षेपण क्षमता वाले उपकरण ही उपयुक्त हो सकते हैं। 200A/मि. मी. का विक्षेपण इस कार्य के लिए बहुत अच्छा समझा जाता है। अतः तरंग दैर्ध्य का यथार्थ मापन संभव नहीं हो सकता; और कभी-कभी तो यह भी कहना कठिन हो जाता है कि प्रेक्षित उत्सर्जन परमाणुविक रेखा है या आणुविक पट्ट। वर्णक्रममापीयों के साथ-साथ प्रकाश-वैद्युत दीप्तिमापी (Photoelactric Photometer) का भी उपयोग होता है। व्यतिकरण फिल्टर की खोज के बाद इनका उपयोग और बढ़ गया है, क्योंकि इस प्रकार इनकी चाल वर्णक्रममापियों से हजारों गुना अधिक होती है। तथा

स्वअभिलेखी उपकरणिका के उपयोग से आकाश की अधिक अच्छी तरह छानबीन की जा सकती है।

ऊपरी आकाश की अधिकतम जानकारी उससे उत्सर्जित वर्णक्रम के विश्लेषण से ही प्राप्त कर सकते हैं। ये वक्रर्णम उपरोक्त उपकरणिकाओं की सहायता से प्राप्त किये जाते हैं। निशा आकाश द्वारा उत्सर्जित वर्णक्रम में कई विकिरणों को पहिचाना जा चुका है। वर्णन की सुगमता के लिये इनको दो भागों में विभक्त कर लेते हैं। परमाणुविक रेखायें (Atomic lines) तथा आणुविक पट्ट (molecular bands)। निम्न परमाणुविक रेखाय जिनको कि हरी, लाल, तथा पीली रेखायें कहते हैं, निश्चित रूप से पहचानी जा चुकी हैं। ये विकिरण सुगमता से प्रेक्षित लिये जा सकते हैं, तथा निम्न परमाणुओं के उत्सर्जन हैं। हरी रेखा—औक्सीजन [OI] की 5577A; लाल रेखा-औक्सीजन [OI] के 6300 6364 A; तथा पीली रेखा—सोडियम [NaI] के 5890-5896 A उत्सर्जन हैं।

इनके अतिरिक्त इस वर्णक्रम में आणुविक पट्ट (Molecular bands) भी होते हैं; जिनमें से कुछ को निश्चयपूर्वक पहिचाना जा चुका है, तथा अन्य पट्टों की पहिचान असंदिग्ध नहीं कही जा सकती कुछ ऐसे भी हैं जो कि बिलकुल पहिचाने ही नहीं जा सके हैं। निम्न पट्ट तन्त्रों (Band systems) की पहिचान असंदिग्ध है।

अवरक्त क्षेत्र (Onfrored region) में बहुत तीव्र पट्टों की माइनैल ने सन् 1950 में खोज की तथा उनको OH के कम्पन-घूर्णन तंत्र के रूप में चिह्नित किया। अन्य कर्ताओं ने प्रदर्शित किया कि यह पट्ट तन्त्र लाल, हरे, तथा नीले क्षेत्र तक फैला हुआ है। O_2 का वायुमण्डलीय तंत्र 8645 A पर प्रकटित (0,1) पट्ट को तथा कदाचित् 9965 A पर प्रकटित (0,2) पट्ट को उत्सर्जित करता है। इसी तन्त्र के (0,0) पट्ट के निम्न वायुमंडल में अवशोषित हो जाने के कारण उसका प्रेक्षण संभव नहीं। वर्णक्रम के नील क्षेत्र के पट्टों को N_2 के वैग्गार्ड-काप्लन (Veggard-Kaplan) तन्त्र का बताया जाता है; परन्तु अब यह पहिचान संदिग्ध प्रतीत होती है। वर्णक्रम के नीलोत्तर क्षेत्र में O_2 के हर्सबर्ग (Herz berg) तन्त्र के पट्ट होते हैं। कुछ मद्धिम तथा क्षीण पट्ट हर्सबर्ग द्वारा हाल ही में आविष्कारित O_2 के नये तन्त्र का भाग हैं। N_2^+ के (0,0) पट्ट को भी वर्णक्रम में पहिचाना गया है। इनके अलावा निशा आकाश द्वारा उत्सर्जित वर्णक्रम में निम्न अणुओं के पट्टों की उपस्थित भी संदिग्ध रूप में मानी जाती है; Co केमेरन (Comeron) पट्ट, Co का संभावित नया तन्त्र, N_2^+ के रिणीय पट्ट (Negative-bands), OH के इलैक्ट्रौनीय बैंड। प्रेक्षण की प्रायोगिक सीमाओं को देखते हुये यह पहिचान सराहनीय है।

निशा उद्दीप्ति के वर्णक्रम में अविरती (Contiuun) भी दृष्टिगत होता है। इसका कुछ भाग ताराओं के कारण होता है, तथा इसमें फ्रौनहौफर रेखायें F,G, H, H,K भी उपस्थित होती हैं। यह अविरती नीलोत्तर क्षेत्र में बहुत क्षीण होता है, परन्तु 4000 A से अधिक तरंग दैर्घ्य के लिये इसकी तीव्रता यकायक बढ़ जाती है। अविरती का उत्सर्जन करने वाली तहों (layer) की ऊँचाई ज्ञात कर लेने से यह निश्चित हो गया है कि यह पूर्णतया तारों के प्रकाश के कारण नहीं अपितु इसका कुछ भाग हमारे वायुमण्डल द्वारा भी उत्सर्जित होता है। एक परिकल्पना, जिसके अनुसार यह अविरती बहुत तीव्र रेखाओं के पक्षों के के कारण होता है, केवल नीले एवं नीलोत्तर क्षेत्र में ही उपयुक्त है; हरे क्षेत्र के लिये, जहाँ कि पट्ट बहुत क्षीण है, यह परिकल्पना सर्वथा अनुपयुक्त है। परन्तु यह तो निश्चित ही है कि निशा आकाश के प्रकाश में वायुमण्डलीय उत्पत्ति का अविरत वर्णक्रम होता है।

सम्पूर्ण वायुमण्डल ही उत्सर्जन नहीं करता, परन्तु प्रत्येक प्रकार के विकिरण के उद्गम का एक विशेष स्तर होता है। अतः निशा उद्दीप्ति के विकिरण विशेष के अध्ययन से उसके उत्सर्जक स्तर के बारे में ही जानकारी हो सकती है। वायुमण्डल के पूरे ज्ञान के लिये इन स्तरों की ऊँचाई का ज्ञान होना आवश्यक है। भिन्न जेनिथ कोण (zenith angle) पर विकिरण की तीव्रता माप कर वान रीन (Van Rhijn) सूत्र की सहायता से इन स्तरों ऊँचाई ज्ञात की जा सकती है। प्रकाश के अन्य स्रोतों, स्तरों की असमानता, तथा वायुमण्डल के प्रकीर्णन के कारण

भिन्न-भिन्न प्रेक्षकों द्वारा निश्चित ऊँचाइयों में अधिक असंगतियाँ हैं। लेकिन इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि निशा उद्दीप्ति का उत्सर्जन 100 तथा 200 कि० मी० के बीच में होता है। अतः 100 तथा 200 कि० मी० ऊँचाई पर वायुमंडल की अवस्था का अनुमान इस वर्णक्रम के अध्ययन से लगाया जा सकता है।

निशा उत्सर्जन वर्णक्रम के प्रकार से उत्सर्जक स्तर के तापक्रम का अनुमान लगाया जा सकता है। परमाणुविक वर्णक्रमी रेखा की डौप्लर (Doppler) चौड़ाई नाप कर उस स्तर का गतिज तापक्रम ज्ञात किया जा सकता है। इस प्रकार हरी रेखा के लिये महत्तम तापक्रम 680°K तथा 1700°K के बीच में अनुमानित किया गया है। इसी प्रकार अणुविक पट्टों के घूर्णन विन्यास से घूर्णन तापक्रम भी ज्ञात किया जा सकता है; O_2 के लिये यह $150° \pm 20°K$ तथा OH के लिये $260° \pm 5°K$ मापा गया है। इसी प्रकार दो पट्टों की तीव्रता के अनुपात से काम्पनिक तापक्रम भी मालूम किया जा सकता है। OH के लिये काम्पनिक तापक्रम $172° \pm 10°K$ है। घूर्णन तापक्रम तथा अन्य उपायों से प्राप्त तापक्रमों में असंगति, उत्सर्जक स्तरों के ऊँचाई के अत्याधिक अनुमान के कारण होती है।

ऊपरी वायुमंडलीय विन्यास तथा उसमें होने वाली रासायनिक तथा भौतिक प्रक्रियाओं का यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है, जब की इन उत्सर्जनों की उत्तेजक प्रक्रियाओं का ज्ञान हो। भिन्न-भिन्न परमाणुविक रेखाओं की तीव्रता की तुलना से टक्कर प्रक्रमों के बारे में कुछ ज्ञान हो सकता है। सर्वमान्य सिद्धान्त के अनुसार रात्रि में उत्सर्जित ऊर्जा का स्रोत सूर्य है : अणुओं के विच्छेदन तथा परमाणुओं के आयनीकरण के फलस्वरूप दिन के समय वायुमंडल में सूर्य की ऊर्जा संचित हो जाती है; भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं द्वारा यह रात्रि में पुनः - उत्सर्जित हो जाती है :

क- विकरणीय पुनः संयोजन

$$O + O = O_2 + \text{प्रकाश क्वांटम}$$
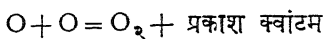
जिससे कि O_2 के हर्सबर्ग तथा वायुमण्डलीय पट्ट उत्सर्जित होते हैं।

ख. त्रयी टक्कर द्वारा पुनः संयोजन

$$O + O + O = O_2 + O'$$
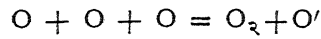
उत्तेजित औक्सीजन के परमाणु सामान्य स्थिति में लौटने पर लाल तथा हरी रेखाओं को उत्सर्जन करते हैं।

ग. रासायनिक प्रक्रिया

$$O3 + H = OH' + O_2$$
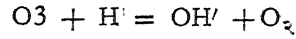
यह प्रक्रिया माइनैल के OH पट्टों के उत्सर्जन की व्याख्या करती है। Na की पीली रेखाओं के उत्सर्जन के लिये चैपमैन (Cbapmon) ने निम्न प्रक्रिया प्रस्तुत की है :

$$NaO + O = Na' + O_2$$
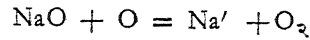
परन्तु हाल ही में एक और प्रक्रिया भी प्रस्तुत की गयी है :

$$Na + OH' = Na' + OH$$
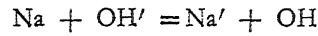
इन सब प्रक्रियाओं में केवल माइनैल के OH पट्टों की प्रक्रिया का ही प्रायोगिक अध्ययन सभंव हो सका है। अतः OH के घूर्णन-कम्पन तंत्र के अलावा अन्य किसी उत्सर्जन की उत्तेजक प्रक्रिया असंदिग्ध रूप में ज्ञात नहीं।

यह भी कहा जाता है, कि निशा उद्दीप्ति का उत्तेजन अन्तरग्रही कणिकाओं, विशेष रूप से इलैक्ट्रौन या अंतरिक्ष धूल (Cosmic dust) की वायुमण्डल से टक्कर के कारण भी होता है। कुछ लोगों का कहना है कि वायुमण्डलीय इलैक्ट्रौनों के विद्युत क्षेत्र द्वारा त्वरित हो कर टकराने के कारण उत्तेजना होती है। आयनी गैसीय धारा के पृथवी के चुम्बकीय क्षेत्र में गति करने के फलस्वरूप आवश्यक विद्युत क्षेत्र उत्पन्न होता है। यह दोनों सिद्धांत अधिक उन्नत नहीं हैं। अभी तो यही कहा जा सकता है कि अधिक ऊँचाई के उत्सर्जनों की व्याख्या के लिये ऐसे ही सिद्धान्तों की आवश्यकता होगी; सामान्य ऊँचाई के उत्सर्जनों की व्याख्या करने में सम्भवतः पहला सिद्धान्त ही अधिक उपयुक्त होगा।

रात्रि उद्दीप्ति से ऊपरी वायुमण्डल के बारे में ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करने के लिये विभिन्न विकरणों की उत्तेजक प्रक्रिया का यथार्थ ज्ञान परमावश्यक है। ऊपरी

आकाश की बनावट की जानकारी तो अन्य उपायों द्वारा भी की जा सकती है, परन्तु वहाँ होने वाली प्रक्रियाओं के अध्ययन का तो यही एक मात्र साधन है। किसी प्रक्रिया को एक विकिरण उत्सर्जन का असंदिग्ध कारण तभी माना जा सकता है जब कि वह उस विकिरण सम्बन्धी सब प्रेक्षित तथ्यों की समुचित व्याख्या कर सके। यही कारण है कि अंतर्राष्ट्रीय भू-भौतिकी वर्ष के प्रेक्षणों में निशा उद्दीप्ति के प्रेक्षण का एक विशेष स्थान है। निशा आकाश द्वारा उत्सर्जित विकिरणों के दैनिक तथा वार्षिक परिवर्तनों के प्रेक्षण के साथ-साथ इनकी उत्सर्जक तहों की ऊँचाई भी मापी जायगी। भारत में भी नैनीताल तथा कोदाईकनाल आदि वेधशालाओं में परमाणुविक रेखाओं के प्रेक्षण की व्यवस्था रहेगी। इस भू-भौतिकी वर्ष के प्रेक्षणों द्वारा इन विकिरणों के अधिक से अधिक चारित्रिक तथ्यों की खोज की जायगी, जिससे कि हम ऊपरी वायुमण्डल का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकें। वही अंधेरी रात जिसको कि दुर्भेद्य आवरण कहा जाता है, ऊपरी वायुमण्डल को अनावरित कर देती है।

———

हमारी पृथ्वी

ध्रुवीय त्रिज्या – ३९५१ मील (६३५७ किलोमीटर)
विषुवतीय त्रिज्या—३९६४ मील (६३७८ किलोमीटर)
मध्यमान त्रिज्या—३९६० मील (६३७१ किलोमीटर)
सतह का क्षेत्रफल—५·१०१ $\times$ १०^{८} वर्ग किलोमीटर
आयतन—१·०८३ $\times$ १०^{१२} घन किलोमीटर
संहति—५·८८६ $\times$ १०^{२१} टन (५·९८० $\times$ १०^{२४} किलोग्राम)
मध्यमान घनत्व—५·५२० ग्राम प्रति घन सेन्टीमीटर
सूर्य से मध्यमान दूरी—९·३०० $\times$ १०^{७} मील (१·४९७ $\times$ १०^{८} किलोमीटर)
विषुवत रेखा पर पृथ्वी का घूर्णन वेग – ४६० मील प्रति सेकन्ड
मध्यमान नाक्षत्रिक वर्ष—३६५·२५६ मध्यमान सौर दिवस
चन्द्रमा से मध्यमान दूरी—२·३९१ $\times$ १०^{५} मील (३·८४७ $\times$ १०^{५} किलोमीटर)
निकटतम नक्षत्र की दूरी—४·३१ प्रकाश वर्ष (१ प्रकाश वर्ष = ५·८८० $\times$ १०^{१२} मील)

———

दक्षिणी ध्रुव-क्षेत्र में अनुसंधान का महत्वपूर्ण कार्यक्रम

दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में संसार के शीततम, और सब से कम वायु दाब के स्थान हैं, अतः इन चीजों का संसार के जलवायु पर काफी प्रभाव पड़ना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष के तत्वावान में अमेरिका ने दक्षिणी ध्रुव प्रदेश सम्बन्धी एक विशाल कार्यक्रम बनाया है जिस पर दक्षिणी ध्रुव-क्षेत्र में या उस के आसपास स्थापित किये गये ७ वैज्ञानिक अनुसन्धान-केन्द्रों से अमल किया जायेगा।
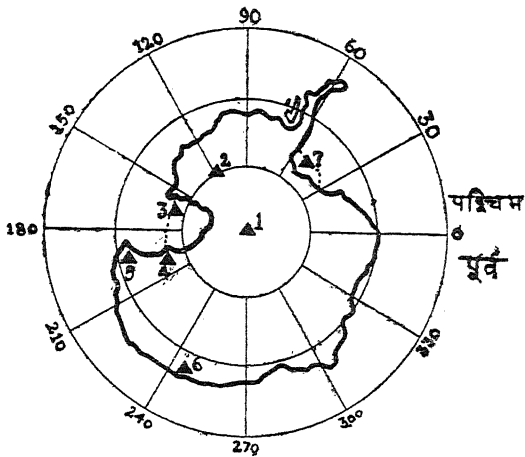
ऐन्टार्कटिक के अनुसन्धान केन्द्र: १—ध्रुव स्टेशन, २—बयर्ड स्टेशन, ३—लिटिल अमेरिका स्टेशन, ४—विलियम्स एयर आपरेशन्स, ५—एडेअर स्टेशन, ६—नौक्स स्टेशन, ७—वेडेल स्टेशन।

इन में से एक अनुसन्धान केन्द्र दक्षिणी ध्रुव पर, दूसरा ह्वेलों की खाड़ी में 'लिटिल अमेरिका' टापू पर और तीसरा हिमाच्छादित रौकफेलर पर्वतों की तराई में मैरी बर्ड लैण्ड के भीतरी प्रदेश में स्थापित किया गया है।

इनके अलावा, चौथा केन्द्र महाद्वीप के दूसरी ओर वेडल समुद्र में, पाँचवाँ केन्द्र रौस सागर में हैलेट अन्तरीप के पास, छठा केन्द्र अफ्रीका के दक्षिण में नौक्स तट पर और सातवाँ हवाई कार्यवाहियों का अनुसन्धान-केन्द्र रौस सागर में मैकमुर्डो साउंड पर बनाया गया है।

हरेक केन्द्र का अपना अलग अलग वैज्ञानिक कार्यक्रम होगा और उसे समग्र क्रिया-कलाप की दृष्टि से भी कुछ काम संभालना होगा। हैलेट अन्तरीप के केन्द्र का संचालन अमेरिका और न्यूजीलैंड द्वारा मिल कर किया जायेगा।

इन केन्द्रों के वैज्ञानिक दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश में अनेक भू-भौतिक विषयों के बारे में अध्ययन और अनुसन्धान के कार्य करेंगे। इन में दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश में रहने वाले सतत प्रकाश, ब्रह्मांड किरणें, भू-चुम्बकत्व, हिमखडों के जमाव, अन्तरिक्षविद्या, रौकेट द्वारा उपरी वायुमंडल की छानबीन, भूकम्प और गुरुत्वाकर्षण शक्ति के मापन आदि विषय शामिल हैं।

रौस सागर के जमे हुए पृष्ठ पर 'लिटिल अमेरिका' के अनुसन्धान-केन्द्र से समस्त केन्द्रों के प्रधान शिविर का काम लिया जायेगा। यह तट से दक्षिणी ध्रुव का सब से निकटवर्ती स्थान है और ८०० मील से भी कम दूर है।

इससे दक्षिणी ध्रुव महाप्रदेश में प्रविष्ट होने का मार्ग भी मिलता है और यहाँ जहाजों से आवश्यक सामान पहुँचा कर उतारा जा सकता है। यहाँ से भीतर की ओर मैरी बर्ड अनुसंधान-केन्द्र को सामान पहुँचाया जायेगा और

सम्भवतः यह काम बर्फ पर फिसलने वाली गाड़ियों से ही लिया जायेगा। ये गाड़ियाँ रौकफेलर पर्वतमाला के पार सामान ले जायेंगी और ज़रूरत होने पर वायुयानों से भी माल गिराया जायेगा।

लिटिल अमेरिका के अनुसन्धान-केन्द्र को विशाल वैज्ञानिक कार्य-क्रम का आधार-स्थल बनाने के अतिरिक्त उस से मुख्य ऋतु-केन्द्र तथा समस्त रेडियो-संचार व्यवस्था के केन्द्र का काम भी लिया जायेगा।

इस कार्य-क्रम का महत्वपूर्ण हिस्सा यह भी होगा कि

वेड हिमनदी जो क्वीन माड पर्वत श्रेणी के बीच से होकर रौस सागर में चली जाती है।

रौस सागर के विशाल हिम-प्रदेश की छानबीन की जायेगी। यह संसार का एक आश्चर्य है कि १,००० वर्गमील से भी अधिक का तैरता हिम-प्रदेश महाद्वीप के साथ लगा हुआ है। उसके बड़े-बड़े हिमखण्ड हमेशा टूटते और महाद्वीपों हिमनदों के कारण आपस में जुड़ते रहते हैं।

इस विशाल हिम-प्रदेश का अध्ययन इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है कि यहाँ की ऋतु सम्बन्धी दशाओं का प्रभाव अवशिष्ट संसार पर भी बहुत अधिक होता हैं। कुछ बर्फ बहुत गहरी जमी हुई है। वहाँ गहरी घाटियाँ हैं, छोटी पर्वत-शृङ्खलाएँ हैं और बर्फ की विशाल मरूभूमियाँ फैली हुई हैं।

लिटिल अमेरिका स्थित केन्द्र के वैज्ञानिक इस हिम-प्रदेश को मापने की चेष्टा करेंगे। वे यह भी पता लगायेंगे कि प्रतिवर्ष कितनी मात्रा में बर्फ जमती है और १०० फुट नीचे बर्फ की बनावट और रूप कैसा होता है तथा क्या तापमान रहता है।

उस प्रदेश के विभिन्न स्थलों पर जलवायु और तापमान की दशाओं का भी पता लगाया जायेगा।

जाँच-पड़ताल के ये सब काम दो गर्मियों में किये जायँगे। ५ महीने की इस अवधि में लगभग निरन्तर ही दिन का प्रकाश रहेगा। बर्फ का गाड़ियों का इस्तेमाल करने में बहुत से खतरे भी उठाने पड़ेंगे, क्योंकि उस प्रदेश के अनेक भागों में गहरी दरारें भी हैं और ऊपर से उनका पता नहीं चलता है। केन्द्र के आसपास का इलाका ही देखा-भाला हुआ है।

समुद्र के स्तरों और तरंगों की पड़ताल

[समुद्र में जलगत नदियाँ बहती है, इस तथ्य से बहुत कम व्यक्ति परिचित है।]

अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष में २७ देशों के समुद्र-विशेषज्ञ ७० जहाजों में समुद्रों की जाँच-पड़ताल करेंगे। ये लोग समुद्रों में सैकड़ों द्वीपों के निर्जन तटवर्ती किनारों पर अथवा उत्तरी ध्रुव की सरकती हुई हिमचोटियाँ पर ऐसी दो प्रमुख समस्याओं के सम्बन्ध में अध्ययन करेंगे, जिनके लिए चिरकाल से भू-भौतिक वर्ष के समान किसी सम्मिलत विश्वव्यापी वैज्ञानिक प्रयत्न की प्रतीक्षा की जा रही थी।

समुद्री स्तर की पैमाइश

प्रथम समस्या समुद्री स्तर की विश्वव्यापक पैमाइश है। संसार के सभी भागों में समुद्रों में आने वाले ज्वारभाटों के सम्बन्ध में समुद्री पंचांग तैयार करने की दृष्टि से ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करने के लिए इसकी आवश्यकता है। इसके अलावा, समुद्र-विशेषज्ञों को ज्वारभाटे के समान असाधारण उतार-चढ़ावों के विषय में ठीक-ठीक जानकारी उपलब्ध कराने के लिए भी इस पैमाइश की आवश्यकता है।

वैज्ञानिक लोग उस अद्भुत खोज के सम्बन्ध में भी जाँच करने का प्रयत्न करेंगे, जो १९५५ में ला जोला (कैलिफर्नेनिया) के "स्क्रिप्स इन्स्टिट्यूशन औव ओसनेग्राफी" में की गई थी।

स्क्रिप्स के वैज्ञानिकों ने यह बात पता कि है कि ग्रीष्म ऋतु में, उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों प्रशान्त सागरों में, समुद्र-स्तर सम्बन्धी आँकड़ों से प्रकट होता है कि समुद्र का स्तर कुछ थोड़ा सा ऊपर उठ जाता है। इस से यह प्रश्न उत्पन्न हो गया है। क्या यह भूमध्य-रेखा की ओर जल की सचमुच ही गति है, अथवा यह केवल ग्रीष्मकालिक उष्णता और समुद्री जल के विस्तार परिमाण है?

जलगत नदियाँ

इस प्रयत्न के फलस्वरूप समुद्र-विशेषज्ञ उन गहरी समुद्री तरंगों के सम्बन्ध में अधिक अच्छी जानकारी हासिल करने की भी आशा कर रहे हैं, जो उतनी ही रहस्यपूर्ण हैं जितनी कि महत्वपूर्ण।

ये जलगत नदियाँ उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुव क्षेत्रों में उस समय बहती हैं, जब जल जम जाता है। वे बाद में समुद्र के पेन्दे के साथ नीचे चली जाती है और धीरे-धीरे भूमध्य-रेखा की ओर बहने लगती हैं और वहाँ पहुँच कर वे अन्त में समुद्र के ऊपरी स्तर की ओर उठने लगती हैं।

हाल में "स्क्रिप्स इन्स्टिट्यूशन ऑव् ओसनोग्राफी" के डा० रोजर रेवेल ने बताया है कि "समुद्र जल के परिभ्रमण के सम्बन्ध में बहुत सी कम जानकारी हासिल है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं जानता है कि उन गहरी नदियों को ध्रुवों से भूमध्य-रेखा तक पहुँचने तथा पुनः ध्रुवों की ओर लौटने में १०० वर्ष लगते हैं अथवा १० हजार वर्ष।"

जलगत नदियों की जानकारी प्राप्त करने के कारण

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि विश्व के वैज्ञानिक गहरी समुद्री जलगत नदियों की गतियों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी क्यों हासिल करना चाहते हैं?

इस के दो महत्वपूर्ण कारण हैं।

उन में से एक कारण यह है कि इन गहरी समुद्री नदियों अथवा तरंगों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी हासिल करने से मौसम सम्बन्धी दीर्घकालीन भविष्य-वाणियों में सुधार करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण सहायता मिल सकेगी। ऐसा इस लिए न, क्योंकि शीत जल की गति-विधियों से विस्तृत क्षेत्रों के मौसम पर प्रभाव पड़ सकता है।

दूसरे, समुद्रों की उर्वरा शक्ति गहरे जल तथा समुद्र की सतह के जल के परस्पर विनिमय पर निर्भर करती है। यही कारण है कि यहाँ समुद्रों के सतह के जल तथा गहरी तरंगों के जल का विनिमय कम होता है, यहाँ मछलियाँ तथा अन्य खाद्य-सामग्री कम मात्रा में प्राप्त होती है और जहाँ तक विनिमय अधिक होता है वहाँ अधिक मात्रा में मछलियाँ तथा खाद्य-सामग्री हासिल होती है।

समुद्रों से प्राप्त होने वाली संभावित खाद्य-सामग्री के सम्बन्ध में पूरा-पूरा अनुमान लगाने के इन रहस्यपूर्ण गहरी तरंगों के गतिविधियों के बारे में काफी जानकारी आवश्यक है।

वायुमंडल की रचना

मौसम के क्षेत्र ट्रौपोस्फियर की विषुवत रेखा पर धरातल से ऊँचाई लगभग १८ किलोमीटर है। इस क्षेत्र में तापक्रम में कमी ६°C प्रति किलोमीटर (१°F प्रति ३०० फीट) के अनुसार होती है। ऊपरी सीमा (ट्रौपोपौज़) पर तापक्रम करीब २, २१६° K होता है। स्ट्रैटोस्फीयर, ट्रौपोस्फीयर के ऊपर होता है; तथा तापक्रम की समानता, जो कि ३० किलोमीटर तक १६०° K पर स्थिर रहता है, उसका चारित्रिक गुण है। उसके बाद तापक्रम बढ़ता है तथा ६० किलो-मीटर पर ३७०° K हो जाता है। इससे ऊपर तापक्रम गिरता है: ८० किलो-मीटर पर १८४° K पहुँच जाता है, जब कि ज्ञात तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तापक्रम बराबर बढ़ता ही जाता है। ११० किलोमीटर पर तापक्रम ३४७° K है। ३० किलोमीटर तथा ८० किलोमीटर के बीच का क्षेत्र मैजोस्फीयर कहलाता है: ८० किलोमीटर से ऊपर का थर्मोस्फीयर। ३० किलो-मीटर तथा ६० किलोमीटर के बीच के क्षेत्र में ओजोन की अधिकता होने के कारण उसे ओजोनोस्फीयर भी कहते हैं।

८० किलोमीटर से ऊपर का क्षेत्र आयनौस्फीयर कहलाता है। इसकी चार मुख्य आयनीय तहें D, E, F_1 तथा F_2 होती हैं जो कि क्रमशः ८०, १००, २०० तथा ३००—४०० किलोमीटर पर होती हैं। रात्रि के समय F_2 तह नीचे खिसक कर F_1 से मिल जाती है। आयनौस्फीयर निश्चित मान से कम आवृत्ति वाली रेडियो तरंगों को परावर्तित कर देता है।

ध्रुव विभायें सब से अधिक १०० किलोमीटर की उंचाई पर उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों में दिखायी पड़ती हैं।

चन्द्रमा के बारे में नये तथ्य

लेखक—श्री प्रो० वी० शारोनोव डी० एस सी० (भौतिकी और गणित)

हमें यह कैसे मालूम कि चन्द्रमा लोहे का नहीं बना है ? मजाक में पूछे गये प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं। बात यह है कि हमें सूर्य, तारों और बहुत सी दूरस्थ नीहारिकाओं की रचना का सही ज्ञान है, किन्तु हम अभी तक चन्द्रमा के पृष्ठ की रचना का पता लगाने में समर्थ नहीं हो सके हैं, जो हमारे इतना निकट है। यह इस लिए है कि सूर्य, तारे और नीहारिकाएँ अपना निजी प्रकाश छोड़ते हैं। स्पेक्ट्रल विश्लेषण की सहायता से जो किरण उनसे हम तक पहुँचती है, हम ज्ञात कर सकते है कि उनमें कौन से रासायनिक तत्व विद्यमान हैं।

चन्द्रमा की हालत में उसके जिस प्रकाश कि हम रात्रि में इतनी प्रशंसा करते हैं, केवल चन्द्रमा के पृष्ठ से प्रतिक्षिप्त सूर्य किरणें हैं। स्पेक्ट्रम विज्ञान हमें सूर्य की रचना का ज्ञान तो दे सकता है, किन्तु चन्द्रमा की घाटियों और पहाड़ों के चट्टानी पृष्ठ का नहीं !

तो भी चन्द्रमा के पृष्ठ का स्वरुप न केवल सैद्धान्तिक अपितु व्यावहारिक महत्व का भी है। वह दिन दूर नहीं जब एक उचित प्रकार का राकेट अन्तर विमान (स्पेसशिप), जिसका पथ-निर्देशन एक ज्योतिर्वैमानिक के हाथों होगा, चन्द्रमा की प्रथम यात्रा पर प्रस्थान करेगा। उस विमान को किस जमीन पर उतरना पड़ेगा, इसका ज्ञान पहले से अत्यन्त महत्वपूर्ण होगा।

पृष्ठों से सूर्य किरणों के प्रतिक्षेप की विशेषताओं के अध्ययन द्वारा बहुत से प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ना सम्भव है। इस प्रकार के जाँच-कार्य लेनिनग्राद विश्वविद्यलय की वेधशाला में अधिक से अधिक पूर्ण रुप में सम्पन्न किसे गये हैं।

वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि चन्द्रमा एक बहुत काले पदार्थ से आवृत है। यस औसतन केवल ७ प्रतिशत प्रकाश पड़ता है—सबसे चमकीले स्थान १५ प्रतिशत से अधिक नहीं तथा सबसे काले केवल पाँच प्रतिशत। विश्वविद्यालय की वेधशाला की ज्योतिर्विद एन० एस० ओलोवा ने हाल में ही इस बात को निश्चित किया है कि प्रतिक्षेप के स्वरुप के लिए चन्द्रमा का पृष्ठ झांजमय रचना के अत्यधिक फफोलेदार सच्छिद्र पदार्थ से मिलता-जुलता होना चाहिए।

येल० एन० रादलोवा ने सिद्ध किया है कि चन्द्रमा के पृष्ठ का एक उल्लेखनीय विशिष्ट स्वरूप है। उसके अध्ययन से पता चला है कि चन्द्रमा के सभी पहाड़, चट्टानें, घाटियाँ व अन्य स्थान, चमक की दृष्टि से भिन्न होते हुए भी एक ही रंग के हैं। इस बात में वे भूमि के खनिजों और चट्टानों से बहुत भिन्न हैं, जो सर्वथा विभिन्न प्रकार के और बहुत अधिक चमकीले रंगों के हैं।

हम पहले ही कह चुके हैं चन्द्रमा स्वयं किरणें नहीं देता है। किन्तु यह बात वहीं तक सत्य हूँ, जहाँ तक आँखों को दीखने वाली प्रकाश की किरणों का सम्बन्ध है। अदृश्य 'तार' अथवा इनफ्रारेड किरणों के बारे में बात दूसरी है। दो सप्ताह के लम्बे चन्द्र दिवस के दौरान में चन्द्रमा का पृष्ठ सूर्य से बहुत अधिक गरम हो जाता है। प्रत्येक गरम पदार्थ किरणें देता है, जो उतनी ही तेज होती हैं, जितना ऊँचा तापमान होता है।

इस प्रकार की किरणों को मापने के लिए खास तरह के उपकरण थर्मो-एलिमेण्ट बनाये गये हैं। उन्हें एक विशाल प्रतिक्षेपी दूरवीक्षण यंत्र के फोकस में रख कर चन्द्रमा के छोटे-छोटे हिस्सों से हम तक पहुँचने वाली ताप-किरणों को मापना सम्भव है। सम्बन्धित गणनाओं से इन हिस्सों के तापमान का निश्चय तक करना सम्भव है। इस प्रकार वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा के वायुमण्डल का विस्तार से अध्ययन किया है, उन्होंने चन्द्र दिवस के दौरान में विभिन्न स्थानों के तापमान के परिवर्तनों को देखा है, जोकि पृष्ठ पर जिस कोण से किरणें पड़ती हैं, उस पर निर्भर

करता है। यह पता चला है कि जहाँ किरणें लम्बरूप पड़ती है, वहाँ तापमान १३० डिग्री शतांश तक पहुँचता है। सूर्यास्त के समय तापमान बहुत कम ६०-७० डिग्री के आस-पास होता है, जबकि चन्द्रमा के पृष्ठ पर, जहाँ रात है, तापमान शून्य से भी १५० डिग्री नीचे चला जाता है।

चन्द्र ग्रहण के समय लिए गये तापमान चन्द्र पृष्ठ को ढकने वाले पदार्थ के स्वरूप के अध्ययन में खास महत्व रखते हैं। ग्रहण के समय पृथ्वी सूर्य को चन्द्र से छिपा लेती है, सूर्य की किरणें तब चन्द्र पर नहीं पहुँचतीं, और चन्द्र-पृष्ठ तेजी से ठण्डा होना शुरू हो जाता है। ग्रहण के समय चन्द्र-पृष्ठ के कम होते तापमान की तालिका का विश्लेषण बताता है कि वाह्य पृष्ठ ऐसे पदार्थ का बना होना चाहिए, जिसकी ताप-वाहकता बहुत कम है। यह गुण केवल ढीले अत्यन्त सच्छिद्र पदार्थ में ही हो सकता है।

हाल में हो अध्ययन की एक नयी रेडियो-ज्योतिर्वैज्ञानिक विधि का प्रचलन हुआ है। एक शक्तिशाली रेडियो लोकेटर निश्चित दिशा में रेडियो-तरंगों का समूह भेजता है, और चन्द्र-पृष्ठ से प्रतिक्षिप्त रेडियो तरंगें एक रेडियो रिसीवर संस्थान द्वारा पकड़ी जाती हैं। यह तथ्य और भी दिलचस्प है कि चन्द्रमा स्वयं एक प्रकार का रेडियो स्टेशन है। यह अपनी रेडियो-तरंगें छोड़ता है, जिन्हें आधुनिक रेडियो-दूरवीक्षण यंत्रों की सहायता से पहचाना और मापा जा सकता है। इस तरह के अध्ययन प्रोफेसर एस० इ० खाइकिन के मार्ग-दर्शन में पुल्कोवी वेधशाला में चल रहे हैं।

चन्द्रमा से आने वाली रेडियो-तरंगें दृश्य पृष्ठ के नीचे की विभिन्न गहराइयों से उत्पन्न होती हैं। उनके अध्ययन से न केवल चन्द्रमा की घाटियों के ऊपरी पृष्ठ के बल्कि उनके नीचे के पदार्थों के भी तापमान और रचना के बारे में परिणाम निकालना सम्भव है इन जाँचों से इस विचार की पुष्टि होती है कि चन्द्रमा किसी ढीले सच्छिद्र पदार्थ से ढका है। इसमें बहुत अधिक फफोले से हैं। इसकी रचना सच्छिद्र स्पंजाकार है, और ताप-वाहकता बहुत कम है। यह ऊपरी सतह क्या है?

यह स्पष्ट है कि चट्टान यह नहीं है; क्योंकि ठोस चट्टानमय पृष्ठ की ताप-वाहकता बहुत ऊँची होती है। इसके अलावा पृथ्वी की पहाड़ी चट्टानें औसत रूप से अत्यधिक चमकीली और अधिक विभिन्न रंगों की हैं। न यह रेत या धूल है, क्योंकि इस तरह के पदार्थ बहुत से चन्द्र-पर्वतों की बिल्कुल सीधी ढलानों पर नहीं ठहर सकते, और उनका वैसा दरारों वाला सच्छिद्र पृष्ठ नहीं हो सकता, जैसा कि फोटो-मापक के मापों से संकेत मिलता है। तो यह क्या है?

इस प्रश्न के उत्तर के रूप में बहुत दिलचस्पी की चीज लेनिनग्राड की प्रोफेसर एन० एन० सिन्तिस्काया का चन्द्रमा के ऊपरी पृष्ठ के निर्माण का उल्का-पिण्ड धातुमल (स्लैग) सिद्धान्त है।

चन्द्रमा की एक विशेषता यह है कि उसमें वायुमण्डल नहीं है, इस बारे में वैज्ञानिकों की एक राय है कि ऐसे कोई तथ्य हमारे पास नहीं है। जिनसे यह कल्पना हो सके कि चन्द्रमा पर बहुत अधिक विरल गैस तक का भी कोई आवरण है। चाकासान्त रेखा (टर्मिनेटर रेखा) अर्थात दिन और रात्रि गोलार्द्धों की सीमा पर की प्रकाश सम्बन्धी घटनाओं के अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण से ग्रहों व उनके उपग्रहों के स्वरूप का अध्ययन करने वाला सुप्रसिद्ध फ्राँसीसी छात्र डोल्फस इस परिणाम पर पहुँचा है कि चन्द्रमा में पृथ्वी के वायुमण्डल के ·०००००००१ वें भाग के बराबर भी वायुमण्डल नहीं है। किन्तु यदि ऐसा है, जो उल्काएं पृथ्वी के वायुमण्डल में जलती है, वे चन्द्रमा के पृष्ठ पर बिना रुकावट के पहुँच जाती हैं। चन्द्र-पृष्ठ पर प्रत्येक उल्का-पिंड का प्रहार इतना शक्तिशाली होता है, और उसके साथ इतनी बड़ी मात्रा में शक्ति उन्मुक्त होती है, कि उसके बाद बहुत विनाशक शक्ति का विस्फोट होना चाहिए; यद्यपि उल्का में किसी तरह के विस्फोटक पदार्थ नहीं होते, और वह केवल चट्टान का टुकड़ा ही होती है। उल्का पिंडों के प्रसिद्ध अनुसन्धान कर्त्ता के० पी० स्तान्युकोविच और वी० वी० फेदीन्स्की की गणनाओं से पता चलता है कि इस प्रकार का विस्फोट न केवल उल्कापिंड को बल्कि चन्द्र-पृष्ठ के चट्टानमय पदार्थ के बड़े पिंड को भी गरम चमकदार वाष्पों में बदल देता है। चन्द्रमा की गुरुत्व शक्ति कम होने के कारण यह वाष्प विशाल क्षेत्रों में फैल जाता है। तेजी से ठन्डा होता हुआ यह काले स्पंजाकार ढेर के रूप में नीचे बैठ जाता है, जो पिघलकर संश्लिष्ट तथा बाद

में ठन्डा होकर ठोस हुए पदार्थ का बना होता है।

क्योंकि चन्द्रमा पर न तो वायुमण्डल और न पानी है। इस पदार्थ को जल-धाराएं अपने साथ नहीं ले जातीं; जैसा कि पृथ्वी पर होता है, न उसे बारिश बहाती है, और न हवायें ही उड़ा कर दूर ले जाती हैं, क्योंकि चन्द्रमा में उनमें से कोई भी वस्तु नहीं है। आम तौर पर यह पदार्थ वैसा का वैसा ही पड़ा रहता है, अरबों वर्षों के समय में इसने हमारे उपग्रह के समूचे पृष्ठ को ही एक से रंग की और कम ताप वाहकता वाली स्पंजाकार तह से ढक लिया है, जैसा कि चन्द्रपृष्ठ के तापमानों के अध्ययन से संकेत मिलता है।

उल्कापिंड धातुमल सिद्धान्त का यह सार है, जिसका विकास सोवियत वेधशालाओं में चन्द्रपृष्ठ के सालों के अध्ययन के परिणामस्वरूप हुआ है, जिससे इस समय चन्द्रमा के बारे में हम जो भी जानते हैं, उस सबकी व्याख्या हो जाती है।

वायुमण्डल के अवयव

सम्पूर्ण पृथ्वी पर तथा सम्पूर्ण ट्रौपोस्फीयर में शुष्क वायु का विन्यास आश्चर्य जनक रूप से स्थिर है। आयतन के अनुसार भिन्न-भिन्न घटकों का अनुपात निम्न है :

नाइट्रोजन	७८·०९%	हीलियम	५·२ × $१०^{-४}$%
औक्सीजन	२०·९५%	क्रिप्टन	१ × $१०^{-४}$%
आर्गन	०·९३%	हाइड्रोजन	५ × $१०^{-५}$
कार्बन डाइ औक्साइड	०.०३%	ज़िनौन	९ × $१०^{-६}$ %
नियौन	१·८ × $१०^{-३}$%	रेडौन	६ × $१०^{-१८}$ %

तेल की खोज

आज के संसार में तेल प्रगति का सबसे महत्वपूर्ण साधन बन गया है। हमारे पास यदि काफी तेल हो तो हमारी बड़ी-बड़ी योजानाएं बहुत जल्दी पूरी हो सकती हैं। अब तक केवल आसाम राज्य में तेल मिला है परंतु, डिगबोई और नहरकटिया के तेल के कुओं से हमारी अवश्यकता का केवल १० प्रतिशत अंश ही पूरा होता है।

अतः आज देश भर में तेल की खोज जारी है। १६५६ में असम के मोरान जिले में, डिगबोई से ८० मील दूर, तेल का पता चला। परन्तु अपने लक्ष्य से हम अभी बहुत दूर हैं।

पृथ्वी के गर्भ में छिपे तेल को खोजने और उसे निकालने की कथा रोमांच और संघर्ष से पूर्ण कथा है।

इसका आरम्भ हवाई सर्वे से होता है। आकाश से फोटो खींचकर तेल-क्षेत्र का नकशा तैयार किया जाता है और बाद में इस सर्वे के आधार पर विस्तृत भौमिक नकशा बनाया जाता है। भौमिकीय अवस्था का पता चलाने के लिए इस हवाई सर्वे और नक्शों के आधार पर हवाई-चुम्बकीय सर्वे किया जाता है। एक निश्चित ऊँचाई पर विमान से चुम्बकमान (मैगनेटोमीटर) द्वारा पृथ्वी की तहों के चुम्बकीय परिवर्तनों का पता चलाया जाता है। इन परिवर्तनों से इस बात का पता चलता है कि विभिन्न स्थलों पर सबसे निचली चट्टानों की गहराई कितनी है।

जहाँ चट्टानें सतह पर हैं वहाँ भूगर्भ शास्त्री अपना काम शुरू कर देते हैं। इन वैज्ञानिकों का काम यह है कि वे चट्टानों की रचना का अध्ययन करें। यह अध्ययन विभिन्न चट्टानों से नमूने लेकर किया जाता है। इस अध्ययन से यह पता चलता है कि चट्टानें कितनी पुरानी हैं। चट्टानों की 'उम्र' का पता चलाने से पृथ्वी की विभिन्न निचली तहों के विषय में जानकारी प्राप्त करने में मदद मिलती है।

इसके बाद भूमौतिकी शास्त्रियों का काम शुरू होता है जो भारमान (ग्रैविमीटर) की सहायता से इस बात का ठीक ठीक पता चलाते हैं कि पृथ्वी के अन्दर की चट्टानों की रचना कैसी है। इस यन्त्र द्वारा प्राप्त जानकारी से ये वैज्ञानिक यह अनुमान लगा सकते हैं कि घनी चट्टानों की गहराई कितनी है। वे उन चट्टानों का भी पता लगा सकते हैं जो प्रायः तेल-क्षेत्रों में मिलती हैं।

इस सब जानकारी के बाद तेल की खोज का अंतिम दौर शुरू होता है। वर्षों की खोज और परिश्रम के बाद वैज्ञानिक सारी जानकारी एक नकशे पर उतार लेते हैं। परन्तु, इस सब के बावजूद, यह निश्चय नहीं हो पाता कि जमीन में वास्तव में तेल है या नहीं। निश्चय करने का एक मात्र उपाय भूमि छेद कर तेल तक पहुँचना है।

भूमि की गहरी खुदाई के इस काम में करोड़ों का लाभ भी हो सकता है और नुकसान भी। परन्तु, देश की प्रगति के लिए यह जुआ खेलना जरूरी है।

भूमि की खुदाई का काम उकता देने वाला काम है और महीनों तक चलता है। यदि एक जगह तेल न मिले तो दूसरी जगह खुदाई शुरू की जाती है। सफलता की सम्भावना ५ प्रतिशत होती है ; कभी कम, कभी ज्यादा। और फिर, किसी दिन भूगर्भ से निकले कीचड़ में उस बहुमूल्य द्रव्य के दर्शन होते हैं जिसके आज के युग में हजारों उपयोग हैं।

अन्य खनिजों की भाँति तेल भी ऐसी निधि है जो चुक जाती है। कोई तेल-क्षेत्र अनन्तकाल तक तेल नहीं देता। अतः तेल की खोज निरन्तर चलते रहना जरूरी है, विशेषकर हमारे देश में जिसे तेल के लिये लगभग पूर्णतः दूसरे देशों पर निर्भर रहना पड़ता है।

यह है उस 'गुप्त निधि' की कथा, जिसे भारत आतुरता से खोज रहा है।

'मनुष्य का अपने साथ के अन्य जीवों की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नति करने का दावा उसकी भोजन, उष्णता (या शीतलता) और घर बनाने की दक्षता से न आंका जाकर उसके विश्व के बारीक से बारीक तन्तुओं तक पहुँचने की क्षमता से मापा जाना चाहिये। मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार हैं उसकी विचारों की दुनियाँ और उसके मस्तिष्क का विश्व से सम्बन्ध। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि मानव-विकास का इतिहास विचारों की शृंखला हैं।'

—फ्रेड होयल

३५—सलिग्राम भार्गव अंक (अप्राप्य)
३६—अंजीर—श्री रामेश वेदी (अप्राप्य)
३७—त्रिफला—श्री रामेशवेदी ३ रु० २५ नये पैसे
३८—साधारण रसायन—डा० सत्यप्रकाश (अप्राप्य)
३९—कर्बानिक रसायन—डा० सत्य प्रकाश (अप्राप्य)
४०—सर चन्द्रशेखर वेंकट रमन—श्री युधिष्ठिर भार्गव (अप्राप्य)
४१—वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द—डा० सत्यप्रकाश (अप्राप्य)
४२—रसायन का इतिहास—श्री आत्माराम (अप्राप्य)
४३—मिट्टी के बर्तन—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा (अप्राप्य)
४४—लकड़ी पर पालिश—डा० गोरख प्रसाद, श्री रामरतन भटनागर (अप्राप्य)
४५—सरल विज्ञान सागर—सम्पादक डा० गोरखप्रसाद (अप्राप्य)
४६—कृषि में हारमोन्स का उपयोग—कुमारी रवीन्द्र कौर एम० एस०-सी० डी० फिल० (अप्राप्य)
४७—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकर राव जोशी ३७ नये पैसे
४८—व्यंग चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट अनुवादिका—डा० रत्न कुमारी २ रुपया
४९—वायुमंडल—डा० के० बी० माथुर— २ रुपया
५०—कलम पैवन्द—श्री शंकर राव जोशी २ रुपया
५१—जिल्द साजी—श्री सत्य जीवन वर्मा एम० ए० २ रुपया
५२—तैरना—डा० गोरखप्रसाद डी० एस०-सी०— १ रु०
५३—वायु मंडल की सूक्ष्म हवायें—डा० संत प्रसाद टंडन ७५ नये पैसे
५४—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकार नाथ पर्ती ७५ नये पैसे
५५—फोटोग्राफी—डा० गोरखप्रसाद ४ रुपये
५६—फलसंरक्षण—डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी०, श्री वीरेन्द्र नारायण सिंह २ रु० ५० नये पैसे
५७—शिशु पालन—श्री मुरलीधर बौड़ाई ४ रुपये
५८—मधुमक्खी पालन—श्री दयाराम जुगड़ान ३ रुपये
५९—घरेलू डाक्टर—डा० जी० घोष, डा० उमाशंकर प्रसाद, डा० गोरख प्रसाद ४ रुपये
६०—उपयोगी नुसखे तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद,—डा० सत्यप्रकाश ३ रुपये ५० नये पैसे
६१—फसल के शत्रु—श्री शंकरराव जोशी ३ रु० ५० नये पैसे
६२—सांपों की दुनियाँ—श्री रामेशवेदी ४ रुपये
६३—पोर्स लीन उद्योग—श्री हीरेन्द्रनाथ बोस ७५ नये पैसे
६४—राष्ट्रीय अनुसंधान शालायें २ रुपये
६५—गर्भस्थ शिशु की कहानी—अनु० प्रो० नरेन्द्र २ रु० ५० नये पैसे
६६—रेल इंजन परिचय और संचालन—श्री ओंकारनाथ शर्मा ६ रुपये

हमारा नवीन प्रकाशन

रेल इंजिन
परिचय और संचालन

लेखक

श्री० ओंकार नाथ शर्मा, ए० एम० आई० एल० ई०, भूतपूर्व, लोकोफोरमैन, बी० बी० ऐण्ड सी० आई० रेलवे, चीफ मिकेनिकल इंस्ट्रक्टर, पूर्वोत्तर रेलवे।

पृष्ठ-संख्या (रायल साइज) ३४२, चित्र ८३, दो रंगीन प्लेट। मूल्य सजिल्द ६॥) अजिल्द ६)

इस पुस्तक के लेखक रेलवे के यान्त्रिक विभाग में कार्य-संचालन के अनुभवी विद्वान् हैं। भारतीय भाषाओं में इस विषय की पुस्तकों का अभी तक अभाव है। विद्वान् लेखक ने बहुत अधिक समय तक लगे रह कर प्रश्नोत्तरी के रूप में यह पुस्तक लिखी है। इसमें कुल ४२८ प्रश्न हैं जिनके उत्तर चित्रों के साथ समझाए गए हैं।

यह पुस्तक इंजन चलाने वालों और उनकी मरम्मत आदि करने वालों के उपयोग की है। होनहार ड्राइवरों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए रेल-इंजिन परिचय के प्रथम अध्याय में परीक्षोपयोगी विशेष पाठ्य-क्रम भी दिया गया है। कार्यकर्ताओं की रुचि को समझते हुए, जटिल विषयों को सरल बनाने के उद्देश्य से कई सांकेतिक चित्रों को तरह तरह के शेडों से सज्जित किया गया है और यान्त्रिक चित्रों को भी यथा साध्य सरल बनाया गया है जिससे पाठकों को बहुत लाभ हो सकता है। ऐसे साहित्य से रेलवे कर्मचारियों की कार्यक्षमता बढ़ेगी और दुर्घटनायें कम होंगी जिससे देश को भी लाभ होगा।

विषय-सूची—**प्रथम खण्ड**—(१) ड्राइवरों का जीवन और शिक्षाक्रम (२) विषय प्रवेश (३) वाष्प इंजिन के सिद्धान्त (४) वाल्व और सिलिंडर का घटना चक्र (५) स्टिफेंस का वाल्व गति यंत्र (६) वाल्शर्ट और जॉय के वाल्व गति यंत्र (७) कैपरॉटी वाल्व गतियंत्र (८) पॉपेट वाल्व गति यंत्र (६) इंजिन का यंत्र और फ्रेम (१०) बायलर (साधारण विवेचन) (११) बॉयलर (विशेष वार्णन) (१२) वाष्प का अति तप्तीकरण (१३) फीड पम्प, इंजेक्टर, फीड वाटर-हीटर और इकोनोमाइजर (१४, बायलर के सहायक यंत्र और उपकरण (१५) लुब्रीकेटर और चिकनाई (१६) ग्रीज, तेल, कोयला, पानी और धातुओं के गुण आदि का विवेचन (१७) पदार्थ ताप, वाष्प और दबाव आदि की परिभाषायें और निवारण (१८) प्रज्वलन विज्ञान (१६) रेल की लाइन और गेज आदि (२०) सिगनल और इंटरलाकिंग।

द्वितीय खण्ड—(२१) यात्रा की तैयारी—शेड में—(२२) रनिंग शेड से चलकर गाड़ी में लगना (२३) इञ्जन चलाना (२४) फायरमैन का काम कोयला झोंकने की वैज्ञानिक विधि—(२५) बीच के स्टेशनों पर ठहरना (२६) यात्रा के अंत में शेड में (२७) रेल संचालन नियम।

विज्ञान परिषद्

म्योर कालेज कम्पाउंड, इलाहाबाद

Reg. No. A 372

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools;
Colleges and Libraries

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार साधारण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का – यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायँगे।

प्रधान सम्पादक—डा० देवेन्द्र शर्मा

मुद्रक—ओंकार प्रेस, प्रयाग, तथा प्रकाशक—डा० डी० एन० वर्मा प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद।

भाग ८५

संख्या ६

सितम्बर १९५७, कन्या २०१४ वि० भाद्रपद १८७९ श०

वार्षिक मूल्य ४ रुपये]

[एक अङ्क का मूल्य ३७ नये पैसे

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार साधारण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उप-सभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मन्त्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरण इत्यादि को बिना मूल्य पाने का यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायँगे।

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानं जानेतानि जीवन्तिविज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तति । तै० उ० ।३।५।

भाग ८५	कन्या २०१४; विक्र०; भाद्रपद १८७९ शाकाब्द; सितम्बर १९५७ ई०	संख्या ६

सम्पादकीय

'भय बिन होइ न प्रीति' ?

जहाँ संसार के ७० राष्ट्र मिलकर विज्ञान द्वारा अपने पृथ्वी और अंतरिक्ष के ज्ञान को बढ़ाने में परस्पर सहयोग दे रहे और इसी उद्देश्य से रॉकेट की सहायता से कृत्रिम चन्द्रमा की सृष्टि करने जा रहे हैं, वहाँ वे इन्हीं रॉकेटों की दूसरी दिशा में उन्नति कर रहे हैं। इन राकेटों के नासाग्र में सुधाकर के स्थान पर घोर विध्वंसक अस्त्र जैसे परमाणु और हाइड्रोजन बम होंगे जो सहस्रों मील की दूरी पर जाकर अपने लक्ष्य पर सही-सही वार कर सकें।

उन देशों का जो उस दिशा में सफलता प्राप्त कर चुके हैं यह दावा है कि इन अस्त्रों के भय से संसार में शान्ति स्थापित हो सकेगी। परन्तु भय-जनित आतङ्क मानव को दब्बू बना कर चुप रख सकता है, यह श्मशान की नीरवता हो सकती है या महामारी की आतङ्क पूर्ण स्तब्धता। इस अवस्था में मनुष्य का विकास रुक जायगा, वह मूक पशु के समान नादान हो जायगा। शान्ति स्थापित करने का मार्ग प्रीति का अनुसरण करना है। एक नादिर शाह या नैपोलियन कत्ले आम से मानवता का दमन कर सकते हैं परन्तु शान्ति स्थापित नहीं कर

सकते। शान्ति स्थापित करने के लिये चाहिये बुद्ध या ईसा या गान्धी का सर्वतोन्मुखी और विश्वव्यापी 'प्रेम'!

उत्तर प्रदेश के शिक्षा मंत्री का विज्ञान परिषद् में आगमन

माननीय श्री कमलापति त्रिपाठी

उत्तर प्रदेशीय सरकार के गृह, सूचना एवं शिक्षा मंत्री माननीय कमलापति त्रिपाठी ने विज्ञान-परिषद्-भवन देखने के लिये आने की जो कृपा की उसके लिये हम माननीय त्रिपाठी जी के आभारी हैं। उनके आगमन से हमें बड़ा प्रोत्साहन मिला। त्रिपाठी जी से बातचीत करने से हमें आत्म निरीक्षण का भी अवसर मिला। हमने एक बार पुनः अपने कार्य की प्रगति और उसमें आने वाली कठिनाइयों पर विचार करने का अवसर पाया। हमें आशा है कि मा० त्रिपाठी जी तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति समय-समय पर आकर हमारा उत्साह बढ़ाते रहेंगे। मा० त्रिपाठी जी ने परिषद् के प्रति जो सहानुभूति और सद्भावनायें दिखाई है उसके लिये हम उन्हें धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि परिषद् के प्रति जिन कोमल-भावनाओं का सूत्रपात उनके हृदय में हुआ है उसमें निरंतर वृद्धि होती रहेगी।

भारत में रसायन शास्त्र का विकास

[२ अगस्त ५७ को इंडियन केमिकल सोसाइटी की प्रयाग-शाखा के उद्घाटन के समय डा० नीलरत्न धर द्वारा दिया गया भाषण]

[अनुवादक डा० शिवगोपाल मिश्र, एम० यस-सी० डी० फिल, साहित्यरत्न]

सन् १६०७ में मैं विज्ञान का अध्ययन करने कलकत्ता गया और उसके १२ वर्ष पश्चात् जुलाई सन् १६१६ ई० में मैं अध्यापन कार्य करने के लिये प्रयाग आया अतः इस देश में पिछले पचास वर्षों में रसायन विज्ञान में जो विकास हुये, उनके अधिकाधिक सम्पर्क में आने का मुझे अवसर मिला।

बताते हुये हर्ष हो रहा है कि श्रीमती सरोजिनी नायडू के पिता एवं कुमारी पद्मजा नायडू के पितामह स्वर्गीय डा० अघोर नाथ चट्टोपाध्याय प्रथम भारतीय रसायनज्ञ थे जिन्हें सन् १८८३ ई० में एडिनबरा विश्वविद्यालय से रसायन शास्त्र में डी० एस-सी० की पदवी प्राप्त हुई थी। वे अत्यन्त चतुर व्यक्ति थे और उन्होंने अमर डच-रसायनज्ञ एवं रसायन शास्त्र के प्रथम नोबेल-पुरस्कार विजेता स्वर्गीय प्रो० जे० एच० वान्ट हाफ की विन्यास-रसायन पर सन् १८७७ ई० में प्रकाशित प्रथम प्रसिद्ध पुस्तक की कतिपय भूलों की ओर संकेत किया था। इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण में प्रो० वान्ट हाफ ने डा० चट्टोपाध्याय के सुझावों का स्वागत किया। दुर्भाग्यवश डा० चट्टोपाध्याय ने अपनी योग्यता का दुरुपयोग हैदराबाद रियासत की स्थानीय राजनीति में किया, जहाँ वे कई वर्षों तक नौकरी करते रहे। सन् १६११ ई० में, जब वे वृद्ध हो चुके थे, मेरी उनसे प्रथम भेंट हुई। तब उनकी विशेष रुचि पारद को स्वर्ण में परिणत करने में थी।

पिछली शताब्दी के अन्तिम काल में ज्योलाजिकल सर्वे और इंडियन एजुकेशन सर्विस के योरोपीय अफसरों द्वारा कुछ रासायनिक शोधें हुई।

भारतीय चाय उद्योग के द्वारा नियुक्त अनेक योरोपीय रसायनज्ञों ने आसाम और दूसरे चाय उत्पन्न करने वाले केन्द्रों की मिट्टियों के गुणों के अध्ययन प्रस्तुत किये। इस दिशा में एम० के० बाम्बर अग्रणी हैं जिन्होंने भारत एवं लंका दोनों देशों की चाय वाली मिट्टियों का अध्ययन सन् १८६० ई० से प्रारम्भ किया। बाम्बर के पश्चात् डा० एच० एच० मान, एच० आर० कूपर, पी० एच० कार्पेन्टर, डा०, सी० जे० हैरिसन और दूसरों ने भारतीय चाय की मिट्टियों के रासायनिक ज्ञान में अभिवृद्धि की।

भारतीय कृषि में सुधार लाने के दृष्टिकोण से भारतीय सरकार ने डा० जे० ए० वोयेल्कर को आमन्त्रित किया। उन्होंने भारत का भ्रमण बैलगाड़ियों तक में पूरा किया और सन् १८६१-६२ में मिट्टियों के नमूने संग्रह करते रहे। इन नमूनों के विश्लेषण में म्योर सेंट्रल कालेज प्रयाग के भूतपूर्व प्रोफेसर एस० ए० हिलने तथा पूसा के सुप्रसिद्ध कृषि वैज्ञानिक जे० डब्लू० लेदर ने बड़ी सहायता की।

किन्तु भारत में क्रमबद्ध रासायनिक अनुसंधानों का प्रारम्भ, हमारे गुरु आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय, जो प्रोफेसर क्रमब्राउन के शिष्य एवं एडिनबरा विश्वविद्यालय में सर जेम्स वाकर के सहपाठी थे, के प्रेसीडेंसी कालेज कलकत्ता में सन् १८८६ ई० में रसायन शास्त्र के जूनियर प्रोफेसर के रूप में (२५० रुपये मासिक वेतन पर) आने पर ही हुआ। वहाँ के सीनियर प्रोफेसर सर अलकजैंडर पेडलर, एफ० आर० एस० थे, जो कि एक विख्यात विन्यास-रसायनज्ञ एवं सर हेनरी रोस्को के शिष्य थे। सन् १६०६ ई० तक प्रो० पेडलर बंगाल के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष एवं कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे। उनके उत्तराधिकारी विज्ञान एवं टेक्नालाजी कालेज, कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्थापक

स्वर्गीय सर आशुतोष मुकर्जी हुए। सर अलेकजैंडर पेडलर ने भारत में रहकर सट्टेबाजी के द्वारा प्रचुर धन कमाया। क्रिन्तु अपने द्वारा अर्जित सम्पूर्ण धनराशि को लन्दन की केमिकल सोसाइटी और रायल इंस्टीच्यूट आफ केमिस्ट्री में प्राध्यापकी के पदों के लिये दान दे दिया।

आचार्य राय ने रसायन के प्रति अनुराग एवं अपने महान चरित्र के बल पर नवयुवकों को अपने अनुसंधानों की ओर आकर्षित किया, जो प्रधानतया नाइट्राइट के रासायनिक एवं भौतिक गुणों से सम्बन्धित थे। वे स्वयं मरक्युरस नाइट्राइट यौगिक के आविष्कारक थे। पहले खेवे के लोग जिन्होंने आचार्य के साथ सहयोग किया वे थे ए० गांगुली, पी० नियोगी, एच० के० सेन, जे० एन० रक्षित, एन० आर० धर, टी० सी० डे, जे० सी० घोष, तथा आर० एल० डे। आचार्य राय ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "हिन्दू रसायन का इतिहास-दो भाग" के द्वारा बहुत ख्याति अर्जित की। इसी काल में स्वर्गीय डा० ई० आर० वाटसन ने बंगाल के शिवपुर इंजीनियरिंग कालेज के रसायन-प्रोफेसर एवं बाद में ढाका कालेज में रसायन के प्रोफेसरी पद पर रहकर चाँदी के नाइट्रेट के विद्युत विश्लेषण पर कुछ साधारण प्रयोग किये। साथ ही कार्बनिक-रसायनज्ञों का एक दल संगठित किया, जिसकी रुचि कृत्रिम डाइज़ (Dyes) में थी, और जिसमें ए० सी० सरकार, एस० बी० दत्ता और अन्य डाक्टर सम्मिलित थे। किन्तु बाद में वाटसन ने लालच में आकर हार्टकोर्ट बटलर टेकनालाजिकल इंस्टीच्यूट, कानपुर के प्रिंसिपल का पद स्वीकार कर लिया। वहाँ का कार्य उनकी रुचि के अनुकूल न रहा अतः उन्हें बहुत निराश होना पड़ा क्योंकि शोधकार्य जो उन्हें अति प्रिय था उसका यहाँ अभाव था। दुर्दैव वश वाटसन अवकाश पर थे जब उन्हें पोटेशियम सायनाइड खाकर अपनी जीवन लीला का अंत लंदन के हाइड पार्क कार्नर होटल में कर देना पड़ा।

ढाका में डा० वाटसन के साथ डा० बी० के० सिंह भी रहे जिनकी एजोनियम यौगिकों एवं विन्यास-रसायन सम्बन्धी शोधें उल्लेखनीय है।

ज्योलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' के रसायनज्ञ डा० डब्लू० के० क्रिस्टी ने कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय भवन में अनेक भारतीय खनिजों के अत्यंत प्रामाणिक भारविक विश्लेषण किये।

डा० ई० जी० हिल और ए० पी० सरकार ने सन् १९११ ई० में म्योर सेंट्रल कालेज प्रयाग में हाइड्रोफ्लोरिकाम्ल की विद्युत-प्रसारिता को मोम के प्रकोष्ठ में ०° श० पर ज्ञात किया किन्तु उस समय प्रयाग में भौतिक-रसायन पर कोई साहित्य न होने के कारण इसका "डिसोसियेशन काँस्टेन्ट" न ज्ञात कर सके।

कार्बनिक-रसायन का विकास दक्षिण भारत में प्रेसीडेंसी कालेज मद्रास से स्वर्गीय सर जे० यल० सिमान्सेन के द्वारा तथा महाराजा कालेज त्रिवेन्द्रम के प्रोफेसर स्वर्गीय गिब्सन द्वारा हुआ। लाहौर में जोन्स एवं दुन्नीक्लिफे द्वारा राजकीय विद्यालय में घुलनशीलता एवं अकार्बनिक-रसायन की कुछ समस्याओं पर शोधें हुई जबकि बम्बई के राजकीय विद्यालय में डा० ए० एन० मेल्ड्रम द्वारा कुछ भौतिक रसायन विषयों पर कुछ अनुसंधान किये गये।

भारत के महान औद्योगिक जमशेद जी टाटा की दूर दृष्टि एवं प्रेरणा के कारण भारतीय सरकार ने सन् १९०३ ई० में सुप्रसिद्ध नोबेल पुरुस्कार विजेता सर विलियम रैमसे को "इंडियन इंस्टीच्यूट आफ साइंसेज की स्थापना के लिये उपयुक्त स्थान चुनने के लिये आमन्त्रित किया। अनुकूल जलवायु एवं मैसूर सरकार द्वारा निर्माण के लिये एक विस्तृत क्षेत्र दान देने की उदारता के वशीभूत होकर रैमसे ने बंगलौर में ही उक्त इंस्टीच्यूट के खोले जाने की सिफारिश सरकार से की वापस जाकर रैमसे ने अपने प्रिय शिष्य डा० एम० डब्लू० ट्रेवर्स (एफ० आर० एस०) को जिन्होंने उन्हें न्यून, क्रिप्टन, जेनन आदि के अनुसंधानों में सहयोग दिया था, सन् १९०६ ई० में "इंडियन इंस्टीच्यूट आफ साइंसेज' बंगलोर का अध्यक्ष बनाकर भेजा। किन्तु वे बहुत दिनों तक यहाँ न रुक सके। उनके दूसरे शिष्य डा० रुडोल्फ औद्योगिक रसायन के प्रोफेसर नियुक्त हुये किन्तु वे भी इस कार्य को न सँभाल पाये। वहीं आकर जीव-रसायन के प्रोफेसर स्वर्गीय डा० जी० एफ० फाउलर, कार्बनिक रसायन के प्रोफेसर डा० जे० जे० सडबरो और सामान्य रसायन के प्रोफेसर डा० एच० ई० वाटसन ने दक्षिण भारत की रासायनिक शोधों में हाथ बटाया।

तब सन् १९१४—१८ का प्रथम योरोपीय युद्ध आया और सरकार तथा जनता दोनों ने रासायनिक शोधों से होने वाले राष्ट्रीय हित एवं सुरक्षा के महत्त्व को समझा। उस काल के एक चतुर सुरक्षा मंत्री ने मुझसे कहा था कि हमारे विस्फोटक विस्फोट ही नहीं करते। युद्ध के पश्चात् तुरन्त ही सरकार ने भारत में रासायनिक शोधों की उन्नति के लिए आवश्यक कदमों पर विचार करना प्रारम्भ किया। सिमान्सन, गिब्सन, तथा अन्य योरोपीय आई० सी० एस० अफसरों के विशिष्ट प्रयासों के फलस्वरूप सन् १९२३ ई० में 'इंडियन केमिकल सर्विस' आयोग नियुक्त हुआ जिसके सभापति स्वर्गीय प्रो० सर जे० एफ० थार्प और मंत्री साइमनसेन हुये। आचार्य प्रफुल्लचन्द राय भी इस आयोग के सदस्य थे किन्तु वे इस प्रकार की 'केमिकल सर्विस' (रासानिक सेवा) के निर्माण के विरुद्ध थे। पहली बार आयोग की बैठक शिमला में हुई जिसमें 'भारतीय रासायनिक सेवा' के संगठन की सिफारिशें हुई किन्तु अन्ततः इसके लिये सरकार राजी न हुई।

जनवरी सन् १९१४ ई० में 'इंडियन साइंस कांग्रेस' की प्रथम बैठक सर आशुतोष मुकर्जी की अध्यक्षता में बंगाल की ऐशियाटिक सोसायटी के कमरों में कलकत्ते में सम्पन्न हुई। मैं भी इस प्रथम कांग्रेस में उपस्थित था जिसमें कुछ रसायन सम्बन्धी लेख पढ़े गये थे। इस कांग्रेस ने भारत में रासायनिक शोधों को एक प्रेरणा दी।

इसी कांग्रेस के जनवरी १९२२ ई० के मद्रास अधिवेशन में मैं रसायन-शाखा का सभापति था। भारत के प्रमुख तरुण रसायनज्ञों एवं स्वर्गीय प्रो० मेघनाद साहा द्वारा हस्ताक्षरित एक आवेदन पत्र प्रो० साहा, सर जे० सी० घोष, डा० एच० के० सेन' डा० बी० बी० डे, डा० के० जी० नायक, सर शान्ति स्वरूप भटनागर तथा कुछ अन्य लोगों द्वारा मेरे पास लाया गया था जिसमें 'इंडियन केमिकल सोसायटी' (भारतीय-रसायन-परिषद) की स्थापना के लिए अनुरोध था। फलतः मैंने विभिन्न भारतीय संस्थाओं के अग्रणी रसायनज्ञों की एक सबल प्रतिनिधि कमेटी नियुक्त कर दी थी।

लखनऊ में होने वाले सन् १९२३ ई० के साइंस कांग्रेस में इस कमेटी की कई बैठकें हुई जिनमें प्रायः सभी भारतीय एवं योरोपीय अग्रणी रसायनज्ञों ने सोत्साह भाग लिया। इंडियन इंस्टीच्यूट आँफ साइंस के अध्यक्ष सर मार्टिन ओ० फारेस्टर तथा सर जे० लायोनेल साइमनसेन और अन्य कुछ लोग भारतीय रसायन परिषद की स्थापना के विरोधी थे क्योंकि उनकी धारणा थी कि इंगलैंड की केमिकल सोसाइटी (रसायन-परिषद) ही जो सन् १८४४ ई० में स्थापित हो चुकी थी और 'केमिकल सोसायटी' के नाम से विख्यात थी, भारतीय रसायन सम्बन्धी प्रकाशनों का कार्य करने में समर्थ थी और यदि भारतीय परिषद बन भी गई तो उसके लिए सम्भव न हो पायेगा कि वह शोध-पत्रिका का उचित रीति से संपादन कर सके। किन्तु सभी भारतीय रसायनज्ञों के साथ डा० वाटसन, मेलड्रम तथा फाउलर भारतीय रसायन परिषद की स्थापना के पक्ष में थे। फलस्वरूप, सर्व प्रथम सन् १९२४ ई० में 'भारतीय रसायन परिषद' की स्थापना हुई, जिसमें प्रथम अध्यक्ष आचार्य राय, सम्पादक, नीलरत्नधर तथा डा० ई० आर० वाटसन एवं मन्त्री, डा० जे० एन० मुकर्जी नियुक्त हुये और इसका प्रधान कार्यालय कलकत्ता बनाया गया।

इसमें संदेह नहीं कि तब से यह परिषद उन्नति कर रही है। और इसके द्वारा प्रकाशित शोध-पत्रिका में प्रकाशित अनुसन्धान-पत्रों की संख्या एवं विशिष्टता में क्रमिक वृद्धि हुई है। सन् १९४९ ई० में प्रयाग में होने वाले साइंस कांग्रेस अधिवेशन में इस परिषद की रजत जयंती मनाई गई। मुझे ऐसा लगता है कि पिछली अर्द्ध शताब्दी में भारतीय विज्ञान की अधिक उन्नति हुई होती, यदि हम अधिक सत्यनिष्ठ हुये होते और हमारे रसायनज्ञों ने उत्तरी-पश्चिमी योरोप के १८वीं शती के रसायन विज्ञान के पथप्रदर्शकों की ही भाँति अधिक त्याग एवं तपस्यायें की होतीं।

योरोपीय उन्नति का कारण है, व्यावहारिक ढंगों का प्रयोग। योरप में १५—१६वीं शती में पैरासेल्सस, बेकन, ब्वायल तथा दूसरों ने व्यावहारिक ढंगों तथा वैज्ञानिक प्रवृत्तियों की नीव डाली और निरंतर ५०० वर्षों से वहाँ विज्ञान एवं टेक्नालाजी में स्थिर उन्नति

होती रही। हर एक योरोपियन को यह दीक्षा दी गई कि वह प्राकृतिक शक्तियों को जीतने के लिये प्रयोगों को व्यवहार में लावें और उन्होंने बड़ी ही निष्ठा एवं तत्परता से प्रयोग किये और उनके आधार पर निकाले सत्य निष्कर्षों से प्रकृति पर विजय प्राप्त की। किन्तु इस देश में ८वीं शती के पश्चात् न तो हमने कभी प्रयोग किये और न प्रायोगिक ढंगों का पालन ही किया। फलतः भारत दास हो गया। यही कारण है कि हम इतने पिछड़े रहे क्योंकि हम अपने प्रयासों एवं कार्य-कलापों में उतने सत्यनिष्ठ न रहे जितने की योरोपियन जिन्होंने अपने दैनिक जीवन में ढंग एवं सत्यप्रियता को अधिक स्थान दे रखा है।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध रसायनज्ञ पैरासेल्सस (१४९३—१५४१) ने उच्चाधिकारियों की अवहेलना करते हुये प्रयोगों की महत्ता पर लिखा है :—

"प्रयोग करने वाले बहुमूल्य वस्त्र पहने, हाथ में सोने की अँगूठी डाले, बगल में चाँदी की कटार लटकाये और हाथ में सफेद दस्ताने लगाये, इधर उधर आलस्य से नहीं घूमते वरन् आग के सामने अपने कार्य को धैर्यपूर्वक करते रहते हैं। वे इधर उधर टहलने नहीं जाते वरन् अपनी प्रयोग शाला के ही मोड़ों से परिचित रहते हैं। वे अपने हाथों को खुरदुरे चमड़े के उत्तरीय में डाले उसी में हाथ पोंछते रहते हैं और अपनी अंगुलियों को कोयले, गर्द एवं धूल में डालते रहते हैं न कि सोने की अंगूठियों में। वे इतने ही काले दिखते हैं जितने कि लोहार एवं कोयला-झोंकने वाले। अतः वे दिखावे की तनिक भी परवाह नहीं करते।"

फ्रांस की क्रांति के दिनों में वहाँ के अमर रसायनज्ञ एवं शरीर विज्ञान के सम्पादक ए० एल० लैवोजियर (१७४३—९४) ने फाँसी पर चढ़ने के कुछ दिनों पूर्व निम्न वचन कहे थे :—

"शीघ्र ही इस स्मृति-दिवस का अंत सन्तोषी प्रतिबिम्बों के साथ हो जायेगा। किसी भी जाति की भलाई एवं राष्ट्र के प्रति सम्मान जताने के लिये यह आवश्यक नहीं कि कोई आम उत्सवों में, जो किसी संस्था के द्योतक अथवा साम्राज्यों की पुनर्स्थापना के प्रतीक हों, भाग ले। एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला की एकान्तता एवं अध्ययन से भी देश-भक्ति के कार्य कर सकता है।

वह अपने श्रम से समाज की उन बुराइयों को जो मानव जाति को पीडित किये हुये हैं, कम करने एवं उसकी प्रसन्नता को बढ़ाने की आशा करता है। और यदि वह अपने इन नवीन मार्गों के द्वारा जो उसने खोले हैं, मनुष्य की औसत आयु को कुछ वर्ष अथवा कुछ ही दिनों के लिये बढ़ा सकता है तो उसे मानवता के सेवक की महती उपाधि से विभूषित होने का अधिकार है।"

इन समस्त नायकों एवं प्रायोगिक-उन्नायकों ने विशेषकर, पैसिली, ब्लैक, शीले, प्रीस्टिले न्यूटन कैवेन्डिस, डेवी, मेंडेलीफ, बर्जेलियस, बुन्सेन, डार्बिन, मेंडेले, ड्यूमास, बोसिंगाल्ट, फैराडे, पास्तुर, काच तथा रास ने, वैज्ञानिक प्रयासों एवं प्रयोगों के अनुसरण में बड़े बड़े त्याग किये और योरोपीय राष्ट्रों को अधिकाधिक व्यावहारिक एवं सत्यनिष्ठ बनाया। इन्होंने जीवन की सभी समस्याओं पर विज्ञान का प्रयोग किया और अपने प्राकृतस्रोतों को उन्नत किया, अपनी कृषि सुधारी और योरोप को महान तथा समृद्धि शाली बनाया। यहां यह बता दिया जाय कि जब प्रो० एमिल फिशर को बर्लिन विश्वविद्यालय में और प्रो० डब्लू० एच० पर्किन (कनिष्ठ) को आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में स्थान दिये गये तो उन्होंने ये शर्तें रखी कि वे किसी भी कमेटी की बैठकों में भाग न लेते हुये अपना सारा समय शोध कार्यों एवं अध्यापन में लगावेंगे। इसी प्रकार सर विलियम रैमसे के १९१३ में यूनिवर्सिटी कालेज लंदन की प्रोफेसरी से अवकाश पाने पर यह पद जेम्स वाकर को दिया गया किन्तु उनके अस्वीकार करने पर प्रो० डोनन की नियुक्ति हुई। लंदन आकर डोनन ने देखा कि उनका अधिकांश समय शासकीय कार्यों तथा कमेटियों में जाने में ही व्यतीत हो रहा है अतः वे लंदन से अपने पुराने पद पर लिबर पूल लौट आये। जब शासकीय कार्यों एवं कमेटियों की उपस्थिति में भारी कमी कर दी गई तभी वे लंदन आने के लिये पुनः राजी किये जा सके।

किन्तु इसके विपरीत, अधिकतर पूर्वी देश व्यावहारिक विज्ञान को कभी गम्भीरता पूर्वक प्रयोग में

नहीं लाये और इसीलिये वे विज्ञान का उपभोग व्यापार, कृषि एवं उद्योग की उन्नति में नहीं कर सके। इस देश में, हमारा बड़ा दुर्भाग्य रहा है कि आक्रमण कारियों ने बारम्बार आक्रमण करके हमें जर्जर करते हुये बुरी तरह से दास बना लिया। विज्ञान, सत्य एवं उन्नति के मार्ग का अनुसरण करने के बजाय हम मनसा-वाचा कर्मणा उनके भक्त हो गये और मुझे कहते हुये दुख हो रहा है कि यह मानसिक परतन्त्रता अब भी शेष है। वैज्ञानिक एवं उचित दिशा में कठोर कार्य करने के बजाय हमने आवश्यक बैठकों में भाग लेना, नतमस्तक होना, विज्ञापन बाजी और अधिकारी की हाँ हुजूरी करना सीखा है, चाहे वह अनुचित ही हो।

बहुत से भारतीय यह आशा करते होंगे कि अणु शक्ति के कार्यान्वित होने पर गरीबों के हित में एक नवीन युग का सूत्रपात होगा। किन्तु, अणुशक्ति के अब भी बहुमूल्य होने के कारण ऐसा नहीं होने जा रहा है। यही नहीं, चूँकि उत्तरी-पश्चिमी योरोप ने ५०० वर्षों तक ज्ञानार्जन में प्रयोगों के कठिन पथ का अनुसरण किया है, रूस ने ३०० और भारत ने केवल पिछले ५० वर्ष, अतः आणविक शोधों एवं अन्य वैज्ञानिक अनुसंधानों से होने वाले लाभ उन कालों के समानुपातों में होंगे, जो ज्ञान के अनुसरण में बिताये गये हैं। दूसरे शब्दों में भारत को उत्तरी पश्चिमी योरोप के मिलने वाले लाभ का दशांश और रूस के भाग का छठांश ही प्राप्त होगा।

अब यह भली भाँति ज्ञात है कि एमिल फिशर जिसने फेनाइल हाइड्राजीन के साथ शर्कराओं पर महत्व पूर्ण शोधें की थीं, धीरे धीरे फेनाइल हाइड्राजीन के विष से प्रभावित होता रहा और अन्त में सन् १९१९ ई० में अल्प आयु में ही स्वर्गवासी हुआ। इसी प्रकार श्रीमती एम क्यूरी का स्वास्थ्य अन्तिम दिनों में खराब रहा, यद्यपि पेरिस के बड़े से बड़े डाक्टर उनकी परिचर्या के लिये उत्सुक रहते थे। बाद में यह पता चला कि उनकी बीमारी का प्रधान कारण रेडियम जन्य विकरण थे, जो उनके प्रयोगों के समय सदैव निकलते रहते थे। इन दो अमर वैज्ञानिकों ने विज्ञान की सेवा के लिये अपने जीवनों की बलि दे दी।

औद्योगीकरण की कुछ समस्यायें

[कलकत्ता की राष्ट्रीय प्रयोगशाला ग्लास एण्ड सिरेमिक्स के अध्यक्ष डा० आत्माराम डी० एस-सी० के विज्ञान-परिषद् में दिए गए भाषण का सारांश]

आज देश के सम्मुख एक बड़ी समस्या है और वह है देश के औद्योगीकरण की। हमारी सरकार, कुछ पूंजीपति एवं संस्थायें इस दिशा में प्रयत्न शील भी हैं, किन्तु एक प्रारम्भिक कठिनाई हमारी प्रगति के मार्ग को कहीं कहीं रोक देती है और वह है औद्योगिक क्षेत्रों के कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की।

दूसरे उन्नति शील देशों में इस प्रकार का कार्य करने के लिये जो व्यक्ति रखे जाते हैं उनका वर्गीकरण वैज्ञानिकों (Scientists) टेकनालाजिस्ट (Technologist) और टेक्नीशियन्स (Technicians) में किया जा सकता है। फिर भी इन तीनों वर्गों में बड़ा अन्तर है। हमारे देश में एक ही व्यक्ति से इन तीनों कार्यों के लेने का प्रयत्न किया जाता है किन्तु तीनों व्यक्तियों के कार्य अलग अलग प्रकार के होने के कारण कोई भी कार्य उचित रूप से सम्पन्न नहीं हो पाता। इन तीनों वर्गों के कार्य-भेद का नीचे लिखी पंक्तियों में स्पष्टीकरण किया गया है।

(१) वैज्ञानिक (Scientist) इस वर्ग के व्यक्ति साधारण नियमों के अन्तर्गत निहित-ज्ञान का अर्जन और प्रसार करते हैं। और इस प्रकार के सिद्धान्तों का विशुद्ध रूप से अभ्यास भी करते हैं। औद्योगिक विकास में उनके आविष्कारों की क्या उपयोगिता होगी इसका विचार उनके लिये एक गौण वस्तु है। इस वर्ग के सारे व्यक्तियों का कार्य क्षेत्र उनकी अनुसंधानशाला ही रहती है। अनुसंधानशाला के बाहर उन सिद्धान्तों का क्रियात्मक उपयोग किस प्रकार से हो यह दूसरे वर्ग का कार्य है।

टेकनालाजिस्टः—इस वर्ग के लोगों को विज्ञान के प्रारम्भिक सिद्धान्तों का ज्ञान आवश्यक होता है। वैज्ञानिकों की भाँति वे केवल प्रारम्भिक सिद्धान्तों में ही न उलझकर उन सिद्धान्तों के क्रियात्मक उपयोग को ढूढ़ते हैं इन प्रारम्भिक सिद्धान्तों की सहायता से किसी औद्योगिक व्यवसाय में किस प्रकार से वृद्धि हो, बनाये गये पदार्थों को पहले से अच्छे गुण-धर्म का कैसे बनाया जाय इस दिशा में इस वर्ग के लोगों का सारा ध्यान रहता है। इस प्रकार से यह वर्ग शुद्ध विज्ञान के सिद्धान्तों का उपयोग कर देश को आगे बढ़ाने में सहायता करता है। इस वर्ग के लोगों को शुद्ध विज्ञान में स्नातक होना आवश्यक है। इतनी प्रारम्भिक शिक्षा के बिना साधारण सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना इनके लिये असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य होगा और आगे की प्रगति में रोड़ा अटकावेगा इस वर्ग के लोगों के लिये यह आवश्यक नहीं कि वे यह जानें कि फैक्ट्री में काम कैसे होता है और उस काम को स्वयम् करने की क्षमता प्राप्त करें। उदाहरण के लिये हम शीशे के व्यवसाय को लें। एक टेकनालाजिस्ट इस बात पर विशेष ध्यान देगा कि शीशे का गुण-धर्म किस प्रकार से अच्छा किया जा सके, बालू में कौन-कौन सी वस्तुयें किस किस परिमाण में घटा बढ़ा कर मिलाई जाये जिससे बने हुये शीशे का स्वरूप पहले से अधिक सुन्दर हो और वह पहले की अपेक्षा अधिक टिकाऊ और उपयोगी बन सके उसका यह कार्य नहीं कि वह स्वयम् ही शीशे की वस्तुओं का निर्माण करे। यह निर्माण कार्य तीसरी कोटि के व्यक्तियों के हिस्से में में आता है जिन्हें टेक्नीशियन कहा जाता हैं। इस प्रकार से टेक्नालाजिस्ट अपनी अनुसंधानशाला में कार्य करता है और अपने परिश्रम से अर्जित ज्ञान की परीक्षा तत्सम्बन्धी फैक्ट्री में करता है।

टैक्नीशियन :—इस वर्ग के लोगों के लिये विज्ञान की काम चलाऊ शिक्षा ही काफी है। इनके लिये यह आवश्यक नहीं कि वे सैद्धान्तिक पहलू को समझें। उन्हें काम करना आना चाहिये। जिस प्रकार की आज्ञा मिले

उसे पूरा करें। उदाहरण के लिये टेक्नीशियन को आज्ञा मिलती है कि वह वस्तुओं का निर्माण करे। वह अपना कार्य प्रारम्भ कर देगा। यदि काँच के बर्तन में रवे पड़ जाते हैं तो वह टेक्नीशियन का दोष नहीं। इस की जिम्मेवारी तो टेक्नालाजिस्ट पर है। यह टेक्नालाजिस्ट का काम है कि वह कांच के इस प्रकार के दोषों को दूर करने के लिये उपयोग में आने वाले कांच में आवश्यक पदार्थों की मात्रा कम या अधिक करे या उनमें आवश्यकतानुसार किसी नये पदार्थ का समावेश कर दे। टेक्नीशियन तो केवल देखेगा कि उसके द्वारा बनाई गई वस्तुओं का स्वरूप ठीक हो। उसे केवल शिल्प सम्बन्धी कौशल प्राप्त होना चाहिये। इस वर्ग के लोगों का कार्य क्षेत्र और प्रशिक्षण का स्थान फैक्ट्री है।

सरकार लोगों को व्यावहारिक शिक्षा के लिये विदेशों में भेजती है। वे लोग विदेशों में जाकर बड़े परिश्रम और अध्यवसाय से सारी शिक्षा ग्रहण करते हैं। यदि उन्हें शिक्षा समाप्ति पर उसी देश में कार्य करने के हेतु छोड़ दिया जाय तो सम्भवतः वे अपने कार्य में एक आदर्श रख दें किन्तु पुनः भारत आने पर उन्हें अच्छी सफलता नहीं मिल पाती। इसके मुख्य कारण हैं—(१) जिस प्रकार के वातावरण में इन व्यक्तियों ने प्रशिक्षा प्राप्त की उससे विभिन्न और कभी कभी विपरीत वातावरण में इन्हें कार्य करना पड़ता है। (२) कार्य के सुगमता पूर्वक संचालन के लिये उन्हें आवश्यक सुविधायें नहीं मिलती। (३) कार्य विभाजन ठीक नहीं किया जाता और एक श्रेणी के व्यक्तियों को अपना कार्य न करके दूसरे वर्ग के लोगों के कार्य को भी करना पड़ता है। इस प्रकार भारत लौटने पर उन्हें पग पग पर असुविधा होती है और कार्य संचालन में बाधा पड़ती है ये लोग विदेशों की कार्य पद्धति की सराहना करते और देश की व्यावहारिक अवस्थाओं को कोसते हुये नहीं थकते। परिणाम स्वरूप कार्य में शिथिलता आ जाती है और उनकी योग्यता के उचित उपयोग से देश वंचित रह जाता है। यदि हम विदेशों का पल्ला छोड़कर व्यावहारिक प्रशिक्षण अपनी ही फैक्ट्रियों में देना प्रारम्भ कर दें तो कुछ समय के पश्चात ये कठिनाइयाँ दूर हो जावेंगी और वहाँ के प्रशिक्षित लोग अधिक लगन के साथ काम कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त विदेश भेजने का व्यय भी बचेगा।

औद्योगिक उन्नति में एक और बहुत बड़ी बाधा है। और वह है व्यवसायी वर्ग की अर्थ पिशाचता और उनमें राष्ट्रीय चरित्र का अभाव प्रत्येक व्यवसायी अधिक से अधिक धन जनता से ऐंठ लेना चाहता है। उसका उद्देश्य अच्छी कोटि की वस्तुओं का निर्माण न करके इन वस्तुओं द्वारा अधिक से अधिक धन-प्राप्ति ही रहता है। परिणाम यह होता है कि पहले से अच्छी कोटि की वस्तुओं का निर्माण नहीं हो पाता और आगे की प्रगति रुक जाती है। अधिकांश बड़े से बड़े व्यवसायी आज भी देश की उन्नति को प्रधानता न देकर अपने लाभ का ही ध्यान रखते हैं। ये लोग सच्चे रूप में उद्योग वादी नहीं कहे जा सकते। रूस से जो लोग स्टील फैक्ट्री बनाने के लिये भारत आये हैं उनसे बात करने पर स्पष्ट पता लगा है कि उन्हें अपने कार्य की श्रेष्ठता में विश्वास है। उनमें देश प्रेम की उत्कट भावना है। इसी वस्तु की भारत में आज कमी है। यही समय है जब हम स्वयम् को छोड़कर सारे देश के लिये विचार करें और सच्चे राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करें। हम स्वदेशी की ओर आज अपने विचार केन्द्रित करें और देश के सर्वाङ्गीण विकास के हेतु कार्य करें।

देश में आज डिजाइनरों (Designers) का सर्वथा अभाव है। इसी कारण से हमें विशेष रूप से विदेशों का मुखापेक्षी होना पड़ता है। जैसे एक स्टील प्लान्ट के लिये एक ऐसी भट्टी (Furnace) की आवश्यकता है जिसमें दो टन लोहा गलाया जा सके, किन्तु इस प्रकार की छोटी भट्टी के निर्माण के लिये भी हम आज डिजाइन नहीं बना सकते और इसके लिये अन्य देशों की ओर सहायता के लिये हाथ फैलाते हैं। आज इस बात की आवश्यकता है कि हमारे बीच से ही ऐसे डिजाइनर तैयार हों जो प्रत्येक प्रकार के उद्योग के काम में आने वाली मशीनों की डिजाइनें बना सकें। जब तक इस प्रकार का प्रबन्ध नहीं होगा, हमें दूसरों का मुखापेक्षी होना ही पड़ेगा।

काँच उद्योग ने भारत में पर्याप्त उन्नति की है। स्वदेशी आन्दोलन के पूर्व काँच की चूड़ियाँ और अन्य

काँच की वस्तुएँ प्रायः विदेशों से आया करती थीं। स्वदेशी आन्दोलन के समय से, विशेष कर देवियों से, हमें बड़ी सहायता मिली। इन लोगों ने स्वदेश निर्मित भट्टी-चूड़ियों को सगर्व पहना और विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार किया। परिणाम स्वरूप देशी वस्तुओं की माँग बढ़ती गई और अधिक अभ्यास और अनुभव की वृद्धि के फलस्वरूप अच्छी वस्तुओं का निर्माण भारत में ही होने लगा। आज हम लगभग ३ करोड़ रुपये की चूड़ियाँ बनाते हैं। इसके अतिरिक्त ४ करोड़ रुपये का अन्य काँच का सामान भी हम बनाने लगे हैं। जहाँ पहले हमें विदेशों से काँच का माल मंगाना पड़ता, था, वहाँ आज हम काँच की निर्मित वस्तुओं को विदेशों में भेजने लगे हैं। काँच उद्योग ने बड़ी अच्छी प्रगति की है।

विश्व युद्ध के पश्चात प्रत्येक वस्तु का मूल्य पहले की अपेक्षा ४ या ५ गुना हो गया है, किन्तु यदि हम काँच की साधारण उपयोग की वस्तुओं को लें तो पता चलेगा कि इन वस्तुओं का मूल्य आज भी या तो वही है या उससे कम है जो हमें इन वस्तुओं के खरीदने में विश्व युद्ध से पूर्व देना पड़ता था। यह इस उद्योग की स्वस्थ प्रगति की ओर संकेत करता है। यह ठीक है कि हमें कुछ बहुत बढ़िया शीशे का सामान मंगाना पड़ता है आज काँच उद्योग के सम्मुख समस्या है देश के प्रत्येक परिवार में दैनिक उपयोग की काँच की वस्तुओं को पहुँचाना। यदि काँच उद्योग इस कार्य में सफल होता है तो यदि हम कुछ लाख रुपये का काँच का बढ़िया सामान विदेश से मंगवा लें, तो कोई विशेष हानि न होगी।

आज आवश्यकता है कि हमारे देश के लोग इसी देश की पूँजी से निर्मित भट्टी वस्तुओं का उपयोग अधिक धन व्यय करके भी करें और विदेशों से आयात की हुई देखने में सुन्दर और अधिक टिकाऊ वस्तुओं को कम मूल्य पर भी न खरीद कर अपने उद्योगों का संरक्षण करें जिससे वे उद्योग आगे बढ़ सकें। यदि जनता का सहयोग अन्य भारतीय उद्योग धन्धों को मिला तो ये कांच-उद्योग की भाँति किसी भी देश के समकक्ष हो सकेंगे और देश की सर्वांगीण उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

बहुगुणी खाद्य (मल्टी परपज़ फ़ूड)

रानी आनन्द, मैसूर

वैसे तो भारत के अधिकतर लोगों का आहार पौष्टिकता की दृष्टि से संतुलित नहीं, किन्तु यह असंतुलन दक्षिण भारत में और भी गम्भीर अवस्था में है। इसका कारण है कि वहाँ के आहार में प्रोटीन, विटामिन तथा दूसरे खनिज पदार्थों के अभाव। यह स्थिति शोचनीय है क्योंकि खाद्य में यह अंश शारीरिक विकास तथा स्वास्थ्य के लिये आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है।

दक्षिण भारत में अधिकतर लोग चावल का प्रयोग करते हैं। चावलों में प्रोटीन की मात्रा ६-८ प्रतिशत होती है। पोषकता की दृष्टि से चावल के प्रोटीन गेहूँ तथा दूसरी वनस्पतियों के प्रोटीन से अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं परन्तु फिर चावल में प्रोटीन की मात्रा इतनी कम है कि शरीर की पुष्टि के लिए अपर्याप्त है। प्रोटीन शरीर वर्द्धक पदार्थ है और इस का स्रोत दूध, दही, फल, वनस्पति, मांस, मछली, दृढ़फल और दालें इत्यादि हैं, परन्तु भारत की अधिकांश जनता इतनी निर्धन है कि वह प्रायः इन वस्तुओं के खरीदने की सामर्थ्य ही नहीं रखती अतएव उपर्युक्त शरीरवर्द्धक प्राकृतिक साधनों से वंचित रह जाती है। कहीं-कहीं जहाँ मांस, मछली आदि सस्ती मिल भी जाती है, लोगों की धार्मिक परम्पराएँ उन्हें न खाने के लिये वाध्य कर देती हैं।

मैसूर खाद्यालय में बच्चे Multi purpose food से तैयार खाना खा रहे हैं

छोटी आयु के बच्चों को तो उनके शरीर विकास के लिये ऐसे पोषक पदार्थों की और भी आवश्यकता होती है। बच्चों की अधिक मृतसंख्या तथा उनके अनेक रोग अपर्याप्त पोषण तत्वों के कारण ही होते हैं। जाँच द्वारा पता चला है कि अफ्रीका के कुछ भागों में भी क्वाशियारकार (Kwashiorkor) इत्यादि रोग बच्चों में प्रचलित हैं। भारतीय अपुष्टि-जन्य रोग भी इसी के सदृश गम्भीर हैं और इनकी रोक थाम संकेन्द्रित प्रोटीन पदार्थों के सेवन द्वारा ही की जा सकती है।

आधुनिक चिकित्सा विभाग से पता चला है कि अपोषण का दुष्प्रभाव केवल शरीर को अस्वस्थ ही नहीं अपितु आलसी, एवं निरुत्साही भी बना देता है। प्रायः यह भी देखने में आया है कि बच्चों में चोरी इत्यादि जैसे दुर्गुणों के कारण उनके मानसिक रोग नहीं अपितु उनके आहार में पौष्टिकता का अभाव है। भारत के बच्चों का भविष्य अच्छे आहार द्वारा ही सुधारा जा सकेगा।

अपोषणता केवल भारत में ही नहीं अन्य देशों में भी पाई जाती है। संसार की खाद्य एवं कृषि संस्था के संचालक बाईड ओर (Byod orr) के कथनानुसार संसार के ऐसे भागों में भी जहाँ कि आहारिक पोषण सत्ता का स्तर काफी ऊँचा है वहाँ भी बीस और तीस प्रतिशत जनसंख्या ऐसी भी मिले जावेगी जिसे न्यूनतम पोष्टक खाद्य भी अप्राप्य है। संसार के कुछ देशों में वहाँ के 'पोषण विशेषज्ञ' अपनी सारी शक्ति सस्ते तथा स्वादिष्ट पोषक खाद्यों के निर्माण में लगा रहे हैं जिस से जन साधारण लाभ उठा सकें।

अमरीका में इस ओर प्रगति

कैलीफोर्निया के प्रसिद्ध जीव रसायनज्ञ (बायोकैमिस्ट) डा० हैनरी बारसूक ने सन् १९४६ में वहाँ के औद्यौगिक परिषद् में एक सस्ते तथा बहु पौष्टिक खाद्य का आविष्कार किया और इसे बहुगुणी खाद्य (मल्टी परपज फूड) का नाम दिया। यह खाद्य सोयाबीन की खली (सोया बीन केक), खनिज पदार्थों तथा विटामिनों का मिश्रित विचूर्ण हैं जो खाने में बहुत स्वादिष्ट और देखने में भी आकर्षक है। इस खाद्य चूर्ण की एक खुराक पाँच तोले के लगभग है जिसका मूल्य सवा दो आने होता है। यदि इसे पानी में उबाला जाय तो केवल दस मिनट में ही आधा पौंड़ (बीस तोले) के लगभग खीर बन जाती है जिसका प्रयोग अकेले अथवा दूसरे भोजन पदार्थों के साथ हो सकता है। ऐसी केवल एक खूराक द्वारा ही मनुष्य को अपने दैनिक खाद्य के एक तिहाई महत्वपूर्ण अंश (प्रोटीन, खनिज पदार्थ तथा विटामिन) प्राप्त हो जाते हैं। इस एक खूराक की पोषकता कोई दो सौ उष्मांक (कैलोरीज) के बराबर होती है।

क्लिफोर्ड ई कलिनटण, कैलिफोर्निया का एक आहार-गृह संचालक, अपने भौगोलिक परिभ्रमण में लोगों की भूख तथा अपोषणता देखकर इस तरह प्रभावित हुआ कि अपने देश में वापस आकर उसने दूसरे उद्योग पतियों की सहायता से लासएंजिल्स में एक 'लाखों के लिये भोजन' (फूड फार मिलियंस) नामक संस्था की स्थापना की। श्री कलिनटण अभी हाल ही में भारत का परिभ्रमण करके स्वदेश लौटे हैं। इस 'लाखों के लिये भोजन नामक संस्था का उद्देश्य इस बहुगुणी खाद्य (एम० पी० एफ०) को लोक-प्रिय बनाना तथा उसे बिना किसी जातीय भेद-भाव अथवा लाभ-आकांक्षा के अभाव ग्रस्त पीड़ितों तक पहुँचाना है इस उदार संस्था के निष्काम सेवकों द्वारा पिछले आठ वर्षों में इस खाद्य की कोई चार करोड़ खूराकें भिन्न-भिन्न संस्थाओं द्वारा स्वेच्छा से संसार में बाँटी गई हैं। ये दस लाख डालर की मूल्य वाली खुराकें जनता ने दान स्वरूप दीं।

भारतीय बहुगुणी खाद्य

भारत में इस बहुगुणी खाद्य का निर्माण, टाटा वैज्ञानिक संस्था, बंगलोर तथा केन्द्रीय खाद्य उद्योग विज्ञान अनुसंधान-संस्था मैसूर के अनुसंधान के प्रयत्नों का प्रतिफल है इस खाद्य निर्माण में ऐसे पदार्थों का प्रयोग किया गया है जो न केवल सस्ते हों अपितु देश में सुगमता से उपलब्ध हों। इसके पूर्व ये पदार्थ खाने के प्रयोग में नहीं लाये गये थे। अब इनके प्रयोग से हमारी दैनिक खाद्य आवश्यकताओं की पूर्ति में कोई विशेष कठिनाई नहीं होगी।

इस बहुगुणी खाद्य का मुख्य अंश मूंगफली की खली है जो कि एक विशेष रीति द्वारा तैयार की जाती है। इस खली में भुने हुये चनों का विचूर्ण तथा अल्प अनु-

पात में उरद की दाल का आटा मिलाया जाता है। इसके अतिरिक्त लाभकारी खनिज पदार्थ तथा विटामिन भी मिलाये जाते हैं। यदि आवश्यकता हुई तो तिल तथा सोयाबीन का आटा मिलाने से इस खाद्य की पौष्टिक सत्ता में और भी वृद्धि की जाती है। संस्था में किये गये प्रयत्नों से पता चला हैं कि चावल इत्यादि के आहार के साथ बारह प्रतिशत अनुपात में इस खाद्य का सेवन शारीरिक विकास में संतोषजनक वृद्धि करता है। इसी बहुगुणी खाद्य का मुख्य उद्देश्य पौष्टिकता की दृष्टि से हमारे आहार स्तर को अधिक संतुलित करना है। इसके सेवन से न केवल हमारे शरीर ही ही हृष्ट-पुष्ट बनेंगे अपितु वे हानिकारक रोगों का सुगमता से मुकाबिला भी कर सकेंगे। इसके खाने से निर्बल बच्चों, गर्भवती स्त्रियों, दूध पिलाने वाली माताओं क्षीणकयी बीमारियों से पीड़ित रोगियों को लाभ पहुँचेगा। यह दो औंस (पाँच तोले) बहुगुणी खाद्य केवल एक ही आने में मिल पायेगा तथा इसके सेवन से प्रोटीन, खनिज पदार्थ चर्बी में घुलनशील विटामिन, तथा दूसरे प्रकार के विटामिनों में, जैसे राईबोफ्लेविन इत्यादि का जिसकी हमारे आहार में न्यूनता है, उचित मात्रा में संवृद्धि हो सकेगी। इस खाद्य के प्रतिदिन पाँच तोले सेवन करने से खाद्य के महत्वपूर्ण अंशों की एक तिहाई आवश्यकता पूरी हो जायेगी। इससे आधी खूराक बच्चों के पोषण में लाभकारी सिद्ध होगी।

सादे एवं मसालेदार बहुगुणी खाद्य

भारतीय बहुगुणी-खाद्य दो प्रकार का बनाया गया है, एक सादा और दूसरा मसालेदार। बहुगुणी खाद्य में लवंग व अन्य मसाले मिलाये जाते हैं जिससे इसका उपयोग चटपटे पदार्थों में अधिक सुविधा से हो सके। सादा खाद्य मीठी वस्तुओं, जैसे टाफी, दलिया, हलुवा बिस्कुट इत्यादि के बनाने में काम आ सकता है। पकवानों को अधिक स्वादिष्ट बनाने और उनकी पोषण-शक्ति बढ़ाने के लिये हम बहुगुणी खाद्य को बीस प्रतिशत के अनुपात में अन्य खाद्य पदार्थों के साथ मिला सकते हैं। मात्रा की दृष्टि से इस बहुगुणी-खाद्य में दालों से दो गुना प्रोटीन तथा तीन से छः गुना तक विटेमिन $ब_{१७}$ राई बोफ्लेविन और चूर्णातु (कैल्सियम) आदि उपलब्ध हैं।
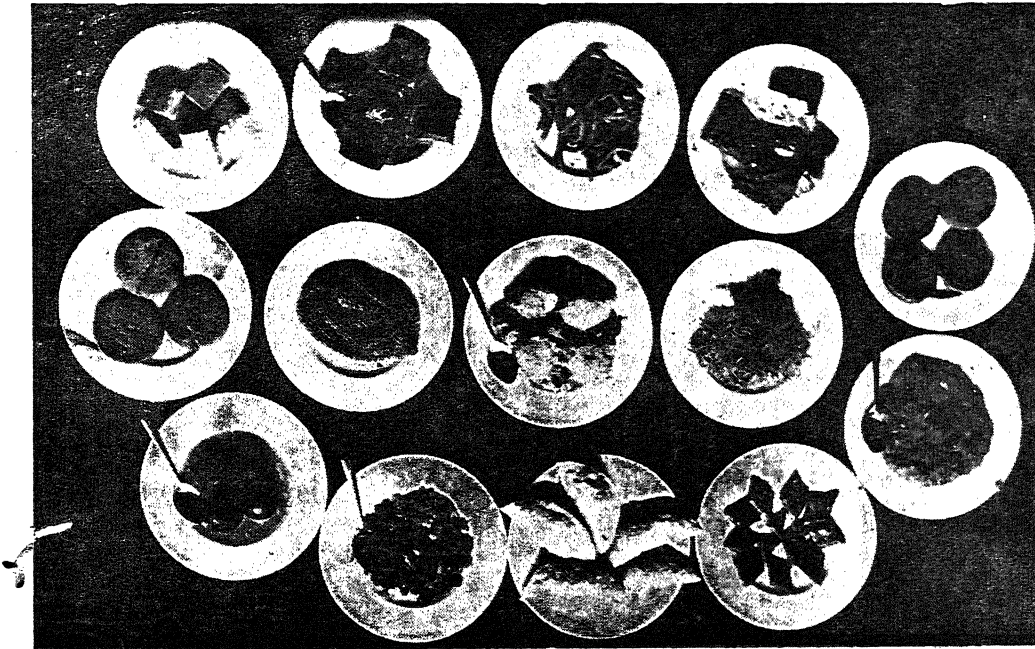
विभिन्न खाद्य पदार्थ जो बहुगुणी खाद्य के मिश्रण से बनाये गये हैं।

भारतीय तथा अमेरिकन बहुगुणी खाद्यों की पौष्टिकता का तुलनात्मक विवरण

पोषक-पदार्थ

(एक औंसअथवा २$\frac{1}{2}$ तोले के आधार पर)

	मात्रा	
	भारतीय	अमेरिकन
१. प्रोटीन (ग्राम)	१२·०	१२·१
२. चुर्णातु (कैल्शियम) (मिलि ग्रा०)	१६०	१६८
३. भास्वर (फास फोरस) (मिलि ग्रा०)	२३४	१२६
४. लोहा (मिलि ग्रा०)	१·५	२·०
५. विटामिन-ए (अंतरराष्ट्रीय इकाई)	८५१	८४०
६. विटामिन ब$_1$ (मिलि ग्रा०)	०.४	०·२
७. विटामिन ब$_2$ (मिलि ग्रा०)	०.४	०·४
८. निकोटिनिक अम्ल (मिलि ग्रा०)	४·०	२·०
९. विटामिन डी (अंतर्राष्ट्रीय इकाई)	७१	६७

ऊपर के आंकड़ों से पता चलता है कि भारतीय बहुगुणी खाद्य अमेरिकीय खाद्य की अपेक्षा न केवल अधिक गुणशाली हैं परन्तु स्वाद आदि में भी हमारी रुच्यानुकूल होने के कारण हमारे देश में अधिक लोकप्रिय हो सकते हैं। इस सादे बहुगुणी खाद्य की थोड़ी मात्रा विविध प्रकार की मिठाइयों तथा दूसरे पकवानों में उनके स्वाद में अंतर लाये बिना प्रयोग में लाई जा सकती है। मसालेदार खाद्य के मिश्रण से हम कई प्रकार के पकवानों को अधिक स्वादिष्ट भी बना सकते हैं।

भारत सरकार देशवासियों के उद्धार के लिये शीघ्र ही बहुगुणी खाद्य के निर्माण के लिये उचित प्रबन्ध कर रही है। अमेरिका के लाखों के भोजन नामक संस्था के संस्थापक श्री कलिनटण ने भी इसकी भूरि २ प्रशंसा की है और भारत में इस खाद्य के निर्माण के लिये आर्थिक सहायता का वचन भी दिया है। अधुना केवल केन्द्रीय खाद्य-उद्योग विज्ञान अनुसंधान संस्था, मैसूर द्वारा प्रतिदिन दो टन (५६ मन) की मात्रा में इस बहुगुणी खाद्य का निर्माण हो रहा है। बहुगुणी खाद्य को बनाने वाले यन्त्र शीघ्र ही देश के दूसरे भागों में भी लगा दिये जायेंगे ताकि देश के प्रत्येक भाग को यह खाद्य पर्याप्त मात्रा में सुलभ हो सके। यह बहुगुणी खाद्य सरल विधियों द्वारा अधिक काल तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

इस खाद्य का वितरण हालही में संस्थापित भारतीय संस्था "लाखों के लिये भोजन" द्वारा लागत मूल्य पर ही किया जायगा। इस मानव हितकारिणी संस्था के प्रधान भारत के कृषि मंत्री डा० पंजाब राव देश मुख हैं। उक्त संस्था के द्वारा भारतीय जन-स्वास्थ्य में वांछि संवर्द्धन सम्भव हो सकेगा।

रेज़िन (RESIN) में आयन विनिमय

श्री महेन्द्र स्वरूप भटनागर

(एच० बी० टी० आई० कानपुर। विज्ञान परिषद् में दिये भाषण का सारांश)

उन्नीसवीं शताब्दी में वे (Way) ने पौदों द्वारा रासायनिक खादों से नाइट्रोजन अंश ग्रहण करने की क्रिया पर प्रयोग किये। पर्याप्त गवेषणा के पश्चात् पता लगा कि पृथ्वी के कण जिनमें कैलसियम सिलिकेट होते हैं, जल के सम्पर्क से शोरे के साथ अपने साथी बदल लेते हैं अर्थात् नाइट्रेट कैलसियम के साथ मिल जाता है और सिलिकेट ऊपर आ जाते हैं। इस पारस्परिक आदान प्रदान का नाम उन्होंने आयन-विनिमय रखा।

रेजिन कार्वनिक वस्तुयें होती हैं, जो गर्म करने पर पिघल जाती हैं और जिस वस्तु में डाली जाती हैं उसका रूप ग्रहण कर लेती हैं। ये दो प्रकार की होती हैं—एक वे जो ठंडा होने पर सख्त हो जाती हैं और दूसरी वे जो गरम होने पर सख्त हो जाती हैं। पहले प्रकार की रेजिनों को थेर्मा प्लास्टिक और दूसरे प्रकार की रेजिनों को थेर्मा सेटिंग कहते हैं। प्रकृति में वे रोजा नामक थर्मो प्लास्टिक रेजिन प्राप्य है।

यह ज्ञात हुआ है कि वेरोजा अनेक धातुओं के साथ लवण बनाती है। १६२१ में प्रो० सातो (Sato) ने जापान में यह ज्ञात किया कि फीनोल पर फार्मलडीहायड की क्रिया से जो रेजिन बनती है वह भी धातुओं के साथ लवण बनाती है। प्रो० शोनो (Shono) ने इस रेजिन के ४० विभिन्न प्रकार के लवण बनाये। किन्तु पर्याप्त समय तक इस दिशा में आगे कोई कार्य न हुआ। सन् १६३५ में जाकर अडम्स और होम्स (Adams and Holmes) ने मालूम किया कि यह संश्लेषित रेजिनें विलियनों से धनायन अलग करने के कार्य में प्रयुक्त हो सकती हैं। क्वेवेक (Que bach) की छाल से प्राप्त फीनोल पर फार्मलडीहाइड की क्रिया से एक रेजिन तय्यार की गई। इस रेजिन में से होकर जब पानी प्रविष्ट किया गया तो मालूम हुआ कि उसमें से सारे धनायन सोख लिये गये थे। उन्होंने यह भी ज्ञात किया कि यदि किसी अमीन (Amine) पर फार्मलडीहाइड की क्रिया की जाय तो वह ऋणायन सोख लेती है। इस प्रकार से यदि एक बार पानी को क्वेवेक से प्राप्त फीनोल पर फार्मलडीहाइड की क्रिया द्वारा प्राप्त रेजिन के धरातल से प्रविष्ट किया जाय और इस प्रकार से छने हुये पानी को जिसके सब धनायन सोख लिये गये है दूसरी वार अमीन पर फार्मलडीहाइड की क्रिया से प्राप्त रेजिन के पृष्ठ से प्रवेश कराया जाय तो छना हुआ जल बचे हुये ऋणायनों को भी सोख लेगा और हमें आसुत जल प्राप्त हो जावेगा जिसमें कोई भी घुलनशील अकार्वनिक पदार्थ न होंगे। बाद में यह खोज बड़ी महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।

भटनागर और सहयोगियों ने भारत में इस विषय पर पर्याप्त शोध कार्य किया। उन्होंने ज्ञात किया कि अमीन के स्थान पर प्रोटीन का उपयोग किया जा सकता है। प्रोटीन और फार्मलडीहाइड से प्राप्त रेजिन भी एक बार की भाँति ऋणायन हटाने का कार्य करती है। पर्याप्त समय तक यह खोज अनुसंधान पत्रिकाओं के पृष्ठों तक ही सीमित रही और इसका कोई उपयोग न किया जा सका। डा० मायर्स (Myers RJ) ने अमेरिका की रोहसस (Rohm Hass) कम्पनी में इसका औद्योगिक स्तर पर निर्माण प्रारम्भ किया।

रेजिनों में धनायन विनिमय दो प्रकार से होता है—एक तो वह जिनमें सल्फोनेट वर्ग की रेजिनें प्रमुख होती हैं और दूसरा जिनमें कार्वोक्सलिक वर्ग की रेजिनें प्रधान हैं। पहले वर्ग की रेजिनें सबल प्रति क्रियाओं के काम आती हैं। किन्तु निर्बल वस्तुओं के लिये दूसरे प्रकार की अर्थात् कार्वोक्सिलिक वर्ग की रेजिनें उपयुक्त होती है। अमीन-रेजिनें चातुर्थीय अमीन योगिकों से

बनाई जाती हैं। कभी-कभी तो ये कास्टिक सोडे से भी सबल क्षार का कार्य करती हैं।

इनका उपयोग विशेषतया कठोर पानी को मृदु बनाने और आसुत जल तैयार करने के लिये होता है। इस क्रिया को सम्पन्न करने के लिये पानी को क्रमशः धनायन विनिमय करने वाली रेजिनों तथा ऋणायन विनिमय करने वाली रेजिनों के छन्नों से छाना जाता है। इस क्रिया से प्राप्त जल सब प्रकार के घुलनशील अकार्बनिक पदार्थों से मुक्त हो जाता है। वैश्लेषिक रसायन में तीसरे वर्ग में फासफेट, आक्सलेट आदि हटाने के लिये घोल को ऋणायन विनिमय करने वाली रेजिनों के छन्नों से प्रविष्ट कराया जाता है। बाधक तेजाब सोख लिये जाते हैं और आगे का विश्लेषण सरल हो जाता है। इसके अनेकों औद्योगिक उपयोग भी हैं। जब मीथिल अल्कोहल से फार्मलडीहाइड बनाया जाता है तो कुछ फार्मिक एसिड भी बन जाता है। इस विलयन को ऋणायन विनिमय रेजिनों में से प्रविष्ट कराया जाय तो फार्मिक एसिड का शोषण हो जावेगा और विशुद्ध फार्मलडीहाइड का निर्माण हो जावेगा। इसी प्रकार से स्टार्च से ग्लूकोज़ बनाते समय कुछ न कुछ अम्ल निर्माण होता है। इसे भी इसी क्रिया से शुद्ध किया जा सकता है। अभी तक तो इन रेजिनों को अशुद्धियाँ दूर करने के ही कार्य में लाया गया है किन्तु इनका उपयोग बहुमूल्य और दुष्प्राप्य धातुओं (Rare metals) में विद्युत विश्लेषण विलयन से निकालने के कार्य में भी किया जा सकता है। अभी तक स्वर्ण के विलयन को विद्युत-विश्लेषण के पश्चात् अधिक क्षीण हो जाने के कारण फेंक दिया जाता था किन्तु अब उसे धनायन विनिमय रेजिनों के स्तरों से होकर प्रविष्ट कराया जाता है। जिससे स्वर्ण रेजिन में रह जाता है। इस स्वर्ण और रेजिन संयुक्त पदार्थ को सोडियम कार्बोनेट अथवा हाइड्रोक्लोरिक एसिड द्वारा प्रतिक्रिया करा कर आयन विनिमय सिद्धांत से सोना रेजिन से अलग कर लिया जाता है। इस विलयन, को सुखा कर स्वर्ण प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार रेजिने बहुमूल्य या दुष्प्राप्य धातुओं को पृथक करने में उपयुक्त होती हैं। इसका नवीनतम उपयोग रेडियम धर्मी-पदार्थों के प्रथक करने में हुआ है। परमाणु विच्छेदन की क्रिया में इस युग में नेप्चूनियम, प्लूटोनियम क्यूरियम आदि जो नये तत्त्व ज्ञात हुये हैं उनकी सूक्ष्म मात्राओं को अलग करने में रेजिनों से बड़ी सहायता मिली है। ये मनुष्यों को औषधि के रूप में भी दी जाती हैं। रेजिनें अगलनीय और अविलेय हैं, इसलिये शरीर के अन्दर जाकर वे कोई हानि नहीं पहुँचातीं। हाँ, वे नमक के साथ आयन विनिमय करके या उसका शोषण करके उसे शरीर से अवश्य बाहर निकाल देती हैं। फलतः शरीर नमक के दुष्प्रभाव से बचा रहता है और रोगी को नमक का स्वाद भी मिलता रहता है। अतः रोगियों को बिना क्षति के नमक भी दिया जा सकता है।

पेनिसिलीन की व्यापारिक मात्रा में तैयार करने में रेजिनों का बड़ा महत्व है। ये पेनिसिलीन का शोषण करके उसे अशुद्धियों से प्रथक कर देती हैं। तत्पश्चात आयनिक विनिमय द्वारा पेनिसिलीन को पृथक कर लिया जाता है।

रेजिनों में आयन-विनिमय पर अब भी शोध कार्य चल रहे हैं। आशा की जाती है कि भविष्य में रेजिनों का उपयोग व्यावसायिक तथा अन्य क्षेत्रों में और भी बढ़ेगा।

रेडिओ-धर्मी रश्मियों के विनाशकारी प्रभाव

रमेश चन्द्र श्रीवास्तव एम० एस-सी०

हिरोशिमा तथा नागासाकी में डाले गये बमों से लगभग १,१०,००० व्यक्तियों की मृत्यु हुई थी। आजकल ये बम साधारण बमों की श्रेणी में आते हैं। वर्तमान समय के बम इससे सैकड़ों गुने अधिक शक्तिशाली हैं। इन बमों से सैकड़ों गुनी ज्वाला के साथ ही साथ सैकड़ों गुनी रेडियो-एक्टिव रश्मियाँ भी निकलती हैं। इस पर भी संसार के बड़े राष्ट्र विस्फोट पर विस्फोट करते जा रहे हैं। इस युग में जब कि अधिकांश देशों के नागरिक हर महत्व-पूर्ण समस्या पर अपने विचारों का प्रभाव डाल सकते हैं, यह आवश्यक है कि हम इस प्रकार के विस्फोटों से सम्भावित हानि को समझें।

प्रत्येक हाईड्रोजन तथा अणु बम विस्फोट से विनाश कारिणी अग्नि के साथ ही साथ विभिन्न प्रकार की रेडियो एक्टिव रश्मियाँ भी निकलती हैं। विस्फोट काफी दूर किये जाने के कारण हम अग्नि ज्वाला से तो बच जाते हैं परन्तु रेडियो एक्टिव वस्तुयें और रश्मियाँ वायु तथा वर्षा के द्वारा दूर-दूर के भू-खंडों में भी पहुँचती हैं। इस प्रकार ये रश्मियाँ संसार के हर कौने में तथा हर मनुष्य पर प्रभाव डालने में समर्थ हैं। साथ ही ताप तरंगों की की भाँति इनके लिए यह आवश्यक नहीं कि किसी निश्चित मात्रा से अधिक होने पर ही प्रभाव डाले। यदि ये रश्मियाँ थोड़ी थोड़ी मात्रा में काफी समय तक मिलती रहें तो शरीर पर उस सबका सम्मिलित प्रभाव होगा। और यह उतना ही हानिकारक होगा जितना कि समस्त रश्मिओं के एक समय में ही पड़ने पर होता। इसलिये वे राष्ट्र भी जो विस्फोट क्षेत्रों से दूर हैं निश्चिन्त नहीं रह सकते।

शरीर में अत्यंत छोटे-छोटे कण होते हैं। जिन्हें जीवाणु कहते हैं। प्रत्येक जीव की विशेषतायें इन्हीं में निहित रहती हैं तथा इन्हीं के द्वारा उसकी सन्तानों में प्रवेश करती है। ये जीवाणु क्रोमोजोन्स में एक विशेष प्रकार से संजोये रहते हैं। यदि इनकी अवस्था में उलटफेर कर दिया तो सन्ताने हर तरह से अपने पूर्वजों से भिन्न होंगीं। जीवाणुओं की क्रोमोजोन्स में जो अवस्था रहती है वह हजारों वर्षों में पहुँच पाई है इस कारण इसके परिवर्तन से मन्द बुद्धि ही उत्पन्न होंगे। क्रोमोजोन्स माइक्रोस्कोप द्वारा देखे जा सकते हैं। ये रश्मियाँ क्रोमोजोन्स की अवस्था में परिवर्तन भी कर सकती हैं तथा उन्हें पूर्णतया नष्ट भी कर सकती है।

ये रश्मियाँ करीब-करीब सभी प्रकार के कैन्सर भी उत्पन्न कर सकती है। परन्तु सबसे अधिक सम्भावित एवं भयन्कर रक्त कैन्सर या ल्यूकेमिया है। इस रोग में श्वेत रक्त कण या तो बहुत अधिक संख्या में मर जाते हैं या उत्पन्न हो जाते हैं। दोनों प्रकार के ल्यूकेमिया में मृत्यु लगभग अवश्यम्भावी है। इंग्लैंड की मेडिकल रिसर्च कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार सन् १६२० में प्रति दस लाख, ग्यारह व्यक्ति इस रोग के शिकार हुये परन्तु सन् १६५४ में ऐसी मृत्युओं की संख्या बढ़कर ४६ पहुँच गई। सन् १६५४ से अब तक अनेकों परीक्षा विस्फोट हो चुके हैं इस कारण वर्तमान दशा अवश्य ही पहले से बहुत अधिक खराब होगी।

ये रश्मियाँ कई प्रकार से हमारे शरीर में प्रवेश कर सकती हैं। प्रत्येक हाइड्रोजन बम विस्फोट से असंख्य कण जो कि अणु के अन्दर रहते हैं और जिन्हें न्यूट्रान कहते हैं बाहर निकलते हैं। ये न्यूट्रान वातावरण की हवा में मिश्रित नाइट्रोजन को रेडियो एक्टिव कार्बन में बदल देते हैं। यह कार्बन वर्षा में घुल कर पृथ्वी पर पहुँचता है और वहाँ से वनस्पतिओं का आवश्यक अंग होने के कारण उनमें व्याप्त हो जाता है। मनुष्य तथा जानवर जो इन वनस्पतियों को आहार रूप में ग्रहण करते हैं अनजान ही में इस भयंकर रेडिओ एक्टिव पदार्थ को पा जाते हैं।

विस्फोट से रेडिओ एक्टिव स्ट्रॉशियम भी वाष्प

रूप में निकलता है और वातावरण में छा जाता है। वर्षा द्वारा यह पृथ्वी पर तथा वहाँ से वनस्पतिओं में और मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर जाता है। स्ट्राँशियम हड्डियों का एक आवश्यक अंग होने कारण उनमें एकत्रित हो जाता है। इंग्लैंड की मेडिकल रिसर्च कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार १९५५ के अन्त में एक साल के अंग्रेज बच्चों में तथा वेल्श चरागाहों की भेड़ों में क्रमशः १२ तथा १४ माइक्रोक्यूरी रेडिओ ऐक्टिविटी हड्डिओं द्वारा प्राप्त कैलशियम के प्रति ग्राम में थी। डाक्टरों का मत है कि १० माइक्रोक्यूरी से अधिक रेडियो एक्टिविटी प्रति ग्राम बोन कैलशियम में चिन्ताजनक दशा की द्योतक है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि रेडिओ एक्टिव कार्बन ५,००० वर्षों के तथा स्ट्राँशियम २८ वर्षों के बाद भी पहले से आधे रेडिओ एक्टिव रहते हैं।

उपरोक्त रिपोर्ट के आधार पर अवस्था शोचनीय प्रतीत होती है। बाद के परीक्षा विस्फोटों के कारण यह दशा अवश्य ही अधिक शोचनीय हो गई होगी। यह भी विचार योग्य बात है कि यह दशा उस प्रदेश की है जो विस्फोट क्षेत्रों से दस हजार मील से भी अधिक दूरी पर स्थित हैं। फिर उन देशों की हालत जो नजदीक विशेषतया जापान की जहाँ प्रथम आणविक विस्फोट हुआ और जो प्रशान्त महासागर में होने के कारण परीक्षा क्षेत्रों से सर्वाधिक समीप है अवश्य ही अत्यन्त चिन्ताजनक होगी।

क्लिफोर्ड के बारे में सबसे विशेष बात उसके वजन के अनुपात में उसकी महान् शक्ति थी जो कि कुछ कसरतों से प्रकट होती है। एक समय वह अपने किसी भी हाथ से अपने सर के ऊपर लगी छड़ पकड़ कर अपने को ऊपर उठा सकता है—ऐसा कर पाना अत्यधिक शक्ति का प्रमाण है। ऊँचाइयों पर उसकी (Nerves) असाधारण थी। एक बार वह एक चर्च की चोटी पर बने (Weathercock) की छड़ों पर जा बैठा जिसे सोच कर मुझे कँपकँपी आ जाती है। और जब इससे भी कठिन कुछ कर दिखाने के लिये मैं जाकर उन छड़ों पर अपने पैर की अँगुलियों के सहारे लटक गया तो क्लिफोर्ड ने भी ऐसा कर दिखाया।

—एफ० पोलक

तेल और प्राकृतिक गैसें

खोज के काम में प्रगति

तेल और प्राकृतिक गैस आयोग का जन्म आज से ठीक एक वर्ष पहले हुआ था। इस एक वर्ष में देश में तेल की खोज का नया युग आरम्भ हो चुका है।

आयोग की स्थापना होते ही उसके मुख्यालय के लिए ६०० शिल्पिक और गैर-शिल्पिक कर्मचारी भरती किये गये और उन्हें प्रशिक्षित किया गया। इसके अलावा मुख्यालय ने पेट्रोल विज्ञान, पुरासात्विकी (पेलियोन्टोलोजी), रसायन शास्त्र, भूभौतिकी आदि के लिए प्रयोगशालाएँ खोलीं।

परन्तु, प्राविधिक क्षेत्र में जो काम किया गया, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक वर्ष की अल्प अवधि में ही इस संगठन ने विशाल क्षेत्र का सर्वे किया और अनेक ऐसे स्थलों का पता लगाया, जहाँ से तेल और प्राकृतिक गैस मिलने की सम्भावना है।

संगठन ने पंजाब के ज्वालामुखी स्थान में गहरी खुदाई का काम शुरू किया है। भारतीय और विदेशी भौमिकी-शास्त्रियों का यह मत है कि इस क्षेत्र में तेल है। पहाड़ी क्षेत्र होने पर भी यहाँ २,२०० फुट तक खुदाई हो चुकी है और आशा है कि अगले वर्ष के आरम्भ तक कुल ११,००० फुट खुदाई हो चुकेगी।

राजस्थान और गंगा घाटी क्षेत्र का हवाई-चुम्बकीय सर्वे किया गया है। यह सर्वे एक कनाडियन दल ने किया। इस सर्वे से पता चला है कि उत्तर प्रदेश में १३,००० वर्गमील के क्षेत्र में ऐसी चट्टानें हैं जिनके नीचे तेल हो सकता है। अब इस क्षेत्र के कुछ स्थानों में अभ्याकृष्टीय (ग्रेवीटेशनल) और भूकम्पीय (सेसमिक) जाँच का काम शुरू किया जा सकता है।

जैसलमेर, खम्भात, कच्छ, पंजाब के मैदानों, पहाड़ियों और देश के अन्य भागों में भौमिकीय और भूभौतिकीय सर्वे शुरू किया गया है। इस सर्वे से पता चला है कि पंजाब में जनौरी और होशियारपुर में और कच्छ और खम्भात में ऐसे स्थल हैं जहाँ तेल मिलना सम्भव है।

विदेशी विशेषज्ञों की सहायता

आयोग की नियुक्ति के समय से अब तक अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिक भारत आये हैं और उन्होंने आयोग की सहायता की है। इनमें डा० वेंट्ज और पश्चिमी जर्मनी के श्री शाट और श्री रिख्टर उल्लेखनीय हैं। इन वैज्ञानिकों ने आयोग के अधिकारियों के साथ विभिन्न क्षेत्रों का दौरा किया और अपनी सलाह दी।

एक फ्रांसीसी विशेषज्ञ श्री गिरादने, जो फ्रांसीसी तेल संस्थान के निर्देशक हैं, इसी प्रकार दौरा किया और आयोग के काम की प्रशंसा की। उन्होंने यह प्रस्ताव भी रखा कि तेल की खोज और तेल-शोधक कारखाने स्थापित करने के काम में सहायता के लिए दो या तीन फ्रांसीसी विशेषज्ञ भेजे जाएँ। फ्रांसीसी संस्थान ने भौमिकी-शास्त्रियों, भूभौतिकीविज्ञों और खुदाई और तेल-शोधन इंजीनियरों को प्रशिक्षण देने के लिए ८ छात्र-वृत्तियाँ भी दी हैं।

कनाडा के डा० एगाक्स, जिन्होंने उत्तरी क्षेत्र का हवाई-चुम्बकीय सर्वे किया था, भारत आये और उन्होंने सर्वे के परिणाम का मूल्यांकन करने में मदद की।

प्राविधिक कर्मचारियों की कमी

तेल और प्राकृतिक गैस आयोग की सबसे बड़ी समस्या प्राविधिक कर्मचारियों की कमी रही। तेल की खोज का काम नया था और पिछले अनुभव की कमी थी। अतः यह निश्चय किया गया कि जब तक भारतीय कर्मचारी प्रशिक्षित हों, तब तक रूस और रुमानिया के विशेषज्ञों की सहायता से काम शुरू किया जाए।

भूभौतिकीय और भौमिकीय सर्वे का प्रशिक्षण देने के लिए विशेष शिविर खोले गये और नये लोग भरती किये गये १०६ स्नातकों को इसमें प्रशिक्षण दिया गया।

प्रशिक्षण के काम में भारतीय और विदेशी सलाहकारों ने मदद दी। गहरी खुदाई करने वाले ८ शिल्पिकों को प्रशिक्षण के लिए रूस भेजा गया। सात अफसरों को असम तेल कम्पनी ने प्रशिक्षण दिया।

फिर भी, गहरी खुदाई करने वाले शिल्पिकों की अभी कमी है और यह विभाग लगभग पूर्णतः विदेशियों द्वारा चलाया जा रहा है। अब कुछ प्रशिक्षार्थियों को भरती किया गया है और उन्हें ज्वालामुखी (पंजाब), डिगबोई (असम) और बर्दवान (पश्चिम बंगाल) में खुदाई के स्थान पर प्रशिक्षण दिया जा रहा है।

सामान की व्यवस्था

भूभौतिकीय, भौमिकीय और गहरी खुदाई के काम के लिए रूस, रुमानिया, अमेरिका और ब्रिटेन से सामान मँगाया गया है। कुछ सामान देश ही में खरीदा गया। रूस और रुमानिया से २,२३,६४,८५४ रु० मूल्य का सामान मँगाने की व्यवस्था की गयी है।

अभी खम्भात, कच्छ, राजस्थान, मंडी, होशियारपुर, उत्तरप्रदेश और असम में भूभौतिकीय और भौमिकीय काम करने का विचार है। इस काम के लिए १४ भूभौतिकीय और १८ भौमिकीय दल संगठित करने का निर्णय किया गया है।

ज्वालामुखी में खुदाई का काम जारी रखने के अलावा, जनौरी और होशियारपुर में से किसी एक स्थान में कुएँ खोदने का काम शुरू किया जाएगा। असम में यदि काम तेजी से चलता रहा, तो १९५८ के प्रारम्भ में वहाँ किसी दूसरी जगह गहरी खुदाई का काम शुरू किया जाएगा।

आयोग ने हाल ही में यह निश्चय किया है कि खम्भात में खुदाई का काम शुरू किया जाए। असम के शिवसागर क्षेत्र में भी खुदाई की प्रारम्भिक व्यवस्था की जाएगी। इस क्षेत्र में भूकम्पीय सर्वे के बाद किसी उपयुक्त स्थल के पता चलने की आशा है।

रजतशुभ्र मेघ

[ले० एन० रोजेनव्लूम]
अखिल संघीय ज्योतिर्विज्ञान एवं भूखंड अध्ययन विद्या के मास्को क्षेत्र के उल्कापिंडीय विभाग में रजत शुभ्र मेघ उपविभाग के प्रधान।

ग्रीष्म ऋतु की गर्म सन्ध्या। अंशुमाली अस्ताचल के शिखर का सहारा ले रहे हैं और ऊँचे आसमान में तैरते हुए बादल उसकी स्वर्णिम रश्मियों में स्नान कर रहे हैं। इसके बाद वही क्षितिज के नीचे चले जाते हैं। आकाश की रंग-विरंगी शुषमा फीकी पड़ने लगती है और बादल श्यामत्तर होने लगते हैं। शीघ्र ही वे सीसे के रंग के आसमान की पृष्ठभूमि में काले धब्बे जैसे दिखने लगते हैं।

लगभग सत्तर वर्ष पूर्व मास्को का वी० के० सेरास्की नामक ज्योतिर्विद् जब सन्ध्या कालीन आसमान को निहार रहा था तो उसे अचानक विचित्र प्रकार के आभा पूर्ण मेघ नजर आये। यद्यपि सूर्य अस्त हो चुका था फिर भी उनसे स्निग्ध मोर्त. जैसी आभा निकल रही थी। त्सेरास्की ने इन आभापूर्ण बादलों का नियमित रूप से अध्ययन आरम्भ किया। १८८५ में उन्होंने उनकी ऊँचाई अनुमानतः लगभग पचहत्तर किलोमीटर निर्धारित की (बाद में यह दूरी और भी सही ढंग से ८५ किलोमीटर निश्चित की गई)। त्सेरास्की की देखा देखी बहुत से देशों के वैज्ञानिकों ने इन रहस्य पूर्ण मेघों का अध्ययन किया। वे रजत शुभ्र मेघ कहलाते थे।

ऊपर से देखने से वे सामान्य सिरस मेघ जैसे लगते हैं लेकिन काले आसमान की पृष्ठिभूमि में सिरस मेघ हमेशा काले दिखते हैं जबकि रजत-शुभ्र मेघों का रंग स्पष्ट ही आसमान की तुलना में हलका दिखता है। कभी-कभी वे एक मुलायम चादर के समान आसमान के एक हिस्से को ढक लेते हैं और या तो छोटी-छोटी पट्टियों की शक्ल में फैल जाते हैं अथवा रुई के गोले जैसे बन जाते हैं। रजत-शुभ्र मेघ बहुधा आसमान में लहराते देखे जाते हैं। उनकी सीधी कलंगिया आसमान में समान दूरी पर एक के बाद एक लहराती जाती हैं। कभी-कभी इन लहरों की दो पद्धतियां देखीजाती हैं—बड़ी और छोटी विपरीत दिशाओं में चलती हैं और कभी-कभी एक दूसरे को पार कर जाती हैं।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि रजत-शुभ्र मेघ तेज हवा में उड़ते हैं। लहरों की जांच-परख से उनकी गति निर्धारित की जा सकती है। यह बहुत अधिक है—प्रायः ५० मीटर प्रति सेकंड।

यह दृढ़ रूप में स्थापित किया जा चुका है कि रजतशुभ्र मेघ केवल सायं-प्रातः झुटपुटे के समय देखे जाते हैं जब क्षितिज के ऊपर सूर्य की रश्मियां उन्हें आलोकित करती हैं। लेकिन यह नहीं मालूम कि वे सूर्य के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करते हैं या अपना प्रकाश छोड़ते हैं। इस प्रश्न का समाधान ही भावी शोधकार्य का लक्ष्य है। उनसे रजत-शुभ्र मेघ द्वारा निःसृत वर्णगत गठन का ठीक-ठीक पता लगाने में मदद मिलेगी।

रजतशुभ्र मेघ केवल ग्रीष्म ऋतुओं में प्रायः अप्रैल से अक्तूबर तक देखें जाते हैं। लेकिन क्या यह एक तथ्य है कि वे जाड़ों में नहीं देखे जाते? शायद वे किसी न किसी कारण से नहीं देखे जाते! हमें इसका भी पता लगाना होगा।

रजतशुभ्र मेघ का विशेष अक्षांश रेखाओं में पाया जाना भी एक रहस्यपूर्ण बात है। उदाहरणार्थ, वे मध्य एशिया में कभी नहीं देखे जाते। लगभग ५० डिग्री अक्षांश में वे केवल उत्तर में और लगभग ७५ अक्षांश में केवल दक्षिण में देखे जाते हैं। हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ये मेघ पृथ्वी के चारों ओर एक मेखला, और भी सही रूप में—दो मेखलायें बनाते हैं। उत्तरी गोलार्ध में और दक्षिणी गोलार्ध में। ऐसा क्यों है। अभी हमें यह नहीं मालूम है!

वैज्ञानिक सबसे अधिक इस प्रश्न का समाधान

करने में रत हैं कि रजत-शुभ्र मेघ आखिर है क्या चीज ? उनका निर्माण कैसे हुआ है ?

उनकी मूलोत्पति के सम्बन्ध में अनेक अनुमान लगाये जाते हैं। कुछ वैज्ञानिकों का विश्वास है कि वे ज्वालामुखीय धूल के पुँजीभूत रूप हैं। बड़े ज्वालामुखी के विस्फोट इतने प्रबल होते हैं कि धूल बड़ी ऊँचाई तक उछाली जाती है। दूसरे वैज्ञानिकों का अनुमान है कि रजतशुभ्र मेघों में उल्कापिंडीय रज होता है। उल्कापिंडीय कण समूह जो धीरे-धीरे चलते हैं भूमंडलीय वायुमंडल में अंतर्ग्रहीय शून्य में प्रवेश करते हैं और पृथ्वी के ऊपर बड़ी ऊँचाई पर उड़ते हैं। बहुत से शोध-कर्त्ता प्रो० आई० ए० खवोस्तिकोव की इस स्थापना का समर्थन करते हैं कि इन मेघों में बर्फ के कण होते हैं। लेकिन यह सब अनुमानमात्र है।

रजत-शुभ्र मेघों की इस मनोरंजक और अबतक अनसुलझी समस्या का अध्ययन विस्तार पूर्वक होना जरूरी है, इसलिये और भी क्योंकि उनके अध्ययन से बहुत सी व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में मदद मिलेगी।

उदाहरणार्थ, इन अनुसन्धान कार्यों से ८०-८५ किलोमीटर की ऊँचाई पर समतापमंडल की बनावट, गति, तापमान और घनत्व के सम्बन्ध में बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होगी। मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी करने वाले अच्छी तरह जानते हैं कि पृथ्वी का मौसम एक बड़ी हद तक वायुमंडल की अवस्था के ऊपर निर्भर करता है।

रेडियो प्रविधिज्ञ शुभ्र-मेघों के निर्माण की दिशा में विशेष दिलचस्पी रखते हैं। ठीक इसी ऊँचाई पर आयनीकृत सतह से रेडियो तरंग प्रतिबिम्बित होते हैं जिनकी बदौलत दूरस्थ रेडियो संचार सम्भव हो जाता है। समतापमंडल की सतह की अवस्थाओं का रेडियो प्रसार के ऊपर सीधा प्रभाव पड़ता है।

हाल में वायुमंडल अधिकाधिक बड़े पैमाने पर आधुनिक वायु सेना-अभियान का क्षेत्र बनता जा रहा है। इसीलिये यह जरूरी है कि वायुवेगविज्ञान सम्बन्धी सैद्धान्तिक जाँच-पड़ताल को बड़ी ऊँचाई पर वायुमंडल के व्यावहारिक ज्ञान द्वारा समृद्ध बनाया जाये।

इन सभी बातों से स्पष्ट रूप में पता चलता है कि रजतशुभ्र मेघों का भारी व्यावहारिक महत्व है। यही वजह है कि इसे अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष के अनुसन्धान कार्यक्रम में शामिल किया गया है। सोवियत संघ के वैज्ञानिक और शौकिया ज्योतिर्विद इस अवधि में रजत शुभ्र मेघों के पर्यवेक्षण में सक्रिय भाग लेंगे।

विषाणु के टुकड़े किये जाते हैं

[ले० ए० सानिन]

इस पृथ्वी तल पर विषाणु सूक्ष्मतम जीवन्त तत्व हैं। वैज्ञानिकों को उनका पर्यवेक्षण करने का उपाय निकालने में बहुत अधिक समय लगाना पड़ा और सृजनात्मक प्रयास करना पड़ा।

वैद्युतिक सूक्ष्मेक्षण यंत्र का आविष्कार हो जाने से जिसके सहारे किसी वस्तु का स्वरूप हजारों गुना परिवर्द्धित दिखता है—अन्ततः विषाणुओं को देखना सम्भव हुआ। लेकिन वैज्ञानिकों के कार्य की इतिश्री यहीं नहीं हो गई। उन्होंने विषाणुओं को टुकड़े-टुकड़े करने का फैसला किया ताकि वे उनके शरीर की बनावट का अध्ययन कर सकें। इस उद्देश्य से अल्ट्रा-माईक्रोटोम नामक बहुत ही नाजुक और यथातथ्यपूर्ण यंत्र तैयार किया गया।

सोवियत संघ की चिकित्सा-विज्ञान-अकादमी के विषाणु-विज्ञान संस्थान के वैद्युतिक सूक्ष्मेक्षण यंत्रालय में वैज्ञानिक एक ऐसी वस्तु का अध्ययन करते हैं जो अदृश्य है। आप एक माईक्रोन की कल्पना कीजिए जो एक मिलीमीटर का हजारवाँ हिस्सा है। लेकिन विषाणु तो इससे भी सूक्ष्म होता है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इसके आकार-प्रकार एक माईक्रोन के दसवें या सौवें हिस्से के बराबर होते हैं। चिकित्सा विज्ञान के डाक्टर प्रो० ए० ए० अवाक्यान के निर्देशन में विषाणुओं का अध्ययन हो रहा है।

विषाणुओं के टुकड़े करने वाला-यंत्र यह कोई सूक्ष्म यंत्र बिल्कुल ही नहीं है, यह एक मेज के ऊपर लगभग एक वर्गमीटर के विस्तार में होता है और इसका वजन दस किलोग्राम है। ऐसा मालूम होता है कि विषाणु के ऊपर अत्यन्त जटिल शल्य क्रियायें सम्पन्न करने के लिए यह जरूरी है कि यंत्र पूर्णतया स्थिर रहे और उसमें तनिक भी कम्पन न हो।

शल्यक्रिया की तैयारी अत्यधिक धैर्य एवं महती दक्षता की अपेक्षा करती है। विषाणु लगे जैव्य तन्तु का एक छोटा टुकड़ा दो इथर तरल द्रव्यों के घोल में रख दिया जाता है। इस घोल को गेलाटाईन कैपसूल में उड़ेल दिया जाता है। एक तीसरे रासायनिक द्रव्य के सम्पर्क में यह फौरन ठोस द्रव्य बन जाता है। इसके बाद कैपसूल को अलग कर दिया जाता है और वैज्ञानिक के हाथों में केवल प्लास्टिक का एक कड़ा सा टुकड़ा बच जाता है जिसके ऊपर विषाणु जमे होते हैं। इस अवस्था में विषाणुओं को टुकड़े करना सम्भव हो जाता है।

वह ठोस टुकड़ा जिस पर विषाणु सटे होते हैं माईक्रोटोम के टेकुए में लगा दिया जाता है। इस टेकुए में ताँबे का चक्करदार विद्युत् हीटर होता है। जब हीटर में बिजली की धारा पहुँचाई जाती है तो इसका तापमान डिग्री के कुछ अंशों तक बढ़ जाता है और टेकुआ अदृश्य रूप में कुछ फैल जाता है। इस सूक्ष्म प्रसारण का माप माईक्रोन के दस हजार अंशों में लिया जाता है। लम्बाई की ऐसी इकाइयाँ प्रायः परमाणुओं को नापने में प्रयुक्त होती हैं। जब टेकुआ घूमता है तो वह टुकड़ा जिसमें विषाणु सटे होते हैं एक विशेष प्रकार के काटने वाले यंत्र के नीचे आ जाता है जिसमें एक अत्यन्त सूक्ष्म ब्लेड लगा होता है जो उस टुकड़े के कुछ अंश को कतर देता है। इसके बाद यह कतरन अलकोहल और पानी के घोल में छोड़ दिया जाता है जहाँ वह सीधा होकर एक चिपटा हिस्सा बन जाता है। इस प्रकार जो टुकड़े बनते हैं उन्हें धातु निर्मित जाल के ऊपर डाल देते हैं, जिसका आकार आलपीन के सिरे के बराबर होता है। द्रव्य सहित वह जाल बिजली के सूक्ष्मेक्षण यंत्र में लगा दिया जाता है और फिल्म के ऊपर उसका फोटो लिया जाता है।

के० कोरोविन नामक एक प्रमुख इंजीनियर और वी० लोटूटे नामक विषाणुविद ने इस सूक्ष्म प्रविधि में दक्षता प्राप्त की है। इससे विषाणु कणों की आंतरिक बनावट के रहस्यों का क्रमशः भेदन करने का अवसर

उन्हें प्राप्त होता है। इस कार्य में उन्होंने बहुत ही अधिक नैपुण्य दिखाया है। उदाहरणार्थ, लोटे ने विषाणुओं को निकालने की एक मौलिक पद्धति का विकास किया है। के० कोरोविन ने भी कई बहुमूल्य अनुसंधान किये हैं। अलट्रामाईक्रोटोम के लिए चाकू की फलियों को तेज करना एक बहुत ही नाजुक कष्ट-साध्य काम है। इसमें बहुत समय लगता है और महती दक्षता की आवश्यकता होती है। आविष्कारक ने नयी इलेक्ट्रोलिथिक (विद्युदेशिक) पद्धति निकाली है जिससे यह कठिन प्रक्रिया अति सुगम बन जाती है।

कटाई-विभागों में प्रत्यक्ष नियंत्रण सम्बन्धी पद्धतियाँ नहीं हैं और इसलिए यह काम हमेशा "अन्धवत्" किया जाता है। के० कोरोविन ने चाकू के पास ही पिजोलेमेंट (पीड-तत्व) लगा दिया है। यह औजार अत्यन्त स्पन्दनशील है और वैद्युत स्पन्दनों को दर्ज करने का मौका देता है जो इस यंत्र की अपनी विशेषता है। ये स्पन्दन विस्तारक की सहायता से ध्वनि में रूपांतरित कर दिये जाते हैं और इसके साथ-साथ ओसिलोग्राफ के परदे पर अंकित हो जाते हैं। इस प्रकार चाकू के "अदृश्य" कार्य के नियंत्रण की अप्रत्याशित सम्भावनाएँ प्रकट होती हैं।

विषाणु संस्थान के विद्युतीय सूक्ष्मेक्षण-यंत्रालय के कार्यकर्त्ता-मंडल की सृजनात्मक सफलता विषाणु सम्बन्धी समस्याओं के हल करने में आधुनिक प्रविधि के व्यापक प्रयोग के मार्ग उन्मुक्त करती है।

एक बार का ज़िक्र है जब प्रसिद्ध गणितज्ञ यूक्लिड ने एक चिकित्सक का काम किया। एक बार छुट्टियों में जब मैं प्रेग (Prague) में था तो मुझे एक ऐसा रोग हो गया जो पहले कभी नहीं हुआ था जिसमें मुझे अत्यधिक ठंड लगती और सारे शरीर में कष्टप्रद थकान रहती। अपना कष्ट हलका करने के लिये मैंने यूक्लिड की (Elements) नामक पुस्तक उठाई और पहले पहल उसके अनुपात के सिद्धान्त को पढ़ा जो कि उसने बिल्कुल ही नये ढंग से समझाया था। जिस बुद्धिमत्ता से यूक्लिड ने इस सिद्धान्त को समझाया था उससे मुझे इतना आनन्द प्राप्त हुआ कि मेरा विचित्र रोग बिलकुल दूर हो गया।

—बर्नार्ड बोल्जानो

पौष्टिक भोजन

[डा० (श्री मती) राजम्मल पी० देवदास, मुख्य घरेलू-अर्थ शास्त्रज्ञ, कृषि मंत्रालय]

पैसे की कमी से बहुत से लोग अपने परिवार के लिये पौष्टिक भोजन का प्रबन्ध नहीं कर पाते । इसलिये, ऐसे सस्ते तथा पौष्टिक आहार की खोज जरूरी है जो दूध, अंडे, मछली, मांस आदि का स्थान ले सके ।

मूंगफली का दूध एक ऐसी चीज है जो गाय के दूध के समान पौष्टिक होता है। मूंगफली को पीस कर आसानी से दूध तैयार किया जा सकता है। भिगोये और अंकुर निकले चनों में विटामिन सी, बहुत होता है। मूंगफली का मक्खन भी उतना ही पौष्टिक होता है जितना मांस या मछली ।

पौष्टिक आहार के लिये बहुत पैसा खरचना आवश्यक नहीं । अपने भोजन में थोड़ा सा सुधार या हेर-फेर करने से ही बहुत लाभ हो सकता है। जैसे दलिया या दाल के साथ थोड़ा सा दूध मिला कर खाने से अकेले दलिया या दूध से अधिक पुष्टई मिलती है ।

मैसूर आँध्र तथा तमिलनाड के कुछ भागों में लोग रागी को मट्ठे और पत्तेदार हरे शाक के साथ खाते हैं, और उनका स्वास्थ्य अच्छा होता है। मछली (काड-लिवर) का तेल शरीर को अनेक रोगों से बचाता है ।

गृहिणी को अपने परिवार के लिये पौष्टिक खाद्य पदार्थों का चुनाव करना चाहिये पौष्टिक खाद्यों को तीन वर्गों में बाँटा गया है । १ क्रिया शक्ति देने वाले, २. शरीर की वृद्धि करने वाले, और ३. शारीरिक क्रियाओं को नियमित रूप से चलाने में सहायक ।

शक्तिदायक खाद्यों में अनाज मुख्य है और सबसे सस्ता भी । चावल, रागी, गेहूँ, बाजरा, ज्वार, मक्की, साबूदाना, टैपिओका, आलू, चीनी और चिकनई वाले खाद्यों से शरीर को कार्य शक्ति मिलती है ।

प्रोटीन की जरूरत शरीर के अंगों के विकास के लिये होती है । दूध, दाल, गिरी, मांस, मछली और अंडे प्रोटीन देते हैं । दूध अंडा और मछली कुछ मँहगे पड़ते हैं, इसलिए साधारण वित्त वालों को दालों और मूँगफली से ही प्रोटीन मिलती है । सौभाग्य से मूँगफली, देश के अधिकाँश भागों में प्रचुरता से होती है और इसमें बहुत प्रोटीन होती है । इस दृष्टि से वह माँस से घट कर नहीं होती ।

तीसरे वर्ग के खाद्यों की आवश्यकता कम मात्रा में होती है, पर स्वास्थ्य के लिए ये बहुत आवश्यक हैं।

शरीर की रक्षा करने वाले मुख्य खाद्यों में से कुछ ये हैं लौह तत्व प्रधान खाद्य जैसे रागी, पत्तेदार हरे शाक और जिगर; कैल्शियम प्रधान खाद्य जैसे पत्तेदार शाक, रागी, दूध और विटामिन प्रधान खाद्य जैसे पत्तेदार हरे शाक, दूध, अंडे, जिगर, टमाटर और नींबू जाति के फल ।

प्रतिदिन के भोजन को पौष्टिक बनाने के लिये गृहणी को इन तीन वर्गों में से कम से कम एक खाद्य आहार में शामिल कर लेना चाहिये ।

आहार खूब पौष्टिक हो । स्वाद बनाने के लिए गृहणी को खाना पकाने के उपयुक्त तरीके अपनाने चाहिये । सब्जियों को यथा सम्भव कम पानी में यथा संभव कम समय तक पकाना चाहिये । पकाने के लिए जो पानी डाला जाये उसे फेंकना नहीं चाहिये । कुछ सब्जियाँ, जैसे गाजर, मूली, चुकन्दर, खीरा, टमाटर, पोदीना, हरा धनियाँ और हरी मिर्च खाने के साथ प्रतिदिन कच्ची ही रख देनी चाहिये ।

तैयार खाना हँसी-खुशी के वातावरण में परोसना चाहिए । परोसने के गलत ढंग के कारण अच्छे से अच्छा खाना भी बिगड़ सकता है ।

———

*भौमिकी शब्दावली

(महाराज नारायण मेहरोत्रा, लैक्चरर, भौमिकी विभाग, का० हि० वि०)

भौमिकी शब्दावली पर मैंने कुछ सुझाव 'विज्ञान' के फरवरी १९५३ अंक में पाठकों के सम्मुख रखे थे। इधर भौतिक भौमिकी (Physical Geology) में प्रयोग आने वाले शब्दों का संकलन किया। साथ ही उनके हिन्दी पर्याय खोजने का प्रयत्न भी निरन्तर चालू रहा। कुछ पर्याय तो पुराने कोशों में मिल गये और कुछ शब्द नये बनाये गये। नये शब्दों के बनाते समय 'सुविधा सिद्धान्त' का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है।

कुछ पुस्तकों में अंग्रेजी को दो या दो से अधिक शब्दों के लिये हिन्दी के ही शब्द से काम चलाया गया है। यह प्रयोग सर्वथा उपयुक्त नहीं। उदाहरण के लिये (Fault) तथा (Fissure) शब्दों को लीजिये। दोनों के लिये 'विवर' शब्द प्रयोग किया गया है। भौमिकी में यह दोनों शब्द पारिभाषिक है। इनके लिये प्रथक पर्याय होना आवश्यक है।

(Fissure) पृथ्वी पर की उन दरारों को कहते हैं जिनकी चौड़ाई तो अधिक नहीं होती पर गहराई में यह पृथ्वी के अन्तर्भाग तक चली जाती है। इसके विपरीत (Fault) शिलाओं में संप्रेरण (Compression) या खिचाव के कारण होते हैं। जब शिलाओं में खिंचाव अधिक बढ़ जाता है, अथवा शिलाओं पर दोनों पार्श्व से पड़ा दबाव उनकी सहन शक्ति के बाहर होता है। तो शिलाएँ टूट जाती हैं। बहुधा एक ओर की शिलायें दूसरी ओर की शिलाओं की अपेक्षा नीचे या ऊपर खिसक जाती हैं। इसी को (Faulting) कहते हैं।

अब समय आ गया है कि इस प्रकार के शब्दों के लिये उचित पर्याय निश्चित कर दिये जाये ताकि लेखकों को पुस्तकें लिखने में सुविधा हो जाये और साथ ही पाठकों, विशेष कर विद्यार्थियों को एक ही पारिभाषिक शब्द के भिन्न भिन्न पर्याय न याद रखने पड़े। भिन्न भिन्न पुस्तकों में एक अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द के भिन्न भिन्न हिन्दी पर्याय देखने पर विद्यार्थी को बड़ी कठिनाई होती है तथा गड़बड़ी होने की आशंका भी रहती है।

नीचे जो अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी पर्याय दिये गये हैं, या जो पर्याय किसी विशेष अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द के लिये नियत किये गये हैं, हो सकता है उनसे कुछ विद्वानों की सहमति न हो। ऐसे शब्दों के लिये सुझाव प्रार्थनीय है।

*** पिछले लेख में (Geology) के लिए 'भूशास्त्र' शब्द प्रयोग किया गया था। भौमिकी शब्द का अत्यधिक प्रचलन हो जाने के कारण लेखक ने भी 'भौमिकी' शब्द का प्रयोग आरम्भ कर दिया है, यद्यपि लेखक को (Geology) का उचित पर्याय भूशास्त्र ही लगता है। 'भौमिकी' शब्द का प्रयोग सुविधा सिद्धान्त का ही पालन है।**

A

Acid—एसिड, अम्लीय
Agent—शक्ति, दूत
Alluvial—जलोट
Alternate—एकान्तर
Amygdaloidal—वातामीय
Analysis—विश्लेषण
Anticline—चाप
Anticlinorium—चापमाला
Archaeozoic (era)—वैदिक (कल्प)
Argument—तर्क
Arrangement—विन्यास
Artesian well—नल कूप, पाताल फोड़ कुँआ,
Astronomer—खगोलज्ञ
Asymmetrical—असंमित

Atmosphere—वायुमण्डल
Atoll—वृत्ताकार प्रवाली

B

Bad-land—वर्षा छिन्न भूमि
Bar—बाधा
Barrier Reef—बाधक प्रवाली, अवरोधक प्रवाली,
Basic—बेसिक, पैठिक
Batholith—आधार शिला
Bed—स्तर
Bedding plane—स्तर-तल, तल्प-तल
Block—संवर्ग
Block Lava—संवर्ग लावा
Bore Hole—संछिद्र
Boss—शालोत्थ
Boulderclay—गंड मृदा

C

Cavity—गुहा
Cementing Material—सीमेंट, वज्रलेपन पदार्थ
Central-Vent—केन्द्र
Choking—कंठ रोध
Cirque—गह्वरा
Cleavage—तड़कन
Clinometer—अभिनति मापक
Columnar—स्तंभीय
Composition—योग, संगठन
Compression—संप्रेरण
Conformity - संरूपता
Consolidation—जमाव
Continental-Drift—महाद्वीपीय ऊढ़
Coral—प्रवाल
Core—आंतरक
Crater—ज्वालामुख
Crust—चिप्पड़, भू-पटल

D

Deccan Trap=दक्षिणी भूबंध
Decomposition—विबंधन, विघटन
Deformation—विरूपण
Deposit—निक्षेप
Dip—अभिनति
Dip (apparent)—अभिनति (मिथ्या)
Dip (true)—अभिनति (पदार्थ)
Directed—दिष्ट देशित
Disconformity—प्रतिसंरूपता
Dome—छाद
Downthrow—निचला (भाग)
Dyke—भित्ति (शिला)

E

Earth-movement—भौमिक उत्क्षेप, भौमिक उथल पुथल
Earth Quake—भूकम्प
Earth Quake-proof—भूकम्प-सह
Elevation—उठाव, उत्थान
Epicentre—उप केन्द्र
Equatorial—वैषवत्
Equilibrium—समतोलन
Equivalent—सम, तुल्य
Era—कल्प
Erosion—अपरदन, क्षीजन
Erratic Blocks—अनाथ शिलाखण्ड
Eruption—उभाड़, उद्गार
Exfoliation—अपपर्णन
Exposure—विगोपन

F

Fan deposit—पंख निक्षेप
Fault—विभंग, भ्रंश
Fissure—विवर
Fold—भंज
Fossil—पुराजीव
Fossil-wood—पुरा-काष्ठ
Foot wall—पाद भित्ति
Fringing Coral Reefs—अनुतट प्रवालियां

G

Geanticline—भूचाप
Geodetic—भूमिति के
Geological—भौमिक, भूशास्त्रीय
Geologist—भू-विद, भूशास्त्री

Geosynclineभू-द्रोणी
Glacial lake —हिमानीय झील
Glacier —हिमानी, ग्लेशियर
Graded—क्रमिक
Great-Barrier-Reef बाधक महाप्रवालों
Ground Mass—भूमि पुंज

H

Hade—उत्कोण
Heave —क्षैतिज-वित्थापन
Homoscismal—सकम्भूकम्पीय
Hypabyssal—अर्धपातालिक

I

Ice Age—हिम-काल
Ice-Berg —हिम-खण्ड
Ice sheet —हिम-स्तर
Igneous—आग्नेय, अग्निज
Impervious - अनतिवेध्य
Interstellar—अन्तर्तारिक
Intrusive—बलात्प्रवेशक
Isoclinal—समाभिनत
Isolated—एकलित
Isoseismal—सभूकंपीय

J

Joints—भंग

L

Laccolith —छत्र शिला
Land slip—तटी-सर्पण

M

Master- Joint—महा-भंग
Mechanical —यान्त्रिक
Metamorphic – रूपान्तरित
Metamorphism—रूपान्तरण
Morain—हिमोट
Mud Cracks—पंक दरार
Mud-stone—पंक शिला, पंकाश्म

N

Nebulae—नीहारिका
Nonconformity— विषमरूपता
Nonporous —अरन्ध्री
Normal Fault—साधारण विभंग

O

Observations—अवलोकन, निरीक्षण
Ooze—पंक
Organic—जैविक
Original—मूल
Outcrop—तलागत
Overburden—उपरिभार
Overlap —अतिछादन
Overturned—पार्श्वशय
Ox-Bow-Lave—धनुषाकार झील, छाड़न

P

Palaeontology—पुराजैविकी, पुराजीव शास्त्र
Palaeozoic—पुरा-कल्प
Period—युग
Pervious —अतिवेध्य
Petrifaction—प्रस्तरी भाव
Petrology—शिला विज्ञान
Phenomenon—परिवृत्ति
Physical—भौतिक
Piedmont glacier—गिरिपाद हिमानी
Plutonic—पातालीय
Porous—रन्ध्री
Pressure —दबाव, प्रेरण

R

Radiation —विकिरण
Radioactivity—तेजोद्गिरण
Rain-Prints—वर्षा चिन्ह
Record—अभिलेख
Recumbent—पार्श्वशय
Regional—स्थानीय
Reverse Fault—असाधारण विभंग, विपरीत विभंग
River Terraces—नद-उत्तल
Roches Moutounees—अविपृष्ठ
Rock—शिला
Rock-Slide—शिला सर्पण
Ropy-Lava—सर्पिल लावा
Rotatory—परिभ्रमत

S

Salt—लवण
Sand-dune—बालुका-स्तूप
Schistose Structure—सुभाजक रचना
Section—छेद
Sedimentary—जलज
Seismograph—भूकम्प-लिख
Sensitive—सुग्राही
Series—माला
Shape—आकृति
Sheet-Erosion—स्तार-अपरदन
Shell—खोल, कवच
Side—पाश्व
Sill—पत्र-शिला
Size—आकार
Slip—सर्पण
Snow-Field—हिम क्षेत्र
Snow Line—हिम रेखा
Soil Conservation—मिट्टी संरक्षण
Soil Erosion—मिट्टी छीजन
Stalactite—आश्चुताश्म
Stalagmite—निश्चुताश्म
Stellar —तारिक
Stratification—स्तृत करण
Stratified Rocks—स्तृत शिलाएँ
Stratigraphy—स्तर शास्त्र
Stratosphere—स्थिर वायुमण्डल
Stress —प्रत्यावल
Strike—क्षैतिजी
Structure—संरचना, रचना
Submarine—समुद्रगर्भी
Subsidence—धंसाव
Swamphy ground—पंकीय भूखंड
Symmetrical—संमित
Synclinorium—द्रोणी माला

T

Tectonic—अन्तःकृत
Tensile Strength—आतन्य शक्ति
Tension—आतति
Terminal—अन्त
Terraces—उत्तल
Tertiary—तृतीय
Texture —वयन, रचना
Theory—वाद, सिद्धान्त
Throw—विस्थापन
Tidal Forces—वेला वल
Transportation—परिवाहन
Troposphere—अस्थिर वायुमण्डल

U

Ultrabasic —अति पैठिक
Unconformity असंरूपता
Underground—आभ्यान्तरिक, अधस्थल
Uniform —एक रूप
Upthrow—उत्क्षेप

V

Vein—नस, धारी
Vertebrate—पृष्ठवंशी
Vertical—उदग्र
Viscous—गाढ़ा
Volatile —सुबाष्पी
Volcanic—ज्वालामुखी

इस छोटे से प्रयास में केवल भौतिक-भौमिकी के साधारणतः प्रयोग में आने वाले शब्दों का संकलन किया गया है। अग्रिम लेखों में भौमिकी शब्द मालाओं के विवेचन का प्रयास होगा।

ऊपर दिये गये पर्याय तैयार करने में लेखक को तीन कोशों से विशेष सहायता मिली है।

१. आंगल भारतीय महाकोष—
डा० रघुवीर (सरस्वती विहार नागपुर)
२. गणतीय कोष—
डा० ब्रजमोहन
चौखम्बा संस्कृत सीरीज,
बनारस।
3. The Handy English
Sanskrit Dictionary,
B. D. Mulgaokar,
Bombay.

विज्ञान-समाचार

भारत में कृत्रिम चाँद के मार्ग का निरीक्षण केन्द्र

कृत्रिम चन्द्रमा के मार्ग का पता लगाने के लिये भिन्न २ देशों में कुल मिलाकर १२ केन्द्रों की स्थापना की जा रही है। इनमें से एक केन्द्र भारत में नैनीताल में रहेगा। यह केन्द्र उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा वहाँ स्थापित बेधशाला का एक अंग होगा।

पृथ्वी की परिधि

भूगोल की पुस्तकों में पृथ्वी की परिधि की जो लम्बाई दी गई है, वास्तविक लम्बाई उससे आध मील कम है। यह खोज अमेरिकी सेना के मान चित्र विभाग ने की है।

अमेरिका के वैज्ञानिकों ने दावा किया है कि पृथ्वी का अर्ध व्यास यानी केन्द्र से भूमध्य रेखा तक का अन्तर ६६,७५३३६ गज यानी १६०६ से जो माना जाता रहा है, उससे १४० गज कम है।

. पृथ्वी चापों (आर्क) की बार-बार नाप कर वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। ये चाप पश्चिमी गोलार्ध में एलास्का से चिली तक और पूर्वी गोलार्ध में फिनलैंड से दक्षिण अफ्रीका तक के थे। हर चाप लम्बाई में पृथ्वी की परिधि का एक-तिहाई है।

हीरे का नया उपयोग

इस उपयोगितावाद के युग में हीरा भी अब सिर्फ शृंगार की वस्तु नहीं रह गया है। आजकल भी घड़ी बनाने में तथा अन्य उद्योगों में विशेष प्रकार के हीरे काम में लाये जाते हैं और अधिक गवेषणा से इसके और कई प्रयोग मालूम होते जा रहे हैं। अभी हाल में एक वैज्ञानिक लेख में यह विचार प्रकट किया गया है कि कुछ किस्म के प्राकृतिक हीरों से कमरे का तापमान बहुत अच्छी तरह नापा जा सकता है।

कार्बन (कोयला) जाति का होने के कारण हीरे की वैद्युत-घनता (इलेक्ट्रानिक डेनसिटी) भी मनुष्य की चमड़ी की इसी घनता के बराबर होती है। इसलिए बिजली के इलाज में हीरे के माप यंत्र (रेडियेशन काउंटर) से यह ज्यादा अच्छी तरह नापा जा सकेगा कि बीमार के शरीर में किरणों की कितनी मात्रा पहुँच चुकी है। यह काम हर हीरे से नहीं हो सकते। इस लिए विशेष हीरों का चुनाव करना होगा।

सुगंधित पौधों की खेती

जम्मू और कश्मीर राज्य में सुगंधित पौधों की खेती के लिये भी काफी गुंजाइश है। पता चला है भारत में जिन चीजों का सत्त तैयार किया जाता है, उसमें लगभग ३३ प्रतिशत तो अकेले जम्मू-कश्मीर राज्य में ही उगाई जा सकती हैं।

जम्मू की औषधि-गवेषणा प्रयोगशाला में, राज्य में उगने वाले देशी और विदेशी सुगंधित पौधों पर कुछ समय से खोज-कार्य चालू है।

पता चला है कि जम्मू-कश्मीर राज्य में अपने आप उगने वाले कुछ गंधवान पौधों में उतनी ही मात्रा में और उतना ही अच्छा सत्त निकल सकता है जितना इस तरह के अन्यत्र उगने वाले पौधों में। जम्मू की प्रयोगशाला के कर्मचारियों ने इन पौधों की विशेषता और उनके योग्य जमीन, जलवायु आदि के बारे में जानकारी इकट्ठी की है।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक गवेषणा परिषद अपने और सत्त गवेषणा समिति के जरिये इस काम में आर्थिक सहायता दे रही है। भारतीय कृषि-अनुसंधान-परिषद भी अपनी जड़ी बूटी समिति के जरिये इसमें वित्तीय तथा अन्य सहायता दे रही हैं। राज्य के फार्म में लगाने के लिये युनेस्को और अन्य वैज्ञानिक संगठनों ने कई सुगंधित पौधों के बीज और कलमें भी दी हैं।

सुगंध और दवा की बूटियों के राज्य में तीन फार्म हैं। यहाँ डिल (सोआ), लवेंडर, जापानी मिंट (पोदीना) आदि सुगंधित पौधों की खेती होती है।

कच्ची धातुओं का पता लगाने का नया तरीका

पैसाडना (कैलिफोर्निया) स्थित कैलिफोर्निया इन्स्टिट्यूट औव टैक्नौलोजी के वैज्ञानिकों ने भूगर्भ में पाई जाने वाली कच्ची तथा कीमती धातुओं का पता लगाने के लिए एक नए एवं अद्भुत तरीके की खोज की है।

उक्त इन्स्टिट्यूट की भूशास्त्र सम्बन्धी शाखा के अध्यक्ष श्री रौबर्ट पी० शार्प का यह कथन है कि इस शताब्दी में कच्ची धातुओं की खोज के कार्य में यह तरीका अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

जिस क्षेत्र में धातुएँ पाई जाती हैं, वहाँ की धरती की ऊपरी चट्टानों का अध्ययन करने से इस नए तरीके की जानकारी मिली है। मध्य कोलोराडो में क्योंकि चाँदी, सीसे तथा जस्त का बहुत बड़ा भंडार है, इसलिए वैज्ञानिकों ने वहीं यह खोज की है।

चट्टानों के बहुत से नमूनों को इकट्ठा करके उनके बारे में प्रयोगशाला में जाँच की गई। इन परीक्षणों से यह पता चला कि कच्ची धातुओं के भण्डार से जितनी दूरी से चट्टानों के नमूने एकत्रित किए गए, उनमें उसी अनुपात से ओषजन (ओक्सीजन) का आणविक वजन भी बदलता चला गया अर्थात् विभिन्न किस्म के ओक्सीजन आइसोटोप इनमें पाए गए।

बाद में जो अध्ययन किए गए उनसे यह पता चला कि चट्टानों में इन परिवर्त्तनों का कारण लगभग २५ करोड़ वर्ष पहले भू-गर्भ में स्थित उबलते हुए तरल पदार्थों का असर है। भूमि की ऊपरी सतह को तोड़ कर ये पदार्थ उस काल में प्रवाहित हुए थे।

भू-गर्भ से जब उबलते हुए ये तरल पदार्थ धरती की ऊपरी सतह पर पहुँचे, तब उन्होंने धरती की ऊपरी चट्टानों को तपा दिया। इस ताप से चट्टान में खास तरह के रासायनिक परिवर्तन हो गए। इन परिवर्तनों का वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा उसी प्रकार पता लगाया जा सकता है, जिस प्रकार कि कैलिफोर्निया के वैज्ञानिकों ने पता लगाया है।

भू-शास्त्री इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि भूमि के गर्भ से बह कर आने वाले जिन तरल पदार्थों में इतनी अधिक गरमी हो कि चट्टानें पिघल जाएँ, उनमें खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में होने आवश्यक है। जब ये तरल पदार्थ ठंडे हो गए, तब वे धरती के ऊपर और नीचे खनिज पदार्थों के भंडार बन गए।

भूमि की सतह तथा उसके गर्भ में पाए जाने वाले इन खनिज पदार्थों के भंडारों के क्षेत्र का ठीक से पता लगाने के लिए कैलिफोर्निया के वैज्ञानिकों ने तरीका खोज लिया है। चट्टानों में ओषजन के विभिन्न आणविक वजन रखने वाले आइसोटोपों से अब खनिज पदार्थों के क्षेत्र का पता लगाना सम्भव हो गया है। इससे पहले भूमि के भीतर पाई जाने वाली कची धातुओं का पता लगाना अधिकतर भाग्य की ही बात थी।

वैज्ञानिक रिपोर्ट लिखने वाली विद्युणु मशीन

"विज्ञान की प्रगति सम्बन्धी अमेरिकी संस्था" को मोदसेन्टो कैमिकल कम्पनी ने हाल ही में यह बताया है कि विद्युणु-चालित हिसाब-किताब करने वाली बड़ी मशीनों की सहायता से अब वैज्ञानिक रिपोर्ट तैयार की जा रही है।

वैज्ञानिक रासायनिक पदार्थों के विशिष्ट उपयोग सम्बन्धी अपने दैनिक परीक्षणों के निष्कर्षों का लेखा प्रत्यक्ष रूप में उक्त मशीन को प्रदान करते रहते हैं। बाद में यह मशीन स्वयं हिसाब-किताब लगा कर इस सम्बन्ध में रिपोर्ट तैयार कर सकेगी।

रेडियो-सक्रिय कोवाल्ट द्वारा कैन्सर का उपचार

अवकाश-प्राप्त अमेरिकी सैनिकों के शरीर के भीतर काफी बढ़ गए कैन्सर के उपचार के लिए एक विशाल रेडियो-सक्रिय कोवाल्ट मशीन हाल ही में चालू की है।

इस मशीन का वजन १६ टन है और इसे भूमि के नीचे बने एक दो-मंजिले भवन के एक कमरे में रखा गया है। रोगी को उपचार-कक्ष में बने धातु के एक ऐसे जंगले में रखा जाता है, जिसमें रेडियो-सक्रिय कोवाल्ट रहता है। रेडियो-सक्रिय कोवाल्ट अणुशक्ति की एक लोक-कल्याणकारी वस्तु है। इस जंगले को बाद में रोगी के इर्द-गिर्द पूरा चक्कर देकर घुमाया

जाता है, जिससे कि कैन्सर-ग्रस्त कोष-समूह पर विकिरण का अधिकतम प्रभाव पड़ सके।

इस मशीन में दो पात्र होते हैं, जिनमें रेडियो-सक्रिय कोवाल्ट के १० टुकड़े डाले जाते हैं। इन्हीं दो पात्रों से मशीन में रेडियो-सक्रियता पैदा होती है। इन पात्रों में पड़े रेडियो-सक्रिय कोवाल्ट के प्रत्येक टुकड़े का आकार एक बटन के बराबर होता है और इन्हें ओकरिज (टेनेसी) स्थित अमेरिका अणुशक्ति कमीशन के कारखाने की आणविक भट्टी में तैयार किया जाता है। कोवाल्ट के इन टुकड़ों से कैन्सर को नष्ट करने वाली गामा किरणें उतनी मात्रा में उत्पन्न होती है, जितनी ३० लाख वोल्ट की एक्स-रे मशीन से निकलती है।

१००० घण्टे तक बराबर चलने वाला जेट इंजन

अमेरिका में जे—५७ नामी जेट इंजन की उड़ान के बारे में हाल ही में परीक्षा की गई है कि जेट इंजन बिना मरम्मत और सफाई हुए ५ लाख मील उड़ सकता है या २० बार पृथ्वी के इर्द-गिर्द चक्कर काट सकता है।

यह पता लगाने के लिए कि बहुत दूर तक उड़ान करने पर जेट इंजन की क्या हालत होती है, उक्त उड़ान परीक्षा के तौर पर की गई थी।

हाल ही के वर्षों में जेट इंजनों में जो सुधार हुआ है, उसका अन्दाज इस बात से लगाया जा सकता है कि ११५४ में प्रति १०० घण्टे की उड़ान के बाद जेट इंजन की फिर से सफाई और मरम्मत करनी पड़ती थी। यूनाइटेड एयरक्राफ्ट कार्पोरेशन नामी संस्था को प्रैट एण्ड विटनी शाखा ने जे—५७ नामी जेट इंजन को तैयार किया है। इस शाखा के कथनानुसार जे—५७ नामी जेट इंजन की सफाई और मरम्मत आम तौर पर ६०० घण्टे चलने के बाद करनी आवश्यक समझी जाती है।

अमरीका की सब से बड़ी रेडियो-दुरबीन

नक्षत्रों तथा तारों से निकलने वाली रेडियो-ध्वनियों को रिकार्ड करने के लिए अमेरिका में शीघ्र ही एक बड़ी रेडियो-दुरबीन का निर्माण किया जा रहा है। इस रेडियो-दुरबीन का आकार तश्तरी के समान होगा तथा इसका व्यास १४० फुट का होगा। इस रेडियो-दुरबीन को वेस्ट वर्जिनिया राज्य की पर्वतों से घिरी घाटी में स्थापित किया जायगा। इर्द-गिर्द के पर्वत पृथ्वी से आने वाली ध्वनियों को रोकने में मदद देंगे।

नक्षत्रों, तारों तथा अन्तरिक्ष के अन्य क्षेत्रों से निकलने वाली रेडियो-तरंगों को ग्रहण करने वाली रेडियो-दुरबीनों के रूप में वैज्ञानिकों को एक ऐसा नया साधन प्राप्त हो गया है, जिस से वे ब्रह्माण्ड के बारे में अध्ययन कर सकते हैं। क्योंकि रेडियो-तरंगों की विभिन्न लम्बाइयाँ होती हैं तथा प्रकाश-तरंगों की अपेक्षा इनकी पट्टी भी काफी व्यापक होती है, इस लिए इस साधन का उपयोग करने वाले ज्योतिष-शास्त्री सामान्य दुरबीन का उपयोग करने वालों की अपेक्षा अधिक सूचनाएं जुटा सकते हैं।

गेहूँ का रेडियो सक्रिय आईसोटोपो से टप-ड्रेसिंग

दोन्बास की सबसे बड़ी राज्य कृषिशाला शख्तर में अनन्त समुद्र की भाँति गेहूँ के खेत फैले हैं। पुष्पित शीतकालीन गेहूँ एक मीटर की ऊँचाई तक पहुँच चुका है। पौदों को पत्तों द्वारा खाद पहुँचाने का सबसे अच्छा समय आ गया है।

राज्य कृषिशाला के मुख्य कृषि-वैज्ञानिक चेरेद-निचेन्को ने बताया कि उत्पादन बढ़ाने को यह प्रभाव शाली विधि तीन साल से काम में लाई जा रही है। उन खेतों में जहाँ शीतकालीन गेहूँ की विमानों द्वारा सुपर-फास्फेट से, जिनमें थोड़ी मात्रा रेडियो सक्रिय फास्फोरस की मिली रहती है, टाप-ड्रेसिंग की गई, वहाँ हैक्टर ३३ सेण्टनर अनाज प्राप्त हुआ, जो कि नियंत्रण खेतों पर के उत्पादन से २—४ सेण्टनर अधिक है। पौधों को खाद देने को नई विधि के और फायदे भी हैं—गेहूं में जमीन पर बिछने की प्रवृति कम हो जाती है और वह अधिक तेजी से व समानता से पकता है।

इस अंक में—

विषय			पृष्ठ
१—सम्पादकीय	...	...	१२९
२—शिक्षा मंत्री का विज्ञान परिषद् में आगमन	...	...	१३०
३—भारत में रसायन शास्त्र का विकास	...	...	१३१
४—औद्योगीकरण की कुछ समस्यायें	...	...	१३६
५—बहुगुणी खाद्य (मल्टी परपज फूड)	...	...	१३९
६—रेजिन में आयन विनियम	...	...	१४३
७—रेडियो-धर्मी रश्मियों के विनाशकारी प्रभाव	...	...	१४५
८—तेल और प्राकृतिक गैसें	...	...	१४७
९—रजतशुभ्र मेघ	...	...	१४९
१०—विषाणु के टुकड़े किये जाते हैं	...	...	१५१
११—पौष्टिक भोजन	...	...	१५३
१२—भौमिक शब्दावली	...	...	१५४
१३—विज्ञान-समाचार	...	...	१५८

प्रधान सम्पादक—डा० देवेन्द्र शर्मा

प्रकाशक—डा० डी० एन० वर्मा प्रधान मन्त्री, विज्ञान परिषद् इलाहाबाद तथा मुद्रक ओंकार प्रेस, प्रयाग—२